

स म र्प ण

जो तप और त्याग के उज्ज्वल प्रतीक थे, जिनके मन, वचन, कर्म
से सदा विवेक का प्रकाश जगमगाता था, जिनका संयम माया
की छाया से परे था, जिनकी साधना, आदर्श साधना
थी, उन महास्थविर, पवित्रात्मा, दिवंगत ज्ञाता
भ्रमण श्री नाथूलालजी महाराज की सेवा
में सादर समर्पित
स म र्प ण

मनो-वृत्ति

समस्तं मेन्द्रियमद,
मनसो मन्त्रिणा
मनो मन्त्रिणा,
मन्त्रिणा मन्त्रिणा ।

धन्यवाद

श्रीयुत हेमचन्द्रजी जैन सदर बाजार देहली के हम कृतज्ञ हैं कि उन्होंने बड़े ही स्नेह भाव से श्रमण सूत्र के प्रकाशन के लिए ७३०) रु० का सुन्दर कागज संस्था को अर्पण किया, जिसके फलस्वरूप श्रमण सूत्र मुद्रित रूप में इतना शीघ्र जनता तक पहुँच सका ।

श्री हेमचन्द्र जी हमारे जैन समाज के उत्साही युवक हैं, सुन्दर विचारक हैं और देहली नगरपालिका तथा (म्युनिसिपल कमेटी) के माननीय सदस्य हैं । जैन संसार आपसे भविष्य में बड़ी आशाएँ रखता है । हम आपके महान् भविष्य के लिए मंगल कामना करते हैं ।

—मन्त्री, सन्मति ज्ञानपीठ

आगरा

प्रकाशकीय निवेदन

साहित्य समाज का दर्पण होता है। दर्पण का कार्य वस्तु का वास्तविक रूप में दर्शन कराना है। मनुष्य जैसा होगा, उसका प्रतिबिम्ब भी दर्पण में वैसा ही होगा। साहित्य रूपी दर्पण में समाज अपना यथार्थ दर्शन पा लेता है। वह जान सकता है कि मैं क्या हूँ? मैंने अभी तक क्या प्रगति की है? मेरा रूप सुरूय है या कुरूप?

साहित्य की महत्ता और विशालता पर ही समाज की उपयोगिता आधारित रहनी है। साहित्य समाज, धर्म और संस्कृति का प्राणधार है। साहित्य की उपेक्षा कच्चे समाज, धर्म और संस्कृति जीवि। नहीं रह सकती। बिना प्राण के शरीर जैसे शव कहलाता है, उसी प्रकार साहित्य शून्य समाज की भी स्थिति है। सत्साहित्य समाज के जीवन होने का चिह्न है।

इसी शुभ लक्ष्य की पूर्ति के लिए ज्ञान पीठ ने मौलिक साहित्य प्रकाशित करने का दृढ संकल्प लिया है। स्वल्प काल में ही उसने अपनी उपयोगिता सिद्ध करने में सफलता प्राप्त की है और समाज को ठोस साहित्य प्रदान करके जनता की बौद्धिक चेतना को स्फूर्ति एवं जागृति प्रदान की है। ज्ञानपीठ के प्रकाशनों की सर्वाग्रियता का अनुमान पाठक-गण नासिक, पाण्डि और साप्ताहिक पत्रों की समालोचनाओं पर से लगा सकते हैं।

उही प्रकाशनों की शृङ्खला में आज हम भद्रेश्वर उपाध्यायजी का भ्रमण सूत्र लेकर उपस्थित हो रहे हैं। भ्रमण सूत्र क्या है, उसका क्या महत्त्व है, और उस महत्त्व के प्रतीकरण में उपाध्यायजी ने क्या कुछ

लिखा है, ये सब आप पुस्तक पढ़कर जान सकेंगे। हम स्वयं अपनी ओर से इस सम्बन्ध में क्या लिखें? उपाध्याय श्रीजी ने हमारे समाज को नई भाषा में नया चिन्तन देने का जो महान् उपक्रम किया है, उसे भविष्य की परम्परा कभी भूल न सकेगी। उपाध्याय श्रीजी के विराट् अध्ययन की छाया; उनके ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

श्रमण सूत्र के मुद्रण का कार्य बड़ी शीघ्रता में हुआ है। इधर मुद्रण चल रहा था और उधर साथ-साथ लेखन भी चलता था। इधर दो महीने से उपाध्याय श्रीजी का स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहा है। इस विचित्र स्थिति में सम्भव है मुद्रण एवं संशोधन सम्बन्धी कुछ भूलें रही हों, पाठक उनके लिए हमें क्षमा करेंगे।

विनीत—

सन्मति शान-पीठ }
लोहामगडी, आगरा

रतनलाल जैन

आत्म निवेदन

'भमण सूत्र' भमण धर्म की गाथना का मूल प्राण है। जैन भमण का जो कृत्रु भी आचार व्यवहार है, जीवन प्रवाह है, उनका भक्ति स्वरूप दर्शन भमण सूत्र के द्वारा हो सकता है। यही कारण है कि प्रति दिन प्रातः और सायंकाल प्रस्तुत सूत्र का दो बार नियमेन पाठ, प्रत्येक साधु और साध्वी के लिए आवश्यक है। यह जीवन शुद्धि और दीन प्रमाचन का महा सूत्र है। भमण साधक जितना ही अभ्यासी हो, परन्तु यदि उसे भमण सूत्र का ज्ञान नहीं है तो समझना चाहिए कि वह कुछ नहीं जानता। भमण सूत्र का ज्ञान, एक प्रभार ने गाथन के लिए अपनी आत्मा का ज्ञान है।

जो सूत्र इतना महान् एवं इतना उच्च है, दुर्भाग्य से उग पर अच्छी तरह लक्ष्य नहीं दिया गया। सूत्र पाठ केवल रट लिए जाते हैं, न पाठ शुद्धि ही होती है और न अर्थ ज्ञान। श्रोत्रमंजु के प्रवाह में पड़कर भमण सूत्र का रूप इतना विकृत कर दिया गया है कि देखकर हृदय में महती पीड़ा होती है।

मैं बहुत दिनों से इस और कुछ लिखने का विचार करता रहा हूँ। सामाजिक सूत्र लिखने के बाद तो मुझे साधुवर्ग की ओर से भी प्रेरणा मिली कि ऐसा ही कुछ साधु प्रतिक्रमण पर भी लिखा जाय। मैंने कुछ लिखा भी। और मेरा जय यह लोग व्याख्यान नाचरसति भ्रष्टेय भी

मदन मुनिजी ने देखा-तो आप बड़े ही प्रभावित हुए। उनकी ओर का आग्रह-हुआ कि इसे शीघ्र-से-शीघ्र पूरा कर दिया जाय। परन्तु आप जानते हैं जैन भिक्षु की 'जीवनचर्या' कहीं एक जगह जमकर बैठने की नहीं है। यहाँ चतुर्मास में ही-थोड़ा बहुत लिखने का कार्य हो सकता है। फिर सब जगह प्राचीन और नवीन पुस्तक सामग्री भी तो नहीं मिल पाती है। बिना प्रामाणिक आधार लिए केवल कल्पना के भरोसे कलम को आगे बढ़ाना, आजकल मुझे पसन्द नहीं रहा है। यही कारण है कि श्रमण सूत्र के लेखन का कार्य यथाशीघ्र प्रगति नहीं कर सका।

अबकी बार आगरा में कुछ दिन ठहरना हुआ तो विचार आया कि वह कार्य पूरा कर दूँ। यहाँ साधन-सामग्री भी उपलब्ध थी। कुछ दिन तो कार्य ठीक चलता रहा। परन्तु इधर दो महीने से मैं बराबर अस्वस्थ रहा। सिरदर्द ने इतना तंग किया है कि अधिक क्या लिखूँ? ये पंक्तियाँ भी सिरदर्द की दुःस्थिति में ही लिखी जा रही हैं। हाँ, तो कुछ दिन लेखन कार्य बन्द भी रक्खा, पर कुछ विशेष स्वास्थ्य लाभ न हुआ। और इसी बीच व्यावर संघ का अत्याग्रह होने से वहाँ के चातुर्मास के लिए स्वीकृति दे दी। अब प्रश्न यह आया कि जैसे भी हो कार्य पूर्ण किया जाय, अन्यथा अधूरा ही छोड़कर विहार करना होगा।

हाँ, तो सिर दर्द होते हुए भी लिखने में जुटना पड़ा। इधर लिखता था और उधर मुद्रण बड़ी तीव्र गति से चल रहा था। इस बार बड़ी विकट स्थिति में मुझे गुजरना पड़ा है। अतः मैं जैसा चाहता था, अथवा मेरे साथी मुझसे जैसा चाहते थे, वैसा तो मैं नहीं लिख सका हूँ। प्रारम्भ में ही अपनी दुर्बलता के लिए क्षमा याचना कर लेता हूँ। फिर भी कुछ लिखा गया है। केवल 'न' से कुछ 'हाँ' अच्छी ही होती है। हाँ, तो मैं लिख गया हूँ। अब क्या है, कैसा है, वह सब विचार करना, पाठकों का काम है। सम्भव है कहीं इधर-उधर लिखा गया हो, मूल की भावनाएँ स्पष्ट न हो पाई हों, विपर्यास भी हुआ हो, उन सबके लिए मुझे आशा है आत्मीयता की पवित्र भावना से सुचनाएँ मिलेंगी और

मैं शुद्ध हृदय से उा पर विचार करूँगा एवं भूल को भूल मानूँगा। भूल स्वीकार करने में न मुझे कभी संकोच रहा है और न अन है। हाँ, भूल यदि वस्तुतः भूल हो तो !

आन्तरिक दिग्दर्शन में अच्छी तरह लिगना चाहता था। इस ओर मैंने प्रारम्भ से ही विस्तार की भूमिना भी अपनाई थी। परन्तु दुर्भाग्य से स्वास्थ्य ने साथ अच्छा नहीं दिया, फलतः मुझे मन मारकर भी सिमटना पड़ा। आन्तरिक पर मैं खुलकर चर्चा करना चाहता था, वह इच्छा पूर्ण न हो सकी। रौर, कोई बात नहीं। मैं भविष्य के प्रति सदा ही आशावादी रहा हूँ। कभी समय मिला तो मैं इस विषय पर बहुत अच्छी साप्पस लेकर उपस्थित होऊँगा। इतने समय तक चिन्तन को और अधिक अवकाश मिल सकेगा, फलतः अच्छा आनी स्थिति की ओर अधिक सुदृढ़ बना सकेगा।

प्रस्तुत धमण सूत्र के सम्पादन में मेरा क्या है ? मेरा तो केवल धम है इधर उधर से पगारने का और उसे व्यापक रूप देने का। प्राचीन आगम साहित्य और जेनाचार्यों का विचार प्रकाश ही मेरे लिए पथ प्रदर्शन बना है। आचार्य भद्रनाथ स्वामी, आचार्य हरिभद्र और आचार्य जिनदास आदि का तो मुझ पर बहुत ही अधिक ऋण है। और इधर जैनमत के ख्यातनामा मदान् दार्शनिक पण्डित सुखलालजी का पत्र प्रतिनमण एवं स्थानक वाली जैन समाज के सुप्रसिद्ध ज्ञानाचार के साधक साहित्यप्रेमी श्रीमंस्दानजी सेठिया जीमानेर का बोलसप्रद भी यत्रतत्र पथ प्रदर्शन रहा है। उक्त ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का खासा अच्छा ऋण मेरी स्मृति में है। प्रत्यन वा परोक्ष किसी भी रूप में किसी की किसी भी कृति से किसी भी प्रकार का सहयोग मिला हो तो मैं उन सब महानुभावों का कृतज्ञ हूँ।

भूमिना ही तो है, अधिक निराने से क्या लाभ ? फिर भी पाठक समा रहेगे, मैं अपने कुछ स्नेही सहयोगियों का स्मृति में ले आना चाहता हूँ। श्रद्धेय जेनाचार्य गुरुदेव पूज्य श्री पृथ्वीचन्द्रजी महाराज का

आशीर्वाद, व्याख्यानवाचस्पति श्रद्धेय श्री मदन मुनि जी एवं योगनिष्ठ श्रीरामजीलालजी म० की उत्साह पूर्ण मधुर प्रेरणा, श्री बलवन्त मुनि जी का विलम्ब होते रहने के लिए समय समय पर उलहना, मेरे चिर स्नेही गुरु भ्राता श्री अभोलकचन्दजी का पद-पद पर सहयोग एवं परामर्श, मेरे प्रिय शिष्ययुगल श्री विजय मुनि और सुरेश मुनिजी का सहकार ही मुझे प्रस्तुत विशाल-लेखन कार्य की पूर्ति पर पहुँचा सका है। और जैन सिद्धान्त सभा के संस्थापक श्री नगीनदास गिरधरलाल सेठ चम्बई और श्री दयालचन्द्र जी चोरडिया रोशन मुहल्ला आगरा की ओर से मिलने वाली साहित्य सामग्री आदि का सहयोग भी प्रस्तुत कार्य के साथ स्मृति में रहेगा। सन्मतिज्ञान पीठ के महामन्त्री सेठ रतनलाल जी की सेवा तो अपनी निजी बात है, वह भुलाई ही कैसे जा सकती है ? प्रिय आत्म-बन्धुओ ! तुम सब का सहयोग भविष्य के लिए भी यथावसर प्रस्तुत रहे, यही मङ्गल कामना।

आगरा
चैत्र पूर्णिमा
सं० २००७

}

—अमर मुनि

विषय-सूची

विषय	पृष्ठांक
आवश्यक दिग्दर्शन	१—२१३
१ मानव जीवन का महत्त्व	१
२ मानव जीवन का ध्येय	१४
३ सच्चे सुख की शोध	२८
४ आवश्यक-धर्म	३६
५ श्रमण धर्म	५२
६ 'श्रमण' शब्द का निर्वाचन	७३
७ आवश्यक का स्वरूप	८१
८ आवश्यक का निर्वाचन	८३
९ आवश्यक के पर्याय	८६
१० द्रव्य और भाव आवश्यक	८८
११ आवश्यक के छः प्रकार	९०
१२ सामायिक आवश्यक	९३
१३ चतुर्विंशति स्तन आवश्यक	१०५
१४ वन्दन आवश्यक	११०
१५ प्रतिक्रमण आवश्यक	११८
१६ कायोत्सर्ग आवश्यक	१२६
१७ प्रत्याग्यान आवश्यक	१४२
१८ आवश्यकों का क्रम	१५०
१९ आवश्यक से लौकिक जीवन की शुद्धि	१५३

१०	आवश्यक का आध्यात्मिक फल	१५४
२१	प्रतिक्रमण जीवन की एक रूपता	१५८
२२	प्रतिक्रमण : जीवन की डायरी	१६५
२३	प्रतिक्रमण : आत्मपरीक्षण	१६८
२४	प्रतिक्रमण : तीसरी ओषध	१७५
२५	प्रतिक्रमण : मिच्छामि दुक्कड़ं	१७६
२६	मुद्रा	१८६
२७	प्रतिक्रमण पर जन-चिन्तन	१८६
२८	प्रश्नोत्तरी	२०१
			१—२६८
	मरण-सूत्र		
१	नमस्कार-सूत्र	१
२	सामायिक-सूत्र	१६
३	मंगल-सूत्र	२५
४	उत्तम-सूत्र	३१
५	शरण-सूत्र	३६
६	संक्षिप्त प्रतिक्रमण-सूत्र	४३
७	ऐर्यापथिक-सूत्र	५३
८	शय्या-सूत्र	६७
९	गोचरचर्या-सूत्र	७५
१०	काल-प्रतिलेखना-सूत्र	८४
११	असंयम-सूत्र	१०७
१२	बन्धन-सूत्र	११०
१३	दण्ड-सूत्र	११४
१४	गुप्ति-सूत्र	११६
१५	शल्य-सूत्र	११६
१६	गौरव-सूत्र	१२२
१७	विराधना-सूत्र	१२४

१८	व्याप-सूत्र	—	—	१२६
१९	संज्ञा-सूत्र	—	—	१२६
२०	विकथ-सूत्र	—	—	११२
२१	ध्यान-सूत्र	—	—	१३६
२२	क्रिया-सूत्र	—	—	१३६
२३	काम-गुण-सूत्र	—	—	१४२
२४	महाभन-सूत्र	—	—	१४६
२५	संमिति-सूत्र	—	—	१४६
२६	वीरनिनाय-सूत्र	—	—	१५१
२७	लेख्य-सूत्र	—	—	१५६
२८	भयादि-सूत्र	—	—	१६०
२९	प्रतिज्ञा-सूत्र	—	—	२१२
३०	क्षामणा-सूत्र	—	—	२५८
३१	उत्तराहार-सूत्र	—	—	२६५

परिशिष्ट

२६६-४४३

१ द्वादशावर्त गुरुचन्दन-मूत्र

२७०

२ प्रत्याख्यान-सूत्र

३०२-३४०

१	नमस्कार-सहित-सूत्र	—	—	३०१
२	पौरुषी-सूत्र	—	—	३०८
३	पूर्वाव-सूत्र	—	—	३११
४	एकाशन-सूत्र	—	—	३१६
५	एकस्थान-सूत्र	—	—	३२१
६	आचाम्ल-सूत्र	—	—	३२१
७	अभक्तार्थ-उपनास-सूत्र	—	—	३२१
८	दिवस-चरित-सूत्र	—	—	३३
९	अभिप्रद-सूत्र	—	—	३३

१०	निर्विकृतिक-सूत्र	३३५
११	प्रत्याख्यान-पारणा सूत्र	३३८
३	संस्तार-पौरुषी-सूत्र			३४१
४	शेष-सूत्र			३५०-३६७
१	सम्यक्त्व-सूत्र	३५०
२	गुरु-गुण-स्मरण-सूत्र	३५१
३	गुरु-वन्दन-सूत्र	३५२
४	आलोचना-सूत्र	३५४
५	उत्तरीकरण-सूत्र	३५५
६	आगार-सूत्र	३५६
७	चतुर्विंशतिस्तव-सूत्र	३५८
८	प्राणपात-सूत्र	३६३
५	संस्कृतच्छायाऽनुवाद			३६८
६	अतिचार-आलोचना			३६५
७	परमेष्ठि-वन्दन			४०५
८	बोल-संग्रह			४०६-४४०
१	प्रतिलेखना की विधि	४०६
२	अप्रमाद-प्रतिलेखना	४१०
३	प्रमाद-प्रतिलेखना	४१०
४	आहार करने के छः कारण	४११
५	आहार त्यागने के छः कारण	४१२
६	शिक्षाभिलाषी के आठ गुण	४१२
७	उपदेश देने योग्य आठ बातें	४१२
८	भिक्षा की नौ कोटियाँ	४१३
९	रोग की उत्पत्ति के नौ कारण	४१३
१०	समाचारी के दश प्रकार	४१४

११	साधु ने योग्य चौदह प्रकार का दान
१२	कायोत्सर्ग के उन्नीस दोष
१३	साधु की ३१ उपमाएँ
१४	बत्तीस अस्वाध्याय
१५	वन्दना के बत्तीस दोष
१६	तेतीस आशातनाएँ
१७	गोचरी के ४७ दोष
१८	चरण-सप्तति
१९	करण-सप्तति
२०	चारसी लाख जीव योनि
२१	पाँच व्यवहार
२२	अठारह हजार शीलाङ्ग रथ
	विवेचनादि में प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची	

आवश्यक-दिग्दर्शन

: १ :

मानव-जीवन का महत्त्व

जब हम अपनी आँखें खोलते हैं और इधर-उधर देखने का प्रयत्न करते हैं तो हमारे चारों ओर एक विराट संसार फैला दिखलाई पड़ता है। बड़े-बड़े नगर वैसे हुए हैं और उनमें खासा अच्छा तूफान जीवन-संघर्ष के नाम पर चलता रहता है। दूर-दूर तक विशाल जंगल और मैदान हैं, जिनमें हजारों-लाखों वन्य पशु पक्षी अपने लुट्ट जीवन की मोह-माया में उलझे रहते हैं। ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हैं, नदी नाले हैं, भील हैं, समुद्र हैं, सर्वत्र असंख्य जीव-जन्तु अपनी जीवन यात्रा की दौड़ लगा रहे हैं। ऊपर आकाश की ओर देखते हैं तो वहाँ भी सूर्य, चन्द्र नक्षत्र और तारों का उज्ज्वल चमकता हुआ संसार दिन-रात अविराम गति से उदय-अस्त की परिक्रमा देने में लगा हुआ है।

यह संसार इतना ही नहीं है, जितना कि हम आँखों से देख रहे हैं, या इधर-उधर कानों से सुन रहे हैं। हमारे आँख, कान, नाक, जीभ और चमड़े की जानकारी सीमित है, अत्यन्त सीमित है। आखिर हमारी इन्द्रियाँ क्या कुछ जान सकती हैं? जब हम शास्त्रों को उठाकर देखते हैं तो आश्चर्य में रह जाते हैं। असंख्य द्वीप समुद्र, असंख्य नारक और असंख्य देवी देवताओं का संसार हम कहाँ आँखों से देख पाते हैं? उनका पता तो शास्त्र द्वारा ही लगता है। अहो कितनी बड़ी है यह दुनिया !

हमारे कोटि-सोटे चार अभिमुखीय देवाधिदेव भगवान् महानीय स्वामी ने, देविण, दिश न प्रसंगता का कितना सुन्दर चित्र उपस्थित किया है ?

गौतम पूछते हैं—“भन्ते ! यह लोक कितना विशाल है ?”

भगवान् उत्तर देते हैं—“गौतम ! अस्सख्यात कोड़ा-कोड़ी योजन पूर्व दिशा में, अस्सख्यात कोड़ा-कोड़ी योजन पश्चिम दिशा में, हसी प्रकार अस्सख्यात कोड़ा-कोड़ी योजन दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व और अधोदिशा में लोक का विस्तार है ।” —भगवती १२, ७, सू० ४४७ ।

गौतम प्रश्न करते हैं—“भन्ते ! यह लोक कितना बड़ा है ?”

भगवान् समाधान करते हैं—“गौतम ! लोक की विशालता को समझने के लिए कल्पना करो कि एक लाख योजन के ऊँचे मेरु पर्वत के शिखर पर छ महान् शक्तिशाली ऋद्धिसपन देवता बैठे हुए हैं और नीचे भूतल पर चार दिशाकुमारिकाएँ हाथों में बलिपिंड लिए चार दिशाओं में खड़ी हुई हैं, जिनकी पीठ मेरु की ओर है एवं मुख दिशाओं की ओर ।”

—“उक्त चारों दिशाकुमारिकाएँ ऊपर अपने बलिपिंडों को अपनी अपनी दिशाओं में एक साथ फेंकती हैं और ऊपर उन मेरुशिखरस्थ छ देवताओं में से एक देवता तत्काल दौड़ लगाकर चारों ही बलिपिंडों को भूमि पर गिरने से पहले ही पकड़ लेता है । इस प्रकार शीघ्रगति वाले वे छहों देवता हैं, एक ही नहीं ।”

—“उपर्युक्त शीघ्र गति वाले छह देवता एक दिन लोक का अन्त मालूम करने के लिये क्रमशः छहों दिशाओं में चल पड़े । एक पूर्व की ओर तो एक पश्चिम की ओर, एक दक्षिण की ओर तो एक उत्तर की ओर, एक ऊपर की ओर तो एक नीचे की ओर । अपनी पूरी गति से एक पल का भी विश्राम किए बिना दिन रात चक्कर रहे, चक्करे क्या उड़ते रहे ।”

जैसे ऋण देवता मेरुशिखर से उड़े, कल्पना करो, उसी ऋण-स्थ के यहाँ एक हजार वर्ष की आयु वाला पुत्र उत्पन्न हुआ। १ वर्ष पश्चात् माता-पिता परलोकवासी हुए। पुत्र बड़ा हुआ और विवाह हो गया। वृद्धावस्था में उसके भी पुत्र हुआ और बड़ा वर्ष की आयु पूरी करके चल बसा।”

गौतम स्वामी ने बीच में ही तर्क किया—“भन्ते ! वे देवता, जो अथाकथित शीघ्र गति से लोक का अन्त लेने के लिए निरन्तर दौड़ लगा रहे थे, हजार वर्ष में क्या लोक के छोर तक पहुँच गए ?”

भगवान् महावीर ने वस्तुस्थिति की गम्भीरता पर चल देते हुए कहा—“गौतम, अभी कहाँ पहुँचे हैं ? इसके बाद तो उसका पुत्र, फिर उसका पुत्र, फिर उसका भी पुत्र, इस प्रकार एक के बाद एक, एक हजार वर्ष की आयु वाली सात पीढ़ी गुजर जायँ, इतना ही नहीं, उनके नाम गोत्र भी विस्मृति के गर्भ में विलीन हो जायँ, तब तक वे देवता चलते रहें, फिर भी लोक का अन्त नहीं प्राप्त कर सकते। इतना महान् और विराट् है यह संसार।” —भगवती ११, २०, सू० ४२१।

जैन साहित्य में विश्व की विराटता के लिए चौदह राजु की भी एक मान्यता है। मूल चौदहराजु और वर्ग कल्पना के अनुसार तीन सौ से कुछ अधिक राजु का यह संसार माना जाता है। एक व्याख्याकार राजु का परिमाण बताते हुए कहते हैं कि कोटिमण लोहे का गोला यदि ऊँचे आकाश से छोड़ा जाय और वह दिन-रात अविराम गति से नीचे गिरता-गिरता छह मास में जितना लम्बा मार्ग तय करे, वह एक राजु की विशालता का परिमाण है।

विश्व की विराटता का अब तक जो वर्णन आपने पढ़ा है, संभव है, आपकी कल्पना शक्ति को स्पर्श न कर सके और आप यह कह कर अपनी बुद्धि को सन्तोष देना चाहें कि—‘यह सब पुरानी गाथा है, किवदन्ती है।’ इसके पीछे वैज्ञानिक विचार धारा का कोई आधार नहीं

हमारे कोटि-कोटि चार अभिन्न-दनीय देवाधिदेव भगवान् महावीर
सामी ने, देखिए, विश्व की विशालता का कितना सुन्दर चित्र उपस्थित
किया है ?

✓ गौतम पूछते हैं—“भन्ते ! यह लोक कितना विशाल है ?”

✓ भगवान् उत्तर देते हैं—“गौतम ! अस्मत्प्रातः कोड़ा-कोड़ी योजन
पूर्व दिशा में, अस्मद्व्यात कोड़ा-कोड़ी योजन पश्चिम दिशा में, इसी
प्रकार अस्मत्प्रातः कोड़ा-कोड़ी योजन दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व और अधोदिशा
में लोक का विस्तार है ।” —भगवती १२, ७, सू० ४५७ ।

गौतम प्रश्न करते हैं—“भन्ते ! यह लोक किनना बड़ा है ?”

भगवान् समाधान करते हैं—“गौतम ! लोक की विशालता को
समझने के लिए कल्पना करो कि एक लाख योजन के ऊँचे मेघ पर्वत
के शिखर पर छः महान् शक्तिशाली ऋद्धिसम्पन्न देवता बैठे हुए हैं
और नीचे भूतल पर चार दिशाकुमारिकाएँ हाथों में बलिर्पिंड लिए
चार दिशाओं में खड़ी हुई हैं, जिनकी पीठ मेघ की ओर है एवं मुख
दिशाओं की ओर ।”

—“उक्त चारों दिशाकुमारिकाएँ इधर अपने बलिर्पिंडों को अपनी
अपनी दिशाओं में एक साथ फेंकती हैं और उधर उन मेघशिखरस्थ छः
देवताओं में से एक देवता तत्काल दौड़ लगाकर चारों ही बलिर्पिंडों को भूमि
पर गिराने से पहले ही पकड़ लेता है । इस प्रकार शीघ्रगति वाले वे
छहों देवता हैं, एक ही नहीं ।”

—“उपर्युक्त शीघ्र गति वाले छहों देवता एक दिन लोक का अन्त
मालूम करने के लिये प्रभुशः छहों दिशाओं में चल पड़े । एक पूर्व की
ओर तो एक पश्चिम की ओर, एक दक्षिण की ओर तो एक उत्तर की
ओर, एक ऊपर की ओर तो एक नीचे की ओर । अपनी पूरी गति से
एक पल का भी विश्राम लिए बिना दिन रात चलने रूढ़े, चलने क्या
चलने रहे ।”

—“जिस क्षण देवता मेरुशिखर से उड़े, कल्पना करो, उसी क्षण किसी गृहस्थ के यहाँ एक हजार वर्ष की आयु वाला पुत्र उत्पन्न हुआ। कुछ वर्ष पश्चात् माता-पिता परलोकवासी हुए। पुत्र बड़ा हुआ और उसका विवाह हो गया। वृद्धावस्था में उसके भी पुत्र हुआ और बूढ़ा हजार वर्ष की आयु पूरी करके चल बसा।”

गौतम स्वामी ने चीच में ही तर्क किया—“भन्ते ! वे देवता, जो यथाकथित शीघ्र गति से लोक का अन्त लेने के लिए निरन्तर दौड़ लगा रहे थे, हजार वर्ष में क्या लोक के छोर तक पहुँच गए ?”

भगवान् महावीर ने वस्तुस्थिति की गम्भीरता पर चल देते हुए कहा—“गौतम, अभी कहाँ पहुँचे हैं ? इसके बाद तो उसका पुत्र, फिर उसका पुत्र, फिर उसका भी पुत्र, इस प्रकार एक के बाद एक एक हजार वर्ष की आयु वाली सात पीढ़ी गुजर जायें, इतना ही नहीं, उनके नाम गोत्र भी विस्मृति के गर्भ में विलीन हो जायें, तब तक वे देवता चलते रहे, फिर भी लोक का अन्त नहीं प्राप्त कर सकते। इतना महान् और विराट् है यह संसार।” —भगवती ११, २०, सू० ४२१।

जैन साहित्य में विश्व की विराटता के लिए चौदह राजु की भी एक मान्यता है। मूल चौदहराजु और वर्ग कल्पना के अनुसार तीन नौ से कुछ अधिक राजु का यह संसार माना जाता है। एक व्याख्याकार राजु का परिमाण बताते हुए कहते हैं कि कोटिमण लोहे का गोला यदि ऊँचे आकाश से छोड़ा जाय और वह दिन रात अविरोध गति से नीचे गिरता गिरता छह मास में जितना लम्बा मार्ग तय करे, वह एक राजु की विशालता का परिमाण है।

विश्व की विराटता का अब तक जो वर्णन आपने पढ़ा है, सम्भव है, आपकी कल्पना शक्ति को स्पर्श न कर सके और आप यह कह कर अपनी बुद्धि को सन्तोष देना चाहें कि—‘यह सब पुरानी गाथा किवदन्ती है। इसके पीछे वैज्ञानिक विचार धारा का कोई आधार

है। आज का युग विज्ञान का प्रतिनिधित्व करता है, वलगः ऐसा सोचना और कहना, अपने आप में कोई बुरी बात भी नहीं है।

अच्छा तो आइए, जग विज्ञान की पौधियों के भी कुछ पन्ने उलट लें। सुप्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक डॉ० गोरखनाथ का औरसंसार नामक भीमकाय ग्रन्थ लेखन के सामने है। पुस्तक का पाँचवाँ अध्याय खुला हुआ है और उसमें सूर्य की दूरी के सम्बन्ध में जो शानदारक एवं साथ ही मनोहरक वर्णन है, वह आपके सामने है, जरा धैर्य के साथ पढ़ने का कष्ट उठाएँ।

—“पता चला है कि सूर्य हमसे लगभग सत्ता नौ करोड़ मील की विकट दूरी पर है। सत्ता नौ करोड़ ! अंक गणित भी क्या ही निश्चिन्त है कि इतनी बड़ी संख्या को आठ ही अंकों में लिख डालता है और इस प्रकार हमारी कल्पना शक्ति का भ्रम में डाल देता है। [अंक गणित का इतना विकास न होता तो आप एक, दो, तीन, चार, आदि के रूप में गिनकर इस तथ्य को समझते। परन्तु विचार कीजिए कि सत्ता नौ करोड़ तक गिनने में आपका कितना समय लगता ?—लेखक] यदि आप धीरे-धीरे गिनें तो शायद एक मिनट में २०० तक गिन डालें, परन्तु इसी गति से लगातार, बिना एक क्षण भ्रमण या सोने के लिये रुके हुए गिनते रहने पर भी आप को सत्ता नौ करोड़ तक गिनने में ११ महीना लग जायगा।”

—[हों तो आइए, जरा डाक्टर साहब की इपर उपर की बातों में न जाकर सीधा सूर्य की दूरी का परिमाण मालूम करें—लेखक] “यदि हम रेलगाड़ी से सूर्य तक जाना चाहें और यह गाड़ी बिना रुके हुए बराबर डाकगाड़ी की तरह ६० मील प्रति घण्टे के हिसाब से चलत जाय तो हमें यहाँ तक पहुँचने में १७५ वर्ष से कम नहीं लगेगा। १ पाई प्रति मील के हिसाब से तीसरे दर्जे के आने जाने का खर्च स सात लाख रुपया हो जायगा।” “आज हवा में प्रति सेकण्ड १ १०० फुट चलती है। यदि यह शून्य में भी उसी गति से चलती।

सूर्य पर घोर शब्द होने से पृथ्वी पर वह चौदह वर्ष बाद सुनाई पड़ता ।”

—सौर परिवार, ५ वाँ अध्याय

अकेले सूर्य के सम्बन्ध में ही यह बात नहीं है । वैज्ञानिक और भी बहुत से दिव्य लोक स्वीकार करते हैं और उन सबकी दूरी की कल्पना चक्कर में डाल देने वाली है । वैज्ञानिक प्रकाश की गति प्रति सेकण्ड—मिनट भी नहीं—१, ८६००० मील मानते हैं । हाँ, तो वैज्ञानिकों के कुछ दिव्य लोक इतनी दूरी पर हैं कि वहाँ से प्रकाश जैसे शीघ्र-गामी दूत को भी पृथ्वी तक उतरने में हजारों वर्ष लग जाते हैं । अब मैं इस सम्बन्ध में अधिक कुछ न कहूँगा । जिस सम्बन्ध में मुझे कुछ कहना है, उसकी काफी लम्बी चौड़ी भूमिका बंध चुकी है । आइए, इस महाविश्व में अब मनुष्य की खोज करें ।

यह विराट् संसार जीवों से ठसाठसा भरा हुआ है । जहाँ देखते हैं, वहाँ जीव ही जीव दृष्टिगोचर होते हैं । भूमण्डल पर कीड़े-मकोड़े, विन्छू-मॉप, गधे घोड़े आदि विभिन्न आकृति एवं रंग रूपों में कितने कोटि प्राणी चक्कर काट रहे हैं । समुद्रों में कच्छ मच्छ, मगर, घड़ियाल आदि कितने जलचर जीव अपनी मंहार लीला में लगे हुए हैं । आकाश में भी कितने कोटि रंग-विरंगे पक्षीगण उड़ानें भर रहे हैं । इनके अतिरिक्त वे असंख्य सूक्ष्म जीव भी हैं, जो वैज्ञानिक भाषा में क्रीटाणु के नाम से जाने गए हैं, जिनको हमारी ये स्थूल आँखें स्वतन्त्र रूप में देख भी नहीं सकतीं । पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु में असंख्य जीवों का एक विराट् संसार सोया पड़ा है । पानी की एक नन्ही-सी बूँद असंख्य जलकाय जीवों का विश्राम स्थल है । पृथ्वी का एक छोटा-सा रजकण असंख्य पृथ्वीकायिक जीवों का पिंड है । अग्नि और वायु के सूक्ष्म से सूक्ष्म कण भी इसी प्रकार असंख्य जीवराशि से समाविष्ट हैं । वन-स्पति काय के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है ? वहाँ तो पनक (काई) आदि-निमोद् में अनन्त जीवों का संसार मनुष्य के एक श्वास लेने जैसे क्षुद्रकाल में कुछ अधिक सत्तरह बार जन्म, जरा और मरण का खेल

रोनता रहता है। और वे अनन्त जीव एक ही शरीर में रहते हैं, कला। उनका आहार और शरण एक साथ ही होता है ! हाहन्त ! किनी दयनीय है जीवन की विडम्भा ! भगवान् महावीर ने इसी गिगट जीव राशि को ध्यान में रखकर अपने पासापुर के प्रवचन में कहा है कि गृहम पाँच स्थानों से यह अर्थ न दोटनात्मक गिगट मसार (पात्रन की कुत्ती के समान) ठसठास भरी हुआ है, कहीं पर अणुमात्र भी ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ कोई गृहम जीव न हो। मण्डूक्य नोमाकाश मूह्य जीवों में परिगणित है — 'मुहुमा गठनलोगमि' — उत्तपथ्यन मूत्र ३६ वाँ अरण्यन ।

हाँ, तो इस महाकाय गिगट मसार में मनुष्य का क्या स्थान है ? अनन्तानन्त जीवों के संसार में मनुष्य एक नन्दे से क्षेत्र में अरुद्ध-सा लड़ा है। जहाँ अन्य जाति के जीव अमंग्य तथा अनन्त संख्या में हैं, वहाँ यह मानव जाति अत्यन्त अल्प ९६ सीमित है। जैन शास्त्रकार माता के गर्भ से पैदा होने वाली मानवजाति की संख्या को कुछ अंकी तक ही सीमित मानते हैं। एक कवि एवं दार्शनिक की भाषा में कहें तो विश्व की अनन्तानन्त जीवराशि के सामने मनुष्य की गणना में आ जाने वाली अल्प संख्या उन्नी प्रकार है कि जिस प्रकार विश्व के नदी नाला एवं समुद्रों के सामने पानी की एक पुहार और संचार के समस्त पहाड़ों एवं भूपिण्ड के सामने एक जलान्ता धूल का कण ! आज संसार के दूर-दूर तक के मैदानों में मानवजाति के जाति, देश या धर्म के नाम पर किए गए कल्पित दुकड़ों में संवर्ष छिड़ा हुआ है कि 'हाय हम अल्प संख्यक हैं, हमारा क्या हाल होगा ? बहुसंख्यक हमें तो जीविन भी नहीं रहने देंगे।' परन्तु ये ठुक्के यह ज़रा भी नहीं विचार पाते कि विश्व की असंख्य जीव जातियों के समस्त यदि कोई सचमुच अल्प संख्यक जीवजाति है तो यह मानवजाति है। चौदह राजकोक में से उसे केवल सब से छुट्ट एवं सीमित टाई दीर ही रहने को मिले है। क्या समूची मानवजाति अकेले में बैठकर कभी अपनी अल्पसंख्यकता पर विचार करेगी ?

संसार में अनन्तकाल से भटकती हुई कोई आत्मा जब क्रमिक विकास का मार्ग अनाती है तो वह अनन्त पुण्य कर्म का उदय होने पर निगोद से निकल कर प्रत्येक वनस्पति, पृथ्वी, जल आदि की योनियों में जन्म लेती है। और जब यहाँ भी अनन्त शुभकर्म का उदय होता है तो द्वीन्द्रिय केंचुआ आदि के रूप में जन्म होता है। इसी प्रकार त्रीन्द्रिय चींटी आदि, चतुरिन्द्रिय मक्खी मच्छर आदि, पञ्चेन्द्रिय नारक तिर्यच आदि की विभिन्न योनियों को पार करता हुआ, क्रमशः ऊपर उठता हुआ जीव, अनन्त पुण्य बल के प्रभाव से कहीं मनुष्य जन्म ग्रहण करता है। भगवान् महावीर कहते हैं कि जब “अशुभ कर्मों का भार दूर होता है, आत्मा शुद्ध, पवित्र और निर्मल बनता है, तब वहाँ वह मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ गति को प्राप्त करता है।”

कम्माणं तु पहाणाए
आणुपुण्वी कयाइ उ ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता
आययंति मणुस्सयं ॥

—(उत्तराध्ययन ३।७)

विश्व में मनुष्य ही सब से थोड़ी संख्या में है, अतः वही सबसे दुर्लभ भी है, महार्थ भी है। व्यापार के क्षेत्र में यह सर्व साधारण का पखा हुआ सिद्धान्त है कि जो चीज जितनी ही अल्प होगी, वह उतनी ही अधिक मंहगी भी होगी। और फिर मनुष्य तो अल्प भी है और केवल अल्पता के नाते ही नहीं, अपितु गुणों के नाते श्रेष्ठ भी है। भगवान् महावीर ने इसी लिए गौतम को उपदेश देते हुए कहा है—
“संसारी जीवों को मनुष्य का जन्म चिरकाल तक इधर उधर की अन्य योनियों में भटकने के बाद बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है, वह सहज नहीं है। दुष्कर्म का फल बड़ा ही भयंकर होता है, अतएव हे गौतम ! क्षण भर के लिए भी प्रमाद मत कर।”

दुल्लभे गतु माणुसे भवे,
 चिर कालेण वि सञ्जपाणिणं ।
 गाथा प धिपात कानुणो,
 समयं गोयम । मा पमायण ॥

—(उत्तराख्यान १०।४)

जैन संस्कृति में मानव जन्म को बहुत ही दुर्लभ एवं महान् माना गया है। मनुष्य जन्म पाना, जिस प्रकार दुर्लभ है, इस के लिए जैन संस्कृति के व्याख्याताओं ने दश दृष्टान्तों का निरूपण किया है। सब के सब उदाहरणों के कहने का न गढ़ों आवश्यक ही है और न औचित्य ही। वस्तु स्थिति की स्पष्टता के लिए कुछ बातें आपके सामने रखनी पड़ी हैं, आशा है, आप जैन विद्वान् इ-हों के द्वारा मानवजीवन का महत्त्व समझ सकेंगे।

✓ "कल्पना करो कि मानव शरीर के जितने भी छोटे उके धान्य हों, उन सब को एक देवता किसी स्थान विशेष पर यदि इकट्ठा करे, पहाड़ जितना ऊँचा गगन चुम्बी ढेर लगा दे। और उस ढेर में एक सेर सरसों भिलादे, खूर अन्धी तरह उथल-पुथल कर। मा वर्ष की बुढ़िया, जिसके हाथ काँपते हों, गढ़ने काँची हो, और औंछा से भी कम दीखता हो। उन को छत्र देकर कहा जाय कि 'इस धान्य के ढेर में से भर भर सरसों निकाल दो।' क्या वह बुढ़िया सरसों का एक एक दाना जिन पर पुनः सेर भर सरसों का अलग ढेर निकाल सकती है? आप को अगम्य मालूम होता है। परन्तु यह सब तो किमी तरह देवशक्ति आदि के द्वारा समभव भी हो सकता है, परन्तु एक बार मनुष्यजन्म पाकर जो देने के बाद पुनः उसे प्राप्त करना सहज नहीं है।"

✓ "एक बहुत लम्बा चौड़ा जलाशय था, जो हजारों वर्षों से शैवाल (काई) की मोटी तह से आच्छादित रहता आया था। एक बहुत बड़े अग्नि-प्रहार के कारण जलाशय जलना, तभी से शैवाल के नीचे अन्धकार

में ही जीवन गुजार रहा था। उसे पता ही न था कि कोई और भी दुनिया हो सकती है। एक दिन बहुत भयंकर तेज अंधड़ चला और उस शैवाल में एक जगह जरा-सा छेद हो गया। दैवयोग से वह कछुआ उस समय वहीं छेद के नीचे गर्दन लम्बी कर रहा था तो उसने सहसा देखा कि ऊपर आकाश चाँद, नक्षत्र और अनेक कोटि ताराओं की ज्योति से जगमग-जगमग कर रहा है। कछुआ आनंद-विभोर हो उठा। उसे अपने जीवन में यह दृश्य देखने का पहला ही अवसर मिला था। वह प्रसन्न होकर अपने साथियों के पास दौड़ा गया कि 'आओ, मैं तुम्हें एक नई दुनिया का सुन्दर दृश्य दिखाऊँ। वह दुनिया हमसे ऊपर है, रत्नों से जड़ी हुई, जगमग-जगमग करती।' सब साथी दौड़ कर आए, परन्तु इतने में ही वह छेद बन्द हो चुका था और शैवाल का अग्रण्ड आवरण पुनः अपने पहले के रूप में तन गया था। वह कछुआ बहुत देर तक इधर-उधर टक्कर मारता रहा, परन्तु कुछ भी न दिखा सका। साथी हँसते हुए चले गए कि मालूम होता है, 'तुमने कोई स्वप्न देख लिया है! क्या उस कछुवे को पुनः छेद मिल सकता है, ताकि वह चाँद और तारों से जगमगाता आकाश-लोक अपने साथियों को दिखा सके? यह मन्त्र हो सकता है, परन्तु नर-जन्म खोने के बाद पुनः उसका मिलना सरल नहीं है।'।

१) "स्वर्गभूरमण संमुद्र सबसे बड़ा समुद्र माना गया है, असंख्यात हजार योजन का लंबा-चौड़ा। पूर्व दिशा के किनारे पर एक जूआ पानी में छोड़ दिया जाय, और दूसरी तरफ पश्चिम के किनारे पर एक कीली। 'क्या कभी हवा के भोंहों से लहरों पर तैरती हुई कीली जूए के छेद में अपने आप आकर लग सकती है?' संभव है यह अव्यक्त घटना घटित हो जाय! परन्तु एक बार खोने के बाद मनुष्य जन्म का फिर प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है।"

२) "कल्पना करो कि एक देवता पत्थर के स्तम्भ को पीस कर आटे की तरह चूर्ण बना दे और उसे घाँस की नली में डालकर मेरु पर्वत की

चोटी पर से फूंक मार कर उड़ा दे। वह स्तम्भ परमाणुरूप में होकर विश्व में इधर-उधर फैल जाय। क्या कभी ऐसा हो सकता है कि कोई देवता उन परमाणुओं को फिर इकट्ठा कर ले और उन्हें पुनः उसी स्तम्भ के रूप में बदल दे? यह असंभव, सम्भन है, संभव हो भी जाय। परन्तु मनुष्य जन्म का पाना बड़ा ही दुर्लभ है, दुष्प्राप्य है।”

—(आनश्यक निर्युक्ति गाथा ८३२)

ऊार के उदाहरण, जैन-संस्कृति के ये उदाहरण हैं, जो मानव-जन्म की दुर्लभता का डिट्टिमनाद कर रहे हैं। जैन धर्म के अनुसार देव होना उतना दुर्लभ नहीं है, जितना कि मनुष्य होना दुर्लभ है। जैन साहित्य में आप जहाँ भी कहीं किसी को सम्बोधित होते हुए देखेंगे, वहाँ ‘देवाणुप्रिय’ शब्द का प्रयोग पावेंगे। भगवान् महावीर भी श्रोते वाले मनुष्यों को इसी ‘देवाणुप्रिय’ शब्द से सम्बोधित करते थे। ‘देवाणुप्रिय’ का अर्थ है—‘देवानुप्रिय’। अर्थात् ‘देवताओं को भी प्रिय।’ मनुष्य की श्रेष्ठता कितनी ऊँची भूमिका पर पहुँच रही है। दुर्भाग्य से मानव जाति ने इस ओर ध्यान नहीं दिया, और वह अपनी श्रेष्ठता को भूल कर अवमानता के दल दल में कँस गई है। ‘मनुष्य! तू देवताओं से भी ऊँचा है। देवता भी तुझसे घेम करते हैं। ये भी मनुष्य बनने के लिए आतुर हैं।’ कितनी विचित्र प्रेरणा है, मनुष्य की सुन्न आत्मा को जगाने के लिए।

जैन संस्कृति का अमर गायक आचार्य अमिता गति कहता है कि—
‘जिस प्रकार मानव लोक में चक्रवर्ती, स्वर्गलोक में इन्द्र, पशुओं में सिंह, पक्षियों में प्रशम भाव, और परंती में स्वर्णगिरि मेरु प्रधान है—
श्रेष्ठ है, उसी प्रकार ससार के सब जन्मों में मनुष्य जन्म सर्व श्रेष्ठ है।’

{ नरेषु चक्री त्रिदशेषु चक्री,
मृगेषु सिंहः प्रशमो व्रतेषु ।

मतो महीभृत्सु सुवर्णशैलो,
भवेयु मानुष्यभवः प्रधानम् ॥

—(श्रावकाचार १।१२)

महाभारत में व्यास भी कहते हैं कि 'आओ, मैं तुम्हें एक रहस्य की बात बताऊँ ! यह अच्छी तरह मन में दृढ़ कर लो कि संसार में मनुष्य से बढ़कर और कोई श्रेष्ठ नहीं है ।'

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि,
नहि मानुषात्
श्रेष्ठतरं हि किञ्चित् !

—महाभारत

वैदिक धर्म ईश्वर को कर्ता मानने वाला संप्रदाय है । शुकदेव ने इसी भावना में, देखिए, कितना सुन्दर वर्णन किया है, मनुष्य की सर्व-श्रेष्ठता का । वे कहते हैं कि "ईश्वर ने अपनी आत्म शक्ति से नाना प्रकार की सृष्टि वृत्त, पशु, सरकने वाले जीव, पक्षी, दंश और मछली को बनाया । किन्तु इनसे वह तृप्त न हो सका, सन्तुष्ट न हो सका । आखिर मनुष्य को बनाया, और उसे देख आनन्द में मग्न हो गया ! ईश्वर ने इस बात से सन्तोष माना कि मेरा और मेरी सृष्टि का रहस्य समझने वाला मनुष्य अब तैयार हो गया है ।"

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या,
वृक्षान् सरीसृप-पशून् खग-दंश-मत्स्यान् ।
तैस्तैरतृप्त-हृदयो मनुजं विधाय,
ब्रह्मावबोधधिषणं मुदमाप देवः ॥

—भामवत

महाभारत में एक स्थान पर इन्द्र कह रहा है 'कि भाग्यशाली है वे, जो दो हाथ वाले मनुष्य हैं । मुझे दो हाथ वाले मनुष्य के प्रति स्पृहा है ।'

‘पाणिमदुग्धः सृष्टाऽस्माकम् ।’

देविण, एक मल्लराम क्या धुन लगा रहे है ? उनका क्या है—
‘मनुष्य दो हाथ वाला देवता है ।’

‘द्विमुजः परमेश्वरः ।’

महाराष्ट्र के महान् सन्त गुजरागम कहते हैं कि ‘स्वर्ग के देवता इच्छा करते हैं—दे प्रभु ! हमें मृत्यु शोक में जन्म चाहिये । क्योंकि हमें मनुष्य बनने की चाह है !’

स्वर्गी के अमर इन्द्रियात्मा देवाः
मृत्युलोको दया जन्म आम्हा ।

सन्त श्रेष्ठ तुलसीदास बोल रहे हैं :—

‘बड़े भाग मानुष तन पाया,
सुर-दुर्लभ सन प्रथन्दि गावा ।’

जय उर्दू भाषा के एक मार्मिक कवि की बागों भी तुन लीजिए ।
आप भी मनुष्य को देवताओं से बढ़कर बना रहे हैं—

‘फरिस्ते से बढ़कर हैं इन्सान बनना,
मगर इसमें पड़ती है मेहनत जियादा ।’

बेशक, इन्सान बाने में बहुत विषादा मेहनत उठानी पड़ती है, बहुत अधिक श्रम करना होता है । जैनशास्त्रकार, मनुष्य बनने की साधना के मार्ग को बड़ा कठोर और दुर्लभ मानते हैं । ‘त्रैलोक्यिक सूत्र’ में भगवान् महावीर का प्रवचन है कि “जो प्राणी छल, कपट से दूर रहता है—वृत्ति अर्थात् स्वभाव से ही सरल होता है, अहंकार से शून्य होकर निनशरील होता है—छोटे बड़ों का यथोचित आदर सम्मान करता है, दूसरों की मिठी भी प्रसार की उन्नति को देखकर छोड़ नहीं करता है—प्रस्थुत हृदय में हर्ष और आनन्द की स्वाभाविक अनुभूति करता है, जिसके रक्त-रस में दया का संचार है—जो किसी भी दुर्गति

प्राणी को देखकर द्रवित हो उठता है एवं उसकी सहायता के लिए तन, मन, धन सब लुटाने को तैयार हो जाता है, वह मृत्यु के पश्चात् मनुष्य जन्म पाने का अधिकारी होता है।”

ऊँचा विचार और ऊँचा आचरण ही मानव जन्म की पृष्ठ भूमि है। यहाँ जो कुछ भी बताया गया है, वह अन्दर के जीवन की पवित्रता का भाव ही बताया गया है। किसी भी प्रकार के साम्प्रदायिक क्रिया-काण्ड और रीति-रिवाज का उल्लेख तक नहीं किया है। भगवान् महावीर का आशय केवल इतना है कि तुम्हें मनुष्य बनने के लिए किसी सम्प्रदाय-विशेष के विधि-विधानों एवं क्रियाकाण्डों की शर्त नहीं पूरी करनी है। तुम्हें तो अपने अन्दर के जीवन में मात्र सरलता, विनय-शीलता, अमात्सर्य भाव एवं दयाभाव की सुगन्ध भरनी है। जो भी प्राणी ऐसा कर सकेगा, वह अवश्य ही मनुष्य बन सकेगा। परन्तु आप जानते हैं, यह काम सहज नहीं है, तलवार की धार पर नंगे पैरों नाचने से भी कहीं अधिक दुर्गम है यह मानवता का मार्ग। जीवन के विकारों से लड़ना, कुछ हँसी खेल नहीं है। अपने मन को मार कर ही ऐसा किया जा सकता है। तभी तो हमारा कवि कहता है कि—

“फरिश्ते से बढ़कर है इन्सान बनना ;
मगर इसमें पड़ती है मेहनत ज़ियादा ।”

: २ :

मानव-जीवन का ध्येय

मानव, अखिल ससार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। परन्तु ज़रा विचार कीजिए, यह सर्व श्रेष्ठता किस बात की है? मनुष्य के पास ऐसा क्या है, जिससे बल पर वह स्वयं भी अपनी सर्वश्रेष्ठता का दावा करता है और हजारों शास्त्र भी उसकी सर्वश्रेष्ठता की दुहाई देते हैं।

क्या मनुष्य के पास शारीरिक शक्ति बहुत मज़ी है? क्या यह शक्ति ही इसके उद्विग्न की निशानी है? यदि यह बात है तो मुझे इन्कार करना पड़ेगा कि यह कोई महत्त्व की चीज़ नहीं है। ससार के दूसरे प्राणियों के सामने मनुष्य की शक्ति कितना मूल्य रखती है? वह तुच्छ है, नगण्य है। मनुष्य तो दूसरे विराटकाय प्राणियों के सामने एक नन्हासा-झाँकार सा कीड़ा लगता है। जंगल का विशालकाय हाथी कितना अधिक बलशाली होता है? पचास सौ मनुष्यों को देख पाए तो सूँड से चीर कर सरके टुकड़े टुकड़े करने पैंक दे। वन का राजा सिंह कितना भयानक प्राणी है? पहाड़ों को गुँजा देने वाली उसकी एक गर्जना ही मनुष्य के जीवन को चुनौती है। आपने वन-मानुषों का वर्णन सुना होगा? वे आपके समान ही मानव-आकृति धारी पशु हैं। इतने बड़े चलवान कि कुछ पूछिए नहीं। वे तेंदुओं को इस प्रकार उठा उठा कर पटकते और मारते हैं, जिस प्रकार साधारण मनुष्य रमड़े की गेंद को। पूर्वी जंगलों में एक मृत वनमानुष को तोला गया तो वह

दो टन अर्थात् ५४ मन वजन में निकला ! मनुष्य इस भीमकाय प्राणी के सामने क्या अस्तित्व रखता है ? वह तो उस वन मानुष के चोंटे का धन भी नहीं ! और वह शुतुरमुर्ग कितना भयानक पक्षी है ? कभी-कभी इतने जोर से लात मारता है कि आदमी चूर-चूर हो जाता है । उसकी लात खाकर जीवित रहना असंभव है । जब वह दौड़ता है तो प्रति घंटा २६ मील की गति से दौड़ सकता है । क्या आप में से कोई ऐसा मनुष्य है, उसके साथ दौड़ लगाने वाला ।

मनुष्य का जीवन तो अत्यन्त क्षुद्र जीवन है । उसका बल अन्य प्राणियों की दृष्टि में परिहास की चीज है । वह रोगों से इतना विरा हुआ है कि किसी भी समय उसे रोग की ठोकर लग सकती है और वह जीवन से हाथ धोने के लिए मजबूर हो सकता है ! और तो क्या, साधारण-सा मलेरिया का मच्छर भी मनुष्य की मौत का सन्देश लिए घूमता है । एक पहलवान बड़े ही विराट् काय एवं बलवान आदमी थे—सारा शरीर गठा हुआ था लोहे जैसा ! अंग-अंग पर रक्त की लालिमा फूटी पड़ती थी । कितनी ही बार लेखक के पास आया-जाया करते थे । दर्शन करते, प्रवचन सुनते और कुछ थोड़ा बहुत अवकाश मिलता तो अपनी विजय की कहानियाँ दुहरा जाते ! बड़े-बड़े पहलवानों को भिनटों में पछाड़ देने की घटनाएँ जब वे सुनाते तो मैं देखता, उनकी छाती अहंकार से फूल उठती थी । बीच में दो तीन दिन नहीं आए । एक दिन आए तो विलकुल निढाल, वेदम ! शरीर लड़खड़ा-सा रहा था ! मैंने पूछा—‘पहलवान साहब क्या हुआ ?’ पहलवान जी बोले—‘महाराज ! हुआ क्या ? आपके दर्शन भाग्य में बड़े थे सो मरता मरता बचा हूँ ! मेरा तो मलेरिया ने टम तोड़ दिया ।’ मैं हँस पड़ा । मैंने कहा—‘पहलवान साहब ! आप जैसे बलवान पहलवान को एक नन्हे से मच्छर ने पछाड़ दिया ।’ और वह भी इस बुरी तरह से !’ पहलवान हँसकर चुप हो गया । यह अमर सत्य है मनुष्य के बल का ! यहाँ उत्तर वन ही क्या सकता है ? क्या मनुष्य इसी बल के भरोसे बड़े होने का

मन ले रहा है ? मनुष्य के शरीर का कार्याविक रूप क्या है ? रंगकें
विना एक पवि की कुछ पंक्तियों पड़लें तो डीक रहेगा ।

आदर्मी का जिस्म क्या है जिसमें सदा है जहाँ;
एक मिट्टी की इमारत, एक मिट्टी का मकान !
गूँथ का गाँव है इसमें और ईंटें हडिदियाँ;
चद साँसों पर खड़ा है, यह गमाली आसमाँ !
मौत की पुरखोर आँधी इसमें जब टकरायगी ;
देख लेना यह इमारत टूट कर गिर जायगी !

यदि बल नहीं तो क्या रूप से मनुष्य महान् नहीं बन सकता ?
रूप क्या है ? मिट्टी की मूल पर जब चमकदार रंग रोगन ! इस को
धुलते और साफ होते कुछ देर लगनी है ? सत्कार के बड़े बड़े सुन्दर तटस्थ
और तरुणियों कुछ दिन ही अपने रूप और यौवन की बहार दिखा सके ।
पूत पिलने भी नहीं पाता है कि सुरभाना शुरू हो जाता है ! किसी
रोग अथवा चोट का आक्रमण होता है कि रूप बुरूप हो जाता है, और
सुन्दर अंग भग्न एवं बर्जर ! सन्तकुमार चनवर्मा को रूप का अहंकार
करते कुछ क्षण ही गुजरने पाये थे कि कोड़ ने आ घेरा । सोने का
नियम हुआ शरीर सड़ने लगा । दुर्गन्ध अस्वा हो गई । मधुर की
जनपदकल्याणी वासुदत्ता भित्ती रूपगर्विता थी । रात्रि के सत्रन
अन्धकार में भी दीर्गशिखा के समान जगपग-जगमग होती रहती थी ।
परन्तु बौद्ध इतिहास कहता है कि एक दिन चैतक को आक्रमण हुआ ।
सारा शरीर क्षत निक्षत हो गया, सड़ने लगा, जगह-जगह से मवाद बह
निकला । राजा, जो उसके रूप का खरीदा हुआ गुलाम था, वासु-
दत्ता को नगर के बाहर गढ़े कूड़े के ढेर पर मरने को पिला देता है ।
यह है मनुष्य के रूप की इति । क्या चमड़े का रंग और हड्डियों का
गठन भी कुछ महत्व रखता है ? चमड़े के हलफे से परदे के नीचे क्या
कुछ भरा हुआ है ? स्मरण मात्र से घुणा होने लगती है ! जो कुछ

अन्दर है, वह यदि बाहर आ जाय तो गीध, कौवे और कुत्ते उसे नोच खाएँ ! कहीं भी बाहर आना-जाना कठिन हो जाय । और यह मनुष्य का रूप दूसरे पशु पक्षियों की तुलना में है भी क्या चीज ? मयूर कितना सुन्दर पक्षी है ! गर्दन और पंखों का सौन्दर्य मोह लेने वाला है । शुतुरमुर्ग के शानदार छोटे से छोटे पंख का मूल्य, कहते हैं—चालीस से पचास रुपये तक होता है । मनुष्य की वाणी का माधुर्य कोयल से उपमित होता है । गति की उपमा हंस की गति से और नाक की उपमा तोते की चोंच से दी जाती है । किं बहुना, प्रत्येक अंग का सौन्दर्य विभिन्न पशु पक्षियों के अवयवों से तुलना पाकर ही कवि की वाणी पर चढ़ता है । इस का अर्थ तो यह हुआ कि मनुष्य का रूप पशु-पक्षियों के सामने तुच्छ है, नगण्य है ! अतएव रूप की दृष्टि से मनुष्य की महत्ता और श्रेष्ठता का कुछ भी मूल्य नहीं है ।

अब रहा, परिवार का बढ़प्पन ! क्या मनुष्य के दस-तीस बेटे, पोते और नाती हो जाने से उसका कुछ महत्त्व बढ़ जाता है ? कितना ही बड़ा परिवार हो, कितनी ही अधिक सन्तति हो, मनुष्य का महत्त्व इनसे अणुमात्र भी बढ़ने वाला नहीं है । रावण का इतना बड़ा परिवार था, आखिर वह क्या काम आया ? छप्पन कोटि यादव, जो एक दिन भारत-वर्ष के करोड़ों लोगों के भाग्य-विधाता बन बैठे थे, अन्त में कहाँ विलीन हो गए ? श्री कृष्ण को यादव जाति के द्वारा क्या सुख मिला ? मथुरा के राजा-उग्रसेन के यहाँ कंस का जन्म हुआ । बड़ा भाग्यशाली पुत्र था जो भारत के प्रतिवासुदेव जरासन्ध का प्यारा दामाद बना ! परन्तु उग्रसेन को क्या मिला ? जेलखाना मिला और मिली प्रतिदिन पीठ पर पोंचसौ कोड़ों की असह्य मार ! और राजा श्रेणिक को भी तो वह अज्ञात-शत्रु-कोणिक पुत्र के रूप में प्राप्त हुआ था, जिसके वैभव के वर्णन से औपपातिक सूत्र की प्रस्तावना अटी पड़ी है । परन्तु राजा श्रेणिक से पूछते तो पता चलता कि पुत्र और परिवार का क्या आनन्द होता है ? यह पुत्र का ही काम था कि राजा श्रेणिक को अपने बुढ़ापे की प्रडियों

काठ के पित्रे में उद्भुत की तरह गुलाबी पड़ी। नम्र पर भोजन का पता था और न पानी का ! और अन्न में जहर ग्राहक मृत्यु का स्वागत करना पड़ा। क्या यही है पुषों और पौधों की गौरवशालिनी परंपरा ? क्या यह सब मनुष्य के लिए अभिमान की घण्टी है ? मैं नहीं समझता, यदि परिवार की एक लम्बी चौड़ी सेना हफ्ती भी हो जाती है तो इससे मनुष्य को बीनने चार चाँद लग जाते हैं ? वैज्ञानिक क्षेत्र में एक ऐसा बीयाणु परिचय में आया है, जो एक मिनट में दस करोड़ और सन्तान पैदा कर देता है। क्या इसमें बीयाणु का कोई गौरव है, महत्त्व है ? यह मनुष्य ही क्या, जो बीयाणुओं की तरह सन्तानि प्रजनन में ही अपना रिकार्ड कायम कर रहा है। आचार्य गिदगेन दिवाकर से सम्पाद्य विस्मयान्वित ने यह पुत्रा पि “आज जै भिक्षु अपने नमस्कार करने वाले भक्त को धर्म वृद्धि के रूप में प्रतिबचन देते हैं, अन्य माधुओं की तरह पुत्रादि प्राप्ति का आशीर्वाद क्यों नहीं देते ?” आचार्य श्री ने उत्तर में कहा कि “राजन् ! मानव जीवन के उत्थान के लिए एक धर्म को ही हम महत्त्वपूर्ण साधन समझते हैं, अतः उसी की वृद्धि के लिए प्रेरणा देते हैं। पुत्रादि बीनसी महत्त्वपूर्ण वस्तु है ? वे तो मुर्गे, कुत्ते और सूअरों को भी बड़ी सख्या में प्राप्त हो जाते हैं। क्या वे पुत्रहीन मनुष्य से अधिक भाग्यशाली हैं ? मनुष्य जीवन का महत्त्व वस्त्रे-वाचियाँ व पैदा करने में नहीं है, जिसके लिए हम भिक्षु भी आशीर्वाद देते हैं।” ‘सन्तानाय च पुत्रवान् भव पुनस्तपुश्चुटानामपि ।’

मनुष्य जाति का एक बहुत बड़ा धर्म धन को ही बहुत अधिक महत्त्व देता है। उसका सोचना समझना, धोला चालना, लिपना पढ़ना सब कुछ धन के लिए ही होता है। यह दिन-रात सोने-जागते धन का ही स्वन है। न्याय हो, अन्याय हो, धर्म हो, पाप हो कुछ भी हो, उसे इन सब से कुछ मतलब नहीं। उसे मतलब है एक मात्र धन से। धन मिलना चाहिए, फिर भले ही वह छल-कपट से मिले, चोरी से मिले, रिश्वतपात से मिले, देश-द्रोह से मिले या भारी

को गला काट कर मिले । गरीब जनता के गर्म खून से सना हुआ पैसा भी उसके लिए मूल्य परमेश्वर है, उपास्य देव है । उसका सिद्धान्त खूब अनादि काल से यही चला आ रहा है कि 'सर्वे गुणाः कान्चन-माश्रयन्ति ।' 'ज्ञाना अंशकला प्रोक्ता रूप्योऽसौ भगवान् स्वयम् ।' परन्तु क्या मानव जीवन का यही ध्येय है कि धन के पीछे पागल बनकर घूमता रहे ? क्या धन अपने-आप में इतना महत्वपूर्ण है ? क्या तेली के बेल की तरह रात-दिन धन की चिन्ता में घुल-घुल कर ही जीवन की अन्तिम घड़ियों के द्वार पर पहुँचा जाय ? यदि दुनिया भर की बेईमानी करके कुछ लाख का धन एकत्रित कर भी लिया तो क्या बन जायगा ? रावण के पास कितना धन था ? सारी लंका नगरी ही सोने की थी । लंका के नागरिक सोने की सुन्ना के लिए आजकल की तरह तिजोरी तो न रखते होंगे ? जिनके वहाँ घर की दीवार, छत और फर्श भी सोने के हों, भला वहाँ सोने के लिए तिजोरी रखने का क्या अर्थ ? और भारत की द्वारिका नगरी भी तो सोने की थी ! क्या हुआ इन सोने की नगरियों का ? दोनों का ही अस्तित्व खाक में मिल गया । सोने की लंका ने रावण को राक्षस बना दिया तो सोने की द्वारिका ने यादवों को नर-शु । लंका और द्वारिका के धनी मनुष्यत्व से हाथ धो बैठे थे, दुराचारों में फँस गए थे । धन के अतिरेक ने उन्हें अंधा बना दिया था । आज कुछ गोरव है, उन धनी मानी नरेशों का ? मैं दिल्ली और आगरा में बिखरे हुए मुगल सम्राटों के वैभव को देख रहा हूँ । क्या लाल किला और ताज इसीलिए बनाए गए थे कि उन पर चाँद सितारे के मुस्लिम झंडे के स्थान पर अँग्रेजों का यूनियन जैक फहराए । आज कहाँ हैं, मुगल सम्राटों के उत्तराधिकारी ? कितने अत्याचार किए, कितने निरीह जनसमूह क़तल किए ? परन्तु वे सिंहासन, जिनके पाये पाताल में गाड़कर मजबूत किए जा रहे थे, उखड़े बिना न रहे । और वह यूनियन जैक भी कहाँ है, जो समुद्रों पार से वृफान की तरह बढ़ता, हवाकार मचाता भारत में आया था ? क्या वह वापस लौटने के इरादे

से आया था ? परन्तु गान्धी की आँधी के भटकों को वह रोक न सका और उड़ गया ! धन अनित्य है, यह मंगुर है ! इसका गर्व क्या, इसका धमंड क्या ? भारत के आभीण लोगों का विश्वास है कि 'जहाँ कोई उड़ा सोँ रहता है, वहाँ अवश्य कोई धन का उड़ा लज्जना होना है।' यह विश्वास वहाँ तक सत्य है, यह जाने दीजिए ! परन्तु इस पर से वह तो पना लगता है कि धन से चिपटे रहने वाले मनुष्य सोँ ही होते हैं, मनुष्य नहीं ! मानव जीवन का ध्येय चाँदी सोने की रंगीन दुनिया में नहीं है—विश्व का सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानव, क्या कभी रुपये पैसे के गोल चक्र में अपना महत्त्व पा सकता है ? कभी नहीं !

मनुष्य विश्व का एक महान् बुद्धिशाली प्राणी है ! वह अपनी बुद्धि के आगे किसी को कुछ समझता ही नहीं है ! वह प्रकृति का विजेता है, और वह विजय मिली है उसे अपने बुद्धि वैभव के बल पर ! वह अपनी बुद्धि की यात्रा में वहाँ से वहाँ पहुँच गया है ! भूमण्डल पर दुर्गम पहाड़ों पर से रेल और मोटरें दौड़ रही हैं ! महासमुद्रों के विषट् बल पर से जलयानों की गर्जना सुनाई दे रही है ! आज मनुष्य हवा में पक्षियों की तरह उड़ रहा है, वायुयान के द्वारा भँसार का बोना-बोना छान रहा है ! मनुष्य की बुद्धि ने कान इतने बड़े प्रभावशाली बना दिए हैं कि वहाँ घंटे हजारों मीलों की बात सुन सकते हैं ! और आँख भी इतनी बड़ी होगई है कि भारत में पैडर इङ्गलैंड और अमेरिका में बड़े आदमी को देख सकते हैं ! अरे वह परमाणु शक्ति ! कुछ न पूछो, हिरोलिमा का सहार क्या कभी सुलाया जा सकेगा ? रस्स की छोटी-सी गँद के बराबर परमाणु बम से आज दुनिया के इन्सानों की किन्दगी काँप रही है ! अभी अभी रिटजरलेण्ड के एक वैज्ञानिक ने कहा है कि तीन छठ्वीं विज्ञानमण्डित विज्ञात पदार्थ विशेष से अरबों मनुष्यों का जीवन कुछ ही मिनटों में समाप्त किया जा सकता है ! और देखिए, अमेरिका में वह आदमी बम का धूमने-धुं पर उठा रहा है, जिसकी चर्चा—मान में मानव जाने जल ही उठी है ! यह सब है मनुष्य

की बुद्धि-लीला ! वह अपने बुद्धि कौशल से स्वर्ग बनाने चला था और कुछ बनाया भी था; परन्तु अब बन क्या गया है ? साक्षात् घोर नरक ! क्या यह बुद्धि मनुष्य के लिए गर्व करने की वस्तु है-? जिस बुद्धि के पीछे विवेक नहीं है धर्म की पिपासा नहीं है, वह बुद्धि मनुष्य को मनुष्य न रहने देकर राक्षस बना देती है । अपनी स्वार्थपूर्ति कर ली, जो मनचाहा काम बना लिया, क्या इस बुद्धि को ही मनुष्य-जीवन की सर्व-श्रेष्ठता का गौरव दिया जाय ! खाना, पीना और ऐश आराम तो अपनी-अपनी समझ के द्वारा पशुपक्षी भी कर लेते हैं । पारिवारिक व्यवस्था और कमानेखाने की बुद्धि उनमें भी बहुतों की बड़ी शानदार होती है । उदाहरण के लिए आप फाकलैण्ड के द्वीप-समूह में पाई जाने वाली नमाजी चिड़ियाओं को ले सकते हैं । ये तीस से चालीस हजार तक की मंख्या के विशाल झुण्डों में रहती हैं । ये फौजी सिपाहियों की तरह कतार बाँध कर खड़ी होती हैं । और आश्चर्य की बात तो यह है कि बच्चों को अलग विभक्त कर के खड़ा करती हैं, नर पक्षियों को अलग तो मादा पक्षियों को अलग । इतना ही नहीं, यह और वर्गीकरण करती हैं कि साफ और तगड़े पक्षियों को अलग तथा पर भाड़ने वाले, गन्दे और कमजोर पक्षियों को अलग ! कितने गजब की है सैनिक पद्धति से वर्गीकरण करने की कल्पना शक्ति ! और ये मधुमक्खियाँ भी कितनी विलक्षण हैं ? मधुमक्खियों के छत्ते में, विशेषज्ञों के मतानुसार, लगभग तीसहजार से साठ हजार तक मक्खियाँ होती हैं । उनमें बहुत अच्छा सुदृढ़ संगठन होता है । सब का कार्य उचित पद्धति से बटा हुआ होता है, फलतः हरएक मक्खी को मालूम रहता है कि उसे क्या काम करना है ? इसलिए वहाँ कभी कोई काम बाकी नहीं रह पाता, नित्य का काम नित्य समाप्त हो जाता है । छत्ते के अन्दर सब तरह का काम होता है—आहार का प्रबन्ध, छत्ता बनाने के लिए सामान का प्रबन्ध, गोदाम का प्रबन्ध, सफाई का प्रबन्ध, मकान का प्रबन्ध और चौकी पहरे का प्रबन्ध ! कुछ को छत्ते के अन्दर गर्मों, हवा और सफाई का प्रबन्ध देखना होता

है। कुछ को उन्चा की जेबमाल करना पड़ती है। इस पर भी कड़ी तजर रखी जाती है कि कोई निजी प्रसार की दृष्टता या काम, जोरी न करन पाए। और उन आस्ट्रोलेया की नदियों में पाई जाने वाली निशानियाँ मछलियों की कहानी भी कुछ कम विचित्र नहीं है। यह मछली अपने शिकार की तजर म रहती है। जब यह देखती है कि नदी के किनारे उठे हुए पौधों की पत्तियों पर कोई मसरी या मसोड़ा बैठा है तो उपचाप उसके पास जाती है और मुँह में पानी भर कर पुच्छे का तीक निशाना छेमे जोर से मारती है कि यह मसोड़ा तुल्य पानी में गिर पड़ता है और मछली का आहार उन कर बाल के गाल में पहुँच जाता है। इस मछली का निशाना शायद ही कभी चूखता है। वैज्ञानिकों ने इसका नाम टॉक्सेटैस रक्का है, जिसका अर्थ है धनुषधारी। एन्टागिन्स महासागर में उड़ने वाली मछलियाँ भी होती हैं। काफी लम्बा लिंग चुका हैं। अत्र अधिक उन्हादरणा की अपेक्षा नहीं है। न मालूम किनो कोटि पशु-पक्षी ऐसे हैं जो मनुष्य के समान ही छलछद्म रचते हैं अथवा लफाते हैं, जाल फैलाते हैं और अपना पेट भरते हैं। अन्तु पाने कमाने की, मोक्ष शोक उद्गान की यदि मनुष्य न कुछ चतुरता पाई है तो क्या यह उसकी अपनी कोई श्रेष्ठता है? क्या इस चातुर्य पर गर्व किया जाय? नहीं, यह मनुष्य की कोई विशेषता नहीं है।

मानव जीवन का ध्येय न धन है न रूप है, न उल है और न सासारिक बुद्धि ही है। या ही कहीं से घुमता फिरता मनुष्य आत्मा मानव शरीर में आया, कुछ दिन रहा खाया पीया लगा भगड़ा हँसा रोया और एक दिन मर कर बाल प्रसाद में आगे के लिए उड़ गया,

— भी कोई जीवन है? जीवन का उद्देश्य मरण नहीं है, किन्तु विजय है। आज तक हम लोगों ने क्या ही क्या है? कहीं लिया है, कुछ दिन जिंदा रहे हैं और फिर पाँच पस्यार के लिये ले गये हैं। इस विराट् संसार में कोई भी कुन, मर्या और स्थान ऐसा नहीं है जहाँ हमने

अनन्त-अनन्त-वार जन्ममरण न किया-हो ? भगवती मृत में हमारे जन्म-मरण की दुःख-भरी कहानी का स्वीकरण करने-वाली एक महत्वपूर्ण-प्रश्नोत्तरी है।

गौतम गणधर पूछते हैं:—

“भन्ते ! असंख्यात कोड़ी कोड़ा योजन-परिमाण इस विस्तृत विराट् लोक में क्या कहीं ऐसा भी स्थान है, जहाँ कि इस जीव ने जन्म-मरण न किया हो ?”

भगवान्-महावीर उत्तर देते हैं:—

“गौतम ! अधिक तो क्या, एक परमाणु पुद्गल जितना भी ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ इस जीव ने जन्म-मरण न किया हो ।”

....“नत्थि केद्द परमाणुपोग्गलमेत्तं त्रिपण्णसे जत्थं अयं जीवे न जाए वा, न मए वा ।” — [भग १२, ७, सू० ४५७]

भगवान् महावीर के शब्दों में यह है हमारी जन्म-मरण की कड़ियों का लम्बा इतिहास ! बड़ी दुःखभरी है हमारी कहानी ! अब हम इस कहानी को कब तक दुहराते जायेंगे ? क्या मानव जीवन का ध्येय एक-मात्र जन्म लेना और मर जाना ही है । क्या हम-यों ही उतरते चढ़ते, गिरते-पड़ते इस महाकाल के प्रवाह में तिनके की तरह बेवम लाचार बहते ही चले जायेंगे ? क्या कहीं किनारा पाना, हमारे भाग्य में नहीं बदा है ? नहीं, हम मनुष्य हैं, विश्व के सर्वश्रेष्ठ प्राणी हैं । हम अपने जीवन के लक्ष्य को अवश्य प्राप्त करेंगे ! यदि हमने मानव-जीवन का लक्ष्य नहीं प्राप्त किया तो फिर हम में और दूसरे पशु पक्षियों में अन्तर ही क्या रह जायगा ? हमारे जीवन का ध्येय, अधर्म नहीं, धर्म है—अन्याय नहीं, न्याय है—दुराचार नहीं, सदाचार है—भोग नहीं, त्याग है । धर्म, त्याग और सदाचार ही हमें पशुत्व से अलग करता है । अन्यथा हम में और पशु में कोई अन्तर नहीं है, कोई भेद नहीं है । इस सम्बन्ध में एक आचार्य कहते भी हैं कि आहार, निद्रा, भय-और कामवासना जैसी पशु में हैं वैसी ही मनुष्य में भी हैं, अतः इनको ले कर, भोग व

महत्त्व देकर मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं किया जा सकता ! एक धर्म ही मनुष्य के पास ऐसा है, जो उसकी अपनी विशेषता है, महत्ता है । अतः जो मनुष्य धर्म से शून्य है, वे पशु के समान ही हैं ।

✓ आहार-निद्रा-भय-मैथुन च
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।

धर्मो हि तेषामधिको विशेषो;

धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥”

मनुष्य अमर होना चाहता है । इसके लिए वह कितनी औपचारियाँ रचाना है, कितने देवी-देवता मनाता है, कितने अन्वयाय और अत्याचार के जाल बिछाता है ! परन्तु क्या यह अमर होने का मार्ग है ? अमर होने के लिए मनुष्य को धर्म की शरण लेनी होगी, त्याग का आश्रय लेना होगा ।

भगवान् महावीर कहते हैं :—

“चित्तेण ताणं न लभे पमत्ते,
इमंमि लोए अदुचा परत्था”

—उत्तराण्ययन सूत्र

—पमत्त मनुष्य की धन के द्वारा रक्षा नहीं हो सकेगी, न इस लोक में और न परलोक में ।

कठोपनिषत् कार कहते हैं :—

“न चित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः ।”

—मनुष्य कभी धन से तृप्त नहीं हो सकता ।

“श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्
तौ सम्परीत्य विचिनक्ति धीरः ।

श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते,

प्रेयो मन्दो योगक्षमाद् वृणीते ॥”

—श्रेय और प्रेय—ये दोनों ही मनुष्य के सामने आते हैं, परन्तु ज्ञानी पुरुष दोनों का भली भाँति विचार करके प्रेय की अपेक्षा श्रेय को श्रेष्ठ समझ कर ग्रहण करता है, और इसके विपरीत मन्द बुद्धि वाला मनुष्य लौकिक योग-क्षेम के फेर में पड़ कर त्याग की अपेक्षा भोग को अच्छा समझता है—उसे अपना लेता है ।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते,
कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ-मर्त्योऽमृतो भवति,
अत्र ब्रह्म समश्नुते ॥”

—साधक के हृदय में रही हुई कामनाएँ जब सबकी सब समूल नष्ट हो जाती हैं, तब मरणधर्मा मनुष्य अमर हो जाता है, ब्रह्मत्व भाव को प्राप्त कर लेता है ।

एक हिन्दी कवि भी धर्म और सदाचार के महत्त्व पर, देखिए, कितनी सुन्दर बोली बोल रहा है :—

“धन, धान्य गयो, कछु नाहिं गयो,
आरोग्य गयो, कछु खो दीन्हो ।
चारित्र गयो, सर्वस्व गयो,
जग जन्म अकारथ ही लीन्हो ॥”

भगवान् महावीर ने या दूसरे महापुरुषों ने मनुष्य की श्रेष्ठता के जो गीत गाए हैं, वे धर्म और सदाचार के रंग में गहरे रंगे हुए मनुष्यों के ही गाए हैं । मनुष्य के से हाथ पैर पा लेने से कोई मनुष्य नहीं बन जाता । मनुष्य बनता है, मनुष्य की आत्मा पाने से । और वह आत्मा मिलती है, धर्म के आचरण से । यों तो मनुष्य रावण भी था ? परन्तु कैसा था ? ग्यारह लाख वर्ष से प्रति वर्ष उसे मारते आ रहे हैं, गालिये देते आ रहे हैं, जलाते आ रहे हैं । यह सब क्यों ? इसलिए कि उसने

मनुष्य बनकर मनुष्य का जैसा काम नहीं किया, बल्कि वह मनुष्य होकर भी राक्षस बहलाया। भोग, निग भोग मनुष्य को गदम बनाना है। एक मान त्यागभावना ही है जो मनुष्य को मनुष्य बनाने की क्षमता रखती है। भागविभाग की दल दल में बँटने रहने वाले राक्षसों के लिए हमारे दार्शनिकों ने 'द्विमुक्तः परमेश्वरः' नहीं कहा है।

यूनान का एक दार्शनिक दिन के राहू घने लालटेन जला कर पथेग नगरी के राजाओं में घूँट घँटे घूमता रहा। जनता के लिए आश्चर्य की बात थी कि दिन में प्रकाश के लिए लालटेन लेकर घूमना।

एक जगह कुछ हजार आदमी इकट्ठे होगए और पूछने लगे कि "यह मन क्या हो रहा है?"

दार्शनिक ने कहा—“मैं लालटेन की रोशनी में इनके घंटों में आदमी ढूँढ रहा हूँ।”

मन लोग गिल गिला कर हँस पड़े और कहने लगे कि “हम हजारों आदमी आपके सामने हैं। इन्हें लालटेन लेकर देखने की क्या बात है?”

दार्शनिक ने गर्ज कर कहा—“अरे क्या तुम भी अपने आपको मनुष्य समझे हुए हो? यदि तुम भी मनुष्य हो तो फिर पशु और राक्षस कौन हूँगे? तुम दुनिया भर के अत्याचार करने हो, छल छद्म रचते हो, भाइयों का गला काटते हो, कामगारों की पूर्ति के लिए कुत्तों की तरह मारे मारे फिरते हो, और फिर भी मनुष्य हो! मुझे मनुष्य चाहिए, वन मानुष नहीं!”

दार्शनिक की यह कठोर, सिन्धु सर उक्ति, प्रत्येक मनुष्य के लिए, चिन्तन की चीज है।

एक और दार्शनिक ने कहा है कि “संसार में एक दिग्गज ऐसी है, जो बहुत अधिक परिमाण में मिलती है, परन्तु मनमुत्तारिक नहीं मिलती।” वह शिन्ध और कोई नहीं, इच्छा है। जो होने को तो अगो

की संख्या में हैं, परन्तु वे कितने हैं, जो इन्सानियत की तराजू पर गुणों की तौल में पूरे उतरते हों ! सच्चा मनुष्य वही है, जिसकी आत्मा धर्म और सदाचार की सुगन्ध से निशदिन महकती रहती हो ।

भारत के प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने २६ जनवरी १९४८ के दिल्ली-प्रवचन में मनुष्यता के सम्बन्ध में बोलते हुए कहा था—“भारतवर्ष ने हमेशा इन्सानियत की, आत्मशक्ति की ही कद्र की है, अधिकार और पैसे की नहीं । देश की असली दौलत, इन्सानी दौलत है । देश में योग्य और नैतिक दृष्टि से बुलन्द जितने इन्सान होंगे, उतना ही वह आगे बढ़ता है ।”

प्रधानमंत्री, भारत को लेकर जो बात कह रहे हैं, वह सम्पूर्ण मानव-विश्व के लिए है । मनुष्यता ही सबसे बड़ी सम्पत्ति है । जिस के पास वह है, वह मनुष्य है, और जिस के पास वह नहीं है, वह पशु है, साक्षात् राजस है । और वह मनुष्यता स्वयं क्या चीज है ? वह है मनुष्य का व्यक्तिगत भोगविलास की मनोवृत्ति से अलग रहना, त्याग मार्ग अपनाना, धर्म और सदाचार के रंग में अपने को रँगना, जन्म-मरण के बन्धनों को तोड़कर अजर अमर पद पाने का प्रयत्न करना । संसार की अंधेरी गलियों में भटकना, मानव-जीवन का ध्येय नहीं है । मानव-जीवन का ध्येय है अजर अमर मनुष्यता का पूर्ण प्रकाश पाना । वह प्रकाश, जिससे बढ़कर कोई प्रकाश, नहीं । वह ध्येय, जिससे बढ़कर कोई ध्येय नहीं ।

: ३ :

सच्चे सुख की शोध

आज से नहीं, लाखों करोड़ अभिख्य कर्षों से संसार के कोने-कोने में एक प्रश्न पूछा जा रहा है कि यह प्रवृत्ति, यह सगर्भ, यह दीङ धूर किस लिए है ? प्रत्येक प्राणी के अन्तर्हृदय से एक ही उत्तर दिया जा रहा है—सुख के लिए, आनन्द के लिए, शान्ति के लिए । हर कोई जीव सुख चाहता है, दुःख से भागता है । संसार का प्रत्येक प्राणी सुख के लिए प्रयत्नशील है । झूठी से लेकर हाथी तक, रक से लेकर राजा तक, नारक से लेकर देवता तक लुद्र से लुद्र और महान् से महान् प्रत्येक मंसारी प्राणी सुख को प्रवृत्तार ज्नाए दीङ जारहा है ! अनन्त-अनन्त काल से प्रत्येक जीवन इसी सुख के चारों ओर चक्कर काटता रहा है । सुख कौन नहीं चाहता ? शान्ति किसे अभीष्ट नहीं ? सज को सुख चादिण । नव को शान्ति चादिण

सुख प्राप्ति की धुन में ही मनुष्य ने नगर जसाण, परिवार ज्नाए । बड़े उड़े साम्राज्यों की नीज ङाली, सोने के मिहामन खड़े किए । सुख के लिए ही मनुष्य ने मनुष्य से प्यार किया, और द्वेष भी किया ! आज तक के इतिहास में हजारों खून की नदियाँ बही हैं, वे सज सुख के लिए बही हैं, अजनी तृप्ति के लिए बही हैं । सुख की खोज में भटक कर मानव, मानव नहीं रहा, साद्वात् पशु बन गया है, राक्षस होगया है । यह कर्षों हुआ ?

भारतीय शास्त्रकारों ने सुख को दो भागों में विभक्त किया है । एक सुख आन्तरिक है तो दूसरा बाह्य । एक आत्मनिष्ठ है

तो दूसरा वस्तुनिष्ठ । एक आध्यात्मिक है तो दूसरा भौतिक । एक अजर अमर है तो दूसरा क्षणिक, क्षण भंगुर । एक दुःख की कालिमा से सर्वथा निर्मल है तो दूसरा विषमिश्रित मोदक ।

वास्तव सुख में सब प्रकार के भौतिक तथा पौद्गलिक सुखों का समावेश हो जाता है । यह वस्तुनिष्ठ है, अतः वस्तु है तो सुख है, अन्यथा दुःख ! एक बच्चा जो रो रहा है । आपने खिलौना दिया तो आनन्द में उछल पड़ा, नाचने लगा । परन्तु कितनी देर ? देखिए, खिलौना टूट गया है, और वह बच्चा 'आवा' 'आह' से भी अधिक रो रहा है । कहाँ गया, वह आनन्द-नृत्य ? खिलौने के साथ साथ वह भी टूट गया; क्योंकि वह वस्तुनिष्ठ था । यही सुख, वह सुख है, जिसके पीछे संतारी प्राणी पागल की तरह भटकता आ रहा है, अपने समय और शक्तियों का अपव्यय करता आ रहा है । इस सुख का केन्द्र धन है, विषय वासना है, भोग लिप्सा है, वस्तु संग्रह है, सन्तान की इच्छा है, स्वजन परिजन आदि हैं । परन्तु यह सब सुख, सुख नहीं, सुखाभास है । भोगवासना की तृप्ति में कल्पित सुख की अपेक्षा वास्तविक दुःख ही अधिक है । अधिक क्या, अनन्त है । 'खणमिच्छसुखा, बहुकाल दुःखा ।'

क्या धन में सुख है ? धनप्राप्ति के लिए कितना दम्भ रचा जाता है ? कितनी धृणा ? कितना द्वेष ? कितना अत्याचार ? भाई भाई का गला काट रहा है, धन के लिए । विश्व व्यापी युद्धों में प्रजा के खून की नदियाँ बह रही हैं, धन के लिए । मनुष्य धन के लिए पहाड़ों पर चढ़ता है, रेगिस्तानों में भटकता है, समुद्रों में डूबता है, फिर भी भाग्य का द्वार नहीं खुल पाता । साधारण मजदूर कहता है कि हाथ धन मिले तो आराम से जिन्दगी कटे, संसार में और कुछ दुर्लभ नहीं, दुर्लभ है—एक मात्र धन !

परन्तु सेठिया कहता है कि अरे धन की क्या बात है ? मैंने लाखों कमाये हैं, और अब लाखों कमा सकता हूँ । मैंने सब तरफ धन के ढेर लगा दिए हैं, सोने के महल खड़े कर दिए हैं । परन्तु इस धन

का होगा क्या ? कोई पुत्र नहीं, जो हम धन का रक्षण करेगा ही। एक भी पुत्र होता तो मैं सुखी हो जाता, मेरा खिन्नी-कागल हा जाता। आज बिना पुत्र के घर सना-सना है। सुख-दुःख लगा है। पुत्र ! हा पुत्र ! घर का दीन !

परन्तु आइए, यह गंजा उमसेन है। **श्रीगुरुदेव** कहते हैं कि “वासा, ऐसे पुत्रों से लौटूँगा। पुत्र ही अच्छे। भूल में हैं वे लोग, जो पुत्रपंथा में पकड़ल-होमड़े हैं। हमें हमारे पुत्रों ने कैद में डाला, काठ के पिछड़े में जड़-जिवा। न समय पर रोटी मिली, न कपड़ा और न पानी ही। पशु की भाँति दुःख के हाहाकार में जिन्दगी के दिन गुजारे हैं। पुत्र और परिवार का सुख एक कहना है, मिश्रित भ्रान्ति है।”

सच्चा सुख है आत्मा में। सुख का भरना अन्यत्र नहीं, अपने अन्दर ही वह रहा है। जब आत्मा बाहर भटकता है, परवरिणति में जाता है तो दुःख का शिंभार होता है। और जब वह लौट कर अपने अन्दर में ही आता है, वैराग्य रमसा आस्वादन करता है, सर्वम के अमृत प्रवाह में अस्वादन करता है, तो सुख, शान्ति और आनन्द का ठाठें मारता हुआ क्षीर सागर अपने अन्दर ही मिल जाता है। जब तक मनुष्य वस्तुओं के पीछे भागता है, धन, पुत्र, परिवार एवं भोग-वासना आदि की दल दल में पँगता है, तब तक शान्ति नहीं मिल सकती। यह वह आग है, जितना ईंधन डालोगे, उतना ही बढेगी, बुझेगी नहीं। वह मूर्ख है, जो आग में धी डालकर उमनी भूख बुझाना चाहता है। जब भोग का त्याग करेगा, तभी सच्चा आनन्द मिलेगा। सच्चा सुख भोग में नहीं, त्याग में है; वस्तु में नहीं, आत्मा में है। आर्यशिकोनिगद में क्या आती है नि प्रजापति के पुत्र आर्यशिकोनिगद वहीं जा रहे थे। क्या देखा कि एक कुत्ता माँस से सनी हुई हड्डी सुख में लिए वहीं जा रहा था। हड्डी को देख कर कई कुत्तों के मुख में पानी

भर आया और उन्होंने आकर कुत्ते को घेर लिया एवं सब के सब दांत पंजे आदि से उसको मारने लगे। यह देखकर बेचारे कुत्ते ने मुख से हड्डी छोड़ दी। हड्डी छोड़ते ही सब कुत्ते उसे छोड़कर हड्डी के पीछे पड़ गए और वह कुत्ता जान बचाकर भाग गया। उन कुत्तों में हड्डी के पीछे बहुत देर तक लड़ाई होती रही और वे सब के सब धायल होगए। यह तमाशा देखकर आरुणि ऋषि विचार करने लगे कि “अहो, जितना दुःख है, ग्रहण में ही है, त्याग में दुःख कुछ नहीं है, प्रत्युत सुख ही है। जब तक कुत्ते ने हड्डी न छोड़ी, तब तक पिटा और धायल होता रहा और जब हड्डी छोड़ दी, तो सुखी होगया। इससे सिद्ध होता है कि त्याग ही सुख रूप है, ग्रहण में दुःख है। हाथ से ग्रहण करने में दुःख हो, इसका तो कहना ही क्या है, मन से विषय का ध्यान करने में भी दुःख ही होता है। सच कहा है कि विषयों का ध्यान करने से उनमें संग होता है, संग होने से उनकी प्राप्ति की कामना होती है, कामना में प्रतिबन्ध पड़ने से क्रोध होता है। कामना पूरी होने पर लोभ होता है, लोभ से मोह होता है, मोह से स्मृति नष्ट होती है—सद्गुरु का उपदेश याद नहीं रहता, स्मृति नष्ट होने से विवेक बुद्धि नष्ट हो जाती है और विवेक बुद्धि नष्ट होने से जीव नरक में जाता है; इसलिए विषयाशक्ति ही सब अनर्थ का मूल कारण है! ‘खाणी अणत्थाण उ कामभोगा जब विषयों का त्याग होता है, वैराग्य होता है, तभी सच्चे सुख का भरना अन्तरात्मा में बहता है और जन्म जन्मान्तरों से आने वाले वैषयिक सुख दुःख के मैल को बहाकर साफ कर डालता है।

ब्राह्म दृष्टि से धन वैभव, भोग विलास कितने ही स्मणीय एवं चित्ताकर्षक प्रतीत होते हैं, परन्तु विवेकी मनुष्य तो इन में सुख का गन्ध भी नहीं देखता। विषयासक्त होकर आज तक किसी ने कुछ भी सुख नहीं पाया। विषयासक्त मनुष्य, अपने आप में कितना ही क्यों न बड़ा हो, एक दिन शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों से सदा के लिए हाथ धो बैठता है। क्या कभी विषय-तृणा भोग से शान

हो सकती है ? कभी नहीं । वह तो जितना भोग भोगेंगे, उतनी प्रति पल बढ़ती ही जायगी । मनुष्य की एक इच्छा पूरी नहीं होती कि दूसरी उठ खड़ी होती है । वह पूरी नहीं हो पाती कि तीसरी आ घमसती है । इच्छाओं का वह सिलसिला टूट ही नहीं पाता । मनुष्य का मन परस्पर-विरोधी इच्छाओं का घेरा ही केन्द्र है, जैसा कि हजारों लाखों उठती गिती लहरों का केन्द्र समुद्र । एक दरिद्र मनुष्य कहता है कि यदि कहीं से पचास रुपए मादगरी मिलजाए तो मैं सुग्री हो जाऊँ । जिसको पचास मिल रहे हैं, वह सो फे लिए छुटपटा रहा है और सो वाला हजार के लिए । इस प्रकार लाखों, करोड़ों और अरबों पर दौड़ लग रही है । परन्तु आप निचार करें कि यदि पचास में सुग्री है तो पचास वाला सौ, सौ वाला हजार, और हजार वाला लाख, और लाख वाला करोड़ क्यों चाहता है ? इसका अर्थ है कि वैयक्तिक सुग्री, सुग्री नहीं है । वह धमनः दुःख ही है । भगवान् महाश्रीर ने वैयक्तिक सुग्री के लिए शहद से लिप्त तलवार की धार का उदाहरण दिया है । यदि शहद पुनी तलवार की धार को चाटे तो किसनी देर का सुख ? और चाटते समय धार से जीभ कटते ही कितना लम्बा दुःख ? इसीलिए भगवान् महाश्रीर ने अन्त्य भी कहा है कि 'सर्व वैयक्तिक गान निराप हैं, सर्व नाच रंग विडम्बनां हे, सर्व अलभ्य शरीर पर बोझ हैं, कि बहुना ? जो भी काम भोग हैं, सर्व दुःख के देने वाले हैं ।'

सर्व विलपिय गीय,

सर्व नट्ट धिडधियं ।

सर्वे आभरणा भारा,

सर्वे कामा दुहायदा ॥

(उत्तराण्ययन सूत्र १३।१६)

सच्चा सुख त्याग में है । जिसने विषयाशा छोड़ी उसी ने सच्चा सुख पाया । उससे बढ़कर संसार में और और सुग्री हो सकता है ? जैन-

संस्कृति के एक अमर गायक ने कहा है कि देवलोक के देवता भी सुखी नहीं हैं। सेठ और सेनापति तो सुखी होंगे ही कहाँ से ? भूमण्डल पर शासन करने वाला चक्रवर्ती राजा भी सुखी नहीं है, वह भी विष-याशा के ग्रन्थकार में भटक रहा है। अस्तु, संसार में सुखी कोई नहीं। सुखी है, एक मात्र वीतराग भाव की साधना करने वाला त्यागी साधक !

न चि सुही देयया देवलोक,

न चि सुही सेट्टि सेणावई य ।

न चि सुही पुढविपई राया,

एगंत-सुही साहू वीयरानी ॥

✓ भगवती सूत्र में भगवान् महावीर ने त्यागजन्य आत्मनिष्ठ सुख की महत्ता और भोगजन्य वस्तुनिष्ठ वैषयिक सुख की हीनता बताते हुए कहा है कि बारह मास तक वीतराग भाव की साधना करने वाले श्रमण निग्रन्थ का आत्मनिष्ठ सुख, सर्वार्थ सिद्धि के सर्वोत्कृष्ट देवों के सुख से कहीं बढ़कर है ! संयम के सुख के सामने भला बेचारा वैषयिक सुख क्या अस्तित्व रखता है ?

✓ वैदिक धर्म के महान् योगी भर्तृहरि भी इसी स्वर में कहते हैं कि भोग में रोग का भय है, कुल में किसी की मृत्यु का भय है, धन में राजा या चोर का भय है, युद्ध में पराजय का भय है। किं बहुना, संसार की प्रत्येक ऊँची से ऊँची और सुन्दर से सुन्दर वस्तु भय से युक्त है। एक मात्र वैराग्य भाव ही ऐसा है, जो पूर्ण रूप से अभय है, निराकुल है।

‘सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ।’

—वैराग्य शतक

यह उद्गार उस महाराजाधिराज भर्तृहरि का है, जिस के द्वार पर संसार की लक्ष्मी खरीदी हुई दासी की भाँति नृत्य किया करती थी, बड़े-बड़े राजा महाराजा, क्षत्र सेवक की भाँति आजापालन के लिए नंगे पैरों

ढोड़ते थे । एक से एक आसरा सी सुन्दर रानियाँ अन्त पुर में दीर्घाश्रमा की मौलि अन्धकार में प्रकाश रेंगा गी नित्यनयीन शृ गार साधना में व्यस्त रहती थीं । यह सब होते हुए भी भर्तृहरि को वैमन में आनन्द नहीं मिला, उमकी आत्मा की व्यास नहीं सुभी । ससार के सुग्न भोगने रहे, भोगते रहे, बढ-बढ कर भोगते रहे, परन्तु अन्त में यही निष्कर्ष निकला कि ससार के सब भोग क्षणभंगुर हैं, विनाशी हैं, कष्टप्रद हैं, इह लोक में पश्चात्ताप और परलोक में नरक के देने वाले हैं । जब कि ससार के इस प्रकार धनी मानी राजाध्या की यह दशा है तो फिर तुल्य अमानस्य ससारी जीव किम गणना में हैं ?

जहाँ भोग तहें रोग हैं, जहाँ रोग तह सोग,
जहाँ योग तह भोग नहि, जहाँ भोग, नहि भोग !

घात जरा लगी होगई है, अतः समेट लूँ तो अलुद्धा रहेगा । सच्चा सुख क्या है, यह बात आपके ध्यान में आगई होगी । विषय सुग्न की नि सारता का स्पष्ट चित्र आपके सामने रख छोड़ा है । विषय सुग्न क्षणभंगुर है, क्योंकि विषय स्वयं जो क्षणभंगुर है । वस्तु विनाशी है तो वस्तुनिष्ठ सुख भी विनाशी है । ऐसा कारण होगा, वैसा ही कार्य होगा । मिट्टी के उने पदार्थ मिट्टी के ही होंगे । नीम के वृक्ष पर आम कैसे लग सकते हैं ? अतः क्षणभंगुर वस्तु से सुख भी क्षणभंगुर ही होगा, अन्यथा नहीं । अतः रहा आत्मनिष्ठ सुख । आत्मा अजर अमर है, अविनाशी है, अतः तन्निष्ठ सुग्न भी अजर अमर अविनाशी ही होगा । अहिंसा, सत्य, सयम, शील, त्याग, वैराग्य, दया, करुणा आदि सब आत्मधर्म हैं । अतः इनकी साधना से होने वाला आध्यात्मिक सुख आत्मा से होने वाला सुख है, और वह अविनाशी सुख है, कभी भी नष्ट न होने वाला ! छान्दोग्य उपनिषद् में सुख की परिभाषा करते हुए कहा है कि 'जो अहर है, विनाशी है, वह सुख नहीं है । और जो भूमा है, महान् है, अनन्त है, अविनाशी है, वस्तुनः वही सच्चा सुख है ।'

यो वै भूमा तत्सुखं
नाल्पे सुखमस्ति ।

(छान्दोग्य ७।२३।२)

हाँ, तो क्या साधक मन्चा सुख पाना चाहता है ? और चाहता है मन्चे मन से, अन्दर के दिल में ? यदि हाँ तो आहण मन की भोगा-कांक्षा को धूल की तरह अलग फेंक कर त्याग के मार्ग पर, वैराग्य के पथ पर ! ममता के क्षुद्र घेरे को तोड़ने के बाद ही साधक भूमा होता है, महान् होता है, अजर अमर अनन्त होता है । और वह मन्चा सुख भी पूर्ण रूपेण यहीं दश में प्राप्त होता है ! भूले साथियो ! अविनाशी सुख चाहते हो तो अविनाशी आत्मा की शरण में आओ । यहीं सच्चा सुख मिलेगा । वह आत्मनिष्ठ है, अन्यत्र कहीं नहीं ।

: ४ :

श्रावक-धर्म

एक बार एक पुराने अनुमती मत धर्म प्रवचन कर रहे थे। प्रवचन करते करते तरंग में आ गए और अपने धोनाछों से प्ररन पड़ने लगे, “बताओ, दिल्ली से लाहौर जाने के कितने मार्ग हैं ?”

धोना विचार में पड़ गए। मत के प्ररन करने की शैली इनकी प्रभावपूर्ण थी कि धोना उत्तर देने में इनप्रतिम में हो गए। वहीं में उत्तर गलत न हो जाय, इस प्रकार प्रतियोगितात्मक कुरंग उत्तर तो क्या, उत्तर के रूप में कुछ भी बोलने ही नहीं दे रही थी।

उत्तर की थोड़ी देर प्रतीक्षा करने के बाद अन्ततोगत्या सन्त ने ही कहा, “लो, मैं ही बताऊँ। दिल्ली से लाहौर जाने के दो मार्ग हैं।” धोना अब भी उलझन में थे। अतः सन्त ने आगे कुछ विरक्षेण करते हुए कहा—“एक मार्ग है स्थल का, जो आठ मोटर से, रेल में या पैदल, किसी भी तरह तय करते हैं। और दूसरा मार्ग है आकाश से होकर जिसे आप वायुयान के द्वारा तय कर पाते हैं। पहला सरल मार्ग है, परन्तु देर का है। और दूसरा उड़िन मार्ग है, पतारे में भरा है, परन्तु है खीझला का।”

उपयुक्त रूपर का अपने धार्मिक विचार का वाहन बनाते हुए सन्त ने कहा—“कुछ समझें ? मोक्ष के भी हमी प्रकार दो मार्ग हैं। एक गृह्य धर्म तो दूसरा साधु धर्म। दोनों ही मार्ग हैं, अमार्ग कोई

नहीं। परन्तु पहला सरल होते हुए भी ज़रा देर का है। और दूसरा कठिन होते हुए भी बड़ी शोघ्रता का है। घताग्रो, तुम कौन से मार्ग से मोक्ष जाना चाहते हो?

सन्त की बात को लम्बी करने का यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है। यहाँ प्रयोजन है एक मात्र पिछले अध्यायों की संगति लगाने का और जीवन की राह ढूँढने का। मानव जीवन का लक्ष्य है सच्चा सुख। और वह सच्चा सुख है त्याग में, धर्म के आचरण में। धर्माचरण और त्याग से हीन मनुष्य, मनुष्य नहीं, पशु है। मिट्टी को मनुष्य का आकार मिल जाने में ही कोई विशेषता नहीं है। यह आकार तो हमें अनन्त अनन्त बार मिला है, परन्तु उस से परिणाम क्या निकला? रावण मनुष्य था और राम भी, परन्तु दोनों में कितना अन्तर था? पहला शरीर के आकार से मनुष्य था तो दूसरा आत्मा की दिव्य विभूति के द्वारा मनुष्य था। जब तक मनुष्य की आत्मा में मनुष्यता का प्रवेश न हो, तब तक न उस मानव व्यक्ति का कल्याण है और न उसके आसपास के मानव समाज का ही। मानव का विश्लेषण करता हुआ, देखिए, लोकोक्ति का यह सूत्र, क्या कह रहा है—“आदमी आदमी में अन्तर, कोई हीरा कोई कंकर।”

कौन हीरा है और कौन कंकर? इस प्रश्न के उत्तर में पहले भी कह आए हैं और अब भी कह रहे हैं कि जो धर्म का आचरण करता है, गृहस्थ का अथवा साधु का किमी भी प्रकार का त्याग-मार्ग अपनाता है, वह मनुष्य प्रकाशमान हीरा है। और धर्माचरण से शून्य, भोग-विलास के अन्धकर में आत्म-स्वरूप से भटका हुआ मनुष्य, भले ही दुनियादारी की दृष्टि से कितना ही क्यों न बड़ा हो, परन्तु वस्तुतः मिट्टी का कंकर है। सच्चा और खरा मनुष्य वही है, जो अपने बन्धन खोलने का प्रयत्न करता है और अपने को मोक्ष का अधिकारी घनाता है।

जैन संस्कृति के अनुसार मोक्ष का एकमात्र मार्ग धर्म है, और

उसके दो भेद हैं—साधारण धर्म और अनसाधारण धर्म । साधारण धर्म गृहस्थ धर्म को कहते हैं, और अनसाधारण धर्म साधु धर्म को । भगवान् महावीर ने इसी सम्बन्ध में कहा है —

चरित्त - धम्मो दुयिहो पणुत्ते, तंजहा—
असाधारण चरित्त धम्मो चेव अणुसाधारण चरित्त धम्मो चेव

[स्थानाग सूत्र]

साधारण धर्म एक सीमित मार्ग है । वह जीवन की सरल किन्तु छोटा पगडंडी है । वह धर्म, जीवन का राज मार्ग नहीं है । गृहस्थ समाज में रहता है, अतः उस पर परिवार, समाज और राष्ट्र का उत्तर दायित्व है । यही कारण है कि वह पूर्ण रूपेण अहिंसा और सत्य के राज-मार्ग पर नहीं चल सकता । उसे अपने निरोधी प्रतिद्वन्द्वी लोगों से सभ्य करना पड़ता है, जीवनयात्रा के लिए कुछ-न-कुछ शोषण का मार्ग अपनाना होता है, परिग्रह का जाल बुनना होता है । गृहस्थ मार्ग पर चलते हुए भी अपने व्यक्तिगत या सामाजिक स्वार्थों के लिए कहीं न कहीं किसी से टकराना पड़ जाता है, अतः वह पूर्णतया निरपेक्ष स्वात्मपरिणति का अवसरक अहिंसा सत्य के अनुयायी साधुधर्म का दावेदार नहीं हो सकता ।

गृहस्थ का धर्म अणु है, छोटा है, परन्तु वह हीन एवं निन्दनीय नहीं है । कुछ पक्षान्ध लोगो ने गृहस्थ को जहर का भरा हुआ कगोर बनाया है । वे कहते हैं कि जहर के प्याले को किसी भी ओर से पीजिए, जहर ही पीने में आयेगा, वहाँ अमृत कैसा ? गृहस्थ का जीवन बिषर भी देखो उधर ही पान से भरा हुआ है, उसका प्रत्येक आचरण पाश्र्विक है, विकारमय है, उसमें धर्म कहाँ ? परन्तु ऐसा कहने वाले लोग स्वयं की गहराई तक नहीं पहुँच पाए हैं, भगवान् महावीर की वाणी का समर्थन नहीं समझ पाए हैं । यदि सदाचारी से सदाचारी गृहस्थ जीवन भी जहर का प्याला ही होता, 'उनकी अपनी भाषा में कुपात्र ही होता, तो जैन संस्कृति के प्राण प्रतिष्ठापक भगवान् महावीर धर्म के दो भेदों में क्यों गृहस्थ धर्म की

गणना करते ? क्यों उच्च सदाचारी गृहस्थों को श्रमण के समान उपमा देते हुए 'समणभूष' कहते ? क्यों उत्तराध्ययन सूत्र के पंचम अध्ययन की वाणी में यह कहा जाता कि कुल्य भिक्षुओं की अपेक्षा संयम की दृष्टि से गृहस्थ श्रेष्ठ है और गृहस्थ दशा में रहते हुए भी साधक सुव्रत हो जाता है। 'संति एणेहि भिक्षव्हि गारव्था मंजमुत्तरा।' 'एवं सिक्खाममावन्ने गिहिवासे वि सुव्वण्ण।' यह ठीक है कि गृहस्थ का धर्म-जीवन क्षुद्र है, साधु का जैसा महान् नहीं है। परन्तु यह क्षुद्रता साधु के महान् जीवन की अपेक्षा से है। हमारे साधारण भोगासक्ति की दलदल में कैसे संसारी मनुष्यों की अपेक्षा तो एक धर्माचारी सद्-गृहस्थ का जीवन महान् ही है, क्षुद्र नहीं।

प्रवचन सारोद्धार ग्रन्थ में श्रावक के सामान्य गुणों का निरूपण करते हुए कहा गया है कि "श्रावक प्रकृति से गंभीर एवं सौम्य होता है। दान, शील, सरल व्यवहार के द्वारा जनता का प्रेम प्राप्त करता है। पापों से उरने वाला, दयालु, गुणानुगामी, पक्षपात रहित = मध्यस्थ, बड़ों का आदर मन्कार करने वाला, कृतज्ञ = किए उपकार को मानने वाला, परोपकारी एवं हिताहित मार्ग का जाता दीर्घदर्शी होता है।"

धर्म संग्रह में भी कहा है कि "श्रावक इन्द्रियों का गुलाम नहीं होता, उन्हें वश में रखता है। स्त्री-मोह में पड़कर वह अपना अनासक्त मार्ग नहीं भूलता। महारंभ और महापरिग्रह से दूर रहता है। भयंकर से भयंकर संकटों के आने पर भी सम्यक्त्व से भ्रष्ट नहीं होता। लोकखुडि का सहाय लेकर वह भेड़ चाल नहीं अपनाता, अपितु सत्य के प्रकाश में हिताहित का निरीक्षण करता है। श्रेष्ठ एवं दोष-रहित धर्माचरण की साधना में किसी प्रकार की भी लजा एवं हिचकिचाहट नहीं करता। अपने पक्ष का मिथ्या आग्रह कभी नहीं करता। परिवार आदि का पालन पोषण करता हुआ भी अन्तर्हृदय से अपने को अलग रखता है, पानी में कमल बनकर रहता है।"

क्या ऊपर के सदगुणों को देखते हुए कोई भी विचारशील सज्जन गृहस्थ को कुपाय कह सकता है, उसे ज़रूर का लयालय मरा हुआ प्याला बता सकता है? जैन धर्म में आर्य को वीतरागदेव श्री तीर्थंकरों का छोटा पुत्र कहा है। क्या भगवान् का छोटा पुत्र होने का महान् गौरव प्राप्त करने के बाद भी वह कुपाय ही रहता है? क्या आनन्द, कामदेव जैसे देवताओं से भी वह भ्रष्ट न होते वाले अमण्डोदामन गृहस्थ ज़रूर के प्याले थे? यह भ्रान्त धारणा है। गृहस्थ का जीवन भी धर्ममय हो सकता है, वह भी मोक्ष की ओर प्रगति कर सकता है, कर्म उन्नीकों को तोड़ सकता है। सदगृहस्थ सगार में रहता है, परन्तु अनागत भाव की ज्योने का प्रकाश अंदर में जगमगाता रहता है। वह कभी-कभी ऐसी दशा में होता है कि कर्म करता हुआ भी कर्मबन्ध नहीं करता है।

सद्धिमा सम्यग् ज्ञान की

अरु विराग बल जोड़ ।

विद्या करत फल सुंजते

कर्म - बन्ध नहि होइ ॥

—भगवद्गीता, निरंजनाद्वार

सूतकृपाग सूत का दूसरा भुक्तम्ब हमारे सामने है। अविस्त, विस्त और विस्तारित का मित्रना सुन्दर मिलेक्षण मित्रा गया है। विस्तारित धारण की भूमिका है, इसके सम्बन्ध में प्रभु महावीर कहते हैं— 'सभी पापाचरणों से मुक्त निवृत्ति और मुक्त अनिवृत्ति होना ही निरति-अविरति है। परन्तु यह आरम्भ नोआरम्भ का स्थान भी आर्य है तथा उन दुःखों का नाश करने वाला मोक्षमार्ग है। यह जीवन भी एवान्त सम्यक् एतं साधु है।'।

—'तत्त्वार्थ' जा सा सव्यतो विरवाविरे, एत एषो धारम्भ मो

धारमद्वारे । एस ठाणे आरिए जाव सव्वदुक्ख-प्पहीणमग्गे
एगंतसम्मे साहु !”

[सूत्रकृतांग २।२।३६]

वह है अनन्तज्ञानी परम वीरराग भगवान् महावीर का निर्णय !
क्या इससे बढ़कर कोई और भी निर्णय प्राप्त करना है ? यदि श्रद्धा
का कुछ भी अंश प्राप्त है तो फिर किसी अन्य निर्णय की आवश्यकता
नहीं है । यह निर्णय अन्तिम निर्णय है । अब हम व्यर्थ ही चर्चा को
लम्बी नहीं करना चाहते ।

आइए, अब कुछ इस बात पर विचार करें कि गृहस्थ दशा में
रहते हुए भी इतनी ऊँची भूमिका कैसे प्राप्त की जा सकती है ?

यह आत्म-देवता अनन्त काल से मिथ्यात्व की अंधकारपूर्ण काल
रात्रि में भटकता-भटकता, असत्य की उपासना करता-करता, जब कभी
सत्य की विश्वासभूमिका में आता है तो वह उसके लिए स्वर्णप्रभात
का सुअवसर होता है । संसाराभिमुख आत्मा जब मोक्षाभिमुख होती है,
बहिर्मुख से अन्तर्मुख होनी है, अर्थात् विषयाभिमुख से आत्माभिमुख
होती है, तब सर्वप्रथम सम्यक्त्वरूप धर्म की दिव्य ज्योति का प्रकाश
प्राप्त होता है ।

सच्ची श्रद्धा का नाम सम्यक्त्व है । यह श्रद्धा अन्ध श्रद्धा नहीं है ।
अपितु वह प्रकाशमान जीवित श्रद्धा है, जिसके प्रकाश में जड़ को जड़
और चैतन्य को चैतन्य समझा जाता है, संसार को संसार और मोक्ष
को मोक्ष समझा जाता है और समझा जाता है धर्म को धर्म और
अधर्म को अधर्म ! निश्चय दृष्टि में विवेक बुद्धि का जागृत होना ही
सम्यक्त्व है, तत्त्वार्थ-श्रद्धान है । अनन्त काल से हम यात्रा तो करते
चले आ रहे थे, परन्तु उस का गन्तव्य लक्ष्य स्थिर नहीं हुआ था ।
वह लक्ष्य का स्थिरीकरण सम्यक्त्व के द्वारा होता है । सम्यक्त्व के
अभाव में कितना ही उग्र क्रिया-काण्डी क्यों न हो, वह अन्धा है, सर्व-

या श्रमणा ! वह भटकता है, यात्रा नहीं करता । यात्री के लिए श्रमणी श्रॉणें चाहिए । वह श्रॉण सम्पन्न है । इस श्रॉण ने बिना श्रमणात्मिक जीवन यात्रा तै नहीं की जा सकती ।

जब गृहस्थ यह सम्यक्त्व की भूमिका प्राप्त कर लेता है तो कर्म की श्रमणात्मिक भाषा में भगवान् बीतगग देव का लज्जु पुत्र हो जाता है । यह पद कुछ कम महत्त्व पूर्ण नहीं है । यही भारी क्वालि है इसकी श्रमणात्मिक क्षेत्र में । ज्ञाना धर्मकथा सूत्र में सम्यक्त्व का स्वन की उम्मा दी है । यस्तुत यह पद चिन्तामणि स्वन है, जिनसे द्वारा माधन जो पाना चाहे वह सब पासकता है । श्रमण काज से हीन, दीन, दखि भिरगरी के रूप में भनरता हुआ आमदेव सम्यक्त्व स्वन पाने के बाद एक महान् श्रमणात्मिक धन का स्वामी हो जाता है । सम्यक्त्व की प्रत्येक क्रिया निरुले दग की होती है । उसका सोचना, समझना, सोचना और करना सब कुछ मिलकुण होता है । वह ससार में रहता हुआ भी संसार से निर्विण्य हो जाता है, उसके अन्तर में शम, मवेग, निर्वेद और अनुसम्मा का अमृत सागर डाटें मारने लगता है । विश्व के अनन्तानन्त चर अचर प्राणियों व प्रति उसके कोमल हृदय से दया का भरना रहता है और वह चाहता है कि ससार ने सब जीव सुखी हो, कलशमभागी हो । सब को आत्ममान हो, समार से विरक्ति हो । सम्यक्त्व की जीवन ही अनुकम्पा का जीवन है । वह विश्व का मंगलमय देखना चाहता है । धीत राग देव, निम्र-व गुरु और बीतराग प्ररूपित धर्म पर उसका इतना दृढ़ श्रमिक भाव होता है कि यदि संसार भर की देवी शक्तियाँ डिगाना चाहें तब भी नहीं डिग सकता । भला वह प्रकाश से अन्धकार में जाए तो कैसे जाए ? प्रकाश उस के लिए जीवन है और अधकार मृत्यु ! उसकी यात्रा सत्य से असत्य की और नहीं, श्रान्तु असत्य से सत्य की और है । वह एक महान् भारतीय दार्शनिक के शब्दों में प्रतिष्ठल प्रतिकुण यही भावना माता है कि 'ससतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय ।'

आध्यात्मिक विकासक्रम में सम्यक्त्व की भूमिका चतुर्थ गुणस्थान की है। जब साधक सम्यक्त्व का अजर अमर प्रकाश साथ लेकर आध्यात्मिक यात्रा के लिए अग्रसर होता है तो देशव्रती श्रावक की पंचम भूमिका आती है। वह वह भूमिका है, जहाँ अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह भाव की मर्यादित साधना प्रारम्भ हो जाती है। सर्वथा न करने से कुछ करना अच्छा है, यह आदर्श है इस भूमिका का ! गृहस्थ का जीवन है, अतः पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों का बहुत बड़ा भार है मस्तक पर ! ऐसी स्थिति में सर्वथा परिपूर्ण त्याग का मार्ग तो नहीं अपनाया जा सकता। परन्तु अपनी स्थिति के अनुकूल मर्यादित त्याग तो ग्रहण किया जा सकता है। अतः, इस मर्यादित एवं आंशिक त्याग का नाम ही आगम की भाषा में देश-विरति है ! अभी अपूर्ण त्याग है, परन्तु अन्तर्मन में पूर्ण त्याग का लक्ष्य है। इस प्रकार के देशविरति श्रावक के चारह व्रत होते हैं। आगमसाहित्य में चारह व्रतों का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है। यहाँ इतना अवकाश नहीं है, और प्रसंग भी नहीं है। अतः भविष्य में कहीं अन्यत्र विस्तार की भावना रखते हुए भी यहाँ संक्षेप में दिग्दर्शन मात्र कराया जा रहा है।

१—अहिंसा व्रत

सर्व प्रथम अहिंसा व्रत है। अहिंसा हमारे आध्यात्मिक जीवन की आधार भूमि है ! भगवान् महावीर के शब्दों में 'अहिंसा भगवती है।' इस भगवती की शरण स्वीकार किए बिना साधक आगे नहीं बढ़ सकता।

अहिंसा की साधना के लिए प्रतिज्ञा लेनी होती है, कि 'मैं मन, वचन, काय से किसी भी निरपराध एवं निर्दोष त्रस प्राणी की जानें-बूझ कर हिंसा न स्वयं करूँगा और न दूसरों से कराऊँगा। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति रूप-स्थावर जीवों की हिंसा भी व्यर्थ एवं अमर्यादित रूप में न करूँगा और न कराऊँगा।' १

कर सकता तो उसको यह प्रतिज्ञा तो लेनी ही चाहिए कि 'मे' अपनी मन्त्रों के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार का व्यवहार न स्वयं करूँगा और न दूसरों से करूँगा । अपनी पत्नी के साथ भी अति संभोग नहीं करूँगा ।'

ब्रह्मर्षि मन की रक्षा के लिए निम्नलिखित बातों का त्याग आग्रह करता है—

(१) निती रत्न के साथ संभोग करना ।

(२) परम्प्री, अनिवादिता तथा येश्या आदि के साथ संभोग करना ।

(३) सामाजिक संभोग करना ।

(४) दूसरों के विवाद लगा करने में सम्मर्पित भाग लेना ।

(५) सामाजिक की तीव्र आक्रान्ति करना, अग्नि संभोग करना ।

५—अपरिग्रह मत

परिग्रह भी एक बहुत बड़ा पाप है । परिग्रह मानव-जमात्र की मनो-मानना की उत्तरोत्तर वृद्धि करता जाता है और किसी प्रकार का भी स्वपरिग्रहादित एवं लाभोलाभ का विवेक नहीं रहने देता है । सामाजिक विभागों, संघों, पक्षों एवं राजाजि का प्रधान कारण अपरिग्रहवाद ही है । अतएव यह और पर की शक्ति के लिए समर्पित स्वार्थवृत्ति एवं संघर्ष बुद्धि पर निर्वन्धन रचना आवश्यक है ।

अपरिग्रह मन की प्रतिज्ञा के लिए निम्नलिखित वस्तुओं के अति-परिग्रह-त्याग की उचित भर्त्सा कर निर्धारण करना चाहिए—

(१) भोजन, वस्त्र और लेन आदि की भृति ।

(२) लोभ और ईर्ष्या ।

(३) लोभ, क्रोध तथा लज्जा, ईद आदि द्विपर वस्तुधर ।

(४) अहं, अहं ईश्वर आदि अहं और भय ।

(५) प्रति दिन के व्यवहार में आने वाली पात्र, शयन, आसन आदि घर की अन्य वस्तुएँ ।

६—दिग्नत

पापाचरण के लिए गमनागमनादि क्षेत्र को विस्तृत करना जैन गृहस्थ के लिए निषिद्ध है । बड़े-बड़े राजा सेनाएँ लेकर दिग्विजय को निकलते हैं और जिधर भी जाते हैं, संहार मचा देते हैं । बड़े-बड़े व्यापारी व्यापार करने के लिए चलते हैं और आस-पास के राष्ट्रों की गरीब प्रजा का शोषण कर डालते हैं । इसीलिए भगवान् महावीर ने दिग्नत का विधान किया है । दिग्नत में कर्मक्षेत्र की मर्यादा बाँधी जाती है अर्थात् सीमा निश्चित की जाती है । उस निश्चित सीमा के बाहर जाकर हिंसा, असत्य आदि पापाचरण का पूर्णरूप से त्याग करना, दिग्नत का लक्ष्य है ।

७—उपभोग परिभोग-परिमाण व्रत

जीवन भोग से वैरा हुआ है । अतः जब तक जीवन है, भोग का सर्वथा त्याग तो नहीं किया जा सकता । हाँ, आसक्ति को कम करने के लिए भोग की मर्यादा अवश्य की जा सकती है । अनियंत्रित जीवन विप्राक्त हो जाता है । वह न अपने लिए हितकर होता है और न जनता के लिए । न इस लोक के लिए श्रेयस्कर होता है और न परलोक के लिए । अनियंत्रित भोगासक्ति संग्रह-बुद्धि को उत्तेजित करती है । संग्रह-बुद्धि परिग्रह का जाल बुनती है । परिग्रह का जाल ज्यों-ज्यों फैलता जाता है, त्यों-त्यों हिंसा, द्वेष, घृणा, असत्य, चौर्य आदि पापों की परम्परा लम्बी होती जाती है । अतएव श्रमण संस्कृति गृहस्थ के लिए भोगासक्ति कम करने और उसके लिए उपभोग परिभोग में आने वाले भोजन, पान, वस्त्र आदि पदार्थों के प्रकार एवं संख्या को मर्यादित करने का विधान करती है । यह मर्यादा एक-दो-तीन दिन आदि के रूप में सीमित काल तक या यावज्जीवन के लिए की जा सकती है । उक्त-

अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए निम्नलिखित पाँच कार्यों का त्याग अवश्य करना चाहिए—

- (१) जीवों को मारना, पीटना, घाम देना ।
- (२) अग-भग करना, विरुद्ध एव अवगम करना ।
- (३) कठोर जन्मन से रौंधना, या बिजरे आदि में रगना ।
- (४) शक्ति से अग्रिम भार लादना या काम लेना ।
- (५) समय पर भोजन न देना, भूखा प्यासा रगना ।

२—सत्य व्रत

असत्य का अर्थ है, झूठ बोलना । केवल बोलना ही नहीं, झूठा सोचना और झूठा काम करना भी असत्य है । अनन्तकाल से आत्मा असत्यमय होने के कारण दुःख उठाती आ रही है, बलेश पाती आ रही है । यदि इस दुःख और बलेश की परम्परा से मुक्ति पानी है तो असत्य का त्याग करना चाहिए । भगवान् महावीर ने सत्य को भगवान् कहा है । भगवान् सत्य की सेवा में आत्मार्पण किए बिना अखण्ड आत्मस्वरूप की उपलब्धि नहीं हो सकती ।

एहस्थ साधक को सत्य की साधना के लिए प्रतिज्ञा लेनी होती है कि मैं जान बूझ कर झूठी साक्षी आदि के रूप में मोटा झूठ न स्वयं शेनूँगा, और न दूसरों से बुलवाऊँगा ।

सत्य व्रत की रक्षा के लिए निम्नलिखित कार्यों का त्याग करना चाहिए—

- (१) दूसरों पर झूठा आरोप लगाना ।
- (२) दूसरों की गुप्त बातों को प्रकट करना ।
- (३) पत्नी आदि के साथ निरनासचात करना ।
- (४) बुरी या झूठी सलाह देना ।
- (५) झूठी दस्तावेज बनाना, जालसाजी करना ।

३—अचौर्य व्रत

दूसरे की सम्पत्ति पर अनुचित अधिकार करना चोरी है। मनुष्य को अपनी आवश्यकताएँ अपने पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्त हुए साधनों से ही पूर्ण करनी चाहिए। यदि कभी प्रसंगवश दूसरों से भी कुछ लेना हो तो वह सहयोग पूर्वक मित्रता के भाव से दिया हुआ ही लेना चाहिए। किसी भी प्रकार का बलाभियोग अथवा अनधिकार शक्ति का उपयोग करके कुछ लेना, लेना नहीं है, छीनना है।

गृहस्थ साधक पूर्णरूप से चोरी का त्याग नहीं कर सकता तो कम से कम सेन्ध लगाना, जेब कतरना, डाका डालना इत्यादि सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से सर्वथा अयोग्य चोरी का त्याग तो करना ही चाहिए। अस्तेय व्रत की प्रतिज्ञा है कि मैं स्थूल चोरी न स्वयं करूँगा और न दूसरो से करवाऊँगा।

अस्तेय व्रत की रक्षा के लिए निम्नलिखित कार्यों का त्याग आवश्यक है—

- (१) चोरी का माल खरीदना।
- (२) चोरी के लिए सहायता देना।
- (३) राष्ट्रविरोधी कार्य करना, कर आदि की चोरी करना।
- (४) झूठे तोल माप रखना।
- (५) मिलावट करके अशुद्ध वस्तु बेचना।

४—ब्रह्मचर्य व्रत

स्त्री-पुरुष सम्बन्धी संभोग क्रिया में भी जैन-धर्म पाप मानता है। प्रकृतिजन्य कहकर वह इस कार्य की कभी भी उपेक्षा करने के लिए नहीं कहता। संभोग क्रिया में असंख्य सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती है। और काम-वासना स्वयं भी अपने आप में एक पाप है। यह आत्मजीवन की एक प्रमुख बहिर्मुख क्रिया है। यदि गृहस्थ पूर्णरूप से ब्रह्मचर्य धारण नहीं

कर सकता तो उससे यह प्रतिज्ञा तो लेनी ही चाहिए कि 'मैं स्वपत्नी सन्तोष के अनिरिक्त अन्य सभी प्रकार का व्यभिचार न स्वयं करूँगा और न दूसरों से कराऊँगा । अपनी पत्नी के साथ भी अति मभोग नहीं करूँगा ।'

ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के लिए निम्नलिखित कार्यों का त्याग आवश्यक है—

(१) किसी स्त्रिय के साथ सभोग करना ।

(२) परस्त्री, अविवाहिता तथा वेश्या आदि के साथ सभोग करना ।

(३) अप्राकृतिक सभोग करना ।

(४) दूसरा के विवाह-लग्न कराने में अमर्यादित भाग लेना ।

(५) कामभोग की तीव्र आसक्ति रखना, अति मभोग करना ।

५—अपरिग्रह व्रत

परिग्रह भी एक बहुत बड़ा पाप है । परिग्रह मानव-ममात्र की मना-भावना को उत्तरोत्तर दूषित करता जाता है और किसी प्रकार का भी स्वपरहितादित एव लाभालाभ का विवेक नहीं रहने देता है । सामाजिक विषमता, संघर्ष, कलह एव अशान्ति का प्रधान कारण परिग्रहवाद ही है । अतएव स्व और पर की शान्ति के लिए अमर्यादित स्वार्थवृत्ति एव समग्र बुद्धि पर नियंत्रण रखना आवश्यक है ।

अपरिग्रह व्रत की प्रतिज्ञा के लिए निम्नलिखित वस्तुओं के अति परिग्रह त्याग की उचित मर्यादा का निर्धारण करना चाहिए—

(१) मकान, दूकान और खेत आदि की भूमि ।

(२) सोना और चाँदी ।

(३) नोकर चाकर तथा गाय, भैंस आदि द्विपद चतुष्पद ।

(४) मुद्रा, जवाहिरात आदि धन और धान्य ।

१—स्त्री से 'स्वपति सन्तोष' कहना चाहिए ।

(५) प्रति दिन के व्यवहार में आने वाली पात्र, शयन, आसन आदि घर की अन्य वस्तुएँ ।

६—दिग्व्रत

पापाचरण के लिए गमनागमनादि क्षेत्र को विस्तृत करना जैन गृहस्थ के लिए निषिद्ध है । बड़े-बड़े राजा सेनाएँ लेकर दिग्विजय को निकलते हैं और जिधर भी जाते हैं, संहार मचा देते हैं । बड़े-बड़े व्यापारी व्यापार करने के लिए चलते हैं और आस-पास के राष्ट्रों की गरीब प्रजा का शोषण कर डालते हैं । इसीलिए भगवान् महावीर ने दिग्व्रत का विधान किया है । दिग्व्रत में कर्मक्षेत्र की मर्यादा बाँधी जाती है अर्थात् सीमा निश्चित की जाती है । उस निश्चित सीमा के बाहर जाकर हिंसा, असत्य आदि पापाचरण का पूर्णरूप से त्याग करना, दिग्व्रत का लक्ष्य है ।

७—उपभोग परिभोग-परिमाण व्रत

जीवन भोग से व्रंश हुआ है । अतः जब तक जीवन है, भोग का सर्वथा त्याग तो नहीं किया जा सकता । हाँ, आसक्ति को कम करने के लिए भोग की मर्यादा अवश्य की जा सकती है । अनियंत्रित जीवन विपाक हो जाता है । वह न अपने लिए हितकर होता है और न जनता के लिए । न इस लोक के लिए श्रेयस्कर होता है और न परलोक के लिए । अनियंत्रित भोगासक्ति संग्रह-बुद्धि को उत्तेजित करती है । संग्रह-बुद्धि परिग्रह का जाल बुनती है । परिग्रह का जाल ज्यों-ज्यों फैलता जाता है, त्यों-त्यों हिंसा, द्वेष, घृणा, असत्य, चौर्य आदि पापों की परम्परा लम्बी होती जाती है । अतएव श्रमण संस्कृति गृहस्थ के लिए भोगासक्ति कम करने और उसके लिए उपभोग परिभोग में आने वाले भोजन, पान, वस्त्र आदि पदार्थों के प्रकार एवं संख्या को मर्यादित करने का विधान करती है । यह मर्यादा एक-दो-तीन दिन आदि के रूप में सीमित काल तक या यावज्जीवन के लिए की जा सकती है । उक्त-

मा क द्वाग वसत मा क मय म गी न विन न न मद्र वा ही
अधिक परिणित विना बाग है और आरणा की भावना का और अधिक
गिराण प्रवृत्त बनता है।

यह गान मा अर्थात् आराधना के निवेदन भी करता है। दुःख
जीवन के निष्ठ आचार भी आचार्यक है। विना दुःखजनक धनार्जन के
गृहस्थ की माही पैर अमर दा गहरी है। परन्तु आचार्यक गान
यह विचार आचार्यकणीय है कि 'यद् अन्तर नतप' ११ है या 'तर्' १
इमम अन्तर्भव है या मन्तर्भव ११ अतः, मन्तर्भव होने के कारण बन
काटा, जंगल में आग लगाता, शयन और भिन्न आदि बचना, गन्धर
तथा नदी आदि का सुगन्ध आदि के ये जैन-गुरु के निष्ठ विधि है।

८—अनर्थ टण्ड भिरमण व्रत

मनु ४ यदि अन्न जीवों का विषय शून्य एवं प्रकृत रहता है तो
विना प्रयोजन भी दिग्ग आदि कर बैठता है। मन, बाली और शरीर
का मग्न आनन्द गन्ता चाहिए और प्रत्येक क्रिया विषय पुन ही बगनी
चाहिए। अग्रिम भागी के निष्ठ मन में लालसा रहना, मान भागी की
रक्षा के लिए चिन्ता करना, घुरे विचार एवं घुरे मंथन रहना, पाप
कार्य के लिए परामर्श देना, शयन और भुज आदि से अमर चंगरे
करना, काम भाग मन्तर्भी वार्तानाव में रस लेना, बान-बान पर अमर
माही देने की आदत रहना, निरर्थक दिग्ग बारक शस्त्रों का मंथन
करना, आवश्यकता से अधिक व्यर्थ भोग-मागधी रखती करना, तल
तथा की आदि के पाप विना दक गुल भुँद रहना, इत्यादि सब अनर्थ
टण्ड है। साधक को इन सब अनर्थ टण्डों से निवृत्त रहना चाहिए।

९—सामायिक व्रत

जैन साधना में सामायिक व्रत का बहुत बड़ा महत्त्व है। सामा-
यिक का अर्थ समता है। रागादेषवर्द्धक मंथनी प्रवृत्तों से अलग होकर
जीवन यात्रा को निष्ठा एवं परिश्रम माना ही समता है। गृहस्थ

आखिर गृहस्थ है। वह साधु नहीं है, जो यावज्जीवन के लिए सत्र पापव्यापारों का पूर्ण रूपा से परित्याग कर पवित्र जीवन बिता सके। अतः उसे प्रतिदिन कम-से-कम ४८ मिनट के लिए तो सामायिक व्रत धारण करना ही चाहिए। यद्यपि मुहूर्त भर के लिए पापव्यापारों का त्याग करने रूपा सामायिक व्रत का काल अल्प है, तथापि इसके द्वारा अहिंसा एवं समता की विराट भोंकी के दर्शन होते हैं। सामायिक व्रत की साधना करते समय साधारण गृहस्थ साधक भी लगभग पूर्ण निष्पाप जैसी ऊँची भूमिका पर आरुढ़ हो जाता है। आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है—‘सामाह्वयमि उ कए, समणो हव सावओ हवइ जम्हा।’ अर्थात् सामायिक कर लेने पर श्रावक श्रमण-जैसा हो जाता है।

यह गृहस्थ की सामायिक साधु की पूर्ण सामायिक के अभ्यास की भूमिका है। यह दो घड़ी का आध्यात्मिक स्नान है, जो जीवन को पाप-मल से हल्का करता है एवं अहिंसा की साधना को स्फूर्तिशील बनाता है। सामायिक के द्वारा किया जाने वाला पापाश्रव-निरोध एवं आत्म-निरीक्षण साधक के लिए वह अमूल्य निधि है, जिसे पाकर आत्मा परमात्मरूप की ओर अग्रसर होता है।

१०—देशावकाशिक व्रत

परिग्रह परिमाण और दिशा परिमाण व्रत की यावज्जीवन सम्बन्धी प्रतिज्ञा को और अधिक व्यापक एवं विराट बनाने के लिए देशावकाशिक व्रत ग्रहण किया जाता है। दिशा-परिमाण व्रत में गमनागमन का क्षेत्र यावज्जीवन के लिए सीमित किया जाता है। और वहाँ उस सीमित क्षेत्र को एक दो दिन आदि के लिए और अधिक सीमित कर लिया जाता है। देशावकाशिक व्रत की साधना में जहाँ क्षेत्रसीमा संकुचित होती है, वहाँ उपभोग सामग्री की सीमा भी संक्षिप्त होती है। यदि साधक देशावकाशिक व्रत की प्रतिदिन साधना करे तो उस की अनारम्भभय

अहिंसा साधना अधिनाधिक व्यापक होकर आत्मतत्त्व अपनी स्वामयिक स्थिति में स्वच्छ हो जाए ।

११—पौषध व्रत

यह व्रत जीवन सघर्ष की सीमा को और अधिक संक्षिप्त करता है । एक अहोरात्र अर्थात् रात दिन के लिए सचित्त वस्तुओं का, शस्त्र का, पाप व्यापार का, भोजन पान का तथा अन्नद्वय का त्याग करना पौषध व्रत है । पौषध की स्थिति साधुजीवन जैसी है । अतएव पौषध में कुरता, कमीज, फोट आदि गृहस्थोचित वस्त्र नहीं पहने जाते, पलग आदि पर नहीं सोया जाता और स्नान भी नहीं किया जाता । सासारिक प्रपंचा से सर्वथा अलग रह कर एकान्त में स्वाध्याय, ध्यान तथा आत्म चिन्तन आदि करते हुए जीवन को पवित्र बनाना ही इस व्रत का उद्देश्य है ।

१२—अतिथि-संविभाग व्रत

गृहस्थ जीवन में सर्वथा परिग्रह-रहित नहीं हुआ जा सकता । यहाँ मन में मग्न हो बुद्धि मनी रहती है और तदनुसार समग्र भी होता रहता है । परन्तु यदि उक्त समग्र और परिग्रह का उपयोग अपने तक ही सीमित रहता है, जनकल्याण में प्रयुक्त नहीं होता है तो वह महा भयकर पाप बन जाता है । प्रतिदिन बढ़ते हुए परिग्रह को बढ़े हुए नस की उपमा दी है । बड़ा हुआ नाखून अपने या दूसरे के शरीर पर जहाँ भी लगेगा, घाव ही करेगा । अतः बुद्धिमान् सम्य मनुष्य का कर्तव्य हो जाता है कि वह बढ़े हुए नाखून को यथावसर काटना रहे । इसी प्रकार परिग्रह भी मर्यादा से अधिक बड़ा हुआ अपने या तथा आस-पास के दूसरे साथियों को तंग ही करता है, अशान्ति ही बढ़ाता है । इसलिए जैन धर्म परिग्रह-परिमाण में धर्म बनाता है और उस परिमित परिग्रह में से भी निरप प्रति दान देने का विधान करता है ।

दान, परिग्रह का प्रायश्चित्त है। प्राप्त वस्तुओं का स्वार्थ बुद्धि से अकेला उपभोग करना, पाप है। गृहस्थ को उक्त पाप से बचना चाहिए।

गृहस्थ के घर का द्वार जन-सेवा के लिए खुला रहना चाहिए। यदि कभी त्यागी साधु-संत पधारें तो भक्ति भाव के साथ उनको योग्य आहार पानी आदि बहराना चाहिए और अपने को धन्य मानना चाहिए। यदि कभी अन्य कोई अतिथि आए तो उसका भी योग्य सत्कार सम्मान करना चाहिए। गृहस्थ के द्वार पर से यदि कोई व्यक्ति भूखा और निराश लौटता है तो यह समर्थ गृहस्थ के लिए पाप है। अतिथि संविभाग व्रत इसी पाप से बचने के लिए है।

यह संक्षेप में जैन-गृहस्थ की धर्म साधना का वर्णन है। अधिक विस्तार में जाने का यहाँ प्रसंग नहीं है, अतः संक्षिप्त रूप रेखा बता कर ही सन्तोष कर लिया गया है। धर्म के लिए वर्णन के विस्तार की तनी आवश्यकता भी नहीं है जितनी कि जीवन में उतारने की आवश्यकता है। धर्म जीवन में उतरने के बाद ही स्व-पर कल्याणकारी होता है। अतएव गृहस्थों का कर्तव्य है कि उक्त कल्याणकारी नियमों को जीवन में उतारें और अहिंसा एवं सत्य के प्रकाश में अपनी मुक्ति-यात्रा का पथ प्रशस्त बनाएँ।

: ५ :

श्रमण-धर्म

आयक धर्म से आगे की छोटी साधु-धर्म की है। साधु-धर्म के लिए हमारे प्राचीन आचार्यों ने आकाश यात्रा शब्द का प्रयोग किया है। अर्थात्, यह साधु-धर्म की यात्रा साधारण यात्रा नहीं है। आकाश में उड़ कर चलना बुद्ध मार्ग पथ है। और यह आकाश भी देगा। मर्याद जीवन की पूर्ण परिचिता का आकाश। इस उड़ आकाश में तो मकनीमच्छुर भी उड़ लेते हैं, पशु मर्याद जीवन की पूर्ण परिचिता के चैतन्य आकाश में उड़ने वाले गिले ही कमरे में मिलते हैं।

साधु होने के लिए केवल बाहर से घेर घटल लेना ही काफी नहीं है, यहाँ तो अन्दर से गारा जीवन ही बदलना पड़ता है, जीवन का समूचा लक्ष्य ही बदलना पड़ता है। यह मार्ग फूलों का नहीं, पौंटों का है। नये पैरों जलनी आग पर चलने जैसा दृश्य है साधु-जीवन का ! उत्तमार्थक सूत्र के १६ वें अध्याय में कहा है कि—‘साधु होना, लोहे के औ चमकाने, दहकती आलायों को पीना है, कपड़े के घेले कोड़ा से भरना है, मे पर्वत को तराजू पर रखकर तोलना है, और महा समुद्र को भुशारों से तैल है। इतना ही नहीं, तनसार की नग्न धार पर नये पैरों चलना है :

यस्तुतः साधु-जीवन इतना ही उग्र जीवन है। धीर, धीर, गम्भीर, एवं मादही सायक ही इस दुर्गम पथ पर चल रहने हैं—‘सुरस्य धारा निरुद्धा दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कथं पदन्ति ।’ जो लोग कायर

है, साहसहीन है, वासनाओं के गुलाम है, इन्द्रियों के चक्कर में है, और दिन-रात इच्छाओं की लहरों के थपेड़े खाते रहते हैं, वे भला क्यों कर इस लुर-धारा के दुर्गम पथ पर चल सकते हैं ?

साधु-जीवन के लिए भगवान् महावीर ने अपने अन्तिम प्रवचन में कहा है—“साधु को ममतारहित, निरहंकार, निःसंग, नम्र और प्राणिमात्र पर समभावयुक्त रहना चाहिए। लाभ हो या हानि हो, सुख हो या दुःख हो, जीवन हो या मरण हो, निन्दा हो या प्रशंसा हो, मान हो या अपमान हो, सर्वत्र सम रहना ही साधुता है। सच्चा साधु न इस लोक में कुछ आसक्ति रखता है और न परलोक में। यदि कोई विरोधी तेज कुल्हाड़े से काटता है या कोई भक्त शीतल एवं सुगन्धित चन्दन का लेप लगाता है, साधु को दोनों पर एक जैसा ही समभाव रखना होता है। वह कैसा साधु, जो क्षण-क्षणमें राग-द्वेष की लहरों में बह निकले। न भूख पर नियंत्रण रख सके और न भोजन पर।”

निम्समो निरहंकारो,

निस्संगो चत्त-गारवो ।

समो य सव्वभूएसु,

तसेसु थावरेसु य ॥

लाभालाभे सुहे दुक्खे,

जीघिए मरणे तहा ।

समो निंदा - पसंसासु

समो माणावभाणओ ॥

अणित्सओ इहं लोए,

परलोए अणित्सओ ।

वासी - चंदणकप्पो य,

असणे अणसणे तहा ॥

भगवान् महावीर की वाणी के अनुसार साधु-जीवन-न भोग का जीवन है और न द्वेष का। वह तो पूर्णरूपेण समभाव एवं तटस्थ-वृत्ति का जीवन है। साधु विराट् के लिए कल्याण एवं महल की जीवित मूर्ति है। यह अपने हृदय के कण-कण में सत्य और कल्याण का अक्षर अमृतसागर लिए भूनरुडव पर विचरण करता है, प्राणिमात्र को विश्वमेत्री का अक्षर ग देण देता है। यह समग्र के ऊँचे से ऊँचे आदर्शों पर विचरण करता है, अपने मन, वाणी एवं शरीर पर कठोर नियंत्रण रखता है। अक्षर की समस्त भोग वाचनाओं से गर्वभा अलित रहता है, और क्रोध, मान, माया एवं लोभ की दुर्गन्ध से हजार हजार कोस की दूरी से बचकर चलता है।

देवाधिदेव भगवान् महावीर ने उपर्युक्त पूर्ण त्याग मार्ग पर चलने वाले साधुओं को मेघ पर्यंत के समान अमर्क, समुद्र के समान गम्भीर, चन्द्रमा के समान शीतल, सूर्य के समान तेजस्वी और पृथ्वी के समान सर्वसह कहा है। सूत्रकृतांग सूत्र के द्वितीय धृतसन्धान्तर्गत दूसरे नियम स्थान नामक अध्वयन में साधु जीवन सम्बन्धी उपायों की यह समीचीन शृंखला, अज्ञ भी हर कोई विनाशु देल सकता है। इसी अध्वयन के अन्त में भगवान् ने साधु जीवन को एकान्त परिद्धत, आर्यः एकान्तप्रपक्, सुसाधु एवं सब दुर्गों से मुक्त होने का मार्ग बताया है। 'एष ठाण्ण आयरिए जाव सव्वदुक्खहीणु भग्गे एगंतसम्मे सुसाहु ।'

भगवती-सूत्र में पाँच प्रकार के देवों का वर्णन है। वहाँ भगवान् महावीर ने गौतम गणधर के प्रश्न का समाधान करते हुए साधुओं को साक्षात् भगवान् एवं धर्मदेव कहा है। वस्तुतः साधु, धर्म का जीता-जागता देवता ही है। 'गोयमा ! जे इमे अण्णारा भगवतो इरिया-समिया'—'जाव गुत्तवतयाही, से तेणद्वेष एवं बुच्चइ धम्मदेवा ।'

भगवती-सूत्र के १४ वें शतक में भगवान् महावीर ने साधुजीवन के अखण्ड आनन्द का उद्यम के द्वारा एक बहुत ही सुन्दर चित्र उपस्थित किया है। गणधर गौतम को सम्बोधित करते हुए भगवान् कह रहे हैं—“हे गौतम ! एक मास की दीक्षा वाला श्रमण निर्ग्रन्थ चानव्यन्तर देवों के सुख को अतिक्रमण कर जाता है। दो मास की दीक्षा वाला नागकुमार आदि भवनवासी देवों के सुख को अतिक्रमण कर जाता है। इसी प्रकार तीन मास की दीक्षा वाला असुरकुमार देवों के सुख को, चार मास की दीक्षा वाला ग्रह, नक्षत्र एवं ताराओं के सुख को, पाँच मास की दीक्षा वाला ज्योतिष्क देव जाति के इन्द्र चन्द्र एवं सूर्य के सुख को, छः मास की दीक्षा वाला सौधर्म एवं ईशान देवलोक के सुख को, सात मास की दीक्षा वाला सनत्कुमार एवं माहेन्द्र देवों के सुख को, आठ मास की दीक्षा वाला ब्रह्मलोक एवं लांतक देवों के सुख को, नवमास की दीक्षा वाला आनत एवं प्राणत देवों के सुख को, दश मास की दीक्षा वाला आरण एवं अच्युत देवों के सुख को, ग्यारह मास की दीक्षा वाला नव ग्रैवेयक देवों के सुख को तथा बारह मास की दीक्षा वाला श्रमण अनुत्तरोपपातिक देवों के सुख को अतिक्रमण कर जाता है।”

—भग० १४, ६।

पाठक देख सकते हैं—भगवान् महावीर की दृष्टि में साधुजीवन का कितना बड़ा महत्त्व है ? बारह महीने की कोई विराट साधना होती है ? परन्तु यह लुद्रकाल की साधना भी यदि सच्चे हृदय से की जाय तो उसका आनन्द विश्व के स्वर्गीय सुख साम्राज्य से बढ़ कर होता है। सर्व श्रेष्ठ अनुत्तरोपपातिक देव भी उसके समक्ष हतप्रभ, निस्तेज एवं निम्न हैं। साधुता का दंभ कुछ और है, और सच्चे साधुत्व का जीवन कुछ और ! सच्चा साधु भूमण्डल पर साक्षात् भगवत्स्वरूप स्थिति में विचरण करता है। स्वर्ग के देवता भी उस भगवदात्मा के चरणों की धूल को मस्तक पर लगाने के लिए तरसते हैं। वैष्णव कवि नरसी महता कहता है—

आपा मार जगत में बैठे नहीं किसी से काम,
 उनमें तो कुछ अन्तर नाह, संत कहो चाहे राम।
 हम तो उन सवन के हैं दास,
 जिन्होंने मन मार लिया।

सन्त कबीर ने भी साधु को प्रत्यक्ष भगवान रूप कहा है और
 कहा है कि साधु की देह नियवार की आरसी है, जिसमें जो चाहे वह
 अलख को अपनी आँखों से देख सकता है।

निराकार की आरसी, साधू ही की देह,
 लखा जो चाहे अलख को, इतही में लखि लेह।

सिक्ख-सम्प्रदाय के गुरु अर्जुन देव ने कहा है कि साधु की
 महिमा का कुछ अन्त ही नहीं है, सचमुच वह अनन्त है। वेचारा
 वेद भी उसकी महिमा का क्या वर्णन कर सकता है।

साधु की महिमा वेद न जानें,
 जेता सुने तेता बरानें।

साधु की सोभा का नहीं अंत,
 साधु की सोभा सदा बे-अंत।

आनन्दकन्द प्रज्ञानन्द श्री कृष्णचन्द्र ने भागवत में कहा है—
 सन्त ही मनुष्यों के लिए देस्ता हैं। वे ही उनके परम बान्धव हैं। सन्त
 ही उनकी आत्मा हैं। बल्कि यह भी कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी कि
 सन्त मेरे ही स्वरूप हैं, अर्थात् मगरः सदा हैं।

देवता बान्धवाः सन्ताः,
 सन्त आत्माऽहमेव च।

—भाग. ११। २६। २४।

जैन-धर्म में साधु का पद बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। आध्यात्मिक-
 विरासत धर्म में उसका स्थान छठा गुण स्थान है, और यहाँ से यदि

निरन्तर ऊर्ध्वमुखी विरास करता रहे तो अन्त में वह चौदहवें गुण-स्थान की भूमिका पर पहुँच जाता है और फिर सदा काल के लिए अजर, अमर, सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हो जाता है। जैन-साहित्य में साधु-जीवन सम्बन्धी आचार-विचार का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। ऐसा सूक्ष्म एवं नियम-बद्ध वर्णन अन्यत्र मिलना असंभव है। यही कारण है कि आज के युग में जहाँ दूसरे संप्रदाय के साधुओं का नैतिक पतन हो गया है, किसी प्रकार का संयम ही नहीं रहा है, वहाँ जैन-साधु अब भी अपने संयम-मय पर चल रहा है। आज भी उसके संयम-जीवन की झोंकी के दृश्य आचारांग, सूत्र कृतांग एवं दशवैकालिक आदि सूत्रों में देखे जा सकते हैं। हजारों वर्ष पुरानी परंपरा को निभाने में जितनी दृढ़ता जैन-साधु दिखा रहा है, उसके लिए जैन-सूत्रों का नियमबद्ध वर्णन ही धन्यवादार्ह है।

आगम-साहित्य में जैन-साधु की नियमोपनियम-सम्बन्धी जीवनचय का अतीव विराट एवं तलस्पर्शी वर्णन है। विशेष जिज्ञासुओं को उसी आगम-साहित्य से अपना पवित्र सम्पर्क स्थापित करना चाहिए। यहाँ हम संक्षेप में पाँच महाव्रतों का परिचय मात्र दे रहे हैं। आशा है, यह हमारा क्षुद्र उपक्रम भी पाठकों की ज्ञान-वृद्धि एवं सच्चरित्रता में सहायक हो सकेगा।

अहिंसा महाव्रत

मन, वाणी एवं शरीर से काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा भय आदि की दूषित मनोवृत्तियों के साथ किसी भी प्राणी को शारीरिक एवं मानसिक आदि किसी भी प्रकार की पीड़ा या हानि पहुँचाना, हिंसा है।

१—आचरितानि महद्भिर्,

यच्च महान्तं प्रसाधयन्त्यर्थम्।

स्वयमपि महान्ति यत्मान्

महाव्रतानीत्यतस्तानि ॥

—आचार्य शुभचन्द्र

केवल पीडा और हानि पहुँचाना ही नहीं, उनके लिए किसी भी तरह की अनुमति देना भी दिया है। कि शत्रुता, प्रत्यक्ष अप्रियता अप्रत्यक्ष किसी भी रूप से किसी भी प्राणी को हानि पहुँचाना दिया है। इग दिया से पचना अहिंसा है।

अहिंसा और दिला की आधार भूमि अधिकतर भावना पर आधारित है। मन में दिला है तो बाहर में दिला हो तब भी दिला है, और दिला न हो तब भी दिला है। और यदि मन पवित्र है, उपयोग एवं विवेक के साथ प्रवृत्ति है तो बाहर में दिला होते हुए भी अहिंसा है। मन में द्वेष न हो, घृणा न हो, आक्रान्त की भावना न हो, अग्नि प्रेम हो, कदशा की भावना हो, कल्याण का समर्थ हो तो शिष्टार्थ उचित ताड़ना देना, रोग निवारणार्थ कट

—महापुरुषों द्वारा आचरण में लाए गए हैं, महान् अर्थ मोक्ष का प्रकाशन करते हैं, और स्वयं भी मर्त्यों में सर्व महान् हैं, अतः मुनि के अहिंसा आदि मत महाव्रत कहे जाते हैं।

योग-दर्शन के साधनपाद में महाव्रत की व्याख्या के लिए ३१ वें सूत्र है—‘जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना महाव्रतन्।’ इसका भावार्थ है—जाति, देश, काल और समय की सीमा से रहित सब अवस्थाओं में पालन करने योग्य यम महाव्रत कहलाते हैं।

जाति द्वारा सङ्कुचित—गौ आदि पशु अप्रियता ब्राह्मण की दिला न करना।

देश द्वारा सङ्कुचित—गंगा, इन्द्रावर आदि तीर्थ भूमि में दिला न करना।

काल द्वारा सङ्कुचित—एकादशी, चतुर्दशी आदि तिथियाँ में दिला नहीं करना।

औपधि देना सुभारथ या प्राणधित्त के लिए दण्ड देना हिंसा नहीं है। परन्तु जब ये ही द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह एवं भय आदि की दूषित वृत्तियों से मिश्रित हों तो हिंसा हो जाती है। मन में किसी भी प्रकार का दूषित भाव लाना हिंसा है। यह दूषित भाव अग्ने मन में हो, अथवा संकल्प पूर्वक अग्ने निमित्त से किसी दूसरे के मन में पैदा किया हो, सर्वत्र हिंसा है। इस हिंसा से बचना प्रत्येक नाथक का परम कर्तव्य है।

जैन-साधु अहिंसा का सर्वश्रेष्ठ नाथक है। वह मन, वाणी और शरीर में से हिंसा के तत्त्वों को निकाल कर बाहर फेंकता है, और जीवन के कण-कण में अहिंसा के अमृत का संचार करता है। उसका चिन्तन कल्याण से ओत-प्रोत होता है, उसका भाषण दया का रस बरसाता है, उसकी प्रत्येक शारीरिक प्रवृत्ति में अहिंसा की झलक निकलती है। वह अहिंसा का देवता है। अहिंसा भगवती उसके लिए 'ब्रह्म' के समान उपास्य है। दिव्य और दिग्विमानों के कल्याण के लिए ही वह हिंसा से निवृत्ति करता है, अहिंसा का प्रण लेता है। सब काल में सब प्रकार से सब प्राणियों के प्रति चित्त में अणुमात्र भी द्वेष न करना ही अहिंसा का सच्चा स्वरूप है। और इस स्वरूप को जैन-साधु न दिन में भूलता है और न रात में, न जागते में भूलता है और न सोते में, न एकान्त में भूलता है और न जन समूह में।

जैन-श्रमण की अहिंसा, व्रत नहीं, महान्व्रत है। महान्व्रत का अर्थ है महान् व्रत, महान् प्रण। उक्त महान्व्रत के लिए भगवान् महावीर 'सव्वाथो पाणाइवायाथो विरमण' शब्द का प्रयोग करते हैं, जिसका अर्थ है मन वचन और कर्म से न स्वयं हिंसा करना, न दूसरों से करवाना और न हिंसा करने वाले दूसरे लोगों का अनुमोदन ही करना। अहिंसा का यह कितना ऊँचा आदर्श है! हिंसा को प्रवेश करने के लिए

१—'अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्'

—आचार्य समन्तभद्र

कहीं द्विदमात्र भी नहीं रहा है । दिग्ग तो क्या, दिग्गा की गन्ध भी प्रवेश नहीं पा सकती ।

एष त्रैनाचार्य ने पालकीरों को अदिगा का मर्म समझाने के लिए प्रथम मण्डल के ८१ भंग वर्णन किये हैं । वृष्णी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, इंद्रिय, धीन्द्रिय, चतुर्दिन्द्रिय, और पंचेन्द्रिय—ये नौ प्रकार के संगगी जीव हैं । उनही न मन में दिग्ग करना, न मन से दिग्ग करना, न मन में दिग्ग का अनुभोदन करना । इस प्रकार २७ भंग होने हैं । जो बात मन के सम्बन्ध में कही गई है, वही पाल वचन और शरीर के सम्बन्ध में भी समझ लेनी चाहिये । हाँ, तो मन के २७, वचन के २७, और शरीर के २७, सब मिल कर ८१ भंग हो जाते हैं ।

जैन साधु की अदिगा का यह एक संक्षिप्त एव लघुतम वर्णन है । परन्तु यह वर्णन भी क्लिप्ता महान् और विराट है । इसी वर्णन के आधार पर जैन साधु न क्या जल पीता है, न अग्नि का स्पर्श करता है, न सचित्त वनस्पति का ही कुछ उपयोग करता है । भूमि पर चलना है तो नगे पैरों चलता है, और आगे सदैव तीन हाथ परिमाण भूमि को देगमर भिर कदम उठाता है । मुग के उल्हा शराब से भी किरी वायु आदि सूक्ष्म जीव को पीड़ा न पहुँचे, इस के लिए मुग पर मुखपत्रिका का प्रयोग करता है । जन संधारण इस त्रिया काण्ड में एक निश्चित अष्टपटेन की अनुभूति है । परन्तु अदिगा के साधक को इस में अदिगा मंगली के सूक्ष्म रूप की भौंकी मिलनी है ।

मत्स्य महाव्रत

वस्तु का वचार्थ शान ही सत्य है । उक्त सत्य का शरीर से काम में लाना शरीर का सत्य है, वाणी से कहना वाणी का सत्य है, और विचार में लाना मन का सत्य है । जो जिस समय जिसके लिए जैसा वचार्थ रूप से करना, कहना एवं समझना चाहिये, वही सत्य है । इनके विपरीत भी सोचना, समझना, कहना और करना है, वह असत्य है ।

सत्य, अहिंसा का ही विराट् रूपान्तर है। सत्य का व्यवहार केवल वाणी से ही नहीं होना है, जैसा कि सर्व-साधारण जनता समझती है। उसका मूल उद्गम-स्थान मन है। अर्थानुकूल वाणी और मन का व्यवहार ही ही सत्य है। अर्थात् जैसा देखा हो, जैसा सुना हो, जैसा अनुमान किया हो, वैसा ही वाणी से कथन करना और मन में धारण करना, सत्य है। वाणी के सम्बन्ध में यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि केवल सत्य कह देना ही सत्य नहीं है, अपितु सत्य कोमल एवं मधुर भी होना चाहिए। सत्य के लिए अहिंसा मूल है। अतः यथार्थ ज्ञान के द्वारा यथार्थ रूप में अहिंसा के लिए जो कुछ विचारना, कहना एवं करना है, वही सत्य है। दूसरे व्यक्ति को अपने बोध के अनुसार ज्ञान कराने के लिए प्रयुक्त हुई वाणी धोखा देने वाली और भ्रान्ति में डालने वाली न हो; जिससे किसी प्राणी को पीड़ा तथा हानि न हो, प्रत्युत सब प्राणियों के उत्कार के लिए हो, वही श्रेष्ठ सत्य है। जिस वाणी में प्राणियों का हित न हो, प्रत्युत प्राणियों का नाश हो तो वह सत्य होते हुए भी सत्य नहीं है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति द्वेष से दिल दुखाने के लिए अंधे को तिरस्कार के साथ अन्धा कहता है तो यह असत्य है; क्योंकि यह एक हिंसा है। और जहाँ हिंसा है, वह सत्य भी असत्य है; क्योंकि हिंसा सदा असत्य है। कुछ अविवेकी पुरुष दूसरों के हृदय को पीड़ा पहुँचाने वाले दुर्वचन कहने में ही अपने सत्यवादी होने का गर्व करते हैं, उन्हें ऊपर के विवेचन पर ध्यान देना चाहिए।

जैन-श्रमण सत्यव्रत का पूर्णरूपेण पालन करता है, अतः उसका सत्य व्रत सत्य महाव्रत कहलाता है। वह मन, वचन और शरीर से न स्वयं असत्य का आचरण करता है, न दूसरे से करवाता है, और न कभी असत्य का अनुमोदन ही करता है। इतना ही नहीं, किसी तरह का सावद्य वचन भी नहीं बोलता है। पापकारी वचन बोलना भी असत्य ही है। अधिक बोलने में असत्य की आशंका रहती है, अतः

जैन भ्रमण अत्यन्त मित्रभापी होता है। उसने प्रत्येक वचन से स्वपर-
वर्तमान की भावना उपकृती है, अहिंसा का स्वर गूँजता है। जैन-साधु
के लिए हँसी में भी झूठ बोलना निषिद्ध है। प्राणों पर संकट उप-
स्थित होने पर भी सत्य का आश्रय नहीं छोड़ा जा सकता। सत्य महा-
मती की वाणी में अविचार, अज्ञान, मोह, मान, माया, लोभ, परिहास
आदि किसी भी विचार का अंश नहीं होना चाहिये। यही कारण है
कि साधु दूर से पशु आदि को लैमिक दृष्टि से अनिश्चय होने पर सहसा
उत्ता, बैल, पुरुष आदि के रूप में निश्चयनारी भाषा नहीं बोलता।
ऐसे प्रसंगों पर वह बुत्ते की जाति, बैल की जाति, मनुष्य की जाति,
इत्यादि जानिपरक भाषा का प्रयोग करता है। इसी प्रकार वह ज्योतिष,
मंत्र, संज्ञा आदि का भी उपयोग नहीं करता। ज्योतिष आदि की
प्रकृत्या में भी हिंसा एवं असत्य का सम्मिश्रण है।

जैन-साधु जब भी बोलता है, अनेकान्तवाद को ध्यान में रखकर
बोलता है। यह 'ही' का नहीं, 'भी' का प्रयोग करता है। अनेकान्तवाद
का लक्ष्य रण्ये बिना सत्य की वास्तविक उपासना भी नहीं हो सकती।
जिस वचन के पीछे 'स्यात्' लय जाता है, वह असत्य भी सत्य हो जाता
है। क्योंकि एकान्त अणुसत्य है, और अनेकान्त सत्य। स्यात् शब्द
अनेकान्त का सूचक है, अतः यह एकान्त को अनेकान्त बनाता है,
दूसरे शब्दों में कहें तो असत्य को सत्य बनाता है। आचार्य सिद्धसेन
की दार्शनिक एवं आलंकारिक वाणी में यह स्यात् वह अमोघ स्पर्शरत्न
है, जो लोहे को सोना बना देता है। 'नषास्त्व स्यात्पदजाभिन्ना इमे,
रसोपदिग्धा इव लोहधातवः।'

एक आचार्य सत्य महाजन के ३६ मंत्रों का निरूपण करते हैं।
मोह, लोभ, मय और हास्य इन चार कारणों से झूठ बोला जाता है।
असु, उक्त चार कारणों से न सत्य मन से असत्यवाचरण करना, न
मन से दूसरों से कहना, न मन से अनुमोदन करना, इस प्रकार मनो-

योग के १२ भंग हो जाते हैं। इसी प्रकार वचन के १२ और शरीर १२, सब मिलकर सत्य महाव्रत के ३६ भंग होते हैं।

अचौर्य महाव्रत

अचौर्य, अस्तेय एवं अदत्तादानविरमण सब एकार्थक हैं। अचौर्य, अहिंसा और सत्य का ही विराट रूप है। केवल छिपकर या बलात्कार-पूर्वक किसी व्यक्ति की वस्तु एवं धन का हरण कर लेना ही स्तेय नहीं है, जैसा कि साधारण मनुष्य समझते हैं। अन्यायपूर्वक किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र का अधिकार हरण करना भी चोरी है। जैन-धर्म का यदि सूक्ष्म निरीक्षण करें तो मालूम होगा कि भूख से तंग आकर उदरपूर्त के लिए चोरी करने वाले निर्धन एवं असहाय व्यक्ति स्तेय पाप के उतने अधिक अपराधी नहीं हैं जितने कि निम्न श्रेणी के बड़े माने जाने वाले लोग।

(१) अत्याचारी राजा या नेता, जो अपनी प्रजा के न्यायप्राप्त राज-नीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा नागरिक अधिकारों का अपहरण करता है।

(२) अपने को धर्म का ठेकेदार समझने वाले संकीर्ण-हृदय, समृद्धिशाली, ऊँची जाति के सवर्ण लोग; भ्रान्तिग्रस्त जो नीची जाति के कहे जाने वाले निर्धन लोगों के धार्मिक, सामाजिक तथा नागरिक अधिकारों का अपहरण करते हैं।

(३) लोभी जमींदार, जो गरीब किसानों का शोषण करते हैं, उन पर अत्याचार करते हैं।

(४) मिल और फैक्ट्रियों के लोभी मालिक, जो मजदूरों को पेट-भर अन्न न देकर सबका सब नफ़ा स्वयं हड़प जाते हैं।

(५) लोभी साहूकार, जो दूना-तिगुना सद्द लेते हैं और गरीब लोगों की जायदाद आदि अपने अधिकार में लाने के लिए सदा सचिन्त रहते हैं।

(६) धूर्त व्यापारी, जो वस्तुओं में मिलावट करते हैं, उच्च मूल्य से प्रमादा दाम लेते हैं, और कम तोलते हैं ।

(७) नृमणोर न्यायाधीश तथा अन्य अधिकारी गण; जो धेनव पाते हुए भी अपने कर्तव्य वाहन में प्रमाद करते हैं और रिरत लेते हैं ।

(८) लोभी वरीन, जो बेरत पीस के लोभ से झूठे मुद्दमे लड़ाते हैं श्री जानते हुए भी निरपराध लोगों को दण्ड दिलाते हैं ।

(९) लोभी वैद्य, जो रोगी का ध्यान न रखकर बेरत पीस का लोभ रखते हैं और ठीक औषधि नहीं देते हैं ।

(१०) वे सब लोग, जो अ-शाय पूर्वक किसी भी अनुचित रीति से किसी व्यक्ति का धन, वस्तु, समय, भ्रम और शक्ति का अपहरण एक अनव्यय करते हैं ।

अहिंसा, सत्य एवं अचौर्य व्रत की साधना करने वालों को उक्त सब पाप व्यापारों से बचना है, अत्यन्त सावधानी से बचना है । जरा-सा भी यदि कहीं चोरी का छेद होगा तो आत्मा का पतन अवश्यभावी है । जैन-ग्रहस्थ भी इस प्रकार की चोरी से बचकर रहता है, और जैन भ्रमण तो पूर्णरूप से चोरी का त्यागी होता ही है । वह मन, वचन और कर्म से न स्वयं किसी प्रकार की चोरी करता है, न दूसरों से करवाता है, और न चोरी का अनुमोदन ही करता है । और तो क्या, वह दाँत कुरेदने के लिये तिनका भी बिना आज्ञा ग्रहण नहीं कर सकता है । यदि साधु कहीं जंगल में हो, वहाँ तूण, ककर, पत्थर अथवा वृक्ष के नीचे छाया में बैठने और कहीं शौच जाने की आवश्यकता हो तो शास्त्रोक्त विधि के अनुसार उसे इन्द्रदेव की ही आज्ञा लेनी होती है । अभिप्राय यह है कि बिना आज्ञा के कोई भी वस्तु न ग्रहण की जा सकती है और न उसका क्षणिक उपयोग ही किया जा सकता है । पाठक इसके लिए अत्युक्ति का भ्रम करते होंगे । परन्तु साधक को इस रूप में मन पालन के लिए सतत जाग्रत रहने की स्फूर्ति मिलती

है। व्रतपालन के क्षेत्र में तनिक सा शैथिल्य (ढील) किसी भी भारी अनर्थ का कारण बन सकता है। आप लोगों ने देखा होगा कि तम्बू की प्रत्येक रस्ती खूँटे से कस कर बाँधी जाती है। किसी एक के भी थोड़ी सी ढीली रह जाने से तम्बू में पानी आ जाने की सम्भावना बनी रहती है।

अस्तु, अचौर्य व्रत की रक्षा के लिए साधु को बार-बार आज्ञा ग्रहण करने का अभ्यास रखना चाहिए। गृहस्थ से जो भी चीज ले, आज्ञा से ले। जितने काल-के लिए ले, उतनी देर ही रखे, अधिक नहीं। गृहस्थ आज्ञा भी देने को तैयार हो, परन्तु वस्तु यदि साधु के ग्रहण करने के योग्य न हो तो न ले। क्योंकि ऐसी वस्तु लेने से देवाधि-देव तीर्थंकर भगवान की चोरी होती है। गृहस्थ आज्ञा देने वाला हो, वस्तु भी शुद्ध हो, परन्तु गुरुदेव की आज्ञा न हो तो फिर भी ग्रहण न करे। क्योंकि शास्त्रानुसार यह गुरु अदत्त है, अर्थात् गुरु की चोरी है।

एक आचार्य तीसरे अचौर्य महाव्रत के ५४ भंगों का निरूपण करते हैं। अल्प = थोड़ी वस्तु, बहु = अधिक वस्तु, अणु = छोटी वस्तु, स्थूल = स्थूल वस्तु, सचित्त = शिष्य आदि, अचित्त = वस्त्र पात्र आदि। उक्त छः प्रकार की वस्तुओं की न स्वयं मन से चोरी करे, न मन से चोरी कराए, न मन से अनुमोदन करे। ये मन के १८ भंग हुए। इसी प्रकार वचन के १८, और शरीर के १८, सब मिलकर ५४ भंग होते हैं। अचौर्य महाव्रत के साधक को उक्त सब भंगों का दृढ़ता से पालन करना होता है।

ब्रह्मचर्य महाव्रत

ब्रह्मचर्य अपने आप में एक बहुत बड़ी आध्यात्मिक शक्ति है। शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक आदि सभी ब्रह्मचर्य पर निर्भर हैं। ब्रह्मचर्य वह आध्यात्मिक स्वास्थ्य है, जिसके द्वारा मानव-समाज पूर्ण सुख और शान्ति को प्राप्त होता है।

ब्रह्मचर्य की महत्ता के सम्बन्ध में भगवान् महावीर कहते हैं कि देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि सभी दैवी शक्तियाँ ब्रह्मचारी के चरणा में प्रणाम करती हैं, क्योंकि ब्रह्मचर्य की साधना बड़ी ही कठोर साधना है। जो ब्रह्मचर्य की साधना करते हैं, वस्तुतः वे एक बहुत बड़ा दुःखर कार्य करते हैं—

देव-दाणव-गन्धर्वाः

जकर-रकरस-किन्नरा ।

बभयारि नमसंति,

दुक्करं जे करंति ते ॥

—उत्तराध्यायन सूत्र

भगवान् महावीर की उक्त वाणी को आचार्य श्री शुभचन्द्र भी प्रकारान्तर से दुहरा रहे हैं—

एकमेव व्रतं श्लाघ्यं,

ब्रह्मचर्यं

जगत्प्रियं ।

यद्-विशुद्धिं समापन्नाः,

पूज्यन्ते

पूजितैरपि ॥

—शानार्णव

ब्रह्मचर्य की साधना के लिए काम के वेग को रोक्ना होता है। यह वेग बड़ा ही भयंकर है। जब आता है तो जड़ी से बड़ी शक्तियाँ भी लाचार हो जाती हैं। मनुष्य जब वासना के हाथ का खिलौना बनता है तो बड़ी दयनीय स्थिति में पहुँच जाता है। वह अश्रमेधन का कुछ भी भान नहीं रखता, एक प्रकार से पागल-सा हो जाता है। धन्य हैं वे महापुरुष, जो इस वेग पर नियंत्रण रखते हैं और मन को अपना दाग बना कर रखते हैं। महाभारत में व्यास की वाणी है कि—
'जो पुरुष वाणी के वेग को, मन के वेग को, क्रोध के वेग को, काम

करने की इच्छा के वेग को, उदर के वेग को, उपस्थ (कामवासना) के वेग को रोकता है, उसको मैं ब्रह्मवेत्ता मुनि समझता हूँ ।

वाचो वेगं, मनसः क्रोध-वेगं,
विधित्सा-वेगमुदरोपस्थ-वेगम् ।
एतान् वेगान् यो विपहेदुदीर्णास्
तं मन्येऽहं ब्राह्मणं वै मुनिं च ॥

(महा० शान्ति० २६६ । १४)

ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल सम्भोग में वीर्य का नाश न करते हुए उपस्थ इन्द्रिय का संयम रखना ही नहीं है । ब्रह्मचर्य का क्षेत्र बहुत व्यापक क्षेत्र है । अतः उपस्थेन्द्रिय के संयम के साथ-साथ अन्य इन्द्रियों का निरोध करना भी आवश्यक है । वह जितेन्द्रिय साधक ही पूर्ण ब्रह्मचर्य पाल सकता है, जो ब्रह्मचर्य के नाश करने वाले उत्तेजक पदार्थों के खाने, कामोदीपक दृश्यों के देखने, और इस प्रकार की वार्ताश्रों के सुनने तथा ऐसे गन्दे विचारों को मन में लाने से भी बचता है ।

आचार्य शुभचन्द्र ब्रह्मचर्य की साधना के लिए निम्नलिखित दश प्रकार के मैथुन से विरत होने का उपदेश देते हैं—

- (१) शरीर का अनुचित संस्कार अर्थात् कामोत्तेजक शृङ्गार आदि करना ।
- (२) पौष्टिक एवं उत्तेजक रसों का सेवन करना ।
- (३) वासनामय नृत्य और गीत आदि देखना, सुनना ।
- (४) स्त्री के साथ संसर्ग = घनिष्ठ परिचय रखना ।
- (५) स्त्री सम्बन्धी संकल्प रखना ।
- (६) स्त्री के मुख, स्तन आदि अंग-उपांग देखना ।
- (७) स्त्री के अंग दर्शन सम्बन्धी संस्कार मन में रखना ।
- (८) पूर्व भोगे हुए काम भोगों का स्मरण करना ।

ब्रह्मचर्य की महत्ता के सम्बन्ध में भगवान् महावीर कहते हैं कि देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि सभी दैवी शक्तियाँ ब्रह्मचारी के चरणों में प्रणाम करती हैं, क्योंकि ब्रह्मचर्य की साधना यही ही बड़ो साधना है। जो ब्रह्मचर्य की साधना करते हैं, वस्तुतः वे एक बहुत बड़ा दुस्तर कार्य करते हैं—

देव-दाणव-गन्धर्वा,

जकर-रक्खस-किन्नरा ।

बभयारि नमसंति,

हुक्करं जे करंति ते ॥

—उत्तराध्यायन-सूत्र

भगवान् महावीर की उक्त वाणी को आचार्य श्री शुभचन्द्र भी प्रसारणार्थ से दुरा रहे हैं—

एकमेव व्रत श्लाघ्य,

ब्रह्मचर्य

जगत्प्रिये ।

यद्-विशुद्धि समापन्नाः,

पूज्यन्ते

पूजितैरपि ॥

—शानार्णव

ब्रह्मचर्य की साधना के लिए काम के वेग को रोकना होता है। यह वेग बड़ा ही भयंकर है। जब आता है तो बड़ी से बड़ी शक्तियाँ भी लाचार हो जाती हैं। मनुष्य जब वासना के हाथ का खिलौना बनता है तो बड़ी दयनीय स्थिति में पहुँच जाता है। वह अश्लेषण का कुछ भी भान नहीं रखता, एक प्रकार से पागल-सा हो जाता है। धन्य हैं वे महापुरुष, जो इस वेग पर नियंत्रण रखते हैं और मन को अपना दास बना कर रखते हैं। महाभारत में व्यास की वाणी है कि—
'जो पुरुष वाणी के वेग को, मन के वेग को, क्रोध के वेग को, काम

रहते हैं और जनता में भी सुख का प्रवाह बहाते हैं। परन्तु जब उक्त व्रत का यथार्थ रूप से पालन नहीं होता है तो समाज में बड़ा भयंकर हाहाकार मच जाता है। आज समाज की जो दयनीय दशा है, उसके मूल में यही आवश्यकता से अधिक संग्रह का विपर रहा हुआ है। आज मानव-समाज में जीवनोपयोगी सामग्री का उन्नित पद्धति से वितरण नहीं है। किसी के पास सैकड़ों मकान खाली पड़े हुए हैं तो किसी के पास रात में सोने के लिए एक छोटी-सी भोंगड़ी भी नहीं है। किसी के पास अन्न के सैकड़ों कोठे भरे हुए हैं तो कोई दाने-दाने के लिए तरसता भूखा मर रहा है। किसी के पास संदूकों में बंद सैकड़ों तरह के वस्त्र सड़ रहे हैं तो किसी के पास तन ढाँगे के लिए भी कुछ नहीं है। आज की सुख सुविधाएँ मुट्ठी भर लोगों के पास एकत्र हो गई हैं और शेष समाज अभाव से ग्रस्त है। न उसकी भौतिक उन्नति ही हो रही है और न आध्यात्मिक। सब ओर भुखमरी की महामारी जनता का सर्व ग्रास करने के लिए मुँह फैलाए हुए है। यदि प्रत्येक मनुष्य के पास केवल उसकी आवश्यकताओं के अनुरूप ही सुख-सुविधा की साधन-सामग्री रहे तो कोई मनुष्य भूखा, गृहहीन एवं असहाय न रहे। भगवान् महावीर का अग्रिग्रहवाद ही मानव जाति का कल्याण कर सकता है, भूखी जनता के आँसू पोंछ सकता है।

भगवान् महावीर ने गृहस्थों के लिए मर्यादित अग्रिग्रह का विधान किया है, परन्तु भिक्षु के लिए पूर्ण अग्रिग्रही होने का। भिक्षु का जीवन एक उत्कृष्ट धर्म जीवन है, अतः वह भी यदि परिग्रह के जाल में फँसा रहे तो क्या खाक धर्म की साधना करेगा? फिर गृहस्थ और भिक्षु में अन्तर ही क्या रहेगा?

जैन धर्मग्रन्थों में परिग्रह के निम्न लिखित नौ भेद किए हैं। गृहस्थ के लिए इनकी अमुक मर्यादा करने का विधान है और भिक्षु के लिए पूर्ण रूप से त्याग करने का।

(१) क्षेत्र—जंगल में खेती-बाड़ी के उपयोग में आने वाली धान्य

(६) भविष्य के काम भोगों की चिन्ता करना ।

(१०) परस्पर रतिकर्म अर्थात् गम्भोग करना ।

जैन भिक्षु उक्त सब प्रकार के मैथुनों का पूर्ण त्यागी होता है । यह मन, वचन और शरीर से न स्वयं मैथुन का सेवन करता है, न दूसरों से सेवन करवाता है, और न अनुमोदन ही करता है । जैन भिक्षु एक दिन की जम्मी हुई वच्ची का भी स्पर्श नहीं कर सकता । उस के स्थान पर रात्रि को कोई भी स्त्री नहीं रह सकती । भिक्षु की माता और बहन को भी रात्रि में रहने का अधिकार नहीं है । जिस मन्थन में स्त्री के चिन हो उसमें भी भिक्षु नहीं रह सकता है । यही बात साध्वी के लिए पुरुषों के सम्बन्ध में है ।

एक आचार्य चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत के २७ भंग बतलाते हैं । देवता सम्बन्धी, मनुष्य-सम्बन्धी और तिर्यक्ष सम्बन्धी तीन प्रकार का मैथुन है । उक्त तीन प्रकार का मैथुन न मन से सेवन करना, न मन से सेवन करवाना, न मन से अनुमोदन करना, ये मनः सम्बन्धी ६ भंग होते हैं । इसी प्रकार वचन के ६, और शरीर के ६, सब मिलकर २७ भंग होते हैं । महाव्रती साधक को उक्त सभी भंगों का निरतिचार पालन करना होता है ।

अपरिग्रह महाव्रत

घन, सम्पत्ति, भोग सामग्री आदि किसी भी प्रकार की वस्तुओं का ममत्व मूलक संग्रह करना परिग्रह है । जब मनुष्य अपने ही भोग के लिए स्वार्थ-बुद्धि से आवश्यकता से अधिक संग्रह करता है तो यह परिग्रह बहुत ही भयंकर हो उठता है । आवश्यकता की यह परिभाषा है कि आवश्यक वह वस्तु है, जिसने बिना मनुष्य की जीवन यात्रा, सामाजिक मर्यादा एवं धार्मिक क्रिया निर्दिष्टता पूर्वक न चल सके । अर्थात् जो सामाजिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक उत्थान में साधन-रूप से आवश्यक हो । जो गृहस्थ इस नीति मार्ग पर चलते हैं, वे तो स्वयं भी सुखी

रखता है, ममत्वबुद्धि से नहीं। ममत्व बुद्धि से रखा हुआ उपकरण जैनसंस्कृति की भाषा में उपकरण नहीं रहता, आधिकरण हो जाता है, अनर्थ का मूल बन जाता है। कितना ही अच्छा सुन्दर उपकरण हो, जैनश्रमण न उस पर मोह रखता है, न अपने-पन का भाव लाता है, न उसके खोए जाने पर आतर्ध्यान ही करता है। जैन भिक्षु के पास वस्तु केवल वस्तु बनकर रहती है, वह परिग्रह नहीं बनती। क्योंकि परिग्रह का मूल मोह है, मूर्च्छा है, आसक्ति है, ममत्व है। साधक के लिए यही सबसे बड़ा परिग्रह है। आचार्य शय्यंभव दशवैकालिक सूत्र में भगवान् महावीर का सन्देश सुनाते हैं—‘मुच्छा परिग्रहो बुद्धो नाद्विपुनेण तादृणा।’ आचार्य उमास्वाति कहते हैं—‘मूर्च्छा परिग्रहः।’ मूर्च्छा का अर्थ आसक्ति है। किसी भी वस्तु में, चाहे वह छोटी, बड़ी, जड़, चेतन, बाह्य एवं आभ्यन्तर आदि किसी भी रूप में हो, अपनी हो या पराई हो, उसमें आसक्ति रखना, उसमें बँध जाना, एवं उसके पीछे पड़कर अपना आत्म-विवेक खो बैठना, परिग्रह है। बाह्य वस्तुओं को परिग्रह का रूप यह मूर्च्छा ही देती है। यही सबसे बड़ा विषय है। अतः जैनधर्म भिक्षु के लिए जहाँ बाह्य धन, सम्पत्ति आदि परिग्रह के त्याग का विधान करता है, वहाँ ममत्व भाव आदि अन्तरंग परिग्रह के त्याग पर भी विशेष बल देता है। अन्तरंग परिग्रह के मुख्य रूपेण चौदह भेद हैं—मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, पुरुष वेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ। आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं—

मिथ्यात्व-वेदरागा,

दोषा हास्यादयोऽपि पट् चैव ।

चत्वारश्च कषायाश्,

चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः ॥

जैनश्रमण का एक बहुत सुप्रसिद्ध नाम निग्रन्थ है। आचार्य हरिभद्र के शब्दों में निग्रन्थ का अर्थ है—ग्रन्थ अर्थात् गाँठ से रहित।

भूमि को छेन कहते हैं। यह दो प्रकार का है—सेतु और केतु। नहर, कुआ आदि कृत्रिम साधनों से सीनी जाने वाली भूमि को सेतु कहते हैं और केवल वर्षा के प्राकृतिक जल से सीनी जाने वाली भूमि को केतु।

(२) वास्तु—प्राचीन काल में घर को वास्तु कहा जाता था। यह तीन प्रकार का होता है—सात, उच्छिन्न और सातोच्छिन्न। भूमिपद अर्थात् तलपर को 'सात' कहते हैं। नीर खोदकर भूमि के ऊपर बनाया हुआ महल आदि 'उच्छिन्न' और भूमिपद के ऊपर बनाया हुआ भवन 'सातोच्छिन्न' कहलाता है।

(३) हिरण्य—आभूषण आदि के रूप में गढ़ी हुई तथा बिना गढ़ी हुई चाँदी।

(४) सुवर्ण—गढ़ा हुआ तथा बिना गढ़ा हुआ सभी प्रकार का स्वर्ण। हीरा, पद्मा, मोती आदि जवाहरात भी इसी में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

(५) धन—गुड़, शकर आदि।

(६) धान्य—चावल, गेहूँ, राजरा आदि।

(७) द्विपद—दास, दासी आदि।

(८) चतुष्पद—हाथी, घोड़ा, गाय आदि पशु।

(९) सुप्य—धातु के बने हुए पात्र, कुरसी, मेज आदि घर-गृहस्थी के उपयोग में आने वाली वस्तुएँ।

जैनधर्मण उक्त सब परिग्रहों का मन, वचन और शरीर से न स्वयं संग्रह करता है, न दूसरों से करवाता है और न करने वालों का अनुमोदन ही करता है। वह पूर्णरूपेण असंग, अनासक्त, अविचन कृत्ति का धारक होता है। कौड़ीमात्र परिग्रह भी उसके लिए निषेध है। और तो क्या, वह अपने शरीर पर भी ममत्त्व भाव नहीं रख सकता ? वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि जो कुछ भी उपकरण अपने पास रखता है, वह सब संयम-बाना के सुचारु रूप से पालन करने के निमित्त ही

यह निष्कर्ष हम ही नहीं निकाल रहे हैं, अपितु सनातन धर्म के सुप्रसिद्ध भक्तराज जयदयालजी गोयनका भी गोरखपुर से प्रकाशित गीतांक में लिखते हैं—‘सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणों के कार्य को ‘त्रैगुण्य’ कहते हैं। अतः समस्त भोग और ऐश्वर्य मय पदार्थों और उनकी प्राप्ति के उपायभूत समस्त कर्मों का वाचक यहाँ ‘त्रैगुण्य’ शब्द है। उन सब का अङ्ग-प्रत्यङ्गों सहित वर्णन जिन (ग्रन्थों) में वर्णन हो, उनको ‘त्रैगुण्यविषयाः’ कहते हैं। यहाँ वेदों को ‘त्रैगुण्यविषयाः’, बतला कर यह भाव दिखलाया है कि वेदों में कर्मकाण्ड का वर्णन अधिक होने के कारण वेद ‘त्रैगुण्यविषय’ हैं।”

केवल वेद ही नहीं, अन्यत्र भी आपको अनेकों ऐसे प्रसंग मिलेंगे, जहाँ ब्राह्मण संस्कृति के भौतिकवाद का मुक्त समर्थन मिलता है। श्रीमद्-भागवत के दशम स्कन्ध में ईश्वरीय अवतार कहे जानेवाले श्रीकृष्णचन्द्रजी के जीवन का वर्णन कितना भोग-प्रधान है, कितना नग्न शृंगारमय है, इसे हर कोई पाठक देख-सुन सकता है। जब कि ईश्वरीय रूप रखने वालों की यह स्थिति है, तब साधारण जनता की क्या स्थिति होनी चाहिए, यह स्वयं निर्णय किया जा सकता है।

अधिक लिखने का यहाँ प्रसंग नहीं है। अतः आइए, प्रस्तुत की चर्चा करें। श्रमण संस्कृति का मूलाधार स्वयं ‘श्रमण’ शब्द ही है। लाखों-करोड़ों वर्षों की श्रमण संस्कृति-सम्बन्धी चेतना आप अकेले श्रमण शब्द में ही पा सकते हैं। श्रमण का मूल प्राकृत ‘समण’ है। समण के संस्कृत रूपान्तर तीन होते हैं श्रमण, समन और शमन। ‘समण’ संस्कृति का वास्तविक मूलाधार इन्हीं तीन संस्कृत रूपों पर से व्यक्त होता है। प्राचीन ग्रन्थों की लंबी चर्चा न करके श्रीयुत इन्द्रचन्द्र एम. ए. वेदान्ताचार्य के संक्षिप्त शब्दों में ही हम भी निष्कर्ष निकाल सकते हैं—

(१) ‘श्रमण’ शब्द ‘श्रम’ या श्रम करना। यह शब्द

का अ.

है। देखिए, उसके सम्बन्ध में भगवद्गीता का दूसरा अध्याय क्या कहता है ?

त्रैगुण्य पिपया वेदा
निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !
निर्वन्द्वो नित्य सत्त्वस्थो,
निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४२॥

—‘हे अर्जुन ! सत्र के सत्र वेद तीन गुणों के कार्यरूप समस्त भोगों एवं उनके साधनों का प्रतिपादन करने वाले हैं, इसलिए तू उन भोगों एवं उनके साधनों में अलित रहकर, हर्ष शोभादि द्वन्द्वों से रहित, नित्य परमात्मस्वरूप में स्थित, योगक्षेम की कल्पनाओं से परे आत्मवान् होकर विचरण कर ।’

यावानर्थ उदपाने,
सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
सावान् सर्वेषु वेदेषु
ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४३॥

—‘सत्र श्रोत्र से परिपूर्ण विशाल एवं अधोह जलाशय के प्राप्त हो जाने पर क्षुद्र जलाशय में मनुष्य का जितना प्रयोजन रहता है, आत्म-स्वरूप की जानने वाले ब्राह्मण का सत्र वेदों में उतना ही प्रयोजन रह जाता है, अर्थात् कुछ प्रयोजन नहीं रहता है ।

पाठक ऊपर के दो श्लोकों पर से विचार सकते हैं कि ब्राह्मण-संस्कृति का मूलाधार क्या है ? ब्राह्मण संस्कृति के मूल वेद हैं श्रोत्र वे प्रकृति के भोग श्रोत्र उनके साधनों का ही वर्णन करते हैं । आत्मतत्त्व की शिक्षा के लिए उनके पास कुछ नहीं है । भगवद्गीता वेदों को क्षुद्र जलाशय की उपमा देती है । वेदों का क्षुद्रत्व इसी बात में है कि वे-यज्ञ, यागादि क्रिया कार्यों का ही विधान करते हैं, ऐहिक भोग निलास एवं सुगंधों का सहज ही मानव के सामने रखते हैं, आत्म विद्या का नहीं ।

न स्वयं हिंसा करता है, न दूसरों से करवाता है और न किसी प्रकार का हिंसा का अनुमोदन ही करता है, अर्थात् सभी प्राणियों में समत्व-बुद्धि रखता है, वह श्रमण है।

मूल-सूत्र में ‘सममणइ’ शब्द आया है, उसकी व्याख्या करते हुए मलधारगच्छीय आचार्य हेमचन्द्र लिखते हैं—सममणति त्ति—सर्वजीवेषु तुल्यं वर्तते यत्तस्तेनासौ सममणइति ।’ अण् धातु वर्तन अर्थ में है, और सम् उपसर्ग तुल्यार्थक है। अतः जो सब जीवों के प्रति सम् अर्थात् समान अणति अर्थात् वर्तन करता है, वह समण कहलाता है।

एत्थं य से कोइ वेसो,

पिओ अ सव्वेसु चेव जीवेसु ।

एणं होइ समणो,

एसो अन्नो चि पज्जाओ ॥२॥

—जो किसी से द्वेष नहीं करता, जिसको सभी जीव समानभाव से प्रिय हैं, वह श्रमण है। यह श्रमण का दूसरा पर्याय है।

आचार्य हेमचन्द्र उक्त गाथा के ‘समण’ शब्द का निर्वचन ‘सममन’ करते हैं। जिसका मय जीवों पर सम् अर्थात् समान मन अर्थात् हृदय हो वह सममना कहलाता है। आप प्रश्न कर सकते हैं कि यहाँ तो मूल में ‘समण’ शब्द है, एक मकार कहाँ चला गया ? आचार्य उत्तर देते हैं कि निरुक्त विधि से सममन के एक मकार का लोप हो गया है। आचार्य श्री के शब्दों में ही देखिए, प्रस्तुत गाथा की व्याख्या का उत्थान और उसंहार। ‘तदेव’ सर्वजीवेषु समत्वेन सममणतीति समण इत्येकः पर्यायो दर्शितः । एवं समं मनोऽस्येति सममना इत्यन्योऽपि पर्यायो भवत्येवेति दृश्यन्नाह.....सर्वेष्वपि जीवेषु सममनस्त्वाद्, अनेन भवति सत्रं मनोऽस्येति निरुक्तविधिना समना इत्येषोऽन्योपि पर्यायः ।’

तो समणो जइ सुमणो,

भावेण जइ ए होइ पाव-मणो ।

अपने ही परिश्रम द्वारा कर सकता है। सुख दुःख, उत्थान-पतन सभी के लिए वह स्वयं उत्तरदायी है।

(२) समन का अर्थ है—समता भाव, अर्थात् सभी को आत्मगत समझना, सभी के प्रति समभाव रखना। दूसरों के प्रति व्यवहार की समीचीन आत्मा है। जो बात अपने को बुरी लगती है, वह दूसरों के लिए भी बुरी है। 'आत्मनः प्रतिकृत्त्वानि परेषां न समाचरेत्'—यही हमारे व्यवहार का आधार होना चाहिए। समाज विज्ञान का यही मूलतत्त्व है कि किसी के प्रति राग या द्वेष न करना, शत्रु और मित्र को परस्पर समझना, जान पाँत तथा अन्य भेदों को न मानना।

(३) शमन का अर्थ है अपनी वृत्तियों को शान्त रखना। [मनुष्य का जीवन ऊँचा नीचा अपनी वृत्तियों के अनुसार ही होता है। अकुशल वृत्तियों आत्मा का पतन करती हैं और कुशल वृत्तियाँ उत्थान। अकुशल अर्थात् दुर्दृष्टियों को शान्त रखना, और कुशल वृत्तियों का विकास करना ही भ्रमण साधना का परम उद्देश्य है—लेखक]

इस प्रकार व्यक्ति तथा समाज का कल्याण भ्रम, मम, और शम इन तीनों तत्त्वों पर आश्रित है। यह 'समण' संस्कृति का निचोड़ है। भ्रमण संस्कृति इसका संस्कृत में एकाद्वी रूपान्तर है।"

अनुशेग द्वार रूत के उपक्रमाभिन्तर में भाव सामायिक का निरूपण करते हुए भ्रमण शब्द के निर्वेचन पर भी प्रकाश डाला है। इस प्रसंग की गाथाएँ यही ही भावपूर्ण हैं—

जहं मम न पिय दुकरं,

जाणिय एमेव सज्ज-जीवाण ।

न हणइ न हणावेइ य,

सममणइ तेण सो समणो ॥१॥

—'जिस प्रकार मुझे दुःख अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार संसार के अन्य सब जीवों को भी अच्छा नहीं लगता है।' यह समझ कर जो

प्रश्न करने पर भगवान् ने उक्त शब्दों की विभिन्न रूप से अत्यन्त सुन्दर भाव-प्रधान व्याख्या की है।

लेखक का मन उक्त सभी नामों पर भगवान् की वाणी का प्रकाश डालना चाहता है, परन्तु यहाँ मात्र श्रमण शब्द के निर्वचन का ही प्रसंग है, अतः इनमें से केवल श्रमण शब्द की भावना ही भगवान् महावीर के प्रवचनानुसार स्पष्ट की जा रही है।

—“जो साधक शरीर आदि में आसक्ति नहीं रखता है, किसी प्रकार की सांसारिक कामना नहीं करता है, किसी प्राणी की हिंसा नहीं करता है, झूठ नहीं बोलता है, मैथुन और परिग्रह के विकार से भी रहित है, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि जितने भी कर्मादान और आत्मा के पतन के हेतु हैं, सब से निवृत्त रहता है, इसी प्रकार जो इन्द्रियों का विजेता है, संयमी है, मोक्ष मार्ग का सफल यात्री है, शरीर के मोह ममत्त्व से रहित है, वह श्रमण कहलाता है।”

१ भगवान् महावीर ने अपने अन्तिम प्रवचन स्वरूप उत्तराव्ययन सूत्र में भी यही कहा है कि केवल मुण्डित होने मात्र से श्रमण नहीं होता, श्रमण होता है समता की साधना से। ‘न वि मुण्डिषण समणो’ ‘समयाण समणो होइ।’

करण मूर्ति तथागत बुद्ध ने भी धम्म पद के धम्मट्ठ वग्ग में श्रमण शब्द के निर्वचन पर कुछ ऐसा ही प्रकाश डाला है—

न मुण्डकेन समणो अच्वतो अलिकं भणं।

इच्छालोभसमापन्नो समणो किं भविस्सति ॥ ६ ॥

—जो व्रत-हीन है, जो मिथ्याभाषी है, वह मुण्डित होने मात्र से श्रमण नहीं होता। इच्छा-लोभ से भरा (मनुष्य) क्या श्रमण बनेगा ?

यो च समेति पापानि अणुं थूलानि सच्चसो।

समित्तत्ता हि पापानं समणो’ ति पवुच्चति ॥ १० ॥

—जो सब छोटे-बड़े पाप का शमन करता है, उसे पापों का शमन-कर्ता होने के कारण से श्रमण कहते हैं।

सयणे य जणे य समो;

समो अ माणावमाणेषु ॥३॥

—भमण सुमना होना है, वह कभी भी पापमात्र नहीं होता । अर्थात् जिसका मन सदा प्रफुल्लित रहता है, जो कभी भी पापमय चिन्तन नहीं करता, जो स्वजन और परजन में तथा मान और अमान में बुद्धि का उचित सन्तुलन रखता है, वह भमण है ।

आचार्य हरिभद्र दशवैकालिक सूत्र के प्रथम अध्ययन की तीसरी गाथा का समोद्घाटन करते हुए भमण का अर्थ तपस्वी करते हैं । अर्थात् जो अपने ही भ्रम से तपसाधना से मुक्ति लाभ करते हैं वे भमण कहलाते हैं—‘आम्यन्तीति भमणा तपस्यन्तीत्यर्थः ।’

आचार्य शीलाक भी सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्धान्तर्गत १६ वें अध्ययन में भमण शब्द की यही भ्रम और सम सम्बन्धी अमर घोषणा कर रहे हैं—‘आम्यति तपसा लिखत इति कृत्वा भमणो वाच्योऽप्यत्र समं मुख्यं मित्रादिषु मनः—अन्वकरण यस्य स सममना सर्वत्र वासीचन्दनकल्प इत्यर्थः ।’

सूत्रकृताङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुत स्कन्धांतर्गत १६ वें गाथा अध्ययन में भगवान् महावीर ने साधु क माहन^१ (ब्राह्मण), भमण, भिक्षु^२ और निर्ग्रन्थ^३ इस प्रकार चार सुप्रसिद्ध नामों का वर्णन किया है । साधवः^४ च

१ किसी भी प्राणी का हनन न करे, यह प्रवृत्ति जिसकी है, वह माहन है । ‘माहणति प्रवृत्तिर्यस्याऽसौ माहन ।’ आचार्य शीलाक, सूत्र कृतांग वृत्ति १।१६।

२ जो शास्त्र की नीति के अनुसार तपसाधना क द्वारा कर्म कथना का भेदन करता है, वह भिक्षु है । ‘य शास्त्रनीत्या तपसा कर्म भिनत्ति स भिक्षु ।’—आचार्य हरिभद्र, दशवैकालिक वृत्ति दशम अध्ययन ।

३ जो ग्रन्थ अर्थात् ग्राह्य और आम्यन्तर परिग्रह से रहित होता है, कुछ भी छुपाकर गोंठ बाँधकर नहीं रखता है, वह निर्ग्रन्थ है । ‘निर्गतो ग्रन्थाद् निर्ग्रन्थः ।’ आचार्य हरिभद्र, दशवैकालिक वृत्ति प्रथम अध्ययन ।

: = :

आवश्यक का निर्वचन

निर्वचन का अर्थ है—संयुक्त पद को तोड़ कर अर्थ का स्पष्टीकरण करना । उदाहरण के लिए पंकज शब्द को ही लीजिए । पंकज का शाब्दिक निर्वचन है—‘पंकज्जायते इति पंकजः’ । ‘जो पंक से उत्पन्न हो, वह कमल ।’ इसी निर्वचन की दृष्टि को लेकर प्रश्न है कि—आवश्यक का शाब्दिक निर्वचन क्या है ?

आवश्यक का निर्वचन अनेकों आचार्यों ने किया है । अनुयोगद्वार-सूत्र के सुप्रसिद्ध टीकाकार आचार्य मलधारी हेमचन्द्र, आवश्यक-सूत्र के टीकाकार आचार्य हरिभद्र और मलयगिरि, और विशेषावश्यक महाभाष्य के टीकाकार आचार्य कोटि इस सम्बन्ध में बहुत ही सुन्दर वर्णन करते हैं । पाठकों की जानकारी के लिए हम यहाँ कोट्याचार्य के द्वारा विशेषावश्यक-टीका में बताये गए निर्वचन उपस्थित करते हैं ।

(१) अवश्यं करणाद् आवश्यकम् ।^१ जो अवश्य किया जाय वह आवश्यक है । साधु और श्रावक दोनों ही नित्य प्रति अर्थात् प्रति दिन क्रमशः दिन और रात्रि के अन्त में सामायिक आदि की साधना करते हैं, अतः वह साधना आवश्यक-पद-वाच्य है । उक्त निर्वचन अनुयोग-द्वार-सूत्र की निम्नोक्त गाथा से सहमत है :—

समणेण सावएण य,

अवस्स कायव्वयं हवइ जम्हा ।

१ ‘अवश्यं कर्तव्यमावश्यकम् । श्रमणादिभिरवश्यम् उभयकालं क्रियत इति भावः ।’—आचार्य मलयगिरि ।

क्षण गुजरते चले जाते हैं। उनके लिए साकारिक जीवन कामिनी आदि नियम ही आवश्यक हैं। परन्तु जो अन्तर्दृष्टि है, जिनके विचारों का आत्मा की ओर झुकाव है, जो क्षणिक वैयक्तिक सुख में सुग्न न होकर स्थायी आत्म-कल्याण के लिए सतत सचेष्ट हैं, उनका आवश्यक आध्यात्मिक-साधना रूप है।

अन्तर्दृष्टि वाले सज्जन साधक कहलाते हैं, उन्हें कोई भी जड़ पदार्थ अपने सौन्दर्य से नहीं लुभा सकता, अस्तु उनका आवश्यक कर्म यही हो सकता है, जिसके द्वारा आत्मा सहज स्थायी सुख का अनुभव करे, कर्म मल को दूर कर सहज स्वाभाविक निर्मलता प्राप्त करे, सदा काल के लिए सब दुःखों से छूट कर अन्त में अजर अमर पद प्राप्त करे। यह अजर, अमर, सहज, स्वाभाविक अनन्त सुख तभी जी-सात्मा को प्राप्त हो सकता है, जबकि आत्मा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र्य रूप अध्यात्म-ज्योति का पुष्टतया विकास हो। और इस अध्यात्म-ज्योति का विकास बिना आवश्यक त्रिधा के कथमपि नहीं हो सकता। मस्तुन प्रसंग में इसी आध्यात्मिक आवश्यक का वर्णन करना अभीष्ट है और संक्षेप में इस आध्यात्मिक आवश्यक का स्वरूप परिचय दाना ही है कि सम्यग्ज्ञान आदि गुणों का पूर्ण विकास करने के लिए, जो त्रिधा अर्थात् साधना अवश्य करने योग्य है, वही आवश्यक है।

(५) गुणैर्वा आवासकं = अनुरञ्जकं वस्त्रधूपादिवत् । आवस्तय का संस्कृत रूप जो आवासक होता है, उसका अर्थ है—‘अनुरंजन करना’ । जो आत्मा को ज्ञानादि गुणों से अनुरंजित करे, वह आवासक ।

(६) गुणैर्वा आत्मानं आवासयति = आच्छादयति, इति आवासकम् । वस् धातु का अर्थ आच्छादन करना भी होता है । अतः जो ज्ञानादि गुणों के द्वारा आत्मा को आवासित = आच्छादित करे, वह आवासक है । जब आत्मा ज्ञानादि गुणों से आच्छादित रहेगा तो दुर्गुण-रूप धूल आत्मा पर नहीं पड़ने पाएगी ।

‘आवस्तय’ ‘आवश्यक’ के ऊपर जो निर्वचन दिए गए हैं, उनकी आधार-भूमि, जिन भद्र गणी क्षमाश्रमण का विशेषावश्यक भाष्य है । जिज्ञासु पाठक ८७७ और ८७८ वीं गाथा देखने की कृपा करें ।

अन्तो अहो—निसस्स य

तम्हा आवस्सयं नाम ॥

(२) आपाश्रयो वा इदं गुणानाम्, प्राकृतरीत्या आवस्सय । प्राकृत भाषा में आधार वाचक आपाश्रय शब्द भी 'आवस्सय' कहलाता है । जो गुणों की आधार भूमि हो, वह आवस्सय = आपाश्रय है । आवश्यक आध्यात्मिक समता, नम्रता, आत्मनिरीक्षण आदि सद्गुणों का आधार है, अतः वह आपाश्रय भी कहलाता है ।

(३) गुणानां वरयमात्मानं करोतीति ।^१ जो आत्मा को दुर्गुणों से दूर कर गुणों के आधीन करे, वह आनश्यक है । आ + वरय, आनश्यक ।

(४) गुणशून्यमात्मानं गुणैरजासयतीति आवासकम् । गुणों से शून्य आत्मा को जो गुणों से वासित करे, वह आवश्यक है । प्राकृत में आवासक भी 'आवस्सय' बन जाता है । गुणों से आत्मा को वासित करने का अर्थ है—गुणों से युक्त करना ।

१ 'ज्ञानादिगुणानाम् आसमन्ताद् वरणा इन्द्रिय-कषायादिभिर-शत्रवो यस्मात् तद् आवश्यकम्' । आचार्य मलयगिरि कहते हैं कि इन्द्रिय और कषाय आदि भाव शत्रु जिस साधना के द्वारा ज्ञानादि गुणों के वरय लिए जायें, अर्थात् पराजित लिए जायें, वह आवश्यक है । अथवा ज्ञानादि गुण समूह और मोक्ष पर जिस साधना के द्वारा अधिकार किया जाय, वह आवश्यक है । 'ज्ञानादि गुण कदम्बकं मोक्षो वा आसमन्ताद् वरय क्रियतेऽनेन इष्टावश्यकम् ।'

दिगवर जैनाचार्य उद्देर मूलाचार मे कहते हैं कि जो साधक राग, द्वेष, विषय, कषायादि व वशीभूत न हो वह अवश कहलाता है, उस अवश का जो आचरण है, वह आनश्यक है ।

'य वसो अवसो, अयसम्भ वसिमावासयेति बोधना ।'

ध्रुव कहलाता है। अस्तु, जो कर्म और कर्मफलस्वरूप संसार का निग्रह करता है, वह ध्रुव निग्रह है।

४. विशोधि—कर्ममलिन आत्मा की विशुद्धि का हेतु होने से आवश्यक विशोधि कहलाता है।

५. अध्ययन पट्कवर्ग—आवश्यक-रूप के सामायिक आदि छह अध्ययन हैं, अतः अध्ययन पट्क वर्ग है।

६. न्याय—अभीष्ट अर्थ की सिद्धि का सम्यक् उपाय होने से न्याय है। अथवा आत्मा और कर्म के अनादिकालीन सम्बन्ध का अपनयन करने के कारण भी न्याय कहलाता है। आवश्यक की साधना आत्मा को कर्म-बन्धन से मुक्त करती है।

७. आराधना—मोक्ष की आराधना का हेतु होने से आराधना है।

८. मार्ग—मोक्षपुर का प्रापक होने से मार्ग है। मार्ग का अर्थ उपाय है।

उपर्युक्त पर्यायवाची शब्द थोड़ा-सा अर्थ भेद रखते हुए भी मूलतः समानार्थक हैं।

: ६ :

आवश्यक के पर्याय

पर्याय, अर्थात्तर का नाम है। एक पदार्थ के अनेक नाम परस्पर पर्यायवाची कहलाते हैं, जैसे—जल के बारि, पय, सलिल, नीर, तोय आदि पर्याय हैं। प्रस्तुत में प्रश्न है कि आवश्यक के कितने पर्याय हैं ?

अनुयोग द्वार-रूप में आवश्यक के अवश्यकरणीय, भ्रुवनिग्रह विशोधि, चाप, आराधना, माग आदि पर्याय उताए गए हैं—

‘आवस्तय अवस्त-रणिर्ज्जं,
ध्रुवनिगाहो पिसोही य ।
अभयण-द्वक्कवग्गो,
नाओ आराहणा मग्गो ।’

१ आवश्यक—अवश्य करने योग्य कार्य आवश्यक कहलाता है। सामायिक आदि की साधना साधु साध्वी आवश्यक और भाविका के द्वारा अवश्य रूप से करने योग्य है, अतः आवश्यक है। ‘अवश्यं धियते आवश्यकम् ।’

२ अवश्यकरणीय—मुमुक्षु साधनों के द्वारा नियमेन अनुष्ठेय होने के कारण अवश्य करणीय है ।

३ भ्रुवनिग्रह—अनादि होने के कारण कर्मों को भ्रुव रहते हैं। कर्मों का फल जन्म मरण मरणादि संसार भी अनादि है, अतः वह भी

जिगाणमणाणाए सच्छंदं हि हरिऊण उभञ्चो कालं आवस्सयस्स उव-
ट्ठंति; से तं लोगुत्तरियं दव्वावस्सयं ।”

भाव आवश्यक का अर्थ है—अन्तरंग उपयोग के साथ, लोक तथा परलोक की वासना रहित, यश कीर्ति सम्मान आदि की अभिलाषा से शून्य, मन वचन शरीर को निश्चल, निष्प्रकम्प, एकाग्र बना कर, आवश्यक की मूल भावना में उतर कर, दिन और रात्रि के जीवन में जिनाशा के अनुसार विचरण कर आवश्यक सम्बन्धी मूल-पाठों के अर्थों पर चिन्तन, मनन, निदिध्यासन करते हुए, केवल निजात्मा को कर्म-मल से विशुद्ध बनाने के लिए जो दोनों काल सामायिक आदि की साधना की जाती है, वह भाव आवश्यक होता है ।

यह भाव आवश्यक ही यहाँ आवश्यकत्वेन अभिमत है । इसके बिना आवश्यक क्रिया आत्म-विशुद्धि नहीं कर सकती । यह भाव आवश्यक ही वस्तुतः योग है । योग का अर्थ है—‘मोक्षेण योजनाद् योगः ।’ वाचक । यशो विजय जी, ज्ञान-सार में कहते हैं—जो मोक्ष के साथ योजन = सम्बन्ध कराए, वह योग कहलाता है । भाव आवश्यक में हम साधक लोग, अपनी चित्तवृत्ति को संसार से हटा कर मोक्ष की ओर केन्द्रित करते हैं, अतः वह ही वास्तविक योग है । प्राणायाम आदि हठयोग के हथकण्डे केवल शारीरिक व्यायाम है, मनोरंजन है, वह हमें मोक्ष-स्वरूप की भोंकी नहीं दिखा सकता ।

भाव आवश्यक का स्वरूप, अनुयोग द्वार सूत्र में देखिए :—

“जं णं इमे समणो वा समणी वा, सावञ्चो वा, साविआ वा तच्चित्ते, तम्मणो, तल्लेसे, तद्वज्जवसिए, तत्तिव्वज्जमसणो, तद्वोवउत्ते, तदप्पियकरणे, तव्वावणाभाविए, अज्जत्थ कत्थइ मणं अकरोमाणे उभञ्चो कालं आवस्सयं करंति; से तं लोगुत्तरियं भावावस्सयं ।”

द्रव्य और भाव आवश्यक

जैन-दर्शन में द्रव्य और भाव का बहुत गंभीर एवं सूक्ष्म चिन्तन किया गया है। यहाँ प्रत्येक साधना एवं प्रत्येक विचार को द्रव्य और भाव के भेद से देखा जाना है। अहिंसा वाले लोग द्रव्य प्रधान होते हैं, जब कि अन्तर्हिंसा वाले लोग भाव प्रधान होते हैं।

द्रव्य आवश्यक का अर्थ है—अन्तरंग उपयोग के बिना, केवल पर-परा के आधार पर, पुण्यफल की इच्छा रूप द्रव्य आवश्यक होता है। द्रव्य का अर्थ है—प्राणरहित शरीर। बिना प्राण के शरीर केवल इश्य वस्तु है, गति शील नहीं। आवश्यक का मूल पाठ बिना उपयोग = विचार के सोचना, अन्यमनस्क होकर स्थूल रूप में उठने बैठने की विधि करना, अहिंसा, सत्य आदि सदगुणों के प्रति निरादर भाव रखकर केवल अहिंसा आदि शब्दों से चिन्ते रहना, द्रव्य आश्रय है। दिन और रात बेलगाम घोड़ों की तरह उछलना, निरंकुश हाथियों की तरह जिनगी से बाहर विचरण करना, और फिर प्रातः सूर्य आवश्यक सूत्र के पाठों की रटन किया में लग जाना, द्रव्य नहीं तो क्या है? विवेकहीन साधना अन्तर्जीवन में प्रकाश नहीं दे सकती। यह द्रव्य आवश्यक साधना-क्षेत्र में उपयोगी नहीं होता। अतएव अनुयोग द्वार सूत्र में कहा है—

“जे हमे समणगुणसुक्कजोगी, षक्काय निदणुकेवा, हवा हर
बहमा, गवा हर निरुवा, पट्टा, मट्टा, तुण्णोद्धा, पंदुरपट्टावरणा,

और केवल साधु ही नहीं, अपितु दोनों ही पडावश्यक का समान आधिकार रखते हैं। अतः जैन आवश्यक की साधना मानव मात्र के लिए कल्याण एवं मंगल की भावना प्रदान करती है।

अनुयोग द्वार सूत्र में आवश्यक के छः प्रकार बताए गए हैं—
'सामाह्यं, चउवीसत्थओ, वंदणं, पडिक्कमणं, काउस्सग्गो, पच्चक्खलाणं ।'

१ सामायिक—समभाव, समता।

२ चतुर्विंशतिस्तव—वीतराग देव की स्तुति।

३ वन्दन—गुरुदेवों को वन्दन।

४ प्रतिक्रमण—संयम में लगे दोनों की आलोचना।

५ कायोत्सर्ग—शरीर के ममत्व का त्याग।

६ प्रत्याख्यान—आहार आदि की आसक्ति का त्याग।

अनुयोग द्वार सूत्र में प्रकारान्तर से भी छः आवश्यकों का उल्लेख किया गया है। यह केवल नाम भेद है, अर्थ-भेद नहीं।

सावज्जजोग-विरट्ठे,

उक्कित्तण गुणवओ य पडिचत्ती।

खलियस्स निंदणा,

वणतिगिच्छ गुणधारणा चेव ॥

(१) सावद्ययोगविरति—प्राणातिपात, असत्य आदि सावद्य योगों का त्याग करना। आत्मा में अशुभ कर्मजल का आश्रय पापरूप प्रयत्नों द्वारा होता है, अतः सावद्य व्यापारों का त्याग करना ही सामायिक है।

(२) उत्कीर्तन—तीर्थंकर देव स्वयं कर्मों को क्षय करके शुद्ध हुए हैं और दूसरों को आत्मशुद्धि के लिए सावद्ययोगविरति का उपदेश दे गए हैं, अतः उनके गुणों की स्तुति करना उत्कीर्तन है। यह चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक है।

: ११ :

आवश्यक के छः प्रकार

जैन संस्कृति में जिसे आवश्यक कहा जाता है, वैदिक संस्कृति में उसे नित्य-कर्म कहते हैं। वहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अलग-अलग कर्म बताए गए हैं। ब्राह्मण के छः कर्म हैं—दान लेना, दान देना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, स्वयं पढ़ना, और दूसरों को पढ़ाना। इसी प्रकार रक्षा करना आदि क्षत्रिय के कर्म हैं। व्यापार करना, कृषि करना, पशु पालन करना आदि वैश्यकर्म हैं। ब्राह्मण आदि उच्च वर्ग की सेवा करना शूद्रकर्म है।

मैं पहले लिख कर आया हूँ कि ब्राह्मण संस्कृति समार की भौतिक व्यवस्था में अधिक रस लेती है, अतः उस के नित्यकर्मों के विधान भी उसी रंग में रंगे हुए हैं। उक्त आधीविका मूलक नित्यकर्म का यह परिणाम आया कि भारत की जनता ऊँचे नीचे जातीय भेद भावों की दल दल में पँस गई। किसी भी व्यक्ति को अपनी योग्यता के अनुसार जीव नोपयोगी कार्य क्षेत्र में प्रवेश करना कठिन हो गया। प्रायः प्रत्येक दिशा में आदि अन्तःकाल के लिए ठेकेदारी का दावा किया जाने लगा।

परन्तु जैन-संस्कृति मानवता को जोड़ने वाली संस्कृति है। उसके यहाँ किसी प्रकार की भी ठेकेदारी का विधान नहीं है। अतः एत जैन-धर्म के पञ्चावश्यक मानव मात्र के लिए एक जैसे हैं। ब्राह्मण हों, क्षत्रिय हों, वैश्य हों, शूद्र हों, कोई भी हों सब सामायिक कर सकते हैं, बदन कर सकते हैं, प्रतिस्पर्धण कर सकते हैं। छुट्टी ही आवश्यक बिना किसी जाति और वर्ग भेद के सब के लिए आवश्यक है। केवल यह स्थ

सामायिक आवश्यक

‘सम्’ उपसर्गपूर्वक ‘गति’ अर्थ वाली ‘इण्’ धातु से ‘समय’ शब्द बनता है। सम् का अर्थ एकीभाव है और अय का अर्थ गमन है, अस्तु जो एकी भावरूप से बाह्य परिणति से वापस मुड़ कर आत्मा की ओर गमन किया जाता है, उसे समय कहते हैं। समय का भाव सामायिक होता है।^१

उन्मुक्त निर्वचन का संक्षेप में भाव यह है कि—आत्मा को मन, वचन, काय की पापवृत्तियों से रोक कर आत्मकल्याण के एक निश्चित ध्येय की ओर लगा देने का नाम सामायिक है। सामायिक करने वाला साधक, बाह्य सांसारिक-दुर्वृत्तियों से हट कर आध्यात्मिक केन्द्र की ओर मन को वश में कर लेता है, वचन को वश में कर लेता है, काय को वश में कर लेता है, कपारों को सर्वथा दूर करता है, राग-द्वेष के दुर्भावों को हटाकर शत्रु मित्र को समान दृष्टि से समझता है, न शत्रु पर क्रोध करता है और न मित्र पर अनुराग करता है। हाँ तो वह महल और मसान, मिट्टी और स्वर्ण सभी अच्छे बुरे सांसारिक द्वन्द्वों में

१ ‘सम्’ एकीभावे वर्तते। तद्यथा, संगतं घृतं संगतं तैलमित्युच्यते एकीभूतमिति गम्यते। एकत्वेन अयनं गमनं समयः, समय एव सामायिकम्। समयः प्रयोजनमस्येति वा विगृह्य सामायिकम्।

—सर्वार्थ सिद्धि ७। ११

समभाव धारण कर लेता है जलता उसका जीवन सर्वथा निर्द्वन्द्व होकर शांति एवं समभाव की लहरों में बहने लगता है ।

तस्स सामाणिको अप्पा,
संजमे नियमे तवे ।

तस्स सामाइयं होइ,
इइ केवलि - भासियं ॥

जो समो सव्वगूणमु,
तसेमु थावमेसु य ।

तस्स सामाइयं होइ,
इइ केवलि भासियं ॥^१

—अनुयोग द्वार एव

सम + आव अर्थात् समभाव का आना सामायिक है । जिस प्रकार हम अपने आर को देखते हैं, अपनी सुखसुविधाओं को देखते हैं, अपने पर स्नेह सद्भाव रखते हैं, उसी प्रकार दूसरी आत्माओं के प्रति भी सदैव एवं सहृदय रहना, सामायिक है । राक्ष दृष्टि का त्याग कर अन्तर्दृष्टि अपनाइए, आत्मनिरीक्षण में मन को छोड़िए, विषमभाव का त्याग कर समभाव में स्थिर बनिए, पौद्गलिक पदार्थों का ममत्व हटाकर आत्म स्वरूप में रमण कीजिए, आप सामायिक के उच्च आदर्श पर पहुँच जायेंगे । यह सामायिक समस्त धर्म नियाओं, साधनाओं, उपासनाओं, सदाचरणों के प्रति उसी प्रकार आधारभूत है, जिस प्रकार कि आकाश और पृथ्वी चराचर प्राणियों के लिए आधारभूत है ।

१—जिसकी आत्मा संयम में, नियम में तथा तप में लीन है, वस्तुतः उसी का सच्चा सामायिक मत है, ऐसा केवल ज्ञानियों ने कहा है ।

—जो तस और स्थानर सभी प्राणियों पर समभाव रखता है, मैत्री भावना रखता है, वस्तुतः उसी का सचा सामायिक मत है, ऐसा केवल ज्ञानियों ने कहा है ।

समभावरूप सामायिक के धारण करने से मानव-जीवन कष्टमय नहीं होता, क्यों कि संसार में जो कुछ भी मन, वचन, एवं शरीरका कष्ट होता है, वह सब विषमभाव से ही उत्पन्न होता है। और वह विषमभाव सामायिक में नहीं होता है।

नाम, स्थापना, द्रव्य, काल, क्षेत्र और भाव-उक्त छह भेदों से साम्य-भावरूप सामायिक धारण किया जाता है:—

(१) नाम सामायिक—चाहे कोई शुभनाम हो, अथवा अशुभ नाम हो, सुनकर किसी भी प्रकार का राग-द्वेष नहीं करना, नाम सामायिक है।

सामायिकधारी आत्मा शुभाशुभ नामों के प्रयोग पर, स्तुति-निन्दा के शब्दों पर, विचारता है कि—किसी ने शुभ नाम अथवा अशुभ नाम का प्रयोग किया तो क्या हुआ ? आत्मा तो शब्द की सीमा से अतीत है। अतएव मैं व्यर्थ ही राग द्वेष के संकल्पों में क्यों फँसूँ ?

(२) स्थापना सामायिक—जिस किसी स्थापित पदार्थ की सुरूपता अथवा कुरूपता को देखकर रागद्वेष नहीं करना, स्थापना सामायिक है।

सामायिकधारी आत्मा विचारता है कि जो कुछ यह स्थापित पदार्थ है वह मैं नहीं हूँ, अतः मुझे इसमें रागद्वेष क्यों करना चाहिए ? मैं आत्मा हूँ, मेरा इस से कुछ भी हानि-लाभ नहीं है।

(३) द्रव्य सामायिक—चाहे सुवर्ण हो, चाहे मिट्टी हो, इन सभी अच्छे बुरे पदार्थों में समदर्शों भाव रखना, द्रव्य सामायिक है।

सामायिकधारी आत्मा विचारता है कि यह पुद्गल द्रव्य स्वतः सुन्दर तथा असुन्दर कुछ भी नहीं हैं। अपना मन ही सुन्दरता, असुन्दरता, बहुमूल्यता, अल्पमूल्यता आदि की कल्पना करता है। आत्मा की दृष्टि से तो स्वर्ण भी मिट्टी है, मिट्टी भी मिट्टी है। हीरा और कंकर दोनों ही जड़ पदार्थ की दृष्टि से समान हैं।

समभाव धारण कर लेता है, फलतः उसका जीवन सर्वथा निर्द्वन्द्व होकर शांति एवं समभाव की लहरों में बहने लगता है ।

तस्स सामाणियो अप्पा,

सज्जे निचमे तथे ।

तस्स सामाइयं होइ,

इइ पवलि - भासिय ॥

जो समो सज्जभूएणु,

तमेणु थावरेणु य ।

तस्स सामाइयं होइ,

इइ केवल भासिय ॥^१

—अनुयोग द्वार सूत्र

सम + आप अर्थात् समभाव का आप सामायिक है । जिस प्रकार हम अपने आप को देखते हैं, अपनी सुखसुविधाओं को देखते हैं, अपने पर स्नेह सद्भाव रखते हैं, उसी प्रकार दूसरी आत्माओं के प्रति भी सदय एवं सहृदय रहना, सामायिक है । ग्राह्य दृष्टि का त्याग कर अन्तर्दृष्टि अपनाइए, आत्मनिरीक्षण में मन को छोड़िए, विषमभाव का त्याग कर समभाव में स्थिर बनिए, पौद्गलिक पदार्थों का ममत्व हटाकर आत्म स्वरूप में रमण कीजिए, आप सामायिक के उच्च आदर्श पर पहुँच जायेंगे । यह सामायिक समस्त धर्म त्रियाओं, साधनाओं, उपासनाओं, सदाचरणों के प्रति उसी प्रकार आधारभूत है, जिस प्रकार कि आकाश और पृथ्वी चराचर प्राणियों के लिए आधारभूत है ।

१—जिसकी आत्मा संयम में, नियम में तथा तप में लीन है, वस्तुतः उसी का सच्चा सामायिक मत है, ऐसा केवल ज्ञानियों ने कहा है ।

—जो व्रत और स्थावर सभी प्राणियों पर समभाव रखता है, मैत्री भावना रखता है, वस्तुतः उसी का सच्चा सामायिक मत है, ऐसा केवल ज्ञानियों ने कहा है ।

अज्ञान-जीने में, मरने में, लाभ में, अलाभ में, संयोग में, वियोग में, चन्द्र में, शत्रु में, सुख में, दुःख में क्यों हर्ष शोक करूँ ? मुझे तो अच्छे-बुरे सभी प्रसंगों पर समभाव ही रखना चाहिए । हानि और लाभ, जीवन और मरण, मान और अपमान, शत्रु और मित्र आदि सभी कर्मोदयजन्य विकार हैं । वस्तुतः निश्चय नय की दृष्टि से इनके साथ मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ।

भाव-सामायिक के सम्बन्ध में भगवान् महावीर एवं प्राचीन जैनाचार्यों ने बड़ा ही सुन्दर निरूपण किया है । विस्तार में जाने का तो इधर अवकाश नहीं है, हाँ, संक्षेप में उनके विचारों की झलक दिखा देना आवश्यक है ।

‘आया सामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठे ।’

—भगवती सूत्र १ । ६ ।

—वस्तुतः अपने शुद्ध स्वरूप में रहा हुआ आत्मा ही सामायिक है । सामायिक का प्रयोजन भी शुद्ध, बुद्ध, मुक्त चिच्छिन्नात्मक स्वरूप आत्म-तत्त्व की प्राप्ति ही है ।

सावज्ज - जोग - विरओ,

.. तिगुत्तो छसु संजओ ।

उचउत्तो जयमाणो,

आया सामाइयं होइ ॥

—आवश्यक-नियुक्ति

—जब साधक सावद्य योग से विस्त होता है, छः काय के जीवों के प्रति संयत होता है, मन, ध्यान एवं कर्म को एकाग्र करता है, स्व-स्वरूप में उपयुक्त होता है, यतना में विचरण करता है, वह (आत्मा) सामायिक है ।

‘सममेकत्वेन आत्मनि आयाः आगमने परद्रव्येभ्यो निवृत्त्य
उपयोगस्य आत्मनि प्रवृत्तिः समायः,

(४) क्षेत्र सामायिक—चाहे षोडश सुन्दर वाग हो, या षोडश से भी हुई ऊँगर भूमि हो, दोनों में समभाव रखना, क्षेत्र सामायिक है।

सामायिक धारी आत्मा विचारता है कि चाहे राजधानी हो, चाहे बंगल हा, दोनों ही पर क्षेत्र है। मेरा क्षेत्र तो केवल आत्मा है, अतएव मेरा उा में रागद्वेष करना, सर्वथा अयुक्त है। अनात्मदर्शी ही अनात्म निगत स्थान गाँव या जंगल समझते हैं, आत्मदर्शी के लिए तो अनात्म आत्मा ही अनात्म निगत स्थान है। निश्चय नय की दृष्टि में प्रत्येक पदार्थ अने में ही वेदित है। जड़, जड़ में रहता है, और आत्मा, आत्मा में रहता है।

(५) काल सामायिक—चाहे वर्षा हो, शीत हो, गर्मा हो तथा अनुत्पन्न वायु से सुतप्तनी वसन्त ऋतु हो, या भयंकर आँधी चवंडर हो, किन्तु सब अनुत्पन्न तथा प्रतिपन्न परिस्थितियों में समभाव रखना काल सामायिक है।

सामायिक धारी आत्मा विचारता है कि ठण्डक, गरमी, वसन्त, वर्षा आदि सब पुद्गल के विकार हैं। मेरा तो इन से स्पर्श भी नहीं हो सकता। मैं अमूर्त हूँ, अरुण हूँ। मुझसे भिन्न सभी भाव वैभाविक हैं, अतः मुझे इन परभावजनित वैभाविक भावों में किसी प्रकार का भी राग द्वेष नहीं करना चाहिए।

(६) भाव सामायिक—समस्त जीवों पर मैत्रीभाव धारण करना, किसी से किसी प्रकार का भी वैर विरोध नहीं रखना भाव सामायिक है।

प्रस्तुत भाव सामायिक ही वास्तविक उत्तम सामायिक है। पूर्वोक्त सभी सामायिकों का इसी में अन्तर्भाव हो जाता है। आध्यात्मिक संयमी जीवन की महत्ता के दर्शन इसी सामायिक में होते हैं। भाव सामायिक धारी आत्मा विचारता है कि—मैं अजर, अमर, चित्तचमत्कार चैतन्य स्वरूप हूँ। वैभाविक भावों से मेरा कुछ भी बनता निगडता नहीं है।

से आचार की शुद्धि होती है। तीनों मिलकर आत्मा को पूर्ण विशुद्ध निर्मल बनाते हैं और उसे परमात्मा की कोटि में पहुँचा देते हैं।

चारित्र सामायिक के अधिकारी-भेद से दो प्रकार हैं—(१) देश, और (२) सर्व। गृहस्थों की आचार-साधना को देशचारित्र कहते हैं। देश का अर्थ है—‘अंश’। गृहस्थ अहिंसा आदि आचार-साधना का पूर्णरूप से पालन न करता हुआ अंशतः पालन करता है। साधुओं की आचार-साधना को सर्वचारित्र कहते हैं। सर्व का अर्थ है—‘समग्र, पूर्ण’। पाँच महाव्रतधारी साधु, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अग्निहोत्र की साधना को मन, वचन, और काय के द्वारा पूर्णतया पालन करने के लिए कृतप्रयत्न रहता है।

सामायिक की साधना बहुत ऊँची है। आत्मा का पूर्ण विकास सामायिक के बिना सर्वथा असम्भव है। धर्म-क्षेत्र की जितनी भी अन्य साधनाएँ हैं, सबका मूल सामायिक में ही रहा हुआ है। जैन-आगम-साहित्य सबका सब सामायिक की चर्चा से ही ध्वनित है। अतएव चाचक यशोविजयजी सामायिक को सम्पूर्ण द्वादशाङ्गीरूप जिनवाणी का सार बतलाते हैं—

“सकलद्वादशाङ्गोपनिषद्भूतसामायिकसूत्रवत्”

—तत्त्वार्थ वृत्ति १-१

आचार्य जिनभद्र विशेषावश्यक-भाष्य में, सामायिक को चौदह पूर्व का अर्थ-पिण्ड कहते हैं—

‘सामाद्यं संखेवो, चोद्सपुञ्जत्यपिण्डो त्ति ।’ गा० २७६६

जैन-संस्कृति समप्रधान संस्कृति है। उसके यहाँ तपश्चरण एवं उग्र क्रियाकाण्ड का कुछ महत्त्व अवश्य है, परन्तु वास्तविक महत्त्व संयम का है, समता का है, सामायिक का है। जबतक समभाव रूप सामायिक न हो, तबतक कोटि-कोटि वर्ष तप करने वाला अविधेकी साधक भी कुछ नहीं कर पाता है। संथार पइचा में कहा है—

इयधः । ॥ "अथवा सम् समे रागद्वेषाभ्यामनुपहतैः ॥ मध्यस्थे
 आत्मनि ध्यायः उपयोगस्य प्रवृत्तिः समायः, स प्रयोगनमस्येति
 सामाधिकम् ।" —गोम० जीव० टीका गा० ३६८

—पर द्रव्यों से निवृत्त होकर साधक की शान चीना जब आत्म
 स्वरूप में प्रवृत्त होती है, तभी भाव सामाधिक होना है । रागद्वेष से
 रहित माध्यस्थ्यमायापन्न आत्मा सम कहलाता है, उस सम में गमन
 करना ही भाव सामाधिक है ।

'भावसामाधिक सर्वग्रीवेषु मैत्रीभावोऽशुभपरिणामवर्जनं वा ।'

—अनगार धर्माभूत टीका ८ । १६ ।

संसार के सब जीवों पर मैत्रीभाव रखना, अशुभ परिणति का
 त्याग कर शुभ एवं शुद्ध परिणति में रमण करना, भावसामाधिक है ।

आचार्य जिनमद्र गयी समाश्रमण ने विशेषावश्यक माध्य में
 तो बड़े ही विस्तार के साथ भाव सामाधिक का निरूपण किया है,
 विशेष ज्ञानु माध्य का अध्ययन कर आनन्द उठा सकते हैं ।

आचार्य भद्रनाथ आवश्यक नियुक्ति की ७६६ वीं गाथा में,
 सामाधिक के तीन भेद बतलाते हैं—(१) सम्यक्त्व सामाधिक, (२)
 भुत सामाधिक, (३) श्रीर चारित्र सामाधिक । समभाव की साधना
 के लिए सम्यक्त्व, भुत और चारित्र ही प्रधान साधन हैं । सम्यक्त्व से
 विश्वास की शुद्धि होती है, भुत से विचारों की शुद्धि होगी है, चारित्र

१—सामाह्यं च त्रिविधं,

सम्पत्त सुखं तदा चरितं च ।

दुविह चैव चरितं,

अनारमण्यचारिणं चैव ॥

—आवश्यक नियुक्ति ७६६

से आचार की शुद्धि होती है। तीनों मिलकर आत्मा को पूर्ण विशुद्ध निर्मल बनाते हैं और उसे परमात्मा की कोटि में पहुँचा देते हैं।

चारित्र सामायिक के अधिकारी-भेद से दो प्रकार हैं—(१) देश, और (२) सर्व। गृहस्थों की आचार-साधना को देशचारित्र कहते हैं। देश का अर्थ है—‘अंश’। गृहस्थ अहिंसा आदि आचार-साधना का पूर्णरूप से पालन न करता हुआ अंशतः पालन करता है। साधुओं की आचार-साधना को सर्वचारित्र कहते हैं। सर्व का अर्थ है—‘समग्र, पूर्ण’। पाँच महाव्रतधारी साधु, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अरिग्रह की साधना को मन, वचन, और काय के द्वारा पूर्णतया पालन करने के लिए कृतप्रयत्न रहता है।

सामायिक की साधना बहुत ऊँची है। आत्मा का पूर्ण विकास सामायिक के बिना सर्वथा असम्भव है। धर्मक्षेत्र की जितनी भी अन्य साधनाएँ हैं, सबका मूल सामायिक में ही रहा हुआ है। जैन-आगम-साहित्य सबका सब सामायिक की चर्चा से ही ध्वनित है। अतएव वाचक यशोविजयजी सामायिक को सम्पूर्ण द्वादशाङ्गीरूप जिनवाणी का सार बतलाते हैं—

“सकलद्वादशाङ्गोपनिषद्भूतसामायिकसूत्रवत्”

—तत्त्वार्थ वृत्ति १-१

आचार्य जिनभद्र विशेषावश्यक-भाष्य में सामायिक को चौदह पूर्व का अर्थ-पिण्ड कहते हैं—

‘सामाङ्ग्यं संखेवो, चोदसपुञ्जवत्पिण्डो त्ति ।’ गा० २७६६

जैन-संस्कृति समप्रधान संस्कृति है। उसके यहाँ तपश्चरण एवं उग्र क्रियाकारण का कुछ महत्त्व अवश्य है, परन्तु वास्तविक महत्त्व संयम का है, समता का है, सामायिक का है। जन्तक समभाव रूप सामायिक न हो, तन्तक-कोटि-कोटि वर्ष तप करने वाला अविधेकी साधक भी नहीं कर पाता है। संथार पइन्ना में कहा है—

जं अत्राणो कम्मं,

सवेइ बहुयाहिं वासकोडीहि ।

तं नाणीं तिहिं गुत्तो,

सवेइ उतास - मेत्तेण ॥

—अज्ञानी एवं असंयमी साधक करोहो क्यों में तपश्चरण के द्वारा जितने कर्म नष्ट करता है, उतने कर्म त्रिगुतिधारी संयमी एवं विवेकी साधक एक सौंस लेने भर-जैसे अज्ञा बाल में नष्ट कर डालता है ।

संयम-शून्य तप, तप नहीं होता, वह केवल देहदण्ड होता है । वह देहदण्ड नारकी जीर भी सागरों तक सहते रहते हैं, परन्तु उनकी कितनी आत्मशुद्धि होती है ? भगवती एष के छुटे शतक में प्रश्न है कि 'सागरी नरक के नैरविक जीवों के कर्मों की अधिक निर्जला होती है अथवा संयमी भ्रमण निर्मल्य के कर्मों की ? भगवान् महावीर ने उत्तर में कहा है कि—
“संयम की साधना करता हुआ भ्रमण तपश्चरण आदि के रूप में मोक्ष सा भी कष्ट सहन करता है तो कर्मों की पड़ी भारी निर्जला करता है । सले पास का गढ़ा अग्नि में डालते ही कितनी शीघ्रता से भस्म होता है ? आग से जलते हुए लोहे के तवे पर जल बिन्दु किस प्रकार महसा नाम रोष हो जाता है ? हगी प्रचार संयम की साधना भी वह जलती हुई अग्नि है, जिसमें प्रतिक्षण कर्मों के दल के दण सहण नष्ट होने रहते हैं ।”

आचार्य हरिभद्र आपश्चर्य नियुक्ति पर व्याख्या करते समय तप के पहले संयम के उल्लेख का राष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि—‘संयम भविष्य में होने वाले कर्मों के आसुर का निरोध करने वाला है, अतः वह मुख्य है । संयम पूर्वक ही तप यस्याः गन्तव्य होता है, अन्वया नहीं । ‘संयमस्य प्रागुपादानमदोर्कमागमनितोषोरकारेण साधन्य वाप्य नार्थम् । तपश्चैव च यन्मुनः गन्तव्यं तपः ॥’

संयम और तप के अन्तर का समझने के लिए एक उदाहरण दे रहा हूँ । किसी घरध के पर पर खोरी का आश्रय होता है । कुछ खोर

घर के अन्दर घुस आते हैं और कुछ घर के बाहर घुसने की तैयारी में खड़े रहते हैं। ऐसी स्थिति में गृहस्थ का क्या कर्तव्य हो जाता है? वह अन्दर घुसे हुए चोरों से लड़े या पहले घर का दरवाजा बंद करे? यदि पहले दरवाजा बंद न करके सीधा चोरों से उलझ जाए तो बाहर खड़े चोरों का दल अन्दर आ सकता है, इस प्रकार चोरों की शक्ति घटने की अपेक्षा बढ़ती ही जाएगी। समझदारी का काम यह है कि पहले दरवाजा बंद करके बाहर के चोरों को अन्दर आने से रोका जाय और फिर अन्दर के चोरों से संवर्ष किया जाय। संयम, भावी पापाश्रव को रोकता है और तपश्चरण पहले के संचित कर्मों को क्षय करता है। जहाँ दूसरे धर्म केवल तप पर बल देते हैं वहाँ जैन-धर्म संयम को अधिक महत्त्व देता है। जैन-धर्म की सामायिक वह संयम की साधना है, जो भविष्य में आनेवाले पापाश्रव को रोक कर फिर अन्दर में कर्मों से लड़ने की कला है। यह युद्ध-कला ही वस्तुतः मुक्ति के साम्राज्य पर अधिकार करा सकती है।

सामायिक का बहुत बड़ा महत्त्व है। वह आवश्यक का आदिमंगल है। अखिल मंगल का मूल निर्वाण है, और यह निर्वाण सामायिक के द्वारा ही प्राप्त होता है। अतः सामायिक मङ्गल है। आचार्य जिनदास कहते हैं—‘आदिमंगलं सामाह्यज्जयरां ।’... ‘सत्त्व मंगल-निहायां निव्वयायां पाविहितित्तिकाऊण सामाह्यज्जयरां मंगलं भवति ।’—आवश्यक-चूर्णि। सामायिक विश्व के सब प्राणियों के प्रति समता की साधना है। और यह समता ही वस्तुतः सब मंगलों का निधान है। अतः, समभाव की दृष्टि से भी सामायिक आदिमंगल है। ‘जो य समभावो सो कहं सत्त्वमंगलनिधायां ण भविस्सति?’ —आवश्यक चूर्णि।

सामायिक की उत्कृष्ट साधना का तो कहना ही क्या है? यदि जघन्यरूप से भी सामायिक रूप समभाव का स्पर्श कर लिया जाय तो साधक संसार का अन्त कर देता है, सात-आठ जन्म से अधिक जन्म नहीं ग्रहण करता है। ‘सत्तट्ठमवगगहणाइं पुण नाइक्कमइ ।’

भग० पृ० १० । क्या हम प्रभु महावीर के उक्त प्रवचन पर श्रद्धा रखते हैं ? यदि रखते हैं तो सामायिक से पराङ्मुख होना, हमारे लिए निम्नी लक्षण भी हितावद नहीं है । हमारे जीवन की सँस-सँस पर सामायिक की अन्तर्जोशा का नाद झंकृत गहना चाहिए, तभी हम अपने जीवन को मंगलमय बना सकते हैं ।

जैन धर्म का सामायिक धर्म बहुत विराट् एवं व्यापक धर्म है । यह आत्मा का धर्म है, अतः सामायिक न किसी की जात पूज्यता है, न देश पूज्यता है, न रंग-रंग पूज्यता है, और न मत एवं पंथ ही । जैन धर्म का सामायिक सधक से निरुद्ध जैनत्व की जात पूज्यता है, उस जैनत्व की, जो जात पॉन, देश और पंथ से ऊपर की भूमिका है । यही कारण है कि माता मरुदेवी ने हाथी पर बैठे हुए सामायिक की स्तुति की, और मोक्ष में पहुँच गईं । इला पुत्र एक नट था, जो गोंग पर चढ़ा हुआ नाच रहा था । उसके अन्तर्जीवन में समसार की एक न-ही-की-लहर पैदा हुई, वह पैली और इतनी पैली कि अन्तर्मुहूर्त में ही गोंग पर चढ़े-चढ़े केवल ज्ञान हो गया । यह चमत्कार है सामायिक का ! सामायिक किसी अनुक वेप विशेष में ही होता है, अन्यत्र नहीं, यह जैन धर्म की मान्यता नहीं है । सामायिक रूप जैनत्व वेप में नष्ट, सम्भाव में है, माध्यस्थ्य मात्र में है । राग द्वेष के प्रसंग पर मध्यस्थ रहना ही सामायिक है, और यह मध्यस्थता अन्तर्जीवन की ज्योति है । इस ज्योति को किसी वेप विशेष में बँटना सामायिक का अपमान करना है । और यह सामायिक का अपमान स्वयं जैन धर्म का अपमान है ।—भगवतीसूत्र में इभी चर्चा को लेकर एक महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर है । वह द्रव्यलिंग की अपेक्षा भावलिंग को अधिक महत्त्व देता है । द्रव्यलिंग कोई भी हो, सामायिक की ज्योति प्रस्तुति हो सकती है । हाँ, भावलिंग कयावचिनरूप जैनत्व सर्वत्र एकरस होना चाहिए । उसके बिना सब शून्य है, अन्धकार है ।

सामाह्यसंज्ञणं भंते ! किं सल्लिगे होज्जा, अन्नल्लिगे होज्जा, गिहिल्लिगे होज्जा ?

दण्वल्लिगं पडुच्च सल्लिगे वा होज्जा, अन्नल्लिगे वा होज्जा, गिहिल्लिगे वा होज्जा । भावल्लिगं पडुच्च नियमा सल्लिगे होज्जा ।

—भग० २५ । ७ ।

सामायिक के सम्बन्ध में आजकल एक बहुत भ्रान्तिपूर्ण मत चल रहा है । वह यह कि सामायिक की साधना केवल अभावात्मक साधना है । उसमें हिंसा नहीं करना, इस प्रकार 'न' के ऊपर ही बल दिया गया है । अतः सामायिक की साधना करने वाला गृहस्थ तथा साधु किसी की रक्षा के लिए, किसी जीव को मरने से बचाने के लिए, कोई विधानात्मक प्रवृत्ति नहीं कर सकता ।

यह प्रश्न व्यर्थ ही उठ खड़ा हुआ है ! यदि जैन-आगम-साहित्य का भली भाँति अवलोकन किया जाता तो इस प्रश्न की उत्पत्ति के लिए अवकाश ही न रहता । कोई भी विधि-मार्ग : अर्थात् साधना-पथ अभावात्मक नहीं हो सकता । निषेध के साथ विधि अवश्य ही रहती है । झूठ नहीं बोलना, इस वाक्य का अर्थ होता है—असत्य का निषेध और सत्य का विधान । अब आप समझ सकते हैं—सत्य की साधना केवल निषेधात्मक नहीं है, प्रत्युत विधानात्मक भी है । इसी प्रकार अहिंसा आदि की साधना का अर्थ भी समझ लेना चाहिए । सामायिक में पापाचार का निषेध किया है, धर्माचार का नहीं । किसी जीव को मरने से बचाना धर्माचार है, अतः सामायिक में उसका निषेध नहीं । आवश्यक-अवचूरि में सामायिक का निर्वचन करते हुए कहा है—

“सामाह्यं नाम सावज्जजोगपरिवज्जणं,
निरवज्ज - जोग - पडिसेवणं च ।”

—‘सावद्य योगों का त्याग करना और निरवद्य योगों में प्रवृत्ति करना ही सामायिक है ।’

मैं पूछता हूँ किमी भी दुर्बल की रक्षा करना, किमी गिरते हुए जीव को सदाय देकर बचा लेना, किमी मारते हुए सरल को रोफकर निर्बल की हत्या न होने देना, इन में कीनता सामान्य योग है? कीनता पापकर्म है? पर्युन मन में निःस्वार्थ करुणा भाव का संचार होने से यह तो सम्भवतः की शुद्धि का मार्ग है, मोक्ष का मार्ग है। अनुकम्पा हृदयत्वेन की वह परित्र रंगी है, जो पापमल को बहाकर साफ कर देती है। अनुकम्पा के बिना सामायिक का कुछ भी अर्थ नहीं है। अनुकम्पा के क्षमापन में सामायिक की स्थिति ठीक वैसी ही है जैसे ज्योतिर्दीन दीन की स्थिति। ज्योतिर्दीन दीन, दीन नहीं, मात्र मिट्टी का गिंड है। सामायिक का सचा अधिकारी ही वह होता है, जो अनुकम्पा के श्रमृतरस से भरपूर होता है। आचार्य हरिभद्र आवश्यक बृहद्ग्रन्थ में लिखते हैं—‘अनुकम्पा प्रवणचित्तो जीवः सामायिकः अभवते, शुभपरिणामयुक्तत्वाद् वैद्यवत् ।’

आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने आवश्यक निर्युक्ति में सामायिक के सामायिक, समन्वित, सम्बन्ध आदि आठ नामों का उल्लेख किया है। उसमें से समन्वित शब्द का अर्थ भी सब जीवों पर सम्बन्ध से दिया करना है। आचार्य हरिभद्र समन्वित की व्युत्पत्ति करते हैं—‘समिति सम्यक् शब्दार्थ’ उपसर्ग, ‘सम्यग्’ अर्थ ‘समय’—‘सम्यग् दया-पूर्वकं जीवेषु समनमित्यर्थ’। समयोऽस्यास्तीति, अत इति टना (पा० ५-२-११५) इति दन्त समन्वितम् ।’

सामायिक के सम्बन्ध में बहुत समझा निम्न चुने हैं। इसका लिखना आवश्यक भी था। अधिक विवशता वाले समन लेखन का सामायिक-धुर देख सकते हैं।

: १३ :

चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक

सामायिक आवश्यक को सावद्ययोग-विरति भी कहते हैं। अनुयोग-द्वार सूत्र में इस नाम का उल्लेख किया गया है। परन्तु प्रश्न है कि यह सावद्ययोग से निवृत्ति शीघ्रतया कैसे प्राप्त हो सकती है ?

सावद्य योग से शीघ्रातिशीघ्र निवृत्त होने के लिए, समभाव पर पूर्ण प्रगति प्राप्त करने के लिए, साधक को किसी तदनुरूप ही महत्त्वशाली उच्च आलम्बन की आवश्यकता होती है। किसी वस्तु से निवृत्त होने के लिए उससे निवृत्त होने वालों को अपने समस्त उपस्थित करने की एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता है। जब तक कोई महान् आदर्श साधक के सामने उपस्थित न हो तब तक उसका किसी वस्तु से निवृत्त होना कठिन है।

हाँ तो, सावद्य योग से निवृत्त होने का उपदेश कौन देते हैं ? सावद्य योग की निवृत्ति किन के जीवन में पूर्णतया उतरी है ? समभाव रूप सामायिक के संसार में कौन सब से बड़े प्रतिनिधि हैं ? आध्यात्मिक-साधना-क्षेत्र पर नजर दौड़ाने के बाद उत्तर है कि 'तीर्थंकर भगवान्, वीरराग देव !

१ जिस साधना के द्वारा संसारसागर पार किया जाता है, वह तीर्थ है। 'संसार-सागरं तरन्ति येन तत्तीर्थम्।' —नन्दीसूत्र-वृत्ति।

तीर्थ धर्म को कहते हैं, अतः जो धर्म का आदिकर्ता है, प्रवर्तक है, वह तीर्थंकर है। 'तीर्थमेव धर्मः, तस्यादिकर्तारस्तीर्थंकराः।'

—आवश्यक-चूर्णि।

यह चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक, जिसका दूसरा नाम अनुयोग द्वार सूत्र में उल्लेखित भी है; सामायिक साधना के लिए आलम्बन स्वरूप है। चौरीस तीर्थंकर, जो कि त्याग वैराग्य के, संयम-साधना के महान् आदर्श हैं, उनकी स्तुति करना, उनके गुणों का कीर्तन करना, चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक कहलाता है।

तीर्थंकर देवों की स्तुति से साधक की महान् आध्यात्मिक बल मिलता है, साधना का मार्ग प्रशस्त होता है, जड़ एव मृत शब्दा सजीव एवं स्फूर्तिमयी होनी है, त्याग तथा वैराग्य का महान् आदर्श आँखों के सामने देदी यमान हो उठता है।

तीर्थंकरों की भक्ति के द्वारा साधक अपने औद्धत्य तथा अहंकार का नाश करता है, सद्गुणों के प्रति अनुयोग की वृद्धि करता है, फलतः प्रशस्त भावों की, कुशल परिणामों की उपलब्धि करके सन्तित कर्मों को उन्नी प्रकार नष्ट कर देता है, 'विभिन्न प्रकार अग्नि की नन्दी-णी जलती'।

वर्तमान काल चक्र में भगवान् शृंगभेदेन से लेकर भगवान् महा-वीर पर्यन्त चौरीस तीर्थंकर हुए हैं। चतुर्विंशतिस्तव के लिए आवश्यक 'लोगस्त उगजोबगरे' नामक स्तुति पाठ का प्रयोग किया जाता है।

१. आचार्य रुद्रमाहु स्वामी ने कहा है—

'भक्तीह निष्पराधं, तिग्मंती पुण्यसंधिया कम्मा ।'

—आवश्यक-नियुक्ति, १०७६

पाप-पराध को पुत्र कपणो भक्ति,

मानो मेह चाकारी ।

से तुम नाम दुताशन संती,

सहन ही प्रज्जल सारो ।

पद्मप्रभु पावन नाम निहारो ॥

—विपिनचन्द्र चौरीजी ।

हुई चिनगारी घास के ढेर को भस्म कर डालती है। कर्मों का नाश हो जाने के बाद आत्मा जब पूर्ण शुद्ध निर्मल हो जाता है, तब वह भक्त की कोटि से भगवान की कोटि में पहुँच जाता है। जैन-धर्म का आदर्श है कि प्रत्येक आत्मा अपने अन्तरंग स्वरूप की दृष्टि से परमात्मा ही है, भगवान् ही है। यह कर्म का, मोहमाया का परदा ही आत्माओं के अखण्ड तेज को अवरुद्ध किए हुए है। जब यह परदा उठा दिया गया तो फिर कुछ भी अन्तर नहीं रहता।

शुद्ध हो सकती है कि तीर्थंकर वीतराग देवों के स्मरण तथा स्तुति से हम पापों के बन्धन कैसे काट सकते हैं? किस प्रकार आत्मा से परमात्मा के पद पर पहुँच सकते हैं? शंका जितनी गूढ़ है, उतनी ही आनन्दप्रद भी है। आप देखते हैं बालक नंगे सिर गली में खेल रहा है। वह अपने विचारों के अनुसार जिस बालक को अच्छा समझता है, जिस खेल को ठीक जानता है, उसी का अनुकरण करने लगता है। दूसरे बच्चों को जो कुछ करते देखता है, उसी ओर उसके हाथ पैर भी चंचल हो उठते हैं। बालक बड़ा हुआ, पाठशाला गया, वहाँ अपने सहपाठियों में से किसी को आदर्श विद्यार्थी जान कर उसका अनुकरण करने लगता है। यह देखी हुई बात है कि छोटी श्रेणियों के लिए बड़ी श्रेणियों के विद्यार्थी आचार-व्यवहार में नेता होते हैं। आगे चल कर बड़े लड़कों के लिए उनके अध्यापक आदर्श बनते हैं। मनुष्य, बिना किसी मानसिक आदर्श के क्षण भर भी नहीं रह सकता। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन, मानसिक आदर्शों के प्रति ही गतिशील है, और तो क्या मरते समय भी मनुष्य के जैसे संकल्प होते हैं वैसी ही गति आगे मिलती है। यह लोकोक्ति अक्षरशः सत्य है कि मनुष्य जैसा सोचता है वैसा ही बन जाता है। 'अद्वयमयोऽयं पुरुष यो यच्छुद्धः स एव सः।' हाँ तो, इसी प्रकार उपासक भी अपने अन्तर्हृदय में यदि त्यागमूर्ति तीर्थंकर देवों का स्मरण करेगा तो अवश्य ही उसका आत्मा भी अपूर्व अलौकिक त्याग-प्रेम की भावनाओं से आलोकित हो

पठना । आध्यात्मिक शक्तिशाली महान् आत्माया का स्मरण करना, स्तुत आध्यात्मिक जल व लाल ए अग्नी आत्मा व मित्राड खोल देना है । तीर्थंकर देन ज्ञान की अगार ज्योति से ज्योतिर्मय हैं, जो भी साधक इनके पास आध्यात्मा, इन्हें स्मृति में लायगा, वह अवश्य ज्योतिर्मय बन जायगा । संसार की मोह माया का अन्धकार टसक निरुद्ध कदापि कथ मणि नहीं पत्तक सकेगा । 'वाहशी इष्टि स्ताहशी सृष्टिः ।'

मगवत्स्तुति अंतःकरण का स्नान है । उससे हम स्फूर्ति, परिकृता और जल मिलता है । मगवत्स्तुति का अर्थ है उच्च नेयमों, सद्गुणों एव उच्च आदर्शों का स्मरण ।

एक बात यहाँ स्पष्ट करने योग्य है । वह यह कि जैन धर्म वैज्ञानिक धर्म है । उसमें काल्पनिक आदर्शों के लिए ज़रा भी स्थान नहीं है । अतः यहाँ प्रार्थना का लम्बा खीझ जान नहीं बिछा हुआ है । और न जैन धर्म का विश्वास ही है कि कोई महापुरुष किसी को कुछ दे सकते हैं । हम महापुरुषों को केवल निमित्त मात्र मानते हैं । उनसे हम केवल अध्यात्मिक विनाश के लिए प्रेरणा मिलती है । ऐसा नहीं होना कि हम स्वयं कुछ न करें और केवल प्रार्थना से सन्तुष्ट परमात्मा हमें अभीष्ट सिद्धि प्रदान कर दें । जो लोग मगवान् व सामने गिडगिड़ा कर प्रार्थना करते हैं कि—'मगवान् ! हम पापी हैं, दुष्टाचारी हैं, नू हमारा उद्धार कर, तेरे बिना हम क्या करें ?' वे जैन धर्म के प्रति निवि नहीं हो सकते । स्वयं उठने का यत्न न करके परल मगवान् से उठने की प्रार्थना करना सर्वथा निरर्थक है । इस प्रकार की विनोदपूर्ण प्रार्थनाओं ने तो मानव जाति को सब प्रकार से हीन, दीन एव नय सक बना दिया है । सदाचार की मर्यादा को ऐसी प्रार्थनाओं से बहुत गहरा धक्का लगा है । हजारों लोग इन्हीं प्रार्थनाओं के भरोसे परमात्मा को अगना भारी उद्धारक समझ कर मोन मनाते रहने हैं और कभी भी स्वयं पुनर्भाव व भरोसे सदाचार के पथ पर अग्रसर नहीं होते । अतएव जैन धर्म निराननक साधना पर जोर देता है । वह मगवान् के स्मरण को

बहुत ऊंची चीज मानता है, परन्तु उसे ही सब कुछ नहीं मानता । जैन धर्म की दृष्टि में भगवत्स्तुति हमारी प्रमुख अन्तर चेतना को जाग्रत करने के लिए सहकारी साधन है । हम स्वयं सदान्वार के पथ पर चल कर उसे जगाने का प्रयत्न करते हैं । श्रीर भगवान की स्तुति हमें आदर्श प्रदान कर प्रेरणास्वरूप बनती है ।

जैन-धर्म के सुप्रसिद्ध विद्वान आचार्य जिनदास गग्गी ने इस सम्बन्ध में स्पष्टतः कहा है कि—केवल तीर्थकर देवों की स्तुति करने मात्र से ही मोक्ष एवं समाधि आदि की प्राप्ति नहीं होती है । भक्ति एवं स्तुति के साथ-साथ तप एवं संयम की साधना में उद्यम करना भी अतीव आवश्यक है ।

‘न केवलापि तिथ्यगरत्थुतीष पृताणि (आरोग्यादीणि) लब्धमिति, किंतु तत्र-संजमुज्जमेण ।

—आवश्यक चूर्णि



: १४ :

वन्दन आवश्यक

देव के नाद गुरु का नम्र है । तीर्थंकर देवों के गुणों का उत्कीर्तन करने के नाद अब साधक 'गुरुदेव' को वन्दन करने की ओर मुक्तता है । गुरुदेव को वन्दन करने का अर्थ है—गुरुदेव का स्तवन और अभिनादन ।^१ मन, वचन, और शरीर का वह प्रशस्त व्यापार, जिस के द्वारा गुरुदेव के प्रति भक्ति और बहुमान प्रकट किया जाता है, वन्दन कहलाता है । प्राचीन आवश्यक नियुक्ति आदि ग्रन्थों में वन्दन के चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजाकर्म आदि पर्याय प्रसिद्ध हैं ।

१—संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में 'गुरु' भारी को कहते हैं, अतः जो अपने से ज्ञहिंसा, सत्य आदि महाव्रतरूप गुणों में भारी हो, वजनदार हो, वह सर्व विरति साधु, भले वह स्त्री हो या पुरुष, गुरु कहलाता है । इस कोटि में गणधर से लेकर सामान्य साधु साध्वी सभी समी जनो का अन्तर्भाव हो जाता है ।

आचार्य हेमचरित ने कहा है कि जो सत्य धर्म का उपदेश देता है, वह गुरु है । 'गुणानि-कथयति सद्धर्मतत्त्व' स गुरुः ।^२ तीर्थंकर देवों के नीचे गुरु ही सद्धर्म का उपदेश है ।

२ 'वदि' अभिवानस्तुयोः, इति कायेन अभिनादने वाचा स्तवने ।^३

—आवश्यक चूर्ति

वन्दन आवश्यक की शुद्धि के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि वन्दनीय कैसे होने चाहिए ? वे कितने प्रकार के हैं ? अथवा अवन्दनीय कौन हैं ? अवन्दनीय लोगों को वन्दन करने से क्या दोष होता है ? वन्दन करते समय किन-किन दोषों का परिहार करना जरूरी है ? जब तक साधक उपर्युक्त विषयों की जानकारी न कर लेगा, तब तक वह कथमपि वन्दनावश्यक के फल का अधिकारी नहीं हो सकता ।

मानव मस्तक बहुत उत्कृष्ट वस्तु है । वह व्यर्थ ही हर किसी के चरणों में रगड़ने के लिए नहीं है । सबके प्रति नम्र रहना और चीज है, और पूज्य समझ कर सर्वात्मना आत्मसमर्पण कर वन्दना करना, दूसरी चीज है । जैनधर्म गुणों का पूजक है । वह पूज्य व्यक्ति के सद्व्युत्पन्न देख कर ही उसके आगे शिर झुकाता है । आध्यात्मिक क्षेत्र की तो बात दूसरी है । यहाँ जैन इतिहास में तो साधारण सांसारिक गुणहीन व्यक्ति को वन्दन करना भी पाप समझा जाता है । असंयमी को, पतित को वन्दन करने का अर्थ है—पतन को और अधिक उत्तेजन देना । जो समाज इस दिशा में अपना विवेक खो देता है, वह पापाचार, दुराचार को निमंत्रण देता है । आचार्य भद्रबाहु आवश्यक नियुक्ति में कहते हैं कि—‘जो मनुष्य गुणहीन अवन्त व्यक्ति को वन्दन करता है, न तो उस के कर्मों की निर्जरा होती है और न कीर्ति ही । प्रत्युत असंयम का, दुराचार का अनुमोदन करने से कर्मों का बन्ध होता है । वह वन्दन व्यर्थ का कायक्लेश है ।’

पासत्थाई वंदमाणस्स

नेव किन्ती न निज्जरा होई ।

काय-किलेसं एमेव

कुण्णं तह कम्मबंधं च ॥११०८॥

अवन्त को वन्दन करने से वन्दन करने वाले को ही दोष होता है और वन्दन कराने वाले को कुछ पाप नहीं लगता, यह बात नहीं है । आचार्य भद्रबाहु स्वामी आवश्यक नियुक्ति में कहते हैं—कि—यदि

अवन्दनीय व्यक्ति गुणी पुण्यों द्वारा वन्दन कराता है तो वह असयम में और भी वृद्धि करके अपना अधःपतन करता है ।^१

जैन धर्म के अनुसार द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के चारित्र्य से संपन्न त्यागी, विरागी आचार्य, उपाध्याय, स्थावर एवं गुरु देव आदि ही वन्दनीय हैं । इन्हीं को वन्दना करने से मध्य साधक अपना आत्मक-त्याग कर सकता है, अन्यथा नहीं । साधक के लिए वही आदर्श उपयोगी हो सकता है जो गृह में भी पवित्र एवं महान हो और अन्दर में भी । न केवल बाह्य जीवन की पवित्रता साधारण साधकों के लिए अपने जीवन-निर्माण में आदर्श रूपेण सहायक हो सकती है, और न केवल अंतरंग पवित्रता एवं महत्ता ही । साधक को तो ऐसा गुरुदेव चाहिए, जिस का जीवन निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से पूर्ण हो । आचार्य भद्रबाहु स्वामी आवश्यक नियुक्ति की ११३८ वीं गाथा में इस सम्बन्ध में मुद्रा अर्थात् सिकके की चतुर्भेगी का बहुत ही महत्वपूर्ण एवं संगत दृष्टान्त देते हैं:—

(१) चाँदी यद्यपि शुद्ध हो, किन्तु उस पर गृह ढीक न लगी होता वह सिका प्राज्ञ नहीं होगा । इसी प्रकार भाव चारेण से युक्त किन्तु द्रव्य लिङ्ग से रहित प्रत्येक बुद्ध आदि मुनि साधकों के द्वारा वन्दनीय नहीं होते ।

१—जे बंभवेर - भट्टा,

पाए उड्डति बंभयारीण ।

ते होति कुंठ मुंटा,

योही य मुदुल्लहा तेसि ॥११०६॥

—आवश्यक नियुक्ति

—जो पार्श्वस्थ आदि व्रतार्च्य अर्थात् सयम से भ्रष्ट हैं, परन्तु अपने को गुरु कहलाते हुए सदाचारी सज्जनों से वन्दन कराते हैं, वे अगले जन्म में अपंग, रोगी, ढूँट भूँट होते हैं, और उनको धर्ममार्ग का मिलना असम्भव पड़ता है ।

(१) जिस सिक्के पर मुहर तो ठीक लगी हो, परन्तु मूलतः चाँदी अशुद्ध हो, वह सिक्का भी ग्राह्य नहीं माना जाता; उसी प्रकार भाव-चारित्र्य से हीन केवल द्रव्य लिङ्गी साधु, वस्तुतः कुसाधु ही हैं, अतः वे साधक के द्वारा सर्वथा अवन्दनीय होते हैं। मूल ही नहीं तो व्याज कैसा ? अन्तरङ्ग में भावचारित्र्य के होने पर ही बाह्य द्रव्य किया काण्ड एवं वेप आदि उपयोगी हो सकते हैं, अन्यथा नहीं।

(२) जिस सिक्के की चाँदी भी अशुद्ध हो और मुहर भी ठीक न हो, वह सिक्का तो बाजार में किञ्चित् भी आदर नहीं पाता, प्रत्युत दिखाते ही फेंक दिया जाता है, उसी प्रकार जो व्यक्ति न भावचारित्र्य की साधना करता हो और न बाह्य की ही, वह भी आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में आदरणीय नहीं माना जाता।

(४) जिस सिक्के की चाँदी भी शुद्ध हो, और उस पर मुहर भी बिल्कुल ठीक लगी हो, वह सिक्का सर्वत्र अव्याहत गति से प्रसार पाता है, उसका कहीं भी निरादर तथा तिरस्कार नहीं होता। इसी प्रकार जो मुनि द्रव्य तथा भाव दोनों प्रकार के चारित्र्य से सम्पन्न हों, जो अपनी आत्मसाधना के लिए अन्दर तथा बाहर से एकरूप हों, वे मुनि ही साधना-जगत में अभिवन्दनीय माने गये हैं। उन्हीं से साधक कुछ आत्म कल्याण की शिक्षा ग्रहण कर सकता है। वन्दन आवश्यक की साधना के लिए ऐसे ही गुरुदेवों को वन्दन करने की आवश्यकता है।

सुदृढ तरं नासंती

अप्याणं जे चरित्तपब्भट्ठा ।

गुरुजण वंदाविंती

सुसमण जहुत्तकारिं च ॥१११०॥

—आवश्यक नियुक्ति

—जो चारित्र्यभ्रष्ट लोग अपने को यथोक्तकारी, गुणश्रेष्ठ साधक से वन्दन कराते हैं और सद् गुरु होने का दावा रखते हैं, वे अपनी आत्मा को सर्वथा नाश कर डालते हैं।

‘वन्दन आवश्यक का यथाविधि पालन करने से विनय की प्राप्ति होती है, अहंकार अर्थात् गर्व का (आत्म गौरव का नहीं) नाश होना है, उच्च आदर्शों की भोंसी का स्पष्टतया भान होना है, गुरुजनों का पूजा होती है, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन होना है, और भुक्त धर्म की आराधना होती है। यह भुक्त धर्म की आराधना आत्मशक्तियों का क्रमिक विनाश करती हुई अन्तर्भावस्था मोक्ष का कारण बनती है। भगवती सूत्र में प्रस्तावित गया है कि—‘गुरुजनों का सतसम करने से शास्त्र श्रवण का लाभ होता है, शास्त्र श्रवण से ज्ञान होता है, ज्ञान से विज्ञान होता है, और फिर क्रमशः प्रत्याख्यान, संयम, अनाधन, तप, कर्मनाश, अनिया अथवा सिद्धि का लाभ होता है।’

सबणें खाणें य विखाणें,

पञ्चधराणें य संजने ।

अणणहण

तवे

चेव,

बोटाणें अकिरिया सिद्धी ॥

—[भग० २।५।११२]

गुरु वन्दन की क्रिया बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है। साधक को इस आत्म उदासीन भाव न रखना चाहिए। मन के कण-कण में मातृ भावना का निमल स्रोत बहाये बिना वन्दन द्रव्य वन्दन हो जाता है, और वह साधक के जीवन में किसी प्रकार की भी उत्थान्ति नहीं ला सकता। जिस वन्दन की पृष्ठ भूमि में भय हो, लज्जा हो, संसार का कोई स्वार्थ हो वह कभी-कभी आत्मा का इतना पतन करता है कि कुछ पूछिए नहीं।

१—विणओवयार माणस्त

भंजणा पूयणा गुरुजणस्स ।

तित्थयराण

य

आणा,

मुयधम्मागाहणा ऽ रिरिया ॥

—आवश्यक नियुक्ति १२१५ ॥

इसी लिए द्रव्य वन्दन का जैन धर्म में निषेध किया गया है। पवित्र भावना के द्वारा उपयोग पूर्वक किया गया भाव वन्दन ही तीसरे आवश्यक का प्राण है। आचार्य मलयगिरि आवश्यक वृत्ति में द्रव्य और भाव-वन्दन की व्याख्या करते हुए कहते हैं—‘द्रव्यतो मिथ्यादृष्टेरनुप-युक्त सम्यग्दृष्टेश्च, भावतः सम्यग्दृष्टेरुपयुक्तस्य।’

आचार्य जिनदास गणी ने आवश्यक चूर्णि में द्रव्य वन्दन और भाव वन्दन पर दो कथानक दिए हैं। एक कथानक भगवान् अरिष्ट नेमि का समय है। भगवान् नेमि के दर्शनों के लिए वासुदेव कृष्ण और उनके भिन्न वीरककौलिक पहुँचे। श्री कृष्ण ने भगवान् नेमि और अन्य साधुओं को बड़े ही पवित्र भङ्गा एवं उच्च भावों से वन्दन किया। वीरककौलिक भी श्रीकृष्ण की देखा देखी उन्हें प्रसन्न करने के लिए पीछे-पीछे वन्दन करता रहा। वन्दन फल के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् नेमि ने कहा कि ‘कृष्ण! तुमने भाव वन्दन किया है, अतः तुमने ज्ञायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया है और तीर्थंकरगोत्र की शुभ प्रकृति का बन्धन भी तोड़ दिया है। परन्तु वीरक ने देखा देखी भावना शून्य वन्दन किया है, अतः उसका वन्दन द्रव्यवन्दन होने से निष्फल है। उसका उद्देश्य तुम्हें प्रसन्न करना है, और कुछ नहीं।’

दूसरा कथानक भी इसी युग का है। श्री कृष्णचन्द्र के पुत्रों में से शाम्भ और पालक नामक दो पुत्र वन्दना के इतिहास में सुविश्रुत हैं। शाम्भ बड़ा ही धर्म श्रद्धालु एवं उदार प्रकृति का युवक था। परन्तु पालक बड़ा ही लोभी एवं अभव्य प्रकृति का स्वामी था। एक दिन प्रसंगवश श्रीकृष्ण ने कहा कि ‘जो कल प्रातः काल में सर्व प्रथम भगवान् नेमिनाथ जी के दर्शन करेगा, वह जो माँगेगा, दूँगा।’ प्रातः काल होने पर शाम्भ ने जागते ही शय्या से नीचे उतर कर भगवान् को भाववन्दन कर लिया। परन्तु पालक राज्य लोभ की मूर्छा से थोड़े पर संभार होकर जहाँ भगवान् का समवेसरण था वहाँ गये।

लिए पहुँचा। ऊपर से वन्दन करता रहा, किन्तु अन्दर में आदोष की आग जल रही थी। सूर्योदय के पश्चात् श्रीगुरु ने पूछा कि 'भगवान् ! आज आप को पहले वन्दना किसने की ? भगवान् ने उत्तर दिया— 'द्रव्य से पालक ने और भाव से शास्त्र ने।' उपहार शास्त्र को प्राप्त हुआ।

पाठक उक्त कथानकों पर से द्रव्य वन्दन और भाव वन्दन का अन्तर समझ गए होंगे। द्रव्य वन्दन अव्यक्त है तो भाववन्दन प्रकाश है। भाववन्दन ही आत्मशुद्धि का मार्ग है। केवल द्रव्य वन्दन तो अभव्य भी कर सकता है। परन्तु अनेक द्रव्य वन्दन से होता क्या है ? द्रव्य-वन्दन में जतक भाव का प्राण न डाला जाय तब तक आवश्यकशुद्धि का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकता।

वन्दन क्रिया का उद्देश्य करने में नम्रता का भाव प्राप्त करना है। जैनधर्म के अनुसार अहंकार नीच गोत्र का कारण है और नम्र। उच्च गोत्र का। वस्तुतः जो नम्र है, सबों का आदर करते हैं, उद्गुणों के प्रति बहुतमान रखते हैं, वे ही उच्च हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं। जैनधर्म में विनय एवं नम्रता को तब कहा है। विनय जिनशासन का मूल है— 'विणमो जिणसासणमूलं।' आचार्य भद्रबाहु ने आश्रय नियुक्ति में कहा है कि— 'जिनशासन का मूल विनय है। विनीत साधक ही सच्चा तपवीर होता है। जो विनय से हीन है, उसको केना धर्म और केना तप ?'

विणमो सासणे मलं,

विणीमो संजमो भवे।

विणयाउ विण्णुक्कस्स,

कथो धम्मो कथो तपो ?॥

—आवश्यक नियुक्ति, १२१६

दशवैमलिक सूत्र में भी विनय का बहुत अधिक गुणगान किया गया है। एक समूचा अध्याय ही इस विनय के सम्भीर प्रतिपादन।

लिए रक्खा गया है। विनयाध्ययन में वृक्ष का रूपक देते हुए कहा है कि—‘जिस प्रकार वृक्ष के मूल से स्कन्ध, स्कन्ध से शाखाएँ, शाखाओं से प्रशाखाएँ, और फिर क्रम से पत्र, पुष्प एवं फल उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार धर्म वृक्ष का मूल विनय है और उसका अन्तिम फल मोक्ष है।’

एवं धम्मस्स विणञ्चो,

मूलं परमो से मोक्खो ।

जेण कित्ती सुयं सिग्घं,

निस्सेसं चाभिगच्छइ ॥

: १५ :

प्रतिक्रमण आवश्यक

जो पात्र मन से, वचन से और वाय से स्वयं किए जाते हैं, दूसरों से कराए जाते हैं, एवं दूसरों के द्वारा किए हुए पात्रों का अनुभादन किया जाता है, इन सब पात्रों की निवृत्ति के लिए, कृत पात्रों की आलोचना करना, निन्दा करना प्रतिक्रमण है।

प्राचीन जैन-परम्परा के अनुगार प्रतिक्रमण का व्याकरणमन्त्र निरचन है कि—‘प्रतीः क्रमणं प्रतिक्रमणम्, अयमर्थः—शुभयोगे -
ज्योःशुभयोगान्तरं क्रान्तस्य शुभेषु पृथ क्रमणात्प्रतीः क्रमणम्।’
आचार्य हेमचन्द्र ने योग शास्त्र के तृतीय प्रकाश की स्वोक्त वृत्ति में यह व्युत्पत्ति की है। इसका भाव यह है कि—शुभयोगों से अशुभ योगों में गए हुए अन्ते-आप्तको पुनः शुभयोगों में लौटा लाना, प्रतिक्रमण है।

आचार्य हरिभद्र ने भी आवश्यक सूत्र की टीका में प्रतिक्रमण की व्याख्या करते हुए तीन महत्वपूर्ण प्राचीन श्लोक कथन किए हैं—

स्वस्थानाद् यत्परस्थान,

प्रमादस्य वशाद् गत ।

तत्रैव क्रमणं भूयः

प्रतिक्रमणमुच्यते ॥

—प्रमादवशः शुभ योग से गिर कर अशुभयोग को प्राप्त करने के बाद फिर से शुभयोग को प्राप्त करना, प्रतिक्रमण है।

ज्ञायोपशमिकाद् भावादौदयिकस्य वशं गतः ।

तत्रापि च स एवार्थः, प्रतिकूलगमात्स्मृतः ॥

रागद्वेषादि औदयिक भाव संसार का मार्ग है और समता, जमा, दया, नम्रता आदि ज्ञायोपशमिक भाव मोक्ष का मार्ग है। अस्तु, ज्ञायोपशमिक भाव से औदयिक भाव में परिणत हुआ साधक जब पुनः औदयिक भाव से ज्ञायोपशमिक भाव में लौट आता है, तो यह भी प्रतिकूल गमन के कारण प्रतिक्रमण कहलाता है।

प्रति प्रति वर्तनं वा, शुभेषु योगेषु मोक्षफलदेषु ।

निः शल्यस्य यतैर्यत्, तद्वा ज्ञेयं प्रतिक्रमणम् ॥

—अशुभयोग से निवृत्त होकर निःशल्य भाव से उत्तरोत्तर प्रत्येक शुभ योग में प्रवृत्त होना ही प्रतिक्रमण है।

साधना क्षेत्र में मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और अप्रशस्त योग ये चार दोष बहुत भयंकर माने गए हैं। प्रत्येक साधक को इन चार दोषों का प्रतिक्रमण करना आवश्यक है। मिथ्यात्व को छोड़ कर सम्यक्त्व में आना चाहिए, अविरति को त्याग कर विरति को स्वीकार

१—मिथ्यात्व प्रतिक्रमण का यह भाव है कि—‘ज्ञातं वा अज्ञातं रूपं यदि कभी मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया हो, मिथ्यात्व में परिणति की हो तो उसकी आलोचना कर पुनः शुद्ध सम्यक्त्व भाव में उपस्थित होना ।’

आचार्य भद्रबाहु ने १२५१ वीं गाथा में संसार प्रतिक्रमण का भी उल्लेख किया है, उसका यह भाव है—‘नरकादि गति के कारण-भूत महारंम आदि हेतुओं की आलोचना निन्दा गर्हणा करना ।’ कुमनुष्य और कुदेव गति के हेतुओं की आलोचना ही करणीय है, शुभ मनुष्य और शुभ देवगति के हेतुओं की नहीं। क्योंकि विनयादि गुण हेतु नहीं हैं। ‘नवरं शुभनरामरायुर्हेतुभ्यो मायाधनासेवनादिलक्षणेभ्यो निराशंसेनैव अपवर्गाभिलाषिणापि न प्रतिक्रान्तव्यम् ।’

कना चाहिए, कर्माय का परिहार कर दाना आदि धारण करना चाहिए, और संसार की वृद्धि करने वाले अशुभ व्यापारों को छोड़ कर शुभ योगों को धनाना चाहिए:—

मिच्छत-पट्टिकमणं,

सहेय असंजमे य पट्टिकमणं ।

कसायाण पट्टिकमणं,

ओगाण य अपसत्थाणं ॥१२५०॥

—आचर्यक नियुक्ति

आचार्य भद्रबाहु स्वामी, आचर्यक नियुक्ति में प्रतिज्ञमण के सम्बन्ध में बहुत गम्भीर विचार धारा उपरिपत करते हैं। उन्होंने साधक के लिए चार विषयों का प्रतिज्ञमण बतलाया है। आचार्यभी के ये चार कारण एवम दृष्टि से चिन्तन करने योग्य हैं—

(१) हिता, असत्य आदि जिन पाप कर्मों का आवक तथा साधु के लिए प्रतिषेध किया गया है, यदि कभी भ्रान्तिवश वे कर्म कर लिए जायें तो प्रतिज्ञमण करना चाहिए।

(२) शुभ स्वध्याय, प्रतिशेखना, सामायिक आदि जिन कार्यों के करने का शास्त्र में विधान किया है, उनके न किए जाने पर भी प्रतिज्ञमण करना चाहिए। कर्तव्य कर्मों को न करना भी एक पाप ही है।

(३) शास्त्र प्रतिपादित आत्मादि तत्त्वों की सत्यता के विषय में सन्देह लाने पर, अर्थात् अश्रद्धा उत्पन्न होने पर प्रतिज्ञमण करना चाहिए। यह मानसिक शुद्धि का प्रतिज्ञमण है।

(४) आगमभिरुद्ध विचारों का प्रतिपादन करने पर, अर्थात् हिता आदि के समर्थक विचारों की प्रवृत्ति काने पर भी अचर्य प्रतिज्ञमण करना चाहिए। यह वचन शुद्धि का प्रतिज्ञमण है।

पडिसिद्धाणं करणे,

किञ्चाणमकरणे पडिक्कमणं ।

असद्दहणे य तथा,

विचरीयपरुवणाए

अ ॥ १२६८॥

सामान्यरूप से प्रतिक्रमण दो प्रकार का है—द्रव्य प्रतिक्रमण और भाव प्रतिक्रमण । मुमुक्षु साधकों के लिए भाव प्रतिक्रमण ही उपादेय है, द्रव्य प्रतिक्रमण नहीं । उपयोग शून्य प्रतिक्रमण, द्रव्य प्रतिक्रमण है । इसी प्रकार केवल यश आदि के लिए दिखावे के रूप में किया जाने वाला प्रतिक्रमण भी द्रव्य प्रतिक्रमण ही है । दोषों का एक बार प्रतिक्रमण करने के बाद पुनः-पुनः उन दोषों का सेवन करना और फिर उन दोषों की शुद्धि के लिए बराबर प्रतिक्रमण करते रहना, यथार्थ प्रतिक्रमण नहीं माना जाता । इस प्रकार के प्रतिक्रमण से आत्म-शुद्धि होने के बदले धृष्टता द्वारा दोषों की वृद्धि ही होती है, न्यूनता नहीं । जो साधक बार-बार दोष सेवन करते हैं और फिर बार-बार उनका प्रतिक्रमण करते हैं, उनकी स्थिति ठीक उस जुल्लक साधू जैसी है—जो कंकर का निशाना मार कर बार बार कुम्हार के चाक से उतरते हुए कच्चे वर्तनों को फोड़ता था और कुम्हार के कहने पर बार-बार 'मिच्छामि दुक्कड़' कह कर क्षमा माँग लेता था । अस्तु, संयम में लगे हुए दोषों की सरल भावों से प्रतिक्रमण द्वारा शुद्धि करना, और भविष्य में उन दोषों का सेवन न करने के लिए सतत जागरूक रहना ही प्रतिक्रमण का वास्तविक उद्देश्य है । प्रतिक्रमण का अर्थ है पापों से भीति रखना । यदि पापों से डर ही नहीं हुआ, आत्मा पहले की भौंति ही स्वच्छन्द दोषों की ओर प्रभावित होता रहा तो फिर वह प्रतिक्रमण ही क्या हुआ ? भावप्रतिक्रमण त्रिविधं त्रिविधेन होता है, अतः उसमें दोष-प्रवेश के लिए अणुमात्र भी अवकाश नहीं रहता । पापाचरण का सर्वथा भावेन प्रायश्चित्त हो जाता है, और आत्मा पुनः अपनी शुद्ध स्थिति में पहुँच जाता है । भाव प्रतिक्रमण के लिए

आचार्य जिनका कहते हैं—‘मायपक्षिकमण अ मम्मदसशाहपुण्यमुत्तम पक्षिकमणं ति ।’ आचार्य भद्रबाहु कहते हैं—

माध-पक्षिकमणं पुण,
विपिह विपिहेण नेय-व ॥१२५१॥

आचार्य हरिभद्र ने उक्त निवृत्ति गाथा पर विवेचन करते हुए एक गाथा उद्धृत की है, जिसका यह भाव है कि मन, वचन एवं कार से मिथ्यात्व, कषाय आदि दुर्भागों में न रण्य गमन करना, न दूसरों को गमन कराना, न गमन करने वाला का अनुमोदन करना ही भाव प्रतिश्रमण है ।

“मिच्छत्ताइ ए गच्छइ,
ए य गच्छावेइ गोगुंजाणेंड ।

अ मख वय - काण्हि,

त भणिय भावपक्षिकमण ॥”

आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक निवृत्ति में काल के भेद से प्रतिश्रमण तीन प्रकार का बताया है —

- (१) भूत काल में लगे हुए दोषों की आलोचना करना ।
- (२) वर्तमान काल में लगने वाले दोषों से संरक्षित रहना ।
- (३) भविष्यकाल में आने वाले दोषों को अवरुद्ध करना ।

उत्सृज्य प्रतिश्रमण की विरल विषयता पर ध्यान है कि—प्रतिश्रमण तो भूतकालिक माना जाता है, यह निकालविषयक कैसे हो सकता है ? उत्तर में निवेदन है कि प्रतिश्रमण शब्द का मौलिक अर्थ अशुभ योग की निवृत्ति है । आचार्य हेमचन्द्र योगशास्त्र की खोज में यही भाव व्यक्त करते हैं—“प्रतिश्रमण शब्दोऽशुभयोग निवृत्तिम आर्षः ।” अस्तु निन्दा द्वारा भूतकालिक अशुभयोग की निवृत्ति होती है, अतः यह अतीत प्रतिश्रमण है । संरक्ष के द्वारा वर्तमान कालविषयक अशुभयोगों की निवृत्ति होती है, अतः यह वर्तमान प्रतिश्रमण है ।

प्रत्याख्यान-के द्वारा भविष्यकालीन अशुभ योगों की निवृत्ति होती है अतः यह भविष्यकालीन प्रति क्रमण माना जाता है ।^१ भगवती सूत्र में भी कहा है “अइयं पडिक्कमेइ, पडुप्पन्नं संवरेइ, अणागयं पच्चक्खाइ ।”

विशेषकाल की अपेक्षा से प्रतिक्रमण के पाँच भेद भी माने गए हैं—‘दैवसिक, रात्रिक पाक्षिक, चातुर्मासिक, और सांवत्सरिक ।

(१) दैवसिक—प्रतिदिन सायंकाल के समय दिन भर के पापों की आलोचना करना ।

(२) रात्रिक—प्रतिदिन प्रातःकाल के समय रात्रि भर के पापों की आलोचना करना ।

(३) पाक्षिक—महीने में दो बार अमावस्या और पूर्णिमा के दिन पक्ष भर के पापों की आलोचना करना ।

(४) चातुर्मासिक—चार चार महीने के बाद कार्तिकी पूर्णिमा, फाल्गुनी पूर्णिमा, आपाढ़ी पूर्णिमा को चार महीने भर के पापों की आलोचना करना ।

(५) सांवत्सरिक—प्रत्येक वर्ष प्रतिक्रमणकालीन आपाढ़ी पूर्णिमा से पचास दिन बाद भाद्रपदशुक्ला पंचमी के दिन वर्ष भर के पापों की आलोचना करना ।

एक प्रश्न है कि जब प्रतिदिन प्रातः सायं दो बार तो प्रतिक्रमण हो ही जाता है, फिर ये पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण क्यों किए जाते हैं ? दैवसिक और रात्रिक ही तो अतिचार होते हैं, और उनकी शुद्धि प्रतिदिन दैवमिक तथा रात्रिक प्रतिक्रमण के द्वारा हो ही जाती है ?

—१—प्रतिक्रमण—शब्दो हि अत्राशुभयोगनिवृत्तिमात्रार्थः

सामान्यतः परिगृह्यते, तथा च सत्यतीतविषयं प्रतिक्रमणं निन्दाद्वारेण अशुभयोग निवृत्तिरेवेति, प्रत्युत्पन्नविषयमपि संवरद्वारेण अशुभयोग निवृत्तिरेव, अनागतविषयमपि प्रत्याख्यानद्वारेण अशुभयोगनिवृत्तिरेवेति न दोष इति ।

—आचार्य हम्पिद्र

प्रश्न सुदूर है। उत्तर में निवेदन है कि 'गृहस्थ लोग प्रति दिन अपने घरों में भाहू लगाते हैं और कूड़ा साफ करते हैं। परन्तु कितनी ही सावधानी से भाहू दी जाय, फिर भी थोड़ी गंदहूत धून रह ही जाती है, जो किसी विशेष पर्व अर्थात् स्नोहार आदि के दिन साफ की जाती है। इसी प्रकार प्रति दिन प्रतिगमन करते हुए भी कुछ भूलों का प्रमार्जन करना बाकी रह ही जाना है, जिसके लिए पात्रिक प्रतिगमन किया जाता है। पक्ष्मर की भी जो भूलें रह जयें उनके लिए चातुर्मासिक प्रतिगमन का विधान है। चातुर्मासिक प्रतिगमन से भी अवशिष्ट रही हुई अशुद्ध, सावत्सरिक क्षमपना के दिन प्रतिगमन करके दूर की जाती है।

स्थानाङ्ग सूत्र के षष्ठ स्थान के ५३८ वें सूत्र में छह प्रकार का प्रतिगमन बतलाया है :—

(१) उच्चार प्रतिगमन—उपयोगपूर्वक बड़ी नीत का = पुरीय का त्याग करने के बाद ईर्षा का प्रतिगमन करना, उच्चार प्रतिगमन है।

(२) प्रश्नप्रण प्रतिगमन—उपयोगपूर्वक सधुनीत अर्थात् पेशान करने के बाद ईर्षा का प्रतिगमन करना, प्रश्नप्रण प्रतिगमन है।

(३) इत्वर प्रतिगमन—दैविक तथा शानक आदि स्वल्प-कालीन प्रतिगमन करना, इत्वर प्रतिगमन है।

(४) यावत्कथिक प्रतिगमन—महावत आदि के रूप में यावत्जीवन के लिए पाप से निवृत्ति करना, यावत्कथिक प्रतिगमन है।

१—'एषु देवसिष्यं रातिष्यं पट्टिकं तो हिमिति पत्रितय-चाउम्मा-
सिय-सयसरिपसु विसेसेणं पट्टिकमति? ... जया सोते गेहं दिपसे
दिपसे पन्निज्जितं वि पदादिनु अम्मज्जितं उवनेययपमज्जणादीहि
रुज्जितं। एवमिहा वि पयसोहदविसेसे कीरति ति।'।

—आवश्यक पूर्ण

(५) यत्किंचिन्मिथ्या प्रतिक्रमण—संयम में सावधान रहते हुए भी साधु से यदि प्रमादवश तथा आवश्यक प्रवृत्तिवश असंयमरूप कोई आवरण हो जाय तो अपनी भूल को स्वीकार करते हुए उसी समय पश्चात्ताप पूर्वक 'मिक्छामि दुक्कडं' देना, यत्किंचिन्मिथ्या प्रतिक्रमण है ।

(६) स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण—सोकर उठने पर किया जाने वाला प्रतिक्रमण स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण है । अथवा विकारवासना रूप कुत्सर्प देखने पर उसका प्रतिक्रमण करना स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण है ।

आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति में प्रतिक्रमण के प्रतिचरणा आदि आठ पर्याय कथन किए हैं । यद्यपि आठों पर्याय शब्द-रूप में पृथक् पृथक् हैं, परन्तु भाव की दृष्टि से प्रायः एक ही हैं ।

पडिकमणं पडियरणा,

परिहरणा वारणा नियत्ती य ।

निन्दा गरिहा सोही,

पडिकमणं अट्ठहा होइ ॥१२३३॥

(१) प्रतिक्रमण—'प्रति' उपसर्ग है 'क्रम' धातु है । प्रति का अर्थ प्रतिकूल है, और क्रम का अर्थ पदनिक्षेप है । दोनों का मिलकर अर्थ होता है कि जिन कदमों से बाहर गया है उन्हीं कदमों से वापस लौट आए । जो साधक किसी प्रमाद के कारण सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्यरूप स्व-स्थान से हटकर मिथ्यात्व, अज्ञान एवं असंयमरूप पर-स्थान में चला गया हो, उसका पुनः स्वस्थान में लौट आना प्रतिक्रमण है । पापक्षेत्र से वापस आत्म शुद्धि क्षेत्र में लौट आने को प्रतिक्रमण कहते हैं । आचार्य जिनदास कहते हैं—'पडिकमणं पुनरावृत्तिः ।'

(२) प्रतिचरणा—अहिंसा, सत्य आदि संयमक्षेत्र में भली प्रकार विचरण करना, अग्रसर होना, प्रतिचरणा है । अर्थात् असंयम क्षेत्र से दूर-दूर वचते हुए सावधानतापूर्वक संयम को विशुद्ध एवं निर्दोष पालन

करना, प्रतिचरणा है। आचार्य जिनदास कहते हैं—‘अत्यादराचरणा पटिचरणा अकार्यपरिहार कायप्रवृत्तिश्च।’

(३) परिहरणा—मन प्रसार से अशुभ योगों का, दुष्टानों का, दुराचरणों का त्याग करना, परिहरणा है। संयममार्ग पर चलते हुए आसवास अनेक प्रकार के प्रलाभन आते हैं, विघ्न आते हैं, यदि साधक परिहरणा न रखे तो डोकर खा सकता है, पथ भ्रष्ट होसकता है।

(४) वारणा—वारणा का अर्थ निषेध है। महाशारङ्गदेव जीतराग देव ने साधकों को निषेध भोग रूप विष वृद्धों के पास जाने से रोका है। अतः जो साधक इस निषेधाज्ञा पर चलते हैं, अपने जो निषेधभोग से उचाकर रखते हैं, वे सज्जल समार वन को पार कर मोक्षपुरी में पहुँच जाते हैं। ‘आत्म निवारणा वारणा।’

(५) निवृत्ति—अशुभ अर्थात् पापाचरण का अन्त्य से निवृत्त होना, निवृत्ति है। साधक को कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। यदि कभी प्रमाद दशा में चला भी जाए तो शीघ्र ही अग्रमाद मात्र में लौट आना चाहिए। आचार्य जिनदास कहते हैं—‘अनुमभाव निवृत्त निषेधे।’

(६) निन्दा—अपने आत्मदेव की सहायि से ही पूर्ववृत्त अशुभ आचरणों को कुछ समझना, उमर लिए पश्चात्ताप करना निन्दा है। पाप को कुछ समझते हो तो उपचार क्यों रहते हो? अपने मन में ही उस अशुभ संकल्प एवं अशुभ आचरण का धिक्कार दो, ताकि वह मन का मेल धुनकर साफ हो जाय। साधनाकाल में समार की ओर से बड़ी भारी पूजा प्रतिष्ठा मिलती है। इस स्थिति में साधक यदि अहंकार का चक्र में पड़ गया तो सर्वनाश है। अन्तःभाव का प्रतिदिन निवारण है और अपने आत्मा से कहना है कि—‘तू वहीं गरज तिर्यग आदि उगति में भगवन्ने वाला वामर प्राणी है। यह मनुष्य जन्म में पुण्योदय से मिला है। और यह सम्भूदर्यन आदि रत्नत्रय का ही प्रतीक है कि तू इस उच्च स्थिति में है। बेगाना, कहीं भटक न जाय। तू से अमुकअमुक

भूलें की हैं और फिर भी यह साधुता का गर्व है ? धिक्कार है तेरी इस नीच मनोवृत्ति पर ।'

(७) गर्हा—गुरुदेव तथा किसी भी अन्य अनुभवी साधक के समक्ष अपने पापों की निन्दा करना गर्हा है । गर्हा के द्वारा मिथ्याभिमान चूर-चूर हो जाता है । दूसरों के समक्ष अपनी भूल प्रकट करना कुछ सहज बात नहीं है । जबतक हृदय में पश्चात्ताप का तीव्र वेग न हो, आत्मशुद्धि का दृढ़ संकल्प न हो, पापाचार के प्रति उत्कट घृणा न हो, तबतक अपराध मन में ही छुपा बैठा रहता है, वह किसी भी दशा में बाहर आने के लिए जिहा के द्वार पर नहीं आता । अतएव तीव्र पश्चात्ताप के द्वारा दूसरों के समक्ष पापों की आलोचना रूप गर्हा पाप प्रक्षालन का सर्वश्रेष्ठ साधन है । जिस प्रकार अमृतौघधि से विष दूर हो जाता है, उसी प्रकार गर्हा के द्वारा दोषरूप विष भी पूर्णरूप से नष्ट हो जाता है ।

(८) शुद्धि—शुद्धि का अर्थ निर्मलता है । जिस प्रकार वस्त्र पर लगे हुए तैल आदि के दाग को साबुन आदि से धोकर साफ किया जाता है, उसी प्रकार आत्मा पर लगे हुए दोषों को आलोचना, निन्दा, गर्हा तथा तपश्चरण आदि धर्म साधना से धोकर साफ किया जाता है । प्रतिक्रमण आत्मा पर लगे दोषरूप दागों को धो डालने की साधना है, अतः वह शुद्धि भी कहलाता है ।

प्रतिक्रमण जैन-साधना का प्राण है । जैन साधक के जीवन क्षेत्र का कोना-कोना प्रतिक्रमण के महा प्रकाश से प्रकाशित है । शौच, पेशाव, प्रतिलेखना, वसति का प्रमार्जन, गोचरी, भोजन पान, मार्ग में गमन, शयन, स्वाध्याय, भक्त्यान का परिष्ठापन, इत्यादि कोई भी क्रिया की जाए तो उसके बाद प्रतिक्रमण करना आवश्यक है । एक स्थान से सौ हाथ तक की दूरी पर जाने और वहाँ फिर एक मुहूर्त भर बैठ कर विश्राम लेना हो तो बैठते ही गमनागमन का प्रतिक्रमण अवश्य करणीय होता है । श्लेष्म और नाक का मल भी डालना हो तो उसका भी प्रतिक्रमण करने का विधान है । भूमि पर एक कदम भी यदि बिना देखे निरुपयोग दण्ड

में रख दिया हो तो साधु को तदर्थ भी मिच्छामि दुःखदं देना चाहिए । शात, अज्ञात तथा सहसाकार आदि किसी भी रूप में कोई भी निषा की हो, कोई भी घटना घरी हो, उसके प्रति मिच्छामि दुःखदं रूप प्रतिक्रमण कर लेने से आत्मा में अप्रमत्तभाव की ज्योति प्रकाशित होती है। अपूर्व आत्मशुद्धि का पथ प्रशस्त होता है और होता है अज्ञान, आवेक एवं अनवधानता का अन्त ।

प्रतिक्रमण का अर्थ है—‘यदि किसी कारण विशेष से आत्मा संयम क्षेत्र से असंयम क्षेत्र में चला गया हो तो उसे पुनः संयम क्षेत्र में लौटा लाना ।’ इस व्याख्या में प्रमाद शब्द विचारणीय है । यदि प्रमाद के स्वरूप का पता लग जाय तो माधक बहुत कुछ उससे बचने की चेष्टा कर सकता है ।

प्रवचन सारोद्धार में प्रमाद के निम्नोक्त आठ प्रकार बताए गए हैं—

(१) अज्ञान—लोक नृक्षता आदि ।

(२) सशय—जिन वचनों में सन्देह ।

(३) मिथ्या ज्ञान—गिरणीय धारणा ।

(४) राग—ग्रामक्ति ।

(५) द्वेष—वृणा ।

(६) स्मृति भ्रंश—भूल हो जाना ।

(७) अनादर—संयम के प्रति अनादर ।

(८) योगदुष्प्रविधानता—मन, वचन, शरीर को कुमार्ग में प्रवृत्त करना ।

प्रतिक्रमण की साधना प्रमादभाव को दूर करने के लिए है । साधक के जीवन में प्रमाद ही बढ़ गया है, जो अन्दर ही अन्दर साधना को सड़ा मला कर नष्ट भष्ट कर डालता है । अतः साधु और आरक दोनों का कर्तव्य है कि प्रमाद से बचें और अपनी साधना को प्रतिक्रमण के द्वारा अप्रमत्त स्थिति प्रदान करें ।

: १६ :

कायोत्सर्ग-आवश्यक

प्रतिक्रमण-आवश्यक के बाद कायोत्सर्ग का स्थान है। यह आवश्यक भी बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। अनुयोगद्वारा सूत्र में कायोत्सर्ग का नाम व्रण-चिकित्सा है। धर्म की आराधना करते समय प्रमादवश यदि कहीं अहिंसा एवं सत्य आदि व्रत में जो अतिचार लग जाते हैं, भूलें हो जाती हैं, वे संयम रूप शरीर के घाव हैं। कायोत्सर्ग उन घावों के लिए मरहम का काम देता है। यह वह औषधि है, जो घावों को पुर करती है और संयम शरीर को अक्षत बनाकर परिपुष्ट करती है। जो वस्त्र मलिन हो जाता है, वह किससे धोया जाता है? जल से ही धोया जाता है न? एक बार नहीं, अनेक बार मलमल कर धोया जाता है। इसी प्रकार संयम रूप वस्त्र को जब अतिचारों का मल लग जाता है, भूलों के दाग लग जाते हैं तो उसे प्रतिक्रमण रूप जल से धोया जाता है। फिर भी कुछ अशुद्धि का अंश रह जाता है तो उसे कायोत्सर्ग के उष्ण जल से दुबारा धोया जाता है। यह जल ऐसा जल है, जो जीवन के एक एक सूत्र से मल के कण-कण को गला कर साफ करता है और संयम जीवन को अच्छी तरह गुर बना देता है।

कायोत्सर्ग एक प्रकार का प्रायश्चित्त है। वह पुराने पापों को धोकर साफ कर देता है। आवश्यक सूत्र के उत्तरीकरण सूत्र में यही कहा है कि संयम जीवन को विशेषरूप से परिष्कृत करने के लिए, प्रायश्चित्त करने के लिए, विशुद्ध करने के लिए, आत्मा को शल्य रहित बनाने के लिए, पाप कमों के निर्घात के लिए, कायोत्सर्ग किया जाता है।

—‘तस्मै उत्तरीकरणेण, पापक्षितकरणेण, तिसोद्दीकरणेण, त्रिसल्लीकरणेण, पापाणं कर्माणं निग्वायणद्व्यापठामि काडस्मग ।’
 आः प्रश्न करेंगे कि क्या किए हुए पाप भी धोकर गाय किए जा सकते हैं ? यिना भोग हुए भी पापों ने छुटकारा हो सकता है ? पाप कर्मों के सम्बन्ध में तो यही कहा जाता है कि ‘अवश्यमेव भोगेभ्य कृत कर्म शुभाशुभम् ।’

जैन धर्म उपर्युक्त धारणा से विरोध करता है । वह तब पाप कर्मों के भोगने की मान्यता का पक्षगती नहीं है । किए हुए पापों की शुद्धि न मानें तो फिर यह सब धर्म साधना, तपश्चरणा आदि व्यर्थ ही काय क्लेश होगा । संसार में हम देखते हैं कि अनेक विद्वान् हुंरे वस्तुएँ पुनः शुद्ध कर ली जाती हैं तो कि आत्मा को शुद्ध क्यों नहीं बनाया जा सकता ? पाप बड़ा है या आत्मा ? पाप की शक्ति बलवती है या धर्म की ? धर्म की शक्ति संसार में बड़ी मदद की शक्ति है । उसके समक्ष पाप टहर नहीं सकते हैं । भगवान् के सामने शैतान भला कैसे टहर सकता है ? हमारी आध्यात्मिक शक्ति ही भागवती शक्ति है । उमक समक्ष पापों की आमुनी शक्ति कथमपि नहीं खड़ी रह सकती है । परमा की मुद्रा में हजार हजार वर्षों से अन्धकार भरा हुआ है । कुछ भी तो नहीं दिखाई देता । निधर चलते हैं, उधर ही टोकर खाते हैं । परन्तु क्या ही प्रकाश अन्दर पहुँचना है, लक्ष भर में अन्धकार गहन भिन्न हो जाना है । धर्म-साधना एक ऐसा ही अप्रतिहत प्रकाश है । भोग भोग कर कर्मों का नाश कब तक होगा ? एकेक आत्मप्रदेश पर अनन्त-अनन्त कर्म पराण्डा है । इस संलित जीवन में उनका भोग हो भी तो कैसे हो ? हाँ तो जैन-धर्म पापों की शुद्धि में विश्वास रखता है । प्रायश्चित्त की अपूर्ण शक्ति के द्वारा वह आत्मा की शुद्धि मानता है । भूला भट्ठा हुआ साधक जब प्रायश्चित्त कर लेता है तो वह शुद्ध हो जाता है, निर्गम हो जाता है । फिर वह धर्म में, समाज में, लोक में, परलोक में सर्वत्र आदर का स्थान प्राप्त कर लेता है । बन्ध पर जवनक अशुद्धि लगी रहती है, तभी

सक उसके प्रति घृणा बनी रहती है। परन्तु जब वह धोकर साफ कर लिया जाता है तो फिर उसी पहले जैसे स्नेह से पहना जाता है। यही ज्ञात पाप शुद्धि के लिए किए जाने वाले प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में भी है। प्रायश्चित्त के अनेक रूप हैं। जैसा दोष होता है, उसी प्रकार का प्रायश्चित्त उसकी शुद्धि करता है। जीवन व्यवहार में इधर-उधर जो संयम जीवन में भूलें हो जाती हैं, ज्ञात या अज्ञात रूप में कहीं इधर-उधर जो कदम लड़खड़ा जाता है, कायोत्सर्ग उन सब पापों का प्रायश्चित्त है। कायोत्सर्ग के द्वारा वे सब पाप धुल कर साफ हो जाते हैं। फलतः आत्मा शुद्ध निर्मल एवं निष्पाप हो जाता है।

भगवान् महावीर ने पापकर्मों को भार कहा है। जेठ का महीना हो, मंजिल दूर हो, मार्ग ऊँचा नीचा हो, और मस्तक पर मन भर पत्थर का बोझ गर्दन की नम-नस को तोड़ रहा हो, बताइए, वह कितनी विकट स्थिति है? इस स्थिति में भार उतार देने पर मजदूर को कितना आनन्द प्राप्त होता है? वही दशा पापों के भार की भी है। कायोत्सर्ग के द्वारा इस भार को दूर फेंक दिया जाता है। कायोत्सर्ग वह विश्राम भूमि है, जहाँ पाप कर्मों का भार हल्का हो जाता है, सब ओर प्रशस्त धर्म ध्यान का वातावरण तैयार हो जाता है, फलतः आत्मा स्वस्थ, सुखमय एवं आनन्दमय हो जाता है।

‘काडसग्गेण तीयपडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहिण्ण ओहरिय भरुव्व भारवहे पसत्थज्झाणोवगए सुहं सुहेणं विहरइ ।

—उत्तराध्ययन २६। १२।

कायोत्सर्ग में दो शब्द हैं—काय और उत्सर्ग। दोनों का मिल कर अर्थ होता है—काय का त्याग। प्रतिक्रमण करने के बाद साधक अमुक

२—‘कायोत्सर्गकरणतः प्रागुपात्तकर्मक्षयः प्रतिपाद्यते ।’

—हरिभट्टीय आवश्यक

समय तक अपने शरीर को थोसिरा कर जिनमुद्रा से लड़ा हो जाता है, वह उस समय न संसार के बाह्य पदार्थों में रहता है, न शरीर में रहता है, सब ओर से मिमट कर आत्मस्वरूप में लीन हो जाता है। कायोत्सर्ग अन्तर्मुख होने की साधना है। अस्तु बहिर्मुख स्थिति से साधक जन अन्तर्मुख स्थिति में पहुँचता है तो वह रागद्वेष से बहुत ऊपर उठ जाता है, निःसंग एवं अनासक्त स्थिति का रसास्वादन करता है, शरीर तक की मोहमाया का त्याग कर देता है। इस स्थिति में कुछ भी संकट आए, उसे समभाव से सहन करता है। सरदी हो, गर्मी हो, मच्छर हो, दश हों, सब पीड़ाओं को समभाव से सहन करना ही काय का त्याग है। कायोत्सर्ग का उद्देश्य शरीर पर की मोहमाया को कम करना है। यह जीवन का मोह, शरीर की ममता बड़ी ही भयंकर चीज है। साधक के लिए तो गिर है। साधक तो क्या, साधारण समूची प्राणी भी इस दल दल में पँस जाने के बाद किसी अर्थ का नहीं रहता। जो लोग कर्तव्य की अपेक्षा शरीर को अधिक महत्त्व देते हैं, शरीर की मोहमाया में रचे पचे रहते हैं, दिन-रात उसी के सजाने-सँवारने में लगे रहते हैं, वे समय पर न अपने परिवार की रक्षा कर सकते हैं, और न समाज एवं राष्ट्र की ही। वे भगोड़े सफ्ट काल में अपने जीवन को लेकर भाग सके होते हैं, इस स्थिति में परिवार, समाज, राष्ट्र की कुछ भी दुर्गति हो, उनकी गला से ! आज भारत इसी स्थिति में पहुँच गया है। यहाँ सर्वत्र भगोड़े ही राष्ट्र और धर्म के जीवन को बरबाद कर रहे हैं। उठ कर संघर्ष करने की, और संघर्ष करते करते आने आपने कर्तव्य के लिए होम देने की यहाँ हिम्मत ही नहीं रही है। आज देश के प्रत्येक स्त्रीपुरुष को कायोत्सर्ग-सम्बन्धी शिक्षा लेने की आवश्यकता है। शरीर और आत्मा को अलग अलग समझने की कला ही राष्ट्र में कर्तव्य की चेतना जगा सकती है। बड़ धेन का भेद समझें बिना सारी साधना मूल साधना है। जीवन के

कदम-कदम^१ पर कायोत्सर्ग का स्वर गूँजते रहने में ही आज के धर्म, समाज और राष्ट्र का कल्याण है। कायोत्सर्ग की भावना के बिना समय पर महान् उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपने तुच्छ स्वार्थों को बलिदान करने का विचार तक नहीं आ सकता। इस जीवन में शरीर का मोह बहुत बड़ा बन्धन है। जीवन की आशा का पाश जन-जन को अपने में उलझाए हुए है। पद-पद पर जीवन का भय कर्तव्य साधना से पराङ्मुख होने की प्रेरणा दे रहा है। आचार्य अकलंक इन सब बन्धनों से मुक्ति पाने का एक मात्र उपाय कायोत्सर्ग को बताते हैं—

—‘निःसंग-निर्भयत्व-जीविताशा-ध्युदासाद्यर्थो व्युत्सर्गः ।’

—राजवार्तिक ६ । २६ । १० ।

आचार्य अमित गति तो अपने सामायिक पाठ में कायोत्सर्ग के लिए मङ्गलकामना ही कर रहे हैं कि—

शरीरतः कर्तुमनन्तशक्तिं,

विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम् ।

जिनेन्द्र ! कोपादिव खङ्ग-यष्टिं,

तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः ॥२॥

—हे जिनेन्द्र ! आप की अपार कृपा से मेरी आत्मा में ऐसी आध्यात्मिक शक्ति प्रकट हो कि मैं अपनी अनन्त शक्ति सम्पन्न, दोष-रहित, निर्मल दीतराग आत्मा को इस क्षणभंगुर शरीर से उसी प्रकार अलग कर सकूँ—अलग समझ सकूँ, जिस प्रकार म्यान से तलवार अलग की जाती है।

हाँ तो जैनधर्म के पटावश्यक में कायोत्सर्ग को स्वतन्त्र स्थान इसी ऊपर की भावना को व्यक्त करने के लिए मिला है। प्रत्येक जैन साधक को प्रातः और सायं अर्थात् प्रति-दिन नियमेन कायोत्सर्ग के द्वारा शरीर

और आत्मा के सम्बन्ध में विचार करना होता है कि—“यद् शरीर शरीर है, शरीर में शरीर हैं। मैं अजर अमर चैतन्य आत्मा हूँ, मेरा कभी नाश नहीं हो सकता। शरीर का क्या है, आकाश है, क्या न रहे। अस्तु, मैं इस क्षणमग्न शरीर के मोह में अपने कर्तव्यों से क्यों पराङ्मुख बनूँ ? यह मिट्टी का पिंड मेरे लिए एक गिलौना भर है। जब तक यह गिलौना काम देता है, तब तक मैं इससे काम लूँगा, टूट कर काम लूँगा। परन्तु जब यह टूटने को होगा, या दूटेगा तो मैं नहीं रोऊँगा। मैं रोऊँ भी क्यों ? ऐसे ऐसे गिलौने अनन्त अनन्त प्रवृत्ति किए हैं, क्या हुआ उनका ? कुछ दिन रहे दूटे और मिट्टी में मिल गए। इस गिलौने की रक्षा करना मेरा कर्तव्य है। व्यर्थ ही शरीर की इत्या करना, अपने आप में कोई आदर्श नहीं है। धीतराग देन व्यर्थ ही शरीर को दस देने में, उसकी इत्या करने में पाप मानते हैं। परन्तु जब यह शरीर कर्तव्य पथ का रोड़ा बने, जीवन का मोह दिग्गजर आदर्श से च्युत करे तो मैं इस रागिनी को मुनने वाला नहीं हूँ। मैं शरीर की अपेक्षा आत्मा की ध्वनि सुनना अधिक पसंद करता हूँ। शरीर मेरा वाहन है। मैं इस पर सवार होकर जीवन यात्रा का लम्बा पथ तय करने के लिए आया हूँ। परन्तु कभी कभी यह दुष्ट अश्व उलटा मुझ पर सवार होना चाहता है। यदि यह घोड़ा मुझ पर सवार हो गया तो कितनी अमरुत रात रागी ? नहीं, मैं ऐसा कभी नहीं होने दूँगा।” यह है कायोत्सर्ग की मूल भावना। प्रति दिन नियमेन शरीर के ममत्व-त्याग का अभ्यास करना, साधक के लिए कितना अधिक महत्त्व पूर्ण है। जो साधक निरन्तर ऐसा कायोत्सर्ग करते रहेंगे, ध्यान करते रहेंगे, वे समय पर अवश्य शरीर की मोहमाया से बच सकेंगे और अपने जीवन के महान् लक्ष्य का प्राप्ति में सफल हो सकेंगे। आचार्य यमल कीर्ति करते हैं—

ममत्वं देहतो नश्येत्,

कायोत्सर्गं धीमताम् ।

निर्ममत्वं भवेन्नूनं,

महाधर्म-सुखाकरम् ॥१८॥ १८४॥

—प्रश्नोत्तर श्रावकाचार

—कायोत्सर्ग के द्वारा ज्ञानी साधकों का शरीर पर से ममत्वभाव छूट जाता है, और शरीर पर से ममत्वभाव का छूट जाना ही वस्तुतः महान् धर्म और सुख है।

कायोत्सर्ग के सम्बन्ध में आज की क्या स्थिति है ? इस पर भी प्रसंगानुसार कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। आजकल प्रतिक्रमण करते समय जब ध्यान स्वरूप कायोत्सर्ग किया जाता है, तब मच्छरों से अपने को बचाने के लिए अथवा सरदी आदि से रक्षा करने के लिए शरीर को सब ओर से वस्त्र द्वारा ढक लेते हैं। यह दृश्य बड़ा ही विचित्र होता है। यह ममत्व त्याग का नाटक भी क्या खूब है ? यह कायोत्सर्ग क्या हुआ ? यह तो उल्टा शरीर का मोह है। कायोत्सर्ग तो कष्टों के लिए अपने आपको खुला छोड़ देने में है। कष्ट सहिष्णु होने के लिए अपने को वस्त्र रहित बनाकर नंगे शरीर से कायोत्सर्ग किया जाय तो अधिक उत्तम है। प्राचीन काल में यही परम्परा थी। आचार्य धर्मदास ने उपदेश माला में प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग करते समय प्रावरण ओढ़ने का निषेध किया है। कायोत्सर्ग करते समय न चोलना है, न हिलना है। एक स्थान पर पत्थर की चट्टान के समान निश्चल एवं निःस्वन्द जिन मुद्रा में दण्डायमान खड़े रहकर अगलक दृष्टि से शरीर का ममत्व ब्रोकसाना है, आत्मध्यानमें रमण करना है। आचार्य भद्रबाहु आवश्यक निर्युक्ति में इस ममत्व त्याग पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं—

वासी-चंदणकण्णो,

जो मरणे जीविए य समसण्णो।

देहे य अपडिवद्धो,

काउस्सग्गो हवइ तस्स ॥१५४८॥

—चाहे कोई भक्ति भाव से चंदन लगाए, चाहे कोई द्वेपयश प्रसीले से छीले, चाहे जीवन रहे, चाहे इसी क्षण मृत्यु आ जाए; परन्तु जो साधक देह में आसक्ति नहीं रखता है, उक्त सब स्थितियों में सम चेतना रखता है, वस्तुतः उसी का कायोत्सर्ग शुद्ध होता है।

तिथिहाणुयसग्गाणं,

दिव्याणं भाणुसाण तिरियाणं ।

सम्ममहियासणाए,

काउस्सग्गो हवइ सुद्धो ॥ १५४६ ॥

—जो साधक कायोत्सर्ग के समय देवता, मनुष्य तथा तिर्यञ्च-सम्बन्धी सभी प्रकार के उपासकों को सम्यक रूप से सहन करता है, उसका कायोत्सर्ग ही वस्तुतः शुद्ध होता है।

काउस्सग्गे जह सुट्ठियस्स,

भज्जति अग मंगाइ ।

इय भिदंति सुविहिया,

अट्ठविहं कम्म-संघाय ॥ १५४७ ॥

—जिस प्रकार कायोत्सर्ग में निःस्वन्द रखे हुए अंग-अंग छूटने लगता है, दुखने लगता है, उसी प्रकार सुविहित साधक कायोत्सर्ग के द्वारा आठों ही कर्म समूह को पीड़ित करते हैं एवं उन्हें नाश कर डालते हैं।

अन्नं इमं सरीरं,

अन्नो जीवुत्ति कय-पुद्धी ।

हुक्ख परिक्खिलेस करं,

धिदु ममत्तं सरीराओ ॥ १५४८ ॥

—सायोत्सर्ग में शरीर से सब दुःखों की वह ममता का सम्बन्ध तोड़ देने के लिए साधक को यह मुद्रा संकल्प कर लेना चाहए कि शरीर ओर है, ओर आत्मा ओर है।

कायोत्सर्ग करने वाले सज्जन विचार सकते हैं कि कायोत्सर्ग के लिए कितनी तैयारी की आवश्यकता है, शरीर पर का कितना मोह हटाने की अपेक्षा है। कायोत्सर्ग करते समय पहले से ही शरीर का मोह रखलेना और उसे वस्त्रों से लपेट लेना किसी प्रकार भी न्याय्य नहीं है। ममत्व त्याग के ऊँचे आदर्श के लिए वस्तुतः सच्चे हृदय से ममत्व का त्याग करना चाहिए।

कायोत्सर्ग के लिए ऊपर आचार्य भद्रबाहु के जो उद्धरण दिए गए हैं, उनका उद्देश्य साधक में क्षमता का दृढ़ बल पैदा करना है। उसका यह अर्थ नहीं है कि साधक मिथ्या आग्रह के चक्कर में अज्ञानता-वश अपना जीवन ही होम दे। साधक, आखिर एक साधारण मानव हैं। परिस्थितियाँ उसे झकझोर सकती हैं। सभी साधक एक क्षण में ही उस चरम स्थिति में पहुँच सकें, यह असम्भव है। आज ही नहीं, उस युग में भी असम्भव था। मानव जीवन एक पवित्र वस्तु है, उसे किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही सुगन्धित रखना है या होम देना है। अतः भगवान् ने दुर्बल साधकों के लिए आवश्यक सूत्र में कुछ आगारों की ओर सकेत किया है। कायोत्सर्ग करने से पहले उस आकार सूत्र का पढ़ लेना, साधक के लिए आवश्यक है। खॉसी, छींक, ढकार, मूर्छा आदि शारीरिक व्याधियों का भी आगार रक्खा जाता है, क्योंकि शरीर शरीर है, व्याधिका मन्दिर है। किसी आकस्मिक कारण से शरीर में कम्पन आजाय तो उस स्थिति में कायोत्सर्ग का भंग नहीं होता है। दीवार या छत आदि गिरने की स्थिति में हों, आग लग जाए, चोर या राजा आदि का उद्भव हो, अचानक मार काट का उपद्रव उठ खड़ा हो, तब भी कायोत्सर्ग खोलकर इधर-उधर सुत्ता के लिए प्रवन्ध किया जा सकता है। व्यर्थ ही धर्म का अहंकार रख कर खड़े रहना, और फिर आर्त रौद्र ध्यान की परिणति में मरण तथा प्रहार घात करना, संयम के लिए घातक चीज है। जैन साधना का मूल उद्देश्य आर्तरौद्र की परिणति को वन्द करना है, अतः जब तक वह परिणति

कायोत्सर्ग के द्वारा बन्द होती है, तब तक कायोत्सर्ग का आलम्बन रित् कर है। और यदि वह परिणति परिस्थितिवश कायोत्सर्ग समाप्त करने से मन्द होती हो तो वह मार्ग भी उद्गदेय है। केवल अपनी रक्षा ही नहीं, यदि कभी दूसरे जीनों की रक्षा के लिए भी कायोत्सर्ग जीवन में खोलना पड़े तो वह भी आवश्यक है। ध्यानस्थ साधक के सामने पचेन्द्रिय जीवों का छेदन भेदन होना हो, किसी को सर्व आदि इस ले तो तात्कालिक सहायता करने के लिए जैन परम्परा में ध्यान खोलने की स्पष्ट आशा है। क्योंकि वह रक्षा का कार्य कायोत्सर्ग से भी अधिक श्रेष्ठ है। आचार्य भद्रबाहु आवश्यक निर्युक्ति में इन्हीं ऊपर की भावनाओं का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—

अगणीओ छिद्विज वा,
बोहियखोभाइ दीहडवको वा ।
आगारेहि अभग्गो,
उसग्गो एवमाइहि ॥ १५१६ ॥

हाँ, तो जैन धर्म विवेक का धर्म है। जो भी स्थिति विवेक पूर्ण हो, लाभपूर्ण हो, आर्तरीक्ष दुःखान की परिणति को कम करने वाली हो, उसी स्थिति को अपना जैन धर्म का आदर्श है। पाठक इस का विचार करें तो अधिक भेयस्त्र होगा। दुःखमय में नहीं, सदायस में ही जैन-धर्म की आत्मा का निवास है।

आगम साहित्य में कायोत्सर्ग के दो भेद मिले हैं—द्रव्य और भाव। द्रव्य कायोत्सर्ग का अर्थ है शरीर की चेष्टाओं का निरोध करके एका स्थान पर जिन मुद्रा से निश्चल एवं निःस्पन्द स्थिति में रहने का वह साधना के क्षेत्र में आवश्यक है, परन्तु भाव के साथ। केवल

१—यह गाथा, आगारसुखान्तर्गत 'एवमाइहि' आगारेहि इस पद के स्पष्टीकरण के लिए ली गई है।

द्रव्य का जैनधर्म में कोई महत्त्व नहीं है। एक आचार्य कहता है कि यह द्रव्य तो एकेन्द्रिय वृत्तों एवं पर्वतों में भी मिल सकता है। केवल निःस्वन्द हो जाने में ही साधना का प्राण नहीं है। साधना का प्राण है भाव। भाव कायोत्सर्ग का अर्थ है—आर्त रौद्र दुर्धानों का त्याग कर धर्म तथा शुक्ल ध्यान में रमण करना, मन में शुभ विचारों का प्रवाह बहाना, आत्मा के मूल स्वरूप की ओर गमन करना। कायोत्सर्ग में ध्यान की ही महिमा है। द्रव्य तो ध्यान के लिए भूमिकामात्र है। अतएव आचार्य जिनदास आवश्यक चूर्णि में कहते हैं—‘सो पुण काउत्सर्गो द्धवतो भावतो य भवति, द्धवतो कायचेट्टानिरोहो, भावतो काउत्सर्गो भाणं ।’ और इसी भाव को मुख्यत्व देते हुए उत्तराध्ययन सूत्र के समाचारी अध्ययन में बार-बार कहा गया है कि—‘काउत्सर्गं तथो कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खणं ।’ कायोत्सर्ग सब दुःखों का क्षय करने वाला है, परन्तु कौन सा ? ‘द्रव्य के साथ भाव’ ।

यह कायोत्सर्ग दो रूप में किया जाता है—एक चेष्टाकायोत्सर्ग तो दूसरा अभिभव कायोत्सर्ग। चेष्टा कायोत्सर्ग परिमित काल के लिए गमनागमनादि एवं आवश्यक आदि के रूप में प्रायश्चित्त स्वरूप होता है। दूसरा अभिभव कायोत्सर्ग यावज्जीवन के लिए होता है। उत्सर्ग विशेष के आने पर यावज्जीवन के लिए जो सागरी संथारा रूप कायोत्सर्ग किया जाता है, उसमें यह भावना रहती है कि यदि मैं इस उत्सर्ग के कारण मर जाऊँ तो मेरा यह कायोत्सर्ग यावज्जीवन के लिए है। यदि मैं जीवित बच जाऊँ तो उत्सर्ग रहने तक कायोत्सर्ग है। अभिभव कायोत्सर्ग का दूसरा रूप संस्तारक अर्थात् संथारे का है। यावज्जीवन के लिए संथारा करते समय जो काय का उत्सर्ग किया जाता है वह भग्न चरिम अर्थात् आमरण अनशन के रूप में होता है। संथारे के बहुत-से भेद हैं, जो मूल आगम साहित्य से अथवा आवश्यक नियुक्ति आदि ग्रन्थों से जाने जा सकते हैं। प्रथम चेष्टा कायोत्सर्ग, उस अन्तिम

अभिभूत कायोत्तम के लिए अभ्यासरूप होना है। निरुपधि क योगी का अभ्यास करते रहने से एक दिन यह आत्मजल प्राप्त हो सकता है, जिसके फलस्वरूप साधक एक दिन मृत्यु के मामले से ज्ञात हैसता दूर हो जाता है और मर कर भी मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है।

कायोत्तम के द्रव्य और भाव स्वरूप को समझने के लिए एक जैनाचार्य कायोत्तम के चार रूपों का निरूपण करते हैं। साधनों की जानकारी के लिए हम यहाँ संक्षेप में उनके विचारों का उल्लेख कर रहे हैं —

(१) उत्थित उत्थित—कायोत्तम के लिए खड़ा होने वाला साधक जब द्रव्य के साथ मात्र से भी खड़ा होता है, आतं रौद्र ध्यान का त्याग कर धर्म ध्यान तथा मुक्ता ध्यान में रमण करता है, तब उत्थितोत्थित कायोत्तम होता है। यह कायोत्तम सर्वोत्कृष्ट होता है। इसमें मृत आत्मा जाग्रत होकर धर्मों से मुक्त करने के लिए तन कर खड़ा हो जाता है।

(२) उत्थित निविष्ट—जब अयोग्य साधक द्रव्य से तो खड़ा हो जाता है, परन्तु भाव से गिरा रहता है, अर्थात् आतंरौद्र ध्यान की परिणति में रह रहता है, तब उत्थित निविष्ट कायोत्तम होता है। इस में शरीर तो खड़ा रहता है, परन्तु आत्मा पैठी रहती है।

(३) उपविष्ट उत्थित—अच्छ तथा बृद्ध साधक खड़ा तो नहीं हो पाता, परन्तु अन्दर में भाव शुद्धि का प्रसाद तीव्र है। अतः जब वह शरीरिक सुविधा की दृष्टि से पद्मासन आदि से बैठ कर धर्म ध्यान तथा शुरुल ध्यान में रमण करता है, तब उपविष्ट कायोत्तम होता है। शरीर बैठा है, परन्तु आत्मा खड़ा है।

(४) उपविष्ट निविष्ट—जब आनसी एवं कर्तव्यरूप साधक शरीर से भी पैठा रहता है और भाव से भी बैठा रहता है, धर्म ध्यान

नी और न जाकर सांसारिक विषयभोगों की कल्पनाओं में ही उलझा रहता है तब अविविष्ट-निविष्ट कायोत्सर्ग होता है। यह कायोत्सर्ग नहीं, मात्र कायोत्सर्ग का दम्भ है।

उपर्युक्त कायोत्सर्ग-चतुष्टय में से साधक जीवन के लिए पहला और तीसरा कायोत्सर्ग ही उपादेय है। ये दो कायोत्सर्ग ही वास्तविक रूप में कायोत्सर्ग माने जाते हैं, इनके द्वारा ही जन्म-मरण का बन्धन कटता है और आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में पहुँच कर वास्तविक आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति प्राप्त करता है।

: १७ :

प्रत्याख्यान आवश्यक

मंदार म जो कुछ भी दृश्य तथा अदृश्य वस्तुगन्त है, वह मन न तो एक इक्ति के द्वारा भोगा ही जा सकता है और न भोगने के योग्य ही है। भोग के पीछे पड़कर मनुष्य बर्बाद शान्ति तथा आनन्द नहीं पा सकता। वास्तविक आत्मानन्द तथा अक्षय शान्ति के लिए भोगों का त्याग करना ही एक मात्र उपाय है। अतएव प्रत्याख्यान आवश्यक के द्वारा साधक अपने को स्वर्ग के भोगों से दूरता है, आकर्षित के बन्धन से छुड़ाता है, और स्थायी आत्मिक शान्ति पाने का प्रयत्न करता है।

प्रत्याख्यान का अर्थ है—'त्याग करना।' 'प्रभृतिप्रतिभूलतया आमर्षादया रचाने' 'प्रत्याख्यानम्' —योग शास्त्र वृत्ति।

१ प्रत्याख्यान में तीन शब्द हैं—प्रति + आ + आख्यान। अक्षरिणि एव अग्रयम के प्रति अर्थात् प्रतिकृति रूप में, आ अर्थात् मर्यादा स्वल्प आकार के साथ, आख्यान अर्थात् प्रतिष्ठा करना, प्रत्याख्यान है। 'अक्षरिणिरूप प्रभृति प्रतिभूलतया आ मर्षादया आकार-करणस्वरूपया आ खान-रूपने प्रत्याख्यानम्।' —प्रवचनसंग्रहद्वारा वृत्ति।

आत्मस्वरूप का प्राप्त आ अर्थात् अभिव्यक्त रूप से विद्यमान आत्मा रूप गुण उत्पन्न हो, इस प्रकार का आख्यान—बधन करना, प्रत्याख्यान है।

भविष्यकाल के प्रति आ मर्यादा के साथ अशुभयोग से निवृत्ति और शुभयोग में प्रभृति का आख्यान करना, प्रत्याख्यान है।

त्यागने योग्य वस्तुएँ द्रव्य और भावरूप से दो प्रकार की हैं। अन्न, वस्त्र आदि वस्तुएँ द्रव्य रूप हैं, अतः इनका त्याग द्रव्य त्याग माना जाता है। अज्ञान, मिथ्यात्व, असंयम तथा कपाय आदि वैभाविक विकार भावरूप हैं, अतः इनका त्याग भावत्याग माना गया है। द्रव्य त्याग की वास्तविक आधारभूमि भावत्याग ही है। अतएव द्रव्य-त्याग तभी प्रत्याख्यानकोटि में आता है, जबकि वह राग-द्वेष और कपायों को मन्द करने के लिए तथा ज्ञानादि सद्गुणों की प्राप्ति के लिए किया जाय। जो द्रव्य त्याग भावत्याग पूर्वक नहीं होता है, तथा भाव त्याग के लिए नहीं किया जाता है, उससे आत्म-गुणों का विकास किसी भी अंश में और किसी भी दशा में नहीं हो सकता। प्रत्युत कभी-कभी तो मिथ्याभिमान एवं दंभ के कारण वह अधःपतन का कारण भी बन जाता है।

मानव-जीवन में आसक्ति ही सब दुःखों का मूल कारण है। जब तक आसक्ति है, तब तक किसी भी प्रकार की आत्मशान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। भविष्य की आसक्ति को रोकने के लिए प्रत्याख्यान ही एक अमोघ उपाय है। प्रत्याख्यान के द्वारा ही आशा तृष्णा, लोभ लालच आदि विषय विकारों पर विजय प्राप्त हो सकती है। प्रतिक्रमण एवं कायोत्सर्ग के द्वारा आत्म शुद्धि हो जाने के बाद पुनः आसक्ति के द्वारा पापकर्म प्रविष्ट न होने पाएँ, इसलिए प्रत्याख्यान ग्रहण किया जाता है। एक बार मकान को धूल से साफ करने के बाद दरवाजे बन्द कर देने ठीक होते हैं, ताकि फिर दुबारा धूल न आने पाए।

अनुयोग द्वार सूत्र में प्रत्याख्यान का नाम गुणधारण भी आया है। गुणधारण का अर्थ है—वृत्तरूप गुणों को धारण करना। प्रत्याख्यान के द्वारा आत्मा, मन वचन काय को दुष्ट प्रवृत्तियों से रोक कर शुभ प्रवृत्तियों पर केन्द्रित करता है। ऐसा करने से इच्छानिरोध, तृष्णाभाव, सुख शान्ति आदि अनेक सद्गुणों की प्राप्ति होती है। आचार्य भद्रबाहु आवश्यक निर्युक्ति में कहते हैं:—

पञ्चमूलाणामि काण,

आसवदाराइ' हु'ति पिद्धियाइ ।

आसव - बुच्छेएण,

तएदा-बुच्छयणं होइ ॥ १५६४ ॥

—प्रत्याख्यान करने से संयम होता है, संयम से आश्रय का निरोध = संवर होता है, आश्रयनिरोध से वृत्त्या का नाश होता है ।

तएदा-बोच्छेदेण य,

अउलोउसमो भवे मणुस्साण ।

अउलोउसमेण पुणो,

पञ्चमूलाणं हवइ सुद्धं ॥ १५६५ ॥

—वृत्त्या के नाश से अनुपम उपशमभाव अर्थात् माध्यस्थ्य परिणाम होता है, और अनुपम उपशमभाव से प्रत्याख्यान शुद्ध होता है ।

तत्तो चरित्तधम्मो,

कम्मविवेगो तथो अपुव्व तु ।

तत्तो केवल-नाण',

तओ य मुक्खो सया मुक्खो ॥ १५६६ ॥

—उपशमभाव से चारित्र धर्म प्रकट होता है, चारित्र धर्म से कर्मों की निर्जंघ होती है, और उससे अपूर्वस्वरण होता है । पुनः अपूर्वकरण से केवल ज्ञान और केवल ज्ञान से शाश्वत सुखमय मुक्ति प्राप्त होती है ।

प्रत्याख्यान के मुख्यतया दो प्रकार हैं—मूलगुण प्रत्याख्यान और उत्तरगुण प्रत्याख्यान । मूल गुण प्रत्याख्यान के भी दो भेद हैं—सर्वमूल गुण प्रत्याख्यान और देश गुण प्रत्याख्यान । साधुओं के पाँच महाव्रत सर्वमूल गुण प्रत्याख्यान होते हैं । और गृहस्थों के पाँच अशुव्रत देश गुण प्रत्याख्यान हैं । मूल गुण प्रत्याख्यान यागजीवन के लिए महण किए जाते हैं ।

उत्तरगुण प्रत्याख्यान, प्रतिदिन एवं कुछ दिन के लिए उपयोगी

होते हैं। इसके भी दो प्रकार हैं—देश उत्तर गुण प्रत्याख्यान और सर्व उत्तर गुण प्रत्याख्यान। तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रत, देश उत्तर गुण प्रत्याख्यान हैं, जो श्रावकों के लिए होते हैं। अनागत आदि दश प्रकार का प्रत्याख्यान, सर्व उत्तरगुण प्रत्याख्यान होता है, जो साधु और श्रावक दोनों के लिए है।

अनागत आदि दश प्रत्याख्यान इस भाँति हैं :—

(१) अनागत—पर्युषण आदि पर्व में किया जाने वाला विशिष्ट तप उस पर्व से पहले ही कर लेना, ताकि पर्वकाल में ग्लान, वृद्ध आदि की सेवा निर्वाध रूप से की जा सके।

(२) अतिक्रान्त—पर्व के दिन वैयावृत्य आदि कार्य में लगे रहने के कारण यदि उपवास आदि तप न हो सका हो तो उसे आगे कभी अपर्व के दिन करना।

(३) कोटि सहित—उपवास आदि एक तप जिस दिन पूर्ण हो उसी दिन पारणा किए बिना दूसरा तप प्रारम्भ कर देना, कोटि सहित तप है। कोटि सहित तप में प्रत्याख्यान की आदि और अन्तिम कोटि मिल जाती हैं।

(४) नियंत्रित—जिस दिन प्रत्याख्यान करने का संकल्प किया हो उस निर्वाप्त दिन में रोग आदि की विशेष अडचन एवं विघ्न आशा आने पर भी दृढ़ता के साथ वह संकल्पित प्रत्याख्यान कर लेना नियंत्रित प्रत्याख्यान है। यह प्रत्याख्यान प्रायः चतुर्दश पूर्व के धर्मा, जिनकल्पी और दश पूर्व पर मुनि के लिए होता है। आज के युग में इस की परम्परा नहीं है, ऐसा प्राचीन आचार्यों का स्वर्गी-परण है।

(५) साकार—प्रत्याख्यान करते समय आकार विशेष अर्थात् ध्वजाद की छूट रख लेना, साकार तप होता है।

(६) निराकार—आकार रखे बिना प्रत्याख्यान करना, निराकार तप है। यह दृढ़ धर्म के बल पर होता है।

(७) परिमाणवृत्त—स्त्री, प्राण, भोज्य द्रव्य तथा गृह आदि की संख्या का नियम करना, परिमाणवृत्त है। जैसे कि इतने गृहों में तथा इतने प्राणों से अधिक भोजन नहीं लेना।

(८) निरवगेष—प्रशनादि चतुर्भिः आहार का त्याग करना, निरवगेष तब है। निरवगेष का अर्थ है, पूर्ण।

(९) सावेतिर—मन्त्रपूर्वक किया जाने वाला प्रत्याख्यान, सावेतिर है। मुट्ठी गोंदर या गोंड गोंधकर यह प्रत्याख्यान करना कि जब तक यह वैषी हुई है तब तक मैं आहार का त्याग करता हूँ। आत्र कल किया जाने वाला छल्ले का प्रत्याख्यान भी सावेतिर प्रत्याख्यान में अन्तर्भूत है। इस प्रत्याख्यान का उद्देश्य अग्नी सुगमना व अनुसार विरति का अभ्यास डालना है।

(१०) अद्धा प्रत्याख्यान—समय विशेष की निश्चित मर्षांश दान नमस्कारिका, पौखरी आदि दश प्रत्याख्यान, अद्धा प्रत्याख्यान कहलाते हैं। अद्धा दान को कहते हैं। —भगवतीसूत्र ७।२।

साधना क्षेत्र में प्रत्याख्यान की एक महत्त्वपूर्ण साधना है। प्रत्याख्यान को पूर्ण विशुद्ध रूप से पालन करने में ही साधक की नहिता है। हृदय मन्दार की विशुद्धियों से मुक्त पालना हुआ प्रत्याख्यान ही शुद्ध और दोष रहित होता है। ये विशुद्धियाँ इस प्रकार हैं—

(१) अद्धान विशुद्धि—शाम्नाक्त विधान व अनुसार पाँच महाव्रत तथा बारह व्रत आदि प्रत्याख्यान का विशुद्ध भद्वान करना, भद्वान विशुद्धि है।

(२) ज्ञान विशुद्धि—जिन कल्प, स्थभिरकल्प, मूल गुण, उत्तर गुण तथा प्रातःनाल आदि के रूप में जिस समय जिसके लिए जिस प्रत्याख्यान का जैसा रहस्य जाना है, उसका ठीक ठीक वैसा ही जानना, ज्ञान विशुद्धि है।

(३) विनय विशुद्धि—मन, उचन और काय से सयत् होते हुए

प्रत्याख्यान के समय जितनी वन्दनाओं का विधान है, तदनुसार वन्दना करना विनय-विशुद्धि है ।

(४) अनुभाषणा शुद्धि—प्रत्याख्यान करते समय गुरु के सम्मुख हाथ जोड़ कर उपस्थित होना; गुरु के वहे अनुसार पाठों को ठीक-ठीक बोलना; तथा गुरु के 'बोसिरेहि' कहने पर 'बोसिरामि' वगैरह यथा समय कहना, अनुभाषणा शुद्धि है ।

(५) अनुपालना शुद्धि—भयंकर वन, दुर्भिक्ष, बीमारी आदि में भी व्रत को उत्साह के साथ ठीक-ठीक पालन करना, अनुपालना शुद्धि है ।

(६) भाव विशुद्धि—राग, द्वेष तथा परिणाम रूप दोषों से रहित पवित्र भावना से प्रत्याख्यान करना तथा पालना, भाव विशुद्धि है ।

(१) प्रत्याख्यान से अमुक व्यक्ति की पूजा हो रही है अतः मैं भी ऐसा ही प्रत्याख्यान करूँ—यह राग है ।

(२) मैं ऐसा प्रत्याख्यान करूँ, जिससे सब लोग मेरे प्रति ही अनु-रक्त हो जायें; फलतः—अमुक साधु का फिर आदर ही न होने पाए, यह द्वेष है ।

(३) ऐहिक तथा पारलौकिक कीर्ति, यश, वैभव आदि किसी भी फल की इच्छा से प्रत्याख्यान करना; परिणाम दोष है ।

—आवश्यक निर्युक्ति ।

१ उक्त प्रत्याख्यान शुद्धियों का वर्णन स्थानांग सूत्र के पंचम स्थान में भी है, परन्तु वहाँ ज्ञान शुद्धि का उल्लेख न होकर शेष पाँच का ही उल्लेख है । श्रद्धान शुद्धि में ही ज्ञान शुद्धि का अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि श्रद्धान के साथ नियमतः ज्ञान ही होता है, अज्ञान नहीं । निर्युक्तिकार ने स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए ज्ञान शुद्धि का स्वतंत्र रूपेण उल्लेख कर दिया है । 'पंचविहे पञ्चवखाणे ५० तं० सद्वहणासुद्धे, विगयसुद्धे, अणुभाषणासुद्धे, अणुपालणासुद्धे, भावसुद्धे ।'

—स्थानांग ५ । ४६६ ।

प्रत्याख्यान ग्रहण करने के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण चतुर्भुजी का उल्लेख, आचार्य हेमचन्द्र, योगशास्त्र की खोज गृहि में करते हैं। यह चतुर्भुजी भी साधक को जान लेता आदर्श है।

(१) प्रत्याख्यान ग्रहण करने वाला साधक भी प्रत्याख्यान स्वरूप का शक्ति विवेकी तथा विचारशील हो और प्रत्याख्यान देने वाले गुरुदेव भी गीतार्थ तथा प्रत्याख्यान विधि के मनीषी जानकार हो। यह प्रथम भग है, जो पूर्ण शुद्ध माना जाता है।

(२) प्रत्याख्यान देने वाले गुरुदेव तो गीतार्थ हो, परन्तु शिष्य विवेकी प्रत्याख्यान स्वरूप का जानकार न हो। यह द्वितीय भग है। यदि गुरुदेव प्रत्याख्यान कराते समय संशय म अशोध शिष्य को प्रत्याख्यान की जानकारी कराये तो यह भग शुद्ध हो जाता है, अन्यथा अशुद्ध। बिना ज्ञान के प्रत्याख्यान ग्रहण करना, 'दुःप्रत्याख्यान' माना जाता है।

(३) गुरुदेव प्रत्याख्यानविधि के जानकार न हो, किन्तु शिष्य जानकार हो, यह तीसरा भग है। गीतार्थ गुरुदेव के अभ्यास में यदि

१. प्रवचन सारोद्धार गृहि म भी उक्त चतुर्भुजी का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। वहाँ लिखा है—

‘जाणुगो जाणुगसगासे, अजाणुगो जाणुग-सगासे, जाणुगो अजाणुगसगासे, अजाणुगो अजाणुगसगासे।’

२. भगवती सूत्र म वर्णन है कि जिसको जीव अजीव आदि का ज्ञान है, उसका प्रत्याख्यान तो सुप्रत्याख्यान है। परन्तु जिसे जड़-चैतन्य का कुछ भी पता नहीं है, जो प्रत्याख्यान कर रहा है उसकी कुछ भी जानकारी नहीं है, उसका प्रत्याख्यान दुःप्रत्याख्यान होता है। अज्ञानी साधक प्रत्याख्यान की प्रतिष्ठा करता हुआ सत्य नहीं बोधता है, अविश्वसूय बोलता है। यह असत्य है, अश्रुत है, पापकर्म है, एकांत वार्ता है। ‘पुनं लक्ष्म से दुष्पञ्चवाहं सञ्चपाणेहि जाव सञ्चसत्तेहि पञ्च-कवायमिति वदमाणो नो सबं भासं भासह, मोसं भासं भासह “।’

केवल साक्षी के तौर पर अगीतार्थ गुरु से अथवा माता पिता आदि से प्रत्याख्यान ग्रहण किया जाय तो यह भंग शुद्ध माना जाता है। यदि ओष संज्ञा के रूप में गीतार्थ गुरुदेव के विद्यमान रहते भी अगीतार्थ से प्रत्याख्यान ग्रहण किया जाय तो यह भंग भी अशुद्ध ही माना गया है।

(४) प्रत्याख्यान लेने वाला भी अगीतार्थ विवेक शून्य हो और प्रत्याख्यान देने वाला गुरु भी शास्त्र-ज्ञान से शून्य अविवेकी हो तो यह चतुर्थ भंग है। यह पूर्ण रूप से अशुद्ध माना जाता है।

यह प्रत्याख्यान आवश्यक संयम की साधना में दीप्ति पैदा करने वाला है, त्याग वैराग्य को दृढ़ करने वाला है, अतः प्रत्येक साधक का कर्तव्य है कि प्रत्याख्यान आवश्यक का यथाविधि पालन करे और अग्नी आत्मा का कल्याण करे।

प्रत्याख्यान पर अधिक विवेचन, इस अभिप्राय से किया गया है कि आज के युग में बड़ी भयंकर अन्ध परंपरा चल रही है। जिधर देखिए उधर ही चतुर्थ भंग का राज्य है। न कुछ शिष्य को पता है, और न गुरुदेव नामधारी जीव को ही। एकमात्र 'बोसिरे' के ऊपर अंधाधुन्ध प्रत्याख्यान कराये जा रहे हैं। आशा है, विश पाठक ऊपर के लेख से प्रत्याख्यान के महत्त्व को समझ सकेंगे।

: १८ :

आवर्यकों का क्रम

जो अन्तर्दृष्टि वाले साधक हैं, उनके जीवन का प्रधान उद्देश्य समभाव अर्थात् सामाजिक करना है। उनके प्रत्येक व्यवहार में, रहन-सहन में समभाव के दर्शन होते हैं।

अन्तर्दृष्टि वाले साधक जब किसी महापुरुषों को समभाव की पूर्णता के शिखर पर पहुँचे हुए जानते हैं, तब वे भक्ति भाव से गद्गद होकर उनके वास्तविक गुणों की स्तुति करने लगते हैं।

अन्तर्दृष्टि वाले साधक अतीव नम्र, विनयी एवं गुणानुरागी होते हैं। अतएव वे समभाव स्थित साधु पुरुषों को यथा समय चन्दन करना कभी भी नहीं भूलते।

अन्तर्दृष्टि वाले साधक इतने अग्रमत्त, जागरूक तथा सावधान रहते हैं कि यदि कभी पूर्णमाननाय अवसर कुम्हारक वश अतना समभाव से गिरजाय तो यथविध प्रति जमण = आता वना पश्चात्तर आदि करके पुनः अपने पूर्व स्थिति को पा लेते हैं और कभी-कभी तो पूर्व स्थिति से आगे भी उड़ जाते हैं।

ध्यान ही आध्यात्मिक जीवन की कुञ्जी है। इस लिए अन्तर्दृष्टि वाले साधक हरबार ध्यान = काये प्राँ करते हैं। ध्यान से समय के प्रति एकाग्रता की भावना परिपुष्ट होती है।

ध्यान के द्वारा विशेष चित्त शुद्धि होने पर आत्मदृष्टि साधक आत्म

स्वरूप में विशेषतया लीन हो जाते हैं। अतएव उनके लिए जड़ वस्तुओं के भोग का प्रत्याख्यान करना सहज स्वाभाविक हो जाता है।

जबतक सामायिक प्राप्त न हो = आत्मा समभाव में स्थित न हो, तब तक भावपूर्वक चतुर्विंशतिस्तव किया ही नहीं जा सकता। भला जो स्वयं समभाव को प्राप्त नहीं है, वह किस प्रकार रागद्वेषरहित समभाव में स्थित वीतराग पुरुषों के गुणों को जान सकता है और उनकी प्रशंसा कर सकता है? अतएव सामायिक के बाद चतुर्विंशति स्तव है।

चतुर्विंशति स्तव करने वाला ही गुरुदेवों को यथाविधि वन्दन कर सकता है। क्योंकि जो मनुष्य अपने दृष्ट देव वीतराग महापुरुषों के गुणों से प्रसन्न होकर उनकी स्तुति नहीं कर सकता है, वह किस प्रकार वीतराग तीर्थंकरों की वाणी के उपदेशक गुरुदेवों को भक्तिपूर्वक वन्दन कर सकता है? अतएव वन्दन आवश्यक का स्थान चतुर्विंशति स्तव के बाद रखा गया है।

वन्दन के पश्चात् प्रतिक्रमण को रखने का आशय यह है कि जो राग द्वेष रहित समभावों से गुरुदेवों की स्तुति करने वाले हैं, वेही गुरुदेव की साक्षी से अपने पापों की आलोचना कर सकते हैं, प्रतिक्रमण कर सकते हैं। जो गुरुदेव को वन्दन ही नहीं करेगा, वह किस प्रकार गुरुदेव के प्रति बहुमान रखेगा और अपना हृदय स्पष्टतया खोल कर कृत पापों की आलोचना करेगा?

प्रतिक्रमण के द्वारा प्रतीति के अतिचार रूप छिद्रों को बंद कर देने वाला, पश्चात्ताप के द्वारा पाप कर्मों की निवृत्ति करने वाला साधक ही कायोत्सर्ग की योग्यता प्राप्त कर सकता है। जब तक प्रतिक्रमण के द्वारा पापों की आलोचना करके चित्त शुद्धि न की जाय, तब तक धर्म ध्यान या शूद्र ध्यान के लिए एकाग्रता संपादन करने का, जो कायोत्सर्ग का उद्देश्य है, वह किसी तरह भी सिद्ध नहीं हो सकता। आलोचना के द्वारा चित्त शुद्धि किए बिना जो कायोत्सर्ग करता है, उसके मुँह से चाहे

किसी शब्द विशेष का ज्ञान हुआ करे, परन्तु उसने हृदय में उस शब्द का विचार कभी नहीं आता ।

जो साधक कायोत्सर्ग के द्वारा विशेष चित्त-शुद्धि, एकाग्रता और आत्मरतन प्राप्त करता है, वही प्रत्याख्यान का सच्चा अधिकारी है । जिसने एकाग्रता प्राप्त नहीं की है और संकल्प मल भी उत्पन्न नहीं किया, वह यदि प्रत्याख्यान कर भी ले, तो भी उस का ठीक ठीक निर्वाह नहीं कर सकता । प्रत्याख्यान मन से ऊपर की आवश्यक क्रिया है । उसने लिए विशिष्ट चित्त शुद्धि और विशेष उत्साह की अपेक्षा है, जो कायोत्सर्ग के बिना पैदा नहीं हो सकते । इसी विचार धारा को सामने रखकर कायोत्सर्ग के पश्चात् प्रत्याख्यान का नजर पड़ता है ।

उपयुक्त पद्धति से विचार करने पर यह स्पष्टतया ज्ञान पड़ता है कि छह आवश्यकों का जो क्रम है, वह विशेष कार्य कारण भाव की शृंखला पर अवस्थित है । चतुर पाठक कितनी भी बुद्धिमानी से उल्ट कर करे, परन्तु उसमें वह स्वाभाविकता नहीं रह सकती, जो कि प्रस्तुत क्रम में है ।



आवश्यक से लौकिक जीवन की शुद्धि

यह ठीक है कि आवश्यक क्रिया लोकोत्तर साधना है। वह हमारे आध्यात्मिक क्षेत्र की चीज है। उसके द्वारा हम आत्मा से परमात्मा के पद की ओर अग्रसर होते हैं। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से भी आवश्यक की कुछ कम महत्ता नहीं है। यह हमारे साधारण मानव-जीवन में कदम कदम पर सहायक होने वाली साधना है।

अन्य प्राणियों के जीवन की अपेक्षा मानव-जीवन की महत्ता और श्रेष्ठता जिन तत्त्वों पर अवलम्बित है, वे तत्त्व लोक भाषा में इस प्रकार हैं:—

- (१) समभाव अर्थात् शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र्य का सम्मिश्रण।
 - (२) जीवन को विशुद्ध बनाने के लिए सर्वोत्कृष्ट जीवन वाले महापुरुषों का आदर्श।
 - (३) गुणवानों का बहुमान एवं विनय करना।
 - (४) कर्तव्य की स्मृति तथा कर्तव्य पालन में हो जाने वाली भूलों का निष्कपट भाव से संशोधन करना।
 - (५) ध्यान का अभ्यास करके प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को यथार्थ रीति से समझने के लिए धिवेक शक्ति का विकास करना।
 - (६) त्यागवृत्ति द्वारा सन्तोष तथा सहन शीलता को बढ़ाना। भोग ही जीवन-उद्देश्य नहीं है, त्यागमय उदारता ही मानव की महत्ता बढ़ाती है। जितना त्याग उतनी ही शान्ति।
- उपर्युक्त तत्त्वों के आधार पर ही आवश्यक साधना का मद्दल

एक है। यदि मनुष्य दीर्घ जीवन के लिए आवश्यक साधना को अनगनाते रहे तो फिर कभी भी उसका नैतिक जीवन पवित्र नहीं हो सकता, उसकी प्रतिष्ठा मंग नहीं हो सकती, मित्र से मित्र प्रबंध पर भी ये अनगना सदा नहीं भूल सकते।

मानव समाज को आधार शिक्षा सुगमनया मानसिक प्रसन्नता पर है। यद्यपि दुनिया में अन्य भी अनेक साधन ऐसे हैं, जिनके द्वारा कुछ न कुछ मानसिक प्रसन्नता प्राप्त हो ही जाती है; परन्तु स्थायी मानसिक प्रसन्नता का स्रोत पूर्वोक्त तत्त्वों के आधार पर निर्मित आवश्यक ही है। बस जड़ पदार्थों पर आधित प्रसन्नता क्षणिक होती है। अस्थायी स्थायी प्रसन्नता अपने अन्दर ही है, और वह अन्दर की साधना के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है।

अब रहा मनुष्य का कौटुम्बिक अर्थात् पारिवारिक गुण। कुटुम्ब को सुखी बनाने के लिए मनुष्य को नीति प्रधान जीवन बसाना आवश्यक है। इसलिए छोटे बड़े सब में एक दूसरे के प्रति यथोचित विनय, शांति पालन, नियमशीलता, अपनी भूलों को स्वीकार करना एवं अप्रमत्त रहना जरूरी है। ये सब गुण आवश्यक साधना के द्वारा सहज ही में प्राप्त किए जा सकते हैं।

सामाजिक दृष्टि से भी आवश्यक नियम उगड़ेय है। समाज को सुव्यवस्थित रखने के लिए विचारशीलता, प्रामाणिकता, दीर्घदर्शिता और गंभीरता आदि गुणों का जीवन में रहना आवश्यक है। अस्तु, क्या शास्त्रीय और क्या व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से आवश्यक नियम का यथोचित अनुष्ठान करना, अनीय लाभप्रद है।

['आवश्यकों का क्रम' और 'आवश्यक से शौनिक जीवन की शुद्धि' उक्त दोनों प्रकरणों के लिए लेखक जैन जगत के महान तत्त्वचिंतक एवं दार्शनिक पं० सुबलाल जी का श्रुती है। पंडित जी के 'पंच प्रति क्रमण' नामक ग्रन्थ से ही उक्त निबन्धन का प्रायः शब्दशः विचारशील लिया गया है।]

आवश्यक का आध्यात्मिक फल

सामायिक

सामाश्चरणं भते ! जीवे किं जणयइ ?

सामाश्चरणं सावज्जजोगविरइं जणयइ ।

‘भगवन् ! सामायिक करने से इस आत्मा को क्या लाभ होता है ?’

‘सामायिक करने से सावद्य योग = पापकर्म से निवृत्ति होती है ।’

चतुर्विंशतिस्तव

चउव्वीसत्थएणं भते ! जीवे किं जणयइ ?

चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ ।

‘भगवन् ! चतुर्विंशतिस्तव से आत्मा को किस फल की प्राप्ति होती है ?’

‘चतुर्विंशतिस्तव से दर्शन-विशुद्धि होती है ।’

वन्दना

वंदएणं भते ! जीवे किं जणयइ ?

वंदएणं नीयागोयं कम्म खवेइ, उच्चागोयं निवंधइ, सोहग्गं च ण अप्पडिहयं आणाफलं निवत्तेइ, दाहिणभावं च णं जणयइ ।

‘भगवन् ! वन्दन करने से आत्मा को क्या लाभ होता है ?’

‘वन्दन करने से यह आत्मा नीच गोत्र कर्म का क्षय करता है,

उद्योगों का बन्ध करना है, सुभग, सुन्दर आदि लोभाग्र्य की प्राप्ति होती है, सब उम्मीदों का शिरसा स्वीकार करने है और वह दाक्षिण्यभाव-दुःखनाश एवं सर्व विघ्नों को प्राप्त करता है ।'

प्रतिक्रमण

पडिरुक्मणेण भते । जीये किं जणयइ ?

पडिरुक्मणाय ययद्धिदइ पिदेइ, पिहियययद्धिदे पुण जीये निरुद्धामये असमल चरित्ते अद्रुमु परयणमायामु उवउत्ते उप-हुत्ते (अग्रमत्ते) सुप्पणिहिण विहरइ ।

‘भगवन् ! प्रतिक्रमण करने से आत्मा को किस पल की प्राप्ति होती है ?

‘प्रतिक्रमण करने से अहिंसा आदि मतों के दोरून छिद्रों का निरोध होता है और छिद्रों का निरोध होने से आत्मा आत्मन का निरोध करता है तथा शुद्ध चारित्र्य का पालन करता है । और इस प्रकार आठ प्रवचनमाता, पाँच समिति एवं तीन गुणित रूप संयम में सावधान, अग्रमत्त तथा सुप्रसिद्धि होकर विचरण करता है ।’

कायोत्सर्ग

काउसग्गेण भते । जीये किं जणयइ ?

काउसग्गेण तीयपडुप्पन्न पायन्निद्धत्तं विसोदेइ, विसुद्धपाय च्छिन्ने य ज वे निज्जुयहियइ ओइरियभरुन्व भारवहे पसरथव म्मग्गणोवगए सुह मुहेण विहरइ ।

‘भगवन् ! कायोत्सर्ग करने से आत्मा को क्या लाभ होता है ?

‘कायोत्सर्ग करने से अतीत काल एवं आसन्न भूतकाल के प्रायश्चित्त विशेष्य अतिचारों की शुद्धि होती है और इस प्रकार विशुद्धि प्राप्त आत्मा प्रशस्त धर्मभ्यान में रमण करता हुआ इहलोक एवं परलोक में उसी प्रकार सुगुणपूर्वक विचरण करता है जिस प्रकार सिर का बोम उतर आने से मज्जूर मुख का अनुभव करता है ।’

प्रत्याख्यान

पञ्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

पञ्चक्खाणेणं आसयदाराइं निरुंभइ, पञ्चक्खाणेणं इच्छा-
निरोहं जणयइ, इच्छानिरोहं गणं जीवे सव्वदब्बेसु विणी-
यतएहे सीहिंसूणं विहरइ ।

‘भगवन् ! प्रत्याख्यान करने से आत्मा को किम फल की प्राप्ति होती है ?’

‘प्रत्याख्यान करने से हिंसा आदि आश्रय-द्वार बन्द हो जाते हैं एवं इच्छा का निरोध हो जाता है, इच्छा का निरोध होने से समस्त विषयों के प्रति विवश रहता हुआ नागक शान्त-चित्त होकर विचरण करता है ।’

[उत्तराध्ययन-सूत्र, २६ वाँ अध्यायन]

प्रतिक्रमण : जीवन की एकरूपता

किस मनुष्य का जीवन ऊँचा है और किस का नीचा ? कौन मनुष्य महात्मा है महान है और कौन दुष्टात्मा तथा लुब्ध ? इन प्रश्न का उत्तर आपको भिन्न भिन्न रूप में मिलेगा । जो जैसा उत्तर दाता होगा वह वैसा ही कुछ कहेगा । यह मनुष्य की दुर्बलता है कि वह प्रायः अपनी सीमा में घिरा रह कर ही कुछ सोचता है, सोलता है, और करता है ।

हाँ तो इस प्रश्न के उत्तर में कुछ लोग आपके सामने जात-पाँत को महत्त्व देंगे और कहेंगे कि ब्राह्मण ऊँचा है, क्षत्रिय ऊँचा है, और शूद्र नीचा है, चमार नीचा है, भंगी तो उससे भी नीचा है । ये लोग जात-पाँत के जाल में इस प्रकार अवरुद्ध हो चुके हैं कि कोई ऊँची भ्रेणी की बात सोच ही नहीं सकने ।—जब भी कभी प्रसंग आएगा, एक ही गगन अलाँगे—जात-पाँत का रोक रोवेंगे ।

कुछ लोग सम्पत्ति है धन को महत्त्व दें ? कैसा ही नीच हो, दुर्गचारी हो, गुंडा हो, जिसने पास दो पैसे हैं, वह इनकी नजरों में देवता है, ईश्वर का अंश है । राजा और सेठ होना ही इनके लिए सबसे महान् होना है, धर्मात्मा होना है—‘सर्वे गुणः’ कांचनमाश्रयन्ते । और यदि कोई धनहीन है, गरीब है तो वन सबसे बड़ी नीचता है । गरीब आदमी कितना ही सदाचारी हो, धर्मात्मा हो, कोई पूछ नहीं । ‘दुःश्चा दरिद्रा य समा भवन्ति ।’

क्यों लम्बी बातें करें, जितने मुँह उतनी बातें हैं ! आप तो मुझ से मालूम करना चाहते होंगे कि कहिए, आपका क्या विचार है ? भला, मैं अपना क्या विचार बताऊँ ? मेरे विचार वे ही हैं, जो भारतीय संस्कृति के निर्माता आत्मतत्त्वावलोकी महापुरुषों के विचार हैं। मैं भी आपकी ही तरह भारतीय साहित्य का एक स्नेही विद्यार्थी हूँ, जो पढ़ता हूँ, कहने को मचल उठता हूँ। हाँ, तो भारतीय संस्कृति के एक अमर गायक ने इस प्रश्न-चर्चा के सम्बन्ध में क्या ही अच्छा कहा है—

मनस्येकं वचस्येकं

कर्मण्येकं महात्मनाम् ।

मनस्यन्यद् वचस्यन्यत्

कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम् ॥

प्रस्तुत श्लोक के अनुसार सर्वश्रेष्ठ, महात्मा महान् पुरुष वही है, जो अपने मन में जैसा सोचता है, विचारता है, समझता है, वैसा ही जवान से बोलता है, कहता है। और जो कुछ बोलता है, वही समय पर करता भी है। और इसके विपरीत दुरात्मा, दुष्ट, नीच वह है, जो मन में सोचता कुछ और है, बोलता कुछ और है, और करता कुछ और ही है।

मन का काम है सोचना विचारना। वाणी का काम है बोलना-कहना। और शेष जीवन का काम है, हस्तपादादि का काम है, जो कुछ सोचा और बोला गया है, उसे कार्य का रूप देना, अमली जामा पहनाना। महान् आत्माओं में इन तीनों का सामंजस्य होता है, मेल होता है, और एकता होती है। उनके मन, वाणी और कर्म में एक ही बात पाई जाती है, ज़रा भी अन्तर नहीं होता। न उन्हें दुनिया का धन पथ-भ्रष्ट कर सकता है और न मान अमान ही। लोग खुश होते हैं या नाराज़, कुछ परवाह नहीं। जीवन है या मरण, कुछ चिन्ता नहीं। भले ही दुनिया इधर से उधर हो जाय, फूलों की बर्षा हो या जलते

अंगारों की ! किसी भी प्रकार के आतंक, भय, प्रेम, प्रलोभन, हानि, लाभ महान् आत्माओं को डिगा नहीं सकते, बदल नहीं सकते । वे हिमाशय से समान प्रचल, अटल, निर्भय, निर्द्वन्द्व रहते हैं । मृत्यु के मुख में पहुँच कर भी एक ही बात सोचना, बानना और करना, उनमें परिवर्तन आदर्श है । संसार की कोई भी मची या घुरी शक्ति, उन्हें झुका नहीं सकती । उनके जीवन के दुक्के नहीं कर सकती ।

परन्तु जो लोग दुर्बल हैं, दुर्गन्ता हैं, वे कदापि अपने जीवन की एकरूपता को सुनिश्चित नहीं रख सकते । उनका मन, वाणी और कर्म तीनों तीन तरफ़ पर घुमते हैं । जरा-सा भय, जरा-सा प्रेम, जरा-सी हानि, जरा सा लाभ भी उनके कदम उखाड़ देता है । वे एक क्षण में खुद हैं तो दूसरे क्षण में खुद । परिस्थितियों के बहाव में बह जाना, हवा के झनुसार अपनी चाल बदल लेना, उनके लिए साधारण-सी बात है । साधारण प्रलोभनों से ऊपर उठकर देखना, उन्हें आता ही नहीं । उनका धर्म, पुण्य, ईश्वर, परमात्मा सब कुछ समर्थ है, मतलब है । वे जैसे और जितने आदमी मिलेंगे, वैसी ही उनकी ही वाणी बोलेंगे । और जैसा जितने भी प्रसंग मिलेंगे, वैसा ही ठठने ही काम करेंगे । अर रहा, सोचना सो बुझिए नहीं । समुद्र के किनारे खड़े होकर जितनी तरंगें आप देख सकते हैं, उतनी ही उनके मन की तरंगें होती हैं । उनकी आत्मा इतनी पतित और दुर्बल होती है कि आठ पात के वातावरण का—भय, विरोध और प्रलोभन आदि का उन पर लण्डन में भिन्न भिन्न प्रभाव पड़ता रहता है ।

अब आपको विचार करना है कि आपको क्या होना है, महात्मा अथवा दुर्गन्ता ? मैं समझता हूँ आप दुर्गन्ता नहीं होना चाहेंगे । दुर्गन्ता शब्द ही भदा और कटोर मालूम होता है । हाँ, आप महात्मा ही बनना चाहेंगे । परन्तु मालूम है, महात्मा बनने के लिए आपको अपने जीवन की एक रूपता करनी होगी । मन, वाणी और कर्म का द्वैत मिटाना होगा । यह भी कष्ट जीवन कि आपके हवाय मन, हाँ, हवाय

जवान हों और हजार ही हाथ पैर । आप हर आदमी के सामने अलग-अलग मन बदलें, जवान बदलें और बर्मा बदलें । मानव-जीवन के तीन टुकड़े अलग-अलग करके डाल देने में कौन-सी भलाई है ? विभिन्न रूपों और दुरुद्धों में बँटा हुआ अव्यवस्थित जीवन, जीवन नहीं होता, लाश होता है । मैं समझता हूँ, आप किसी भी दशा में जीवन की अखंडता को समाप्त नहीं करना चाहेंगे, मुरदा नहीं होना चाहेंगे ।

भगवान् महावीर जीवन की एकरूपता पर बहुत अधिक बल देते थे । साधक के सामने सब से पहली पूनी करने योग्य शर्त ही यह थी कि वह हर हालत में जीवन की एक रूपता को बनाए रखेगा, उसकी वाणी मन का अनुसरण करेगी तो उसकी चर्चा मन-वाणी का अनुधावन !

जैन संस्कृति ने जीवन में बहुरूपिया होना, निन्द्य माना है । आदि काल से मानव जीवन की एकरूपता, एकरूपता और अखण्डता ही जैन संस्कृति का अमर आदर्श रहा है । उसके विचार में जितना कलह, जितना द्वन्द्व, जितना पतन है, वह सब जीवन की विषम गति में ही है । ज्योंही जीवन में समगति आएगी, जीवन का संगीत समताल पर मुखरित होगा, त्योंही संसार में शान्ति का अखण्ड साम्राज्य स्थापित हो जायगा, अविश्वास विश्वास में बदलेगा और आपस के वैरविरोध विश्वस्त प्रेम एवं सहयोग में परिणत हो जायेंगे ! भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियों से मानव की मंत्रन्त आत्मा स्वर्गीय दिव्य भावों में पहुँच जायगी ।

जीवन की एक रूपता के लिए, देखिए, जैन साहित्य क्या कहता है ? दशवैकालिक सूत्र का चतुर्थ अध्यायन हमारे सामने है :—

“से भिक्खु वा भिक्खुणी वा संजय विरय-पडिहयपस्चक्खायपावकम्मे दिश्या वा, राशो वा, एगेशो वा, परिसागश्रो वा, सुत्ते वा, जागर-साणेवा.....।”

ऊपर के लम्बे पाठ का भावार्थ यह है कि दिन हो या रात, अकेला हो या हजारों की सभा में, सोता हो या जागता साधक अपने

आपको अहिंसा एवं सत्य की व्यवस्था में लागू रखते। उस के जीवन का धर्म दिन में अन्न, रात में अन्न, सोने में अन्न, गंगा में अन्न, गले में अन्न, जामने में अन्न, किसी भी दशा में कभी अन्न अन्न नहीं हो सकता। मन्त्रे मन्त्रे चेत, वाच और दान को देना बरपाद नहीं करना करते। वे अपने में भी ठाने ही मन्त्रे और फिर रहेगे, दिने कि हन्ते मन्त्रों की मीठ में। वेग भी एकान्त है, द्वैती भी न्य। अतएव है, वे जीवन पथ से एक कदम भी हटा उधर नहीं होते।

जैन धर्म का प्रतिमरण पूरी जीवन की एक मरणा का पाठ पढ़ता है। यह जीवन एक मरणा है, संपन्न है। दिन और रात अहिंसा मति से जीवन की दौड़ पूरा चल रही है। माध्यामी मन्त्रे हुए भी मन, वाणी और कर्म में विभिन्नता का जानी है, अस्वस्थता हो जाती है। अस्तु, दिन में होने वाली अनेकता का माध्याम के प्रतिमरण के समय एक मरणा की जानी है और रात में होने वाली अनेकता का प्रातःकालीन प्रतिमरण के समय। माध्याम गुरुदेव या भगवान् की लाही से अपनी मटकी हुई आत्मा को स्थिर करना है, मूलों का ध्यान में लाता है, मन, वाणी और कर्म को पर्याप्त की आग में डाल कर निखारता है, एक एक दाग का सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति से देखता है और धो डालता है। प्रतिमरण करने वालों की समस्त में न जाने कितने ऐसे महान् साधक हो गए हैं, जो सांसारिक आदि के पवित्र प्रसंगों पर हजारों वनना के समान अपने एक एक दागों का स्पष्ट भाव से पढ़ते चले गए हैं, मन के छुपे जहर को उगलते चले गए हैं। लज्जा और शर्म विमोचक हैं, कुछ परवाह ही नहीं। धन है, धे, जो इस प्रकार जीवन की एक रूढ़ि को बनाए रख सकते हैं।

* मन का कोना-कोना छान डालना, उनके लिए साधना का परम लक्ष्य है। वे अपने जीवन को अपने समाने रखकर उसी प्रकार कठोरता से परिष्कार करते हैं, देखभाल करते हैं, विष प्रकार एक डाक्टर शरीर

की परीक्षा करता है। जब तक इतना साहस न हो, मन का विश्लेषण करने की धुन न हो, जीवन का शव के समान निर्दय परीक्षण न हो, तब तक साधक जीवन की एक रूपता को किसी प्रकार भी प्राप्त नहीं कर सकता। जैन संस्कृति का प्रतिक्रमण मन, वाणी और कर्म के सन्तुलन को कदापि अव्यवस्थित नहीं होने देता। वह पश्चात्ताप के प्रवाह में पछले सब दोषों को धोकर आगे के लिए कठोर दृढ़ता के सुन्दर और शुद्ध जीवन का एक नया अध्याय खोलता है। प्रतिक्रमण का स्वर एक ही स्वर है, जो हजारों-लाखों वर्षों से श्रमण संस्कृति की अन्तर्वाणी पर भँकृत होता आया है—छूट्ट पड़ता पाप से, नया न बाँधू कोय ।’

जैन संस्कृति के अमर साधकों ने मृत्यु के मुख में पहुँच कर भी कभी अपनी राह न बदली, जीवन की एकरूपता भंग न की, प्रतिक्रमण द्वारा प्राप्त होने वाली पवित्र प्रेरणा विस्मृत न की।

साधक अर्हन्तक के सामने देवता खड़ा है, जहाज को एक ही झटके में समुद्र के अतल गर्भ में फँक देने को तैयार है। कह रहा है—‘अपना धर्म छोड़ दो, अन्यथा परलोक यात्रा के लिए तैयार हो जाओ। छोड़ूंगा नहीं, समझ लो, क्या उत्तर देना है, हाँ या ना? ‘हाँ’ में जीवन है तो ‘ना’ में मृत्यु।’

जीवन की एकरूपता का, प्रतिक्रमण की विराट साधना का वह महान् साधक हँसता है, मुसकराता है। उसकी मुसकराहट, वह मुसकराहट है, जिसके सामने मृत्यु की विभीषिका भी हतप्रभ हो जाती है। वह कहता है—“अरे धर्म भी क्या कोई छोड़ने की चीज है? धर्म तो मेरे अणु-अणु में रम गया है, मैं छोड़ना चाहूँ तो भी वह नहीं छुट सकता। और यह मृत्यु! इसका भी कुछ डर है? तेरी शक्ति, संभव है, शरीर को दल सके। परन्तु आत्मा! अरे वहाँ तो तेरे जैसे लाखों-करोड़ों देव भी कुछ नहीं कर सकते। आत्मा अजर है, अमर है, अखण्ड है। तू अनन्त जन्म ले तब भी मेरी आत्मा का कंक विगाट नहीं सकता। तब मैं

मुझ से और तेरी ओर से दी जाने वाली मृत्यु से डरूँ तो क्यों डरूँ ?”

देवता छलाटे में आ गया । आज उसे हिमालय की चट्टान से टप-रना पड़ रहा था । फिर भी यह मर्मट-निमोषिता दिखाए जा रहा था ! पास के लोगों ने भयान्तस्त हो कर अर्हन्तरु से कहा—“सैठ ! तू झूठ-मूठ ही जवान से यह दे कि मैंने धर्म छोड़ा । देवता चला जाएगा । फिर जो तू चाहे करना । तेरा क्या सिगस्ता है ?”

अर्हन्तरु लोगों की बात समझ नहा सका । झूठ मूठ के लिए ही यह दो, क्या बला है, ध्यान में न ला सका । उसने कहा—“जो मेरे मन में नहीं है, उसका भित्त मेरी वाली कैसे हों मेरे ? झूठ मूठ के लिए कुछ कहना, मैंने सीखा ही कहाँ है ? मेरे धर्म की यह माया ही नहीं है । जो पानी कुँए में है वही तो डोंच में आयागा । कुँए में और पानी हो, और डोल में कुछ और ही पानी ले आऊँ, यह बला न मुझे आती है और न मुझे पसन्द ही है । मेरे धर्म ने मुझे वही सिखाया है कि जो सोचो, वही कहो, और जो कहो, वही करो । अब बताओ, मैं मन में सोची बात से भिन्न रूप में कुछ कहूँ तो कैसे कहूँ ? प्रमाण दे सकता हूँ, अपना सर्वस्व लुप्त करता हूँ, परन्तु मैं अपने मन, वाली और कर्म तीनों के तीन दुम्के फदायि नहीं कर सकता ।”

यह है प्रतिकर्मण की साधना के अमर साधनों की जीवनकला ! जिस दिन विश्व की भूली मटकी हुई मानव जाति प्रतिकर्मण की साधना अन्नादगी, जीवन की एक रूपता के महान् आदर्श को सफल बनाएगी, उस दिन विश्व में क्या मीलिक और क्या आध्यात्मिक सभी प्रकार से नैरीन जीवन का प्रकाश होगा, सबों का अन्न होगा और होगा—दिव्य विभूतियों का अजर, अनर, अक्षय साम्राज्य !

: २२ :

प्रतिक्रमण : जीवन की डायरी

मनुष्य अपनी उन्नति चाहता है, प्रगति चाहता है। वह जीवन की दौड़ में हर कहीं बढ़ जाना चाहता है। साधना के क्षेत्र में भी वह तप करता है, जप करता है, संयम पालता है, एक से एक कठोर आचरण में उतरता है और चाहता है कि अपने बन्धनों को तोड़ डालूँ, आत्मा को कर्मों के अधिकार से स्वतन्त्र करा लूँ। परन्तु सफलता क्यों नहीं मिल रही है? सब कुछ करने पर भी थोड़ा क्यों है? लाभ क्यों नहीं?

चात यह है कि किसी भी प्रकार की उन्नति करने से पूर्व, अपनी वर्तमान अवस्था का पूरा ज्ञान प्राप्त करना, आवश्यक है। आप बढ़ते तो हैं परन्तु बढ़ने की धुन में जितना मार्ग तै कर पाया है, उस पर नजर नहीं डालते। वह सेना विजय का क्या आनन्द उठा सकेगी, जो आगे ही आगे आक्रमण करती जाती है, किन्तु पीछे की व्यवस्था पर, दुर्बलता पर, भूलों पर कोई ध्यान नहीं देती। वह व्यापारी, क्या लाभ उठाएगा, जो-अंधाधुन्ध व्यापार तो करता जाता है, परन्तु बही-खाते की जाँच-पड़ताल करके यह नहीं देखता कि क्या लेना-देना है, क्या हानि-लाभ है? अच्छा व्यापारी, दूसरे दिन की विक्री उसी समय प्रारम्भ करता है, जब कि पहले दिन की आय-व्यय की विधि मिला चुकता है! जिसको अपनी पूँजी का और हानि-लाभ का पता ही नहीं, वह क्या खाक व्यापार करेगा? और उस अन्धे व्यापार से होगा भी क्या? अंधी बुद्धि का नक्की पर आया पीसती है! इधर पीसती है, और उधर

कुत्ता चुनचाप आया पाता जा रहा है। दुनिया को क्या पल्ले पड़ेगा ? केवल धर्म, कष्ट, चिन्ता और शोक ! और कुट्ट नदी !

जैन संस्कृति का प्रतिमण्ड यही जीवनरही यही की जाँच पड़ताल है। साधक को प्रति दिन प्रातःकाल और सायंकाल यह देखना होता है कि उसने क्या पाया है और क्या खोया है ? अहिंसा, सत्य, और मयम की साधना में वह कहीं तक आगे बढ़ा है ? कहीं तक भूला भटका है ? कहीं क्या रोड़ा अटक है ? दशवैकालिक स्नान की चूलिका में इसी महान् भाव को लेकर कहा गया है कि साधक ! तू प्रतिदिन विचार कर कि मैंने क्या कर लिया है और अब आगे क्या करना शेष रहा है ? 'किं मे कुरुं किं च मे किञ्चसेसं ?'

वैदिक धर्म के महान् उपनिषद् ग्रन्थ ईशावास्य में भी यही कहा है कि 'कृतं स्मर ।' अर्थात् अपने किए को बन्द कर । जब साधक अपने किए को याद करता है, अपनी अतीत अवस्था पर दृष्टि डालता है तो उसे पता लग जाता है कि—कहाँ क्या शिथिलता है ? कौन सी ग़ुटियाँ हैं और वे क्यों हैं ? आलस्य आगे नहीं बढ़ने देता ? या समाज का भय उठने नहीं देता ? या अन्दर की वासनाएँ ही साधना-कल्पवृक्ष की जड़ों को खोलला कर रही हैं ? प्रतिमण्ड कहिए, या अपने किए हुए को याद करना कहिए, साधक जीवन के लिए यह एक अत्यन्त आवश्यक क्रिया है। इसके करने से जीवन का भला बुरा पन स्पष्टतः आँखों के सामने झलक उठता है। दुर्गल से दुर्गल और सबल से सबल साधक को भी तटस्थ भाव से अलग सा खड़ा होकर अपने जीवन को देखने का, अपनी आत्मा को विश्लेषण करने का अवसर मिलता है। यदि कोई सच्चे मन से चाहे तो उक्त प्रतिमण्ड की क्रिया द्वारा अपनी सधना को भूनों का खरक कर सकता है, और अपने आपको पथ भ्रष्ट होने से बचा सकता है।

कहते हैं, गार्वाङ्ग देश के सुगमिद विचारक फ्रैंकलिन ने अपने जीवन को डायरी से सुगरा था। वह अपने जीवन की हर घटना को

डायरी में लिख छोड़ता था और फिर उस पर चिन्तन-मनन किया करता था। प्रति सप्ताह जोड़ लगाया करता था कि इस सप्ताह में पहले सप्ताह की अपेक्षा भूलें अधिक हुई हैं या कम ? इस प्रकार उसने प्रति सप्ताह भूलों को जाँचने का, उनको दूर करने का और पूर्व की अपेक्षा आगे कुछ अधिक उन्नति करने का अभ्यास चालू रक्खा था। इसका यह परिणाम हुआ कि वह अपने युग का एक श्रेष्ठ, सदाचारी एवं पवित्र पुरुष माना गया ! उस की डायरी से हमारा प्रतिक्रमण कहीं अधिक श्रेष्ठ है ! यह आज से नहीं, हजारों-लाखों वर्षों से जीवन की डायरी का मार्ग चला आ रहा है ! एक दो नहीं, हजारों-लाखों साधकों ने प्रतिक्रमणरूप जीवन-डायरी के द्वारा अपने आपको सुधारा है, पशुत्व से ऊँचा उठाया है, वासनाओं पर विजय प्राप्त कर अन्त में भगवत्पद प्राप्त किया है ! आवश्यकता है, सच्चे मन से जीवन की डायरी के पन्ने लिखने की और उन्हें जाँचने परखने की।

: २३ :

प्रतिक्रमण : आत्मपरीक्षण

आत्मा एक यात्री है। आज कल का नहीं, पचास-सौ वर्ष का नहीं; हजार दो हजार और लाख-दश लाख वर्ष का भी नहीं, अनन्त कालका है, अनादिनालमा है। आज तक नहीं यह रेंगोथी रूप में जमकर नहीं बैठा है, घूमता ही रहा है। कहीं और कम होंगी यह यात्रा पूरी ? अभी कुछ पता नहीं।

यह यात्रा क्यों नहीं पूरी हो रही है ? क्यों नहीं मानव आत्मा अपने लक्ष्य पर पहुँच पा रहा है ? कारण है इसका। बिना कारण के तो कोई भी कार्य कथमपि नहीं हो सकता।

आप जानना चाहेंगे, वह कारण क्या है ? उत्तर के लिए एक रूपक है, जरा सावधानी के साथ इस पर अपने आपको परखिए और परखिए अपनी साधना को भी। जैन धर्म का सर्वत्व इस एक रूपक में आजाता है, यदि हम अपनी चिन्तन शक्ति का ठीक ठीक उपयोग कर सकें।

जब कभी युक्त प्रान्त के देहाती क्षेत्र में निहार करने का प्रसंग पड़ता है, तब देखा करते हैं कि सैम्हों देहाती यात्री इधर से उधर आ जा रहे हैं और उनके कंधों पर पड़े हुए हैं थैले, जिन्हें वे अपनी भाषा में खुरजी कहते हैं। एक दो कपड़े, पानी पीने के लिए लोटा डोर, और भी दो चार छोटी मोटी आवश्यक चीजें थैले में डाली हुई होती हैं, कुछ आगे की ओर तो कुछ पीछे की ओर।

लम्बी चाल न कहां। सारा ही भूमिका तैयार हो गई है। हमारा आत्मा भी इसी प्रकार सुक्त प्राप्ति का देखती जाती है। हमने भी अपने विचारों की सुखी कों पर चाल रखी है। आत्मा के सेवा और शत्रु पर आदि कहां है, इस प्रश्न में मन उलझता है। मैं पहले ही बता चुका हूँ वह एक रूपक है।

हाँ, तो उस सुखी में भरा क्या है? आगे की ओर उसमें भर रखे हैं अपने गुण और दूगनों के दोष। 'मैं कितना' गुणवान् हूँ? कितनी जमा, दया और परोपकार की वृत्ति है मुझ में? मैं तपस्वी हूँ, ज्ञानी हूँ, विचारक हूँ। कौनसा वह गुण है, जो मुझमें नहीं है? मैंने अमुक की अमुक संकट कालमें सहायता की थी। मैं ही था, जो उस समय सहायता कर सका, सेवा कर सका, अन्यथा वह समाप्त हो गया होता। माता-पिता, पति-पत्नी, बाल-बच्चे, नाते-रिश्तेदार, मित्र-परिजन, अर्द्धांगी-पड़ोसी सब मेरे उपकार के ऋणी हैं। परन्तु ये सब लोग कितने नालायक निकले हैं? कोई भी तो कृतज्ञता की अनुभूति नहीं रखता। सब दुष्ट हैं, वैश्यान् हैं, शैतान हैं। मतलबी कुत्ते! वह देखो; कितना झूठ बोलता है? कितना अत्याचार करता है? उसके आस-पास सौ-सौ कोस तक दया की भावना नहीं है। पाप-चार के सिवा उसके पास क्या है? अकेला बही क्या, आज तो सारा संसार नरक की राह पर चल रहा है। ऐसा ही कुछ अंड-संड भरा रक्खा है आगे की ओर। अतएव हर दम दृष्टि रहती है अपने सद्गुणों और दूसरों के दोषों पर, अपनी अच्छाइयों और दूसरों की बुराइयों पर।

हाँ, तो पीठ पीछे की ओर क्या ढाल रक्खा है? आखिर खुज्जी के पीठ पीछे के भाग में भी तो कुछ भर रक्खा होगा? हाँ, वह भी ठसाठस भरा हुआ है अपने दोषों और दूसरों के गुणों से। अपने असत्य, अत्याचार, पाप-चार आदि जो कुछ भी दोष हैं, दुर्गुण हैं, सब को पीठ पीछे के ओर ढाल रक्खा है। वहाँ तक आँखें नहीं पहुँचती। पता ही नहीं चलता कि आखिर मुझमें भी कुछ बुराइयों हैं, या सबकी सब

भलाइयाँ ही हैं ? मैं भी तो झूठ बोलता हूँ, दमन करता हूँ, चोरी करता हूँ, और आस पास के दुर्बलों को अत्याचार की चकनी में पीसता हूँ। क्या मैं कभी कोप नहीं करता, अभिमान नहीं करता, माया नहीं करता, लोभ नहीं पाता ? मुझ में भी पापाचार की भयंकर दुर्गन्ध है। दुर्भाग्य से अपने दाव पीठ की आर डाल रखते हैं, अतः आत्मा उन्हें देख ही नहीं पाता, विचार ही नहीं पाता। अपने दोषों के साथ दूसरों के के गुण भी पीछे की आर ही डाल रखते हैं, अतः उनकी ओर भी दृष्टि नही जाती। यह ससार है, इसमें जहाँ बुरे हैं, वहाँ अच्छे भी तो हैं। जहाँ अपने साथ बुराई करने वाले हैं, वहाँ भलाई करने वाले भी तो हैं। परन्तु यदि यानी दूसरों के गुण, दूसरों की अच्छाइयाँ कहीं देखना हैं ? दूसरों की दया, उपकार, सेवा और पवित्रता सब कुछ भुला दी गई हैं। याद है वेचन उनके दोष। धर्मस्थान हो, सार्वजनिक सभा हो, उत्सव हो, अकेला हो, घर हो, बाहर हो, सर्वत्र दूसरों के दोषों का विशेष पीछता है। जब अन्वेष मिलता है तभी विचारता है, याद करता है, कहीं भूल न जाय।

बड़ा भयंकर है यात्री। हम ने खुदही इस दग से डाली है। वह आर भी बरसाद हो रहा है, शान्ति नहीं पा रहा है। इसके मन, वाणी और कर्म में जहर भर हुआ है। सब और घृणा एवं विद्वेष के विष कण फैल रहा है। आदरबुद्धि है एक मान आनी और, अन्यत्र कहीं नही। खुदही रहन करने की पद्धति इतनी भरी है कि उसके कारण अपने को देना समझता है और दूसरों को सदस। अब बताइए, ऐसे यात्री को स्वाधीन रूप में विग्राम मिले तो कैसे मिले ? यात्रा पूरी हो तो कैसे हो ? मरकता समाप्त हो तो कैसे हो ?

जैनधर्म और जैन संस्कृति ने प्रस्तुत यात्री के कल्पाधार्य अत्यन्त सुन्दर विचार उद्घोषित किए हैं। जैन धर्म के अनन्तानन्त तीर्थंकरों ने कहा है—“आत्मन् ! कुछ सोचो, समझो, विचार करो। जिस दग में तुम चल रहे हो, जीवन पथ पर आगे बढ़ रहे हो, यह तुम्हारे लिए

हितकर नहीं है। हमारी बात सुनो, तुम्हारा कल्याण होगा। बात कुछ कठिन नहीं है, बिल्कुल सीधी-सी है। यह मत समझो कि पता नहीं हम से क्या करना चाहते हैं? हम तुमसे कुछ भी कठिन और कठोर काम नहीं चाहते। हम चाहते हैं, बस छोटा-सा और सीधा-सा काम! क्या तुम कर सकोगे? क्यों न कर सकोगे, आखिर तुम चैतन्य हो, आत्मा हो, जड़ तो नहीं। हाँ, यों करो कि यह खुरजी आगे से पीछे की ओर डाल दो और पीछे से आगे की ओर! तुम समझ गए न? जरा और स्पष्टता से समझलो! अपने गुण और दूसरों के दोष पीठ पीछे की ओर डाल दो। बस उनकी ओर देखो भी, विचारो भी नहीं। तुम्हारे गुण तुम्हारे अपने लिए विचारने और कहने को नहीं हैं। वे जनता के लिए हैं। यदि उनमें कुछ वास्तविकता है, श्रेष्ठता और पवित्रता है तो संसार अपने आप उनका आदर सत्कार करेगा, कीर्तन अनुकीर्तन करेगा। फूल को महकने से काम है। वह महकने के गौख की चिन्ता में नहीं घुलता। ज्योंही वह खिलता है, महकता है, पवनदेव दूर-दूर तक उसका यशोगान करता चला जाता है। बिना किसी निमंत्रण के भ्रमर-मंडलियाँ अपने-आप चली आती हैं और गुन-गुन की मधुर ध्वनि से सहसा सारे वातावरण को मुखरित कर देती हैं।”

—“और दूसरों के दोषों की तुम्हें क्या चिन्ता पड़ी है? जो जैसा करेगा, वैसा पायेगा। तुम्हारा काम यदि किसी की कोई भूल देखो तो उसे प्रेमपूर्वक समझा देने का है। यदि वह नहीं मानता है तो तुम्हारी क्या हानि है? तुम व्यर्थ ही उसकी ओर से घृणा और द्वेष का जहर भर कर अपने मन को अशुद्ध क्यों करते हो? इस प्रकार घृणा रखने से कुछ लाभ है? नहीं, अणुमात्र भी नहीं। हमारा मार्ग पाप से घृणा करना सिखाता है, पापी से नहीं। पाप कभी अच्छा नहीं हो सकता; परन्तु पापी तो पाप का परित्याग करने के बाद अच्छा हो जाता है, भला हो जाता है। क्या चोर चोरी छोड़ने के बाद पवित्रता का सम्मान नहीं पाता? क्या शराबी शराब का त्याग करने के बाद

जन समाज में आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता ? वग, आज जिन से घृणा करते हो, क्या वे अपने दुर्गुणों का परिणाम बनने के बाद कभी अच्छे नहीं हो सकते हैं ? अवश्य हो सकते हैं । आणव तुम पाप से घृणा करो, पापी से नहीं ।”

—“एक घाँघरीर पान में खगते । दूसरों के प्रति उदार बनो, अनुदार नहीं । जब कभी दूसरों के सम्बन्ध में सोचो, उनके गुण और उनकी अच्छाइयों ही सोचो । गुणदर्शन की उदार दृष्टि रखने से दूसरों के प्रति सद्भावना का वातावरण तैयार होगा । यह वातावरण अमृत का होगा, विष का नहीं । सद्भावना तुम्हें को भी भला बना देती है । क्या समाज में सब दुष्ट ही हैं, सम्मान कोई नहीं । कितना समय तुम दुष्टों की दुष्टता के चिन्तन में लगाते हो, उतना समय सम्मानों की सम्मानता के चिन्तन में लगाओ न ? जो लोगों का चिन्तन करता है, वह बैसा बन जाता है । दुष्टों का चिन्तन एक दिन अपने को भी दुष्ट बना सकता है । घृणा का वातावरण अन्ततोगत्वा यही परिणाम लाता है । और हाँ, दुष्टों में भी क्या कोई सद्गुण नहीं है ? नीच से नीच आदमी में भी कोई छोटी-मोटी अच्छाई हो सकती है । अणव तुम उसकी घुराई के प्रति दृष्टि न डाल कर अच्छाई की ओर देखो । दो साथी बाग में घूमते हुए गुलाब के पास पहुँच गए । गुलाब के सुन्दर फूल मिले हुए थे और आत रात के वातावरण में अपनी मारक सुगन्ध बिखेर रहे थे । पहले साथी हर्षोन्नत हो उठा और बोला—अहा कितने सुन्दर एवं सुगन्धित फूल हैं ! दूसरे साथी ने कहा—अरे देखो, कितने नुसीले काटे हैं ? यह है दृष्टि भेद । बताओ, तुम क्या होना चाहते हो ? पहले साथी बनो, अवकाश दूसरे ? हमारी बात मान सकते हो तो तुम भूल कर भी दूसरे का मार्ग न पकड़ना । तुम गुलाब के फूल देखो, काटे क्यों देखने हो ? जिनकी दृष्टि काटों की ओर होती है, कभी कभी वे बिना काटों के भी काटे देखने लगते हैं ।”

—“जब कभी दुर्गुण एवं दोष देखने हो, अपने अन्दर में देखो ।

आज तक अपने दोषों को तुमने पीठ पीछे डाल रखवा था, अब तुम उन्हें आगे की ओर आँखों के सामने लाओ। अपने दोषों को देखने वाला सुधरता है, संवरता है। और अपने गुणों को देखने वाला बिगड़ता है, पतित होता है। स्वदोष-दर्शन अन्तर्विवेक जागृत करता है, फलतः दोषों को दूर कर सद्गुणों की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरणा प्रदान करता है। इसके विपरीत स्वगुणदर्शन अहंकार को प्रेरणा देता है। फलतः साधक अपने को सहसा उच्च स्थिति पर पहुँचा हुआ समझ लेता है, जिसका परिणाम है प्रगति का रुक जाना, मार्ग का अन्धकाराच्छन्न हो जाना। स्वदोष-दर्शन ही तुम्हें साधक की विनम्र भूमिका पर पहुँचाएगा। भूल यदि भूल के रूप में समझली जाय तो साधक का साधना क्षेत्र सम्यग् ज्ञान के उज्ज्वल आलोक से आलोकित हो उठता है, अज्ञानान्धकार सहसा छिन्न-भिन्न हो जाता है। हाँ, तो अपने आपको परखो और जाँचो। मन का एक-एक कोना छान डालो, देखो, कहाँ क्या भरा हुआ है? छोटी से छोटी भूल को भी बारीकी से पकड़ो। प्रमेह-दशा की छोटी सी फुन्सी भी कितनी विप्राक्त एवं भयंकर होती है? जरा भी उपेक्षा हुई कि वस जीवन से हाथ धो लेने पड़ते हैं। अपनी भूलों के प्रति उपेक्षित रहना, साधक के लिए महापाप है। वह साधक ही क्या, जो अपने मन के कोने-कोने को झाड़बुहार कर साफ न करे। जैन धर्म का प्रतिक्रमण इसी सिद्धान्त पर आधारित है। स्वदोष-दर्शन ही आगमिक भाषा में प्रतिक्रमण है। अतएव नित्य प्रतिक्रमण करो, प्रातः सायं हर रोज प्रतिक्रमण करो। अपने दोषों की जो जितनी कठोरता से आलोचना करेगा, वह उतना ही सच्चा प्रतिक्रमण करेगा।”

घात कुछ लम्बी कर गया हूँ। अब जरा समेट लूँ तो ठीक रहेगा न? क्या पर्युषण पर्व आदि पर प्रतिक्रमण करने वाले साथी मेरी बात पर कुछ लक्ष्य देंगे। यह मेरी अपनी बात नहीं है। यह बात है जैन धर्म की और जैन धर्म के अनन्तानन्त तीर्थंकरों की। मैं समझता हूँ, आम में से बहुतों ने वह खुस्जी पलट ली होगी, आगे की पीछे और

पीछे की आगे कर ली होगी । क्या कि आप वरों से प्रतिनमण करते आ रहे हैं । और वह प्रतिनमण है क्या ? उसी अनादि काल से लादी हुई खुरजी को यथोक्त पद्धति के रूप में उलट लेना । यदि अब तक वह न उलटी गई हो तो अब वह अवश्य उलट लीजिए । यदि अब भी न उलट सके तो फिर क्या उलटेंगे ? समय आ गया है अब हम सब मिल कर अपनी-अपनी खुरजी उलट लें और सच्चे मन से सच्चा प्रतिनमण कर लें ।

प्रतिक्रमण : तीसरी औषध

आचार्य हरिभद्र आदि ने प्रतिक्रमण के महत्त्व का वर्णन करते हुए एक कथा का उल्लेख किया है। वह कथा बड़ी ही सुन्दर, विचार-प्रधान तथा प्रतिक्रमण के आवश्यकत्व का स्पष्ट प्रतिपादन करने वाली है।

पुराने युग में क्षितिप्रतिष्ठ एक नगरी थी और जितशत्रु उसके राजा थे। राजा को दलती हुई आयु में पुत्र का लाभ हुआ तो उस पर अत्यन्त स्नेह करने लगे। सदैव उसके स्वास्थ्य की ही चिन्ता रहने लगी। पुत्र कभी भी बीमार न हो, इस सम्बन्ध में परामर्श करने के लिए अपने देश के तीन सुप्रसिद्ध वैद्य बुलवाए और उनसे कहा कि कोई ऐसी औषध बताइए, जो मेरे पुत्र के लिए सब प्रकार से लाभकारी हो।

तीनों वैद्यों ने अपनी-अपनी औषधियों के गुण-दोष, इस प्रकार बतलाए।

पहले वैद्य ने कहा—मेरी औषधि बड़ी ही श्रेष्ठ है। यदि पहले से कोई रोग हो तो मेरी औषधि तुरन्त प्रभाव डालेगी और रोग को नष्ट कर देगी। परन्तु यदि कोई रोग न हो, और औषधि खा ली जाय तो फिर अवश्य ही नया रोग पैदा होगा, और वह रोगी मृत्यु से बच न सकेगा।

राजा ने कहा—वह, आप तो कृपा रागिए । अग्ने हाथों मृत्यु का निमन्त्रण कौन दे ? यह तो शान्ति में बैठे हुए पेट मगल कर दर्द पैदा करना है ।

दूसरे वैद्य ने कहा—राजन् ! मेरी आपधि ठीक रहेगी । यदि कोई रोग होगा तो उसे नष्ट कर देगी, और यदि रोग न हुआ तो न कुछ लाभ होगा, न कुछ हानि ।

राजा ने कहा—आपकी औषधि तो रात में धी डालने जैसी है । यदि आपकी आपधि भी मुझे नहीं चाहिए ।

तासरे वैद्य ने कहा—महाराज ! आप के पुत्र के लिए तो मेरी औषधि ठीक रहेगी । मेरी औषधि आप प्रतिदिन नियमित रूप से पिजाते रहिए । यदि कोई रोग होगा तो वह शीघ्र ही उसे नष्ट कर देगी । और यदि कोई रोग न हुआ तो भविष्य में तथा रोग न होने देगी, प्रत्युत शरीर की कान्ति, शक्ति और स्वस्थता में नित्य नई अभिवृद्धि करती रहेगी ।

राजा ने तीसरे वैद्य की औषधि पसन्द की । राजपुत्र उस औषधि के नियमित सेवन से स्वस्थ, सशक्त और तेजस्वी होता चला गया ।

उक्त कथानक के द्वारा आचार्यों ने यह शिक्षा दी है कि प्रतिक्रमण प्रातः और सायंकाल में प्रति दिन आवश्यक है, दोप लगा हो तब भी और दोप न लगा हो तब भी । यदि कोई समय जीवन में दिना अस्तित्व आदि का अनिचार लग जाए तो प्रतिक्रमण करने से वह दाग दूर हो जाएगा और सायक पुनः अपनी पहले जैसी पवित्र अवस्था प्राप्त कर लेगा । दाग एक रोग है, और प्रतिक्रमण उसकी सिद्ध अचूक औषधि है । और यदि कोई दोप न लगा हो, तब भी प्रतिक्रमण करना आवश्यक है । उस दशा में दागों के प्रति घृणा बनी रहेगी, समय के प्रति सदा धन्यता भद्र न पड़ेगी, जीवन जाग्रत रहेगा, स्वीकृत चारित्र्य निरन्तर शुद्ध, परिशुद्ध, निर्मल होता चला जाएगा, पतल भविष्य में भूत होने की समारम्भ कम हो जायगी ।

यह कथानक उन लोगों के समाधान के लिए है, 'जो यह कहते हैं हम जिस दिन कोई पाप ही न करें, तो फिर उस दिन प्रतिक्रमण करने क्या आवश्यकता है ? व्यर्थ ही प्रतिक्रमण के पाठों को बोलने से लाभ है ? यह समय का अपव्यय नहीं तो और क्या है ?'

प्रथम तो जब तक मनुष्य हृद्मस्थ है एवं प्रमादी है, तब तक कोई प लगे ही नहीं, यह कैसे कहा जा सकता है ? मन, वचन, शरीर का ग परिस्पन्दात्मक है और उसमें जहाँ भी कहीं कपाय भाव का मिश्रण था कि फिर दोष लगे बिना नहीं रह सकता । दिन और रात मन की ति धर्म की ओर ही अभिमुख रहे, जरा भी इधर-उधर न झुके, यह यथार्थ का दावा है, जो प्रमादी दशा में किसी प्रकार भी प्रमाणित नहीं हो सकता । परन्तु तुल्यतु दुर्जनन्याय से यदि थोड़ी देर के लिए यह मान ली लिया जाय, तब भी प्रतिक्रमण की माधना तीसरी औपधि के समान है । वह केवल पुराने दोषों को दूर करने के लिए ही नहीं है, अपितु भविष्य में दोषों की सम्भावना को कम करने के लिए भी है । प्रतिक्रमण करते समय जो भावविशुद्धि होगी, वह साधक के संयम को शक्तिशाली एवं तेजस्वी बनाएगी । पापाचरण के प्रति वृणा व्यक्त करना ही प्रतिक्रमण का उद्देश्य है । पाप किया हो, या न किया हो, साधक के लिए यह प्रश्न मुख्य नहीं है । साधक के लिए तो सब से बड़ा प्रश्न यही हल करना है कि वह पाप के प्रति वृणा व्यक्त कर सकता है या नहीं ? यदि वृणा व्यक्त कर सकता है तो वह अपने-आप में स्वयं एक बड़ी माधना है । पापों को विद्वारना ही पापों को समाप्त करना है । यह लोक-नियम है कि जिसके प्रति जितनी वृणा होगी, उससे उतनी ही दृढ़ता से अलग रहा जायगा, एक दिन उसका सर्वनाश कर दिया जायगा । प्रति दिन के प्रतिक्रमण में जब हम पापों के प्रति वृणा व्यक्त करेंगे, उन्हें परभाव मानेंगे, उन्हें अपना विरोधी मानेंगे, आत्मस्वरूप के वातक समझेंगे तो फिर उनका जीवन में कभी भी सत्कार न करेंगे । सदैव उनसे दूर रह कर अपने को बचाए रखने का सतत प्रयत्न करेंगे ।

इस प्रकार प्रतिदिन का प्रतिक्रमण केवल भूतकाल के दोषों को ही साफ नहीं करता है, अपितु भविष्य में भी साधक को पापों से बचाता है।

दूसरी बात यह है कि प्रतिदिन प्रतिक्रमण करते रहने से साधक में अप्रमत्त भाव की स्मृति बनी रहती है। प्रतिक्रमण के समय पवित्र भावना का प्रकाश मन के कोने-कोने पर जगमगाने लगता है, और समभाव का अमृत प्रवाह अन्तर के मल को बहाकर साफ कर देता है। पाप हुए हो या न हुए हो, परन्तु प्रतिक्रमण के समय सामायिक, चतुर्विंशतिस्तय, वन्दन, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान की साधना तो हो ही जाती है। और यह साधना भी बड़ी महत्त्वपूर्ण है। छह अंश में से पाँच अंश की उपेक्षा किस न्याय पर की जा सकती है? अतएव अधिक चर्चा में न उतर कर हम आचार्य हरिमद्र एवं दिनदास के शब्दों में यही कहना चाहते हैं कि प्रतिक्रमण तीसरी श्रौषधि है। पूर्व पाप होंगे तो वे दूर होंगे, और यदि पूर्व पाप न हों, तो भी संभ्रम की साधना के बिना बल मिलेगा, स्मृति मिलेगी। की हुई साधना किसी भी अंश में निष्फल नहीं होती।

: २५ :

प्रतिक्रमण : मिच्छामि दुक्कडं

'मिच्छामि दुक्कडं' जैन संस्कृति की बहुत महत्वपूर्ण देन है। जैन धर्म का समस्त साधनासाहित्य मिच्छामि दुक्कडं से भरा हुआ है। साधक अपनी भूल के लिए मिच्छामि दुक्कडं देता है और पाप-मल को भीतर पवित्र बन जाता है। भूल हो जाने के बाद, यदि साधक मिच्छामि दुक्कडं दे लेता है, तो वह आराधक कहा जाता है। और यदि अभिमानवश अपनी भूल नहीं स्वीकार करता एवं मिच्छामि दुक्कडं नहीं कहता, तो वह धर्म का विगंधक रहता है, आराधक नहीं।

मन में किसी के प्रति द्वेष आए तो मिच्छामि दुक्कडं ५ चाहिए। लोभ या छल की दुर्भावना आए तो मिच्छामि दुक्कडं ५ चाहिए। विचार में कालिमा हो, वाणी में मलिनता हो, आचरण क्लृप्तता हो, अर्थात् खाने में, पीने में, जाने में, आने में, बैठने में, सोने में, धोलने में, सोचने में, कहीं भी कोई भूल धर्म का साधक मिच्छामि दुक्कडं का आश्रय लेता है 'मिच्छामि दुक्कडं' कहना, प्रतिक्रमण-रूप^१ प्रायश्चित्त^२ साधना को पवित्र, निर्मल, स्वच्छ तथा शुद्ध बनाता

१—'मिच्छादुक्कटानिधान/धम्मि०' ५०

पाठक विचार करते होंगे कि क्या मिच्छामि दुक्कड कहने से ही सब पाप पुनः जाने हैं ? यह क्या कोई छुमतर है ? जो मिच्छामि दुक्कड कहा और सब पाप हवा हो गए । समाधान है कि केवल मथन मात्र से ही पाप दूर हो जाते हों, यह बात नहीं है । शब्द में स्वयं कोई पवित्र अथवा अपवित्र करने की शक्ति नहीं है । वह बड़ है, क्या किसी का पवित्र बनाएगा । परन्तु शब्द के पीछे रहा हुआ मनका भाव ही करने वाली शक्ति है । वाणी को मन का प्रतीक माना गया है । अतः 'मिच्छामि दुक्कड' महावाक्य के पीछे जो आन्तरिक पश्चात्ताप का भाव रहा हुआ होता है उसी में शक्ति है और वह बहुत बड़ी शक्ति है । पश्चात्ताप का दम्य निर्भर आत्मा पर लगे पाप मल को उखाड़ साफ कर देता है । यदि साधक परमरागत निःप्राण रुद्धि के केरु म न पड़कर, सच्चे मन से पापाचार के प्रति घृणा व्यक्त करे, पश्चात्ताप करे, तो वह पाप कालिमा को सहज ही धोकर साफ कर सकता है । शरीर अपराध के लिए दिया जाने वाला तपश्चरण या अन्य किसी तरह का दण्ड भी तो मूल में पश्चात्ताप ही है । यदि मन में पश्चात्ताप न हो, और कठोर से कठोर प्रायश्चित्त बाहर में ग्रहण कर भी लिया जाय तो क्या आत्मशुद्धि हो सकती है ? हाँगन नहीं । दण्ड का उद्देश्य देह दण्ड नहीं है, अपितु मनका दण्ड है । और मन का दण्ड क्या है, अपनी भूल स्वीकार कर लेना, पश्चात्ताप कर लेना । यही कारण है कि जैन या अन्य भारतीय साहित्य में साधना के नेत्र में पाप के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है, दण्ड सा नहीं । दण्ड प्राय बाहर थटक कर रह जाता है, अन्तर्गम में प्रवेश नहीं कर पाता, पश्चात्ताप का भरना नहीं रहता । दण्ड में दण्डदत्ता की आर से बचावर की प्रधानता होती है । और प्रायश्चित्त साधक की स्वयं अपनी तैयारी है । वह अन्तर्हृदय में अपने स्वयं के पाप को शोधन करने के लिए उभरता है । अतः वह अपराधों को पश्चात्ताप के द्वारा भातुक बनाता है, निनी । सरल एवं निरुपद्रव बनाता है, दण्ड पाने वाले के समान भूय

नहीं। हाँ, तो मिच्छामि 'दुक्कडं' भी एक प्रायश्चित्त है। इसके मूल में पश्चात्ताप की भावना है, यदि वह सच्चे मनसे हो तो ?

ऊपर के लेखन में बार-बार सच्चे मन और पश्चात्ताप की भावना का उल्लेख किया गया है। उसका कारण यह है कि आजकल जैनों का 'मिच्छामि दुक्कडं' काफी बदनाम हो चुका है। आज के 'साधकों' की साधना के लिए, आत्म-शुद्धि के लिए तैयारी तो होती नहीं है। प्रतिक्रमण का मूल आशय समझा तो जाता नहीं है। अथवा समझकर भी नैतिक दुर्बलता के कारण उस विकाश तक नहीं पहुँचा जाता है। अतः वह लोभ रूढ़ि के कारण प्रतिक्रमण तो करता है, मिच्छामि दुक्कडं भी देता है, परन्तु फिर उसी पाप को करता रहता है, उससे निवृत्त नहीं होता है। पाप करना, और मिच्छामि दुक्कडं देना, फिर पाप करना और फिर मिच्छामि दुक्कडं देना, यह सिलसिला जीवन के अन्त तक चलता रहता है, परन्तु इससे आत्म शुद्धि के पथपर जरा भी प्रगति नहीं हो पाती।

जैन-धर्म इस प्रकार की बाह्य-साधना को द्रव्य-साधना कहता है। वह केवल बाणी से 'मिच्छामि दुक्कडं' कहना, और फिर उस पाप को करते रहना, ठीक नहीं समझता है। मन के मैल को साफ किए बिना और पुनः उस पाप को नहीं करने का दृढ़ निश्चय किए बिना, खाली ऊपर-ऊपर से 'मिच्छामि दुक्कडं' कहने का कुछ अर्थ नहीं है। एक ओर दूसरों का दिल दुखाने का काम करते रहें, हिंसा करते रहें, झूठ बोलते रहें, अन्याय अत्याचार करते रहें, और दूसरी ओर मिच्छामि दुक्कडं की रट लगाते रहें, तो यह साधना का मजाक नहीं तो और क्या है ? यह माया है, साधना नहीं। इस प्रकार की 'मिच्छामि दुक्कडं' पर जैन-धर्म ने कठोर आलोचना की है। इसके लिए आवश्यक चूर्ण में आचार्य जिनदास कुम्हार के पात्र फोड़ने वाले शिष्य का उदाहरण देते हैं।

एक बार एक आचार्य किसी गाँव में पहुँचे और कुम्हार के पड़ोस में ठहरे। आचार्य का एक छोटा शिष्य बड़ी चंचल प्रकृति का खिलाड़ी

शक्ति या । कुम्हार ज्योंही चार पर से पान उतार कर भूमि पर रखते, और वह शिथिल कंजर का निगाहा मार कर उसे तोड़ दे । कुम्हार ने शिथिलता की तो मिच्छामि दुःखद कहने लगा । परन्तु वह क्या नहीं, बार बार मिच्छामि दुःखद देता रहा और पात्र तोड़ता रहा । आखिर कुम्हार को आदेश आ गया, उसने कंजर उठार कर चुल्लक के वान पर रख ज्योंही जोर से दबाया तो वह पीड़ा से तिलमिला उठा । उसने कहा, अरे यह क्या कर रहा है ? कुम्हार ने कहा—‘मिच्छामि दुःखद’ । दबाता जाता और मिच्छामि दुःखद कहता जाता, अन्त में चुल्लक को अपने मिच्छामि दुःखद की भूल स्वीकार करनी पनी ।

जब तक पश्चात्ताप न हो, तब तक केवल वाणी की ‘मिच्छामि दुःखद’ कुम्हार की मिच्छामि दुःखद है । यह मिच्छामि दुःखद आत्मा को शुद्ध तो क्या, प्रत्युत और अधिक अशुद्ध बना देती है । यह मार्ग पाप के प्रतिकार का नहीं, अपितु पाप के प्रचार का है । देखिए, आचार्य भद्रबाहु, इस सम्बन्ध में क्या कहते हैं —

जहं यः पठिष्यन्मियच्च,

अथस्तं पाउणं पापयः कर्म ।

तं चेच्च न काय्यम्,

तो रोइ पण पठिष्यन्तो ॥६८३॥

—पाप कर्म करने के पश्चात् जब प्रतिनमण अनर्थ करणीय है, तब सरल मार्ग तो यह है कि वह पाप कर्म किया ही न जाय । आध्यात्मिक दृष्टि से वस्तुतः यही सच्चा प्रतिनमण है ।

जं दुःखदं ति मिच्छाः

त मुञ्चो कारण अपूरेतो ।

सिचिरेण पठिष्यन्तो,

तरसं सतु दुःखदं मिच्छा ॥६८४॥

— जो सातक विविध योग से प्रतिकर्मण करता है, जिस पाप के लिए

मिच्छामि दुक्कडं दे देता है फिर भविष्य में उस पाप को नहीं करता है, वस्तुतः उसी का दुष्कृत मिथ्या अर्थात् निष्फल होता है।

जं दुक्कडं ति मिच्छा,

तं चेव निसेवए पुणो पार्व ।

पच्चक्ख - मुस्सावाई,

मायानियडी - पसंगो य ॥६८॥

—साधक एक बार मिच्छामि दुक्कडं देकर भी यदि फिर उस पापाचरण का सेवन करता है तो वह प्रत्यन्तः झूठ बोलता है, दंभ का जाल बुनता है।^१

आचार्य धर्मदास तो उपदेश माला में इस प्रकार के धर्म-ध्वजी एवं वक्त्रात्ति लोगों के लिए बड़ी ही कठोर भर्त्सना करता है, उन्हें मिथ्यादृष्टि कहता है।

जो जहवायं न कुणइ,

मिच्छादिद्वी तउ हु को अनो ?

बुड्डेइ य मिच्छत्तं,

परस्स संकं जणेमाणो ॥५०६॥

—जो व्यक्ति जैसा बोलता है, यदि भविष्य में वैसा करता नहीं है तो उससे बढ़कर मिथ्या दृष्टि और कौन होगा ? वह दूसरे भद्र लोगों के

१—जैनजगत के महान् दार्शनिक वाचक यशोविजय भी अपनी गुर्जर भाषा में इसी भावना को व्यक्त कर रहे हैं—

‘मूल पदे पढिकमणू भाख्यूं, पापतणुं अणकरवू’ ।

मिच्छा दुक्कड देई पातक,

ते भावे जे सेवेरे ।

आवश्यक साखे ते परगट,

माया मोसो सेवेरे ॥’

मन में शंका पैदा करता है और इस रूप में मिथ्यात्व की वृद्धि ही करता है ।

आचार्य श्री भद्रबाहु स्वामी, आवश्यक निष्ठुंति में, 'मिच्छामि दुक्कड' के एवम् अक्षर का अर्थ ही इस रूप में करते हैं कि यदि साधक मिच्छामि दुक्कड करता हुआ उस पर विचार कर ले तो फिर पाप चरण करे ही नहीं ।

‘मि’ ति मिउमद्दयत्ते,

‘छ’ ति य दोसाण छायाणे होइ ।

‘मि’ ति य मेराए ठिओ,

‘दु’ ति दुगुंछामि अभाण ॥६८६॥

‘क’ ति कड मे पाव,

‘ड’ ति य डेवेमि तं उवसमेण ।

एसो मिच्छा दुक्कड,—

पयकरत्तथो समासेण ॥६८७॥

—‘मि’ का अर्थ मृदुता और मार्दवता है । काय नम्रता को मृदुता कहते हैं और भावनम्रता को मार्दवता । ‘छ’ का अर्थ असयमयोग रूप दोनों को छादन करना है, अर्थात् रोक देना है । ‘मि’ का अर्थ मर्षादा है, अर्थात् मैं चारित्र्यरूप मर्षादा में स्थित हूँ । ‘दु’ का अर्थ निन्दा है । ‘मैं’ दुष्का करने वाले भूतपूर्व आत्ममर्षाव की निन्दा करता हूँ । ‘क’ का भाव पापकर्म की स्वीकृति है, अर्थात् मैंने पाप किया है, इस रूप में अपने पापों को स्वीकार करना । ‘ड’ का अर्थ उग्रशम माव के द्वारा पाप कर्म का प्रतिक्लमण करना है, पापक्षेत्र को लौट जाना है । यह सबो में मिच्छामि दुक्कड पद का अक्षरार्थ है ।

हाँ तो सख्त यात्रा के पथ पर प्रगति करते हुए यदि कहीं साधक से भूत हो जाय, तो सर्वप्रथम उसके लिए अच्छे मन से पश्चात्ताप होता चाहिए, फिर से उस भूत की आशुति न होने देने के लिए सख्त सक्रिय प्रयत्न भी चानू हो जाना चाहिए । मन का साधक

होना अत्यन्त आवश्यक है। दिल में सुखी रागराज दृष्ट भी सफलता नहीं मिल सकती। इस प्रकार परवाना के उद्भव प्रकाश में यदि मन, वाणी और कर्म से मिष्टानि दुष्ट है दिया जाय तो वह कदापि निष्फल नहीं हो सकता। वह राग की कानिमा को भोगा, और अवश्य भोगा।

: २६ :

मुद्रा

साधक के लिए आसनस्थ आदि क्रिया करते समय वहाँ अन्तरंग में मन की एकाग्रता अपेक्षित है, वहाँ गहर में शरीर की एकाग्रता भी कम महत्त्व की नहीं है। उद्द्रव्य अभ्यस्य है, परन्तु भाव के लिए अत्यन्त अपेक्षित है। सैनिक में वहाँ दीनता का गुण अपेक्षित है, यहाँ बाहर का व्यायाम और उपायद कया दुःख कम मूल्य रखते हैं ? नहीं, ये शरीर की सुदृढ़, स्फूर्तिमान, और विरोधी आत्ममय से बचने के योग्य बनाते हैं। यही कारण है कि भारतीय धर्मों में आध्यात्मिक क्षेत्र में भी आसन और मुद्रा आदि का बहुत बड़ा महत्त्व माना गया है।

शरीर के अव्यवस्थित रूप में रहने वाले अभ्यसियों को अमुक विशेष आकृति में व्यवस्थित करना, सामान्य रूप से मुद्रा कहा जाता है। मुद्रा, साधक में नवचेतना पैदा करती है और भावना का उल्लास जगा देती है। ज्यों ही किसी विशेष मुद्रा के करने का प्रसंग आता है, त्यों ही साधक जाग्रत हो जाता है और उसका भूता भटका मन सहसा केन्द्र में आ खड़ा होता है। मन्द और क्षीण हुई धर्म चेतना, मुद्रा का प्रसंग पा कर पुनः उद्दीप्त हो उठती है, फलतः साधक नई स्फूर्ति के साथ साधना के पथपर अग्रसर हो जाता है।^१

१—मुद्रा के लिए आचार्य नेमिचन्द्र प्रवचन सरो दार में कहते हैं कि मुद्रासे अशुभ मन, वचन, काय योग का निरोध होता है और उनकी शुभ में प्रवृत्ति होती है। 'कायमलोचयणनिरोद्धयं च त्रिविधं च परिहाण ॥' १७१। 'कायमनोवचनानामङ्गुलजलपाना निरोधन—

अर्ध, दृष्टानां च तेषां करणमिति।

जैन साहित्य में इस प्रकार की तीन मुद्राएँ मानी गई हैं— (१) योग मुद्रा, (२) जिन मुद्रा, और (३) मुक्ताशुक्ति मुद्रा ।

एक हाथ की अंगुलियों को दूसरे हाथ की अंगुलियों में डाल कर कमल-डोडा के आकार से हाथ जोड़ना, दोनों हाथों के अंगुठों को मुख के आगे नासिका पर लगाना, और दोनों हाथों की कुहनियों को पेट पर रखना, योग मुद्रा है । यह मुद्रा घुटने टेक कर, अथवा गोदुह आसन से उकड़ बैठकर की जाती है ।

जिनेश्वर देव जब कायोत्सर्ग करते हैं, तब दोनों चरणों के बीच अंगुठों के भाग में चार अंगुल जितना और पीछे के भाग में एड़ी की ओर चार अंगुल से कुछ कम साठे तीन अंगुल जितना अंतर रखते हैं । और उक्त दशा में दाहिना हाथ दाहिनी जंघा के पास एवं बायाँ हाथ बाईं जंघा के पास लटकता रहता है । दोनों हाथों की हथेलियाँ आगे की ओर चित्त खुली हुई होती हैं । यह जिनमुद्रा है । यह मुद्रा दण्डायमान सीधे खड़े होकर की जाती है ।

तीसरी मुक्ताशुक्ति मुद्रा का यह प्रकार है कि कमल-डोडा के समान दोनों हाथों को बीच में पोल रख कर जोड़ना और मस्तक पर लगाना, अथवा मस्तक से कुछ दूर रखना । मुक्ता का अर्थ है मोती, और शुक्ति का अर्थ है सीरा । अस्तु मुक्ताशुक्ति के समान मिली हुई मुद्रा, मुक्ताशुक्ति मुद्रा कहलाती है । यह मुद्रा भी घुटनों को भूमि पर टेक कर, अथवा गोदुह आसन से उकड़ बैठकर की जाती है ।

अन्तोऽन्नंतरं अंगुलि,

कोसागारेहिं दोहिं हत्थेहिं ।

पेटोपरि कुम्भर-संठेहिं,

तह जोग-उद्दत्ति ॥७४॥

चत्तारि

अंगुलाइं,

पुरयो जत्थ पच्छिमओ

पापाणं हस्तगो,
 एसा पुण होइ त्रिणमुददा ॥७५॥
 मुत्तामुत्तां मुददा,
 सभा जहि होयि गच्छिभया हस्था ।
 ने पुण निंलाड - देसे,
 लग्गा आण्णे अलमृगत्ति ॥७६॥

—प्रवचन सारोद्धार : १ द्वार ।

चतुर्विंशतिस्तव आदि स्तुति पाठ प्रायः योग मुद्रा से किए जाते हैं । व दन करने की क्रिया एवं कार्योत्सर्ग में जिन मुद्रा का प्रयोग होता है । वन्दन के लिए मुक्ताशुक्ति मुद्रा का भी विधान है । इस सम्बन्ध में मैं इस समय अधिक लिखने की स्थिति में नहीं हूँ । विद्वानों से विचार विमर्श करने के बाद ही इस दिशा में कुछ अधिक लिखना उद्युक्त होगा ।

: २७ :

प्रतिक्रमण पर जन-चिन्तन

पापाचरण एक शल्य है, जो उसे बाहर न निकाल कर मन में ही छिमाए रहता है, वह अन्दर अन्दर पीड़ित रहता है, बर्बाद होता है।

×

×

×

प्रतिक्रमण संयम के छेदों को बन्द करने के-लिए है। प्रतिक्रमण से आश्रय रुकता है, संयम में मावधानता होती है, फलतः चारित्र की विशुद्धि होती है।

×

×

×

सरलहृदय निष्कपट साधक ही शुद्ध हो सकता है। शुद्ध मनुष्य के अन्तःकरण में ही धर्म ठहर सकता है। शुद्ध हृदय साधक, धी से सिंचित अग्नि की तरह शुद्ध होकर परम निर्वाण अर्थात् उच्चैःशान्ति को प्राप्त होता है।

×

×

×

आत्म-दोषों की आलोचना करने से पश्चात्ताप की भट्टी-सुलगती है। और उस पश्चात्ताप की, भट्टी में सब दोषों को जलाने के बाद साधक परम वीतराग भाव को प्राप्त करता है।

×

—भगवान् महावीर

तू अपने किए पापों से अपने को ही मलिन बना रहा है। पाप छोड़ दे तो स्वयं ही शुद्ध हो जायगा। शुद्धि और अशुद्धि अपने ही हैं। अन्य मनुष्य अन्य मनुष्य को शुद्ध नहीं कर सकता।

×

×

×

यद शून्य से मनुष्य विधा हुआ है तो यह भगदौड़ मचायगा ही। र यदि वह अन्तर में विधा हुआ वाण्य स्वीच कर निकाल लिया जाय, तो वह शान्ति से चुप बैठ जायगा।

+

+

+

जो मनुष्य समस्त पापों को हृदय से निकाल बाहर कर देता है, जो विमल, समदिन, और स्थितात्मा होकर ससार-सागर को लॉय जाता है, उसे ब्राह्मण कहते हैं।

—उपानिषद् बुद्ध

जो मनुष्य जितना ही अन्तर्मुख होगा, और जितनी ही उसकी वृत्ति सात्विक व निर्मल होगी, उतनी ही दूर की वह सोच सकेगा और उनसे ही दूर के परिणाम वह देख सकेगा।

+

+

+

कर्म दूषित हो गया हो तो व्यास धनरत्ने की रात नहीं, वृत्ति दूषित न होने दा। वृत्ति को दूषित होने से उचाने का उपाय है मन का भी दोषों से बचाने का प्रयत्न करना।

X

X

X

पाप को पेट में मत रख, उगल दे। जहर तो पेट में रख लेने से शरीर को ही मारता है, किन्तु पाप तो सारे सम्य को ही मिटा देता है।

X

X

X

जहाँ गुनता है वहाँ कोई दुपई अवश्य है। दुपई को क्षिपाना, दुपई को बढाना है।

X

X

X

विनाश, चोरी की तरह, गायिल मनुष्य के घर में ही सँब लगाते हैं। जागरूकता उनके हमले से उचाव की समसे नहीं ढाल है।

X

X

X

प्रसार ज्ञान का कनान अरुनी नोट बुक में यात्रा तथा

जहाज सम्बन्धी बातें लिखता है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को निष्पक्ष भाव से प्रतिदिन अपने दैनिक कार्य-क्रम के बारे में लिखना चाहिए और अगले दिन उसे सोचना चाहिए कि उसके काम में जो त्रुटियाँ और दोष रह गए हैं, उनके दूर करने में वह कहाँ तक सफल हुआ ?

+

+

+

पाप विनारा की वंशी है, जिसके कोंटे का ज्ञान मछली को लीजते समय नहीं, बल्कि मरते समय होता है ।

x

x

x

पतन में परिणाम का अज्ञान होता है । भावावेश में जो कुछ होता है, वह मूर्छित दशा में होता है, और मूर्छा उतर जाने पर हुआ पश्चात्ताप उसे शुद्ध करके आगे बढ़ाता है ।

x

x

x

यदि तूने अपनी कोई गलती महसूस की है तो तू अपनी तरफ से उसे फौरन पोंछ डाल । दूसरे की गलती या अन्याय को उनके इन्साफ पर छोड़ दे ।

x

x

x

गुप्तता का दूसरा पहलू है असंयम । जितना ही अधिक संयम, उतना ही अधिक खुशी पुस्तक का-सा जीवन ।

x

x

x

जब तुम अपने को पढ़ने लागोगे तो देखोगे कि कैसे-कैसे विस्मय-जनक पृष्ठ व दृश्य सामने आते हैं ।

अपने को पहचानने के लिए मनुष्य को अपने से बाहर निकल कर तटस्थ बनकर अपने को देखना है ।

x

x

x

यह कितनी गलत बात है कि हम मैले रहें और दूसरों को साफ रहने की सलाह दें ।

x

x

x

मनुष्य जीवन और पशुजीवन में फरक क्या है ? इसका सम्पूर्ण-विचार करने से हमारी सभी सुगीतों हल होती हैं ।

× × × ×

मनुष्य जब अपनी हृद से बाहर जाता है, हृद से बाहर काम करता है, हृद से बाहर विचार भी करता है, तब उसे व्याधि हो सकती है, मोघ या मक्का है ।

× × × ×

हमारी मन्दगी हमने जब बाहर नहीं निमाली है, नच तक प्रभु की प्रार्थना करने का हमें कुछ हक है क्या ?

× × × ×

गुनाह छिपा नहीं रहता । वह मनुष्य के मुख पर लिखा रहता है । उस शत्रु की हम पूरे तौर से नहीं जानते, लेकिन बात साफ है ।

× × × ×

गमती, तब गलती मिटती है जब उसकी दुस्ली कर लेते हैं । गलती जब दस देते हैं, तब वह फोड़े की तरह फूटती है और भयानक स्वरूप ले लेती है ।

× × + ×

आत्मा को पहचानने से, उसका ध्यान करने से और उसके गुणों का अनुसरण करने से मनुष्य ऊँचे जाता है । ढलाने करने से नीचे जाता है ।

× × × ×

अन्धा वह नहीं जिसकी आँखें फूट गई हैं । अन्धा वह है जो आने दोर दौकता है !

× ×, × ×

क्यों नारक दूसरों के ऐर डूँटने चलते हो ? माना कि सभी पापी हैं, सभी अन्धे हैं, सभी गुनहगार हैं । लेकिन, तुम दूसरों को क्या

उपदेश दे रहे हो ? जन अपने भीतर तो शौंक कर देंगे कि यहाँ सुधार की कोई सुझाव है या नहीं ? अगर है तो फिर तुम्हारे सामने काफी जरूरी काम मौजूद है । मन्ने पढ़ने हमी पर ध्यान दो । सबसे पहले अपना सुधार करो । और जब तक तुम खुद मैने हो, तब तक तुम्हें दूसरों को उपदेश देने का क्या अधिकार है ?

* * * *

पर हिंसात्मकता की अपेक्षा आत्मनिरीक्षण मानवता है
 किसी के अंगुष्ठा की भृशता और चमा कर देना मानवता है ।
 बदला लेना नहीं, देना मानवता है ।

—महात्मा गांधी

प्रत्येक व्यक्ति को सुधार से संबंध करने के लिए अपनी शक्ति पर
 विश्वास होना चाहिए ।

* * * *

सुझाव और कितने ही दुर्गुण हो सकते हैं, परन्तु एक दुर्गुण
 नहीं है कि 'बिना कर परदे के पीछे कुछ करना' ।

* * * *

हमें अपने आपको लोगों में वैसा ही जाहिर करना चाहिए, जैसे
 कि हम वास्तव में हैं । कोरी नुमाइश करना ठीक नहीं है ।

—जवाहरलाल नेहरू

अपनी मर्यादा को ठीक कायम रखने से ही हम अपने शब्द के
 भगवान् का साक्षात्कार कर सकते हैं ।

—पद्मभिषीतारमैय्या

हमारे लिए धर्म हमेशा से ही कठोर मतों का पिढारा नहीं, बल्कि
 आत्मा की खोज का साधन रहा है ।

—राजगोपालाचार्य

धर्म जीवन की साधना करते हुए अपने आपसे पूछा कि कहीं तुमने ऐसा काम तो नही किया है, जो घणा का हो, द्वेष का हो, अथवा शत्रुता की भावना को बढाने वाला हो। इन प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर मिले तो समझना चाहिये कि प्रार्थना का, धर्माचरण का आप पर कोई असर नकर हो रहा है, अथवा हुआ है।

—मन्त सुदको जी

मन का सभी मैल धुल जाने पर ईश्वर का दर्शन होता है। मन मानो मिट्टी से लिपटी हुई एक लोहे की सुई है, ईश्वर है चुम्बक। मिट्टी के रहते चुम्बक के साथ सम्बन्ध नहीं होता। रेतें रेतें (शुद्ध हृदय से परचात्तार करते) सुई की मिट्टी धुल जाती है। सुई की मिट्टी यानी काम, क्रोध, लोभ, पाप बुद्धि, विषयबुद्धि आदि। मिट्टी के धुल जाने पर सुई को चुम्बक खींच लेगा, अर्थात् ईश्वर दर्शन होगा।

x

x

x

x

परम यदि दीपक न जले तो वह दारिद्र्य का चिह्न है। हृदय में ज्ञान का दीपक जलाना चाहिए। हृदय में ज्ञान का दीपक जलाकर उसको देखो।

—धीरामकृष्ण परमहंस

मेरी समझ में, हम लोगो को ऐसा होना चाहिए कि यदि सब कोई वैसे हो तो यह पृथ्वी स्वर्ग बन जाय।

—ईश्वरचन्द्र विद्यासागर

जिनका हृदय शुद्ध है वे धन्य हैं, क्योंकि उन्हें परमात्मा की प्राप्ति अनश्य ही होगी। अतएव यदि तुम शुद्ध नहीं हो तो फिर चाहे दुनिया का सारा विज्ञान तुम्हें अगम हो, परन्तु फिर भी उसका कुछ उपयोग न होगा।

x

x

x

x

अगर शुद्ध हृदय और बुद्धि में भगदा पड़े तो तुम अपने शुद्ध

हृदय ही की सुनो । शुद्ध हृदय ही सत्य के प्रतिबिम्ब के लिए सर्वोत्तम दर्पण है ।

x x x x

हृदय को सर्वदा अधिकाधिक पवित्र बनाओ, क्योंकि भगवान् के कार्य हृदय द्वारा ही होते हैं । अगर तुम्हारा हृदय काफी शुद्ध होगा तो दुनिया के सारे सत्य उसमें आविर्भूत हो जायेंगे ।

x x x x

हम दुर्बल हैं—इस कारण गलती करते हैं और हम अज्ञानी हैं, इसलिए दुर्बल हैं । हमें अज्ञानी कौन बनाता है ? हम स्वयं ही । हम अपनी आँखों को अपने हाथों से ढँक लेते हैं और अंधेरा है—कहकर रोते हैं ।

—स्वामी विवेकानन्द

धर्म का सार सत्य है, अपने ऊपर से परदे का हटाना, अर्थात् अपने आपका रहस्य जानना ।

x x x x

अपने प्रति सच्चे बानिए, और संसार की अन्य किसी बात की ओर ध्यान न दीजिए ।

x x x x

संसार में व्यथा का प्रधान कारण यह है कि हम लोग अपने भीतर नहीं देखते ।

x x x x

अपने आपको दूसरों की आँखों से मत देखो । वरन् सदा अपने शन्दर देखो ।

x x x x

मर्जितम आलोकना यद् है, जो बाहर से अनुभव करने के बदले सोमो को वही अनुभव भीतर में करा देती है ।

x x x x

आत्मा से बाहर मा भयसं, आने ही केन्द्र में स्थित रहे ।

—स्वामी रामतीर्थ

यदि एक तरफ से या अपने एक ही में तुम सत्य के सम्मुख हो जाओ और दूसरी तरफ से आसुनी शक्तियों के लिए अपने द्वार बंद कर लो तो यह आशा करना व्यर्थ है कि भगवत्प्रसाद शक्ति तुम्हारा साथ देगी । तुम्हें अपना मन्दिर स्वच्छ रखना होगा, यदि तुम चाहते हो कि भाग्यशक्ति शक्ति प्राप्त रूप से हमें प्रसन्न हो ।

x x x x

पहले यह ड्रॉट निसालो कि तुम्हारे अन्दर कौनसी चीज है, जो भिन्ना या तमोवस्तु है और उसका महत्त्व त्याग करो ।

x x x x

यह मन समझो कि सत्य और भिन्ना, प्रकाश और अन्धकार सम्पूर्ण और स्वार्थ साधन एक साथ उस घर में रहने दिए जायेंगे, जो यह भगवान् को निवेदित किया गया हो ।

—श्री परमहंस योगी

चित्त जब तक गंगाजल की तरह निर्मल व प्रशान्त नहीं हो जाता, तब तक निरामता नहीं आ सकती । ... अन्तर्मध्य—भीतर व बाहर दोनों एक होना चाहिए ।

+ + +

निर्मल कोई बड़ा दीप है, ऐसा किसी को मालूम ही नहीं होता ; परन्तु विस्मृति प्रमार्थ के लिए नाशक हो जाती है । व्यवहार में भी विस्मृति से हानि ही होती है, इसीलिए भगवान् यह बताने हैं—

मञ्चुषो पदं ।' अर्थात् प्रमाद—विस्मरण—मानो मृत्यु ही है । एक एक क्षण का हिंसाव रखाए तो फिर प्रमाद को घुसने की जगह ही नहीं रहेगी । इस रीति से सारे तमोगुण को जीतने का प्रयत्न करना चाहिए ।

—आचार्य विनोबा भावे

कुछ लोग दूसरों के दोषों की ओर ही नजर फेंकते रहते हैं, लेकिन उन्हें अपने दोष देखने की फुर्सत ही नहीं मिलती । हमें अक्सर अपने मित्रों की बुराइयों को कहने और सुनने का जरूरत से ज्यादा शौक होता है । अपनी ओर देखना बहुत कम लोग जानते हैं ।

+

+

+

दूसरों को बुरा भताने से हम खुद बुरे बन जाते हैं, क्योंकि हम अपने दोषों को दूर करने के बजाय उन्हें भूलने का प्रयत्न करते हैं ।

+

+

+

सुख और शान्ति का भरना हमारे अन्दर ही है । अगर हम अपने मन और हृदय को पवित्र कर सकें तो फिर तीर्थों में भटकने की जरूरत नहीं रहेगी ।

—श्रीसत्तारायण

आजकल हम लोगों को अपने वृद्ध आत्मा की मुक्ति की उतनी चिन्ता नहीं है, जितनी कि जगत के सुधार की ।

+

+

+

हमारी सम्यक्ता और उसके मूल तत्त्वों का अच्छी तरह से विश्लेषण और बिना किसी सोच-संकोच के आलोचन हो जाना, आगे होने वाले सुधार के लिए अत्यन्त आवश्यक है । क्योंकि सच्चाई के साथ अपनी भूल को स्वीकार करना, सब प्रकार के सुधार का मूलारंभ है ।

—डा० एस० राधाकृष्णन्

जीवन में असफल होने वालों की समाधि पर असावधानी और लापरवाही आदि शब्द लिखे जाते हैं।

—हर्नेट मार्डेन

पानी जैसी चंचलता से मनुष्य ऊँचा नहीं उठ सकता।

—बर्क

जो व्यक्ति अपने हृदय में दुर्गुणों पर इतना विजयी हो गया है कि दुर्गुणों के प्रकार और उनके उद्गम को जान सके तो वह किसी भी प्राणी से घृणा नहीं करेगा, किसी भी प्राणी का तिरस्कार नहीं करेगा।

+

+

+

शान्ति उसे ही प्राप्त होती है, जो अपने ऊपर विजय प्राप्त करता है, जो प्रतिदिन अधिनाधिक आत्मसंयम और मस्तिष्क को अपने अधिकार में रखने का शान्तिपूर्ण उद्योग करता है।

+

+

+

मनुष्य बुरे स्वभाव, घृणा, स्वार्थ, तथा अश्लील और गदित विनोदों के द्वारा अपना संहार करता है और फिर जीवन को दोष देता है। उसे स्वयं अपने आपको दोष देना चाहिए।

+

+

+

आप जैसा चाहें वैसा अपना जीवन बना सकते हैं, यदि आप हठता के साथ अपनी भीतरी वृत्तियों को डीफ करें।

—जेम्स एलन

परचात्पाप के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य मिछले पापों पर सच्चे मन से लज्जित हो, और फिर कभी पाप करने का प्रयत्न न करे।

—संत अय्यर

जब तक कोई कड़ाई के साथ अपनी पराजय न करेगा, तब तक वह अपने मन की पूर्णताओं को न समझ सकेगा।

—कनकशिव

मोने से पहले तीन चीजों का हिसाब अवश्य कर लेना चाहिए ।
पहली बात यह सोचो कि आज के दिन मुझ से कोई पाप तो नहीं हुआ
है । दूसरी बात यह सोचो कि आज कोई उत्तम कार्य किया है या नहीं ?
तीसरी बात यह सोचो कि कोई करने योग्य काम मुझ से छूट गया है
या नहीं ?

—शफलात्न

यदि हम यह कहते हैं कि हम में कोई पाप नहीं है तो हम अपने को
धोखा देते हैं और सत्य से हाथ धोते हैं ।

—जान

मित्र दे अपनी शफलत फिर जगा श्रवाव शफलत को,
उन्हें सोने दे पहले खवाव से वेदार तू होजा ।

—सीमाव अकवरावादी

यदि जग में है ईश्वरता,
तो है मनुष्यता में ही ।
है धर्म तत्त्व अन्तर्हित,
मन की पवित्रता में ही ॥

× × × ×
शठता प्रकट जिससे अपनी सदैव हो,
उचित नहीं है कभी ऐसी हठ ठानना ।
यदि होगई हो अपने से कभी कोई भूल,
चाहिए तुरन्त हमें वह भूल मानना ॥
अहंमन्यता है जड़ सारी कमजोरियों की,
वस यह जानना है सब कुछ जानना ।
जितना कठिन अपने को पहचानना है,
उतना नहीं है दूसरों को पहचानना ॥

—ठा० गोपालशरण सिंह

ऐव कसों मनिगरो यहसाने गेश;
दोहा फेरोवर धगरी बाने गेश।

अर्थात् दूसरों के दोषों और अपने गुणों को मत देगो। जब दूसरों के दोषों की तरफ दृष्टि जाय, अपने को देखो।

—फरीदुद्दीन अत्तार

जो हस्ती ता बुवद याकी धरो शैन,
ने आयद इल्मे आरिफ सूरते ऐन।

अर्थात् जब तक जीवन का एक भी धर्म शेष रहता है, तब तक मानी का ज्ञान वास्तविक नहीं कहा जा सकता।

—रायसहरी

दुनिया भर के पाप दूर हो सकते हैं, यदि उनके लिए सच्चे दिल से अप्रमोद करले।

—मुहम्मद सादक

जब तू यज्ञ में बलि देने जाय, तब तुझे याद आए कि तेरे और तेरे भाई के बीच बैर है, तो वापस हो जा और समझौता कर।

x x x x

हे पिता ! इनको (मुझे सजी पर चढ़ाने वालों को) क्षमा कर, क्योंकि ये नहीं जानते कि हम क्या कर रहे हैं ?

—ईसा मसीह



: २८ :

प्रश्नोत्तरी

प्रश्न—प्रतिक्रमण तो आवश्यक का एक अङ्ग विशेष है, फिर क्या कारण है कि आज कल समस्त आवश्यक क्रिया को ही प्रतिक्रमण कहते हैं ?

उत्तर—यद्यपि प्रतिक्रमण आवश्यक का विशेष अङ्ग है। तथापि सामान्यतः सम्पूर्ण आवश्यक को जो प्रतिक्रमण कहा जाता है, वह रुढ़ि को लेकर है। आज कल प्रतिक्रमण शब्द सम्पूर्ण आवश्यक के लिए रूढ हो गया है। सामायिक आदि आवश्यकों की शुद्धि प्रतिक्रमण के बिना होती नहीं है, अतः प्रतिक्रमण मुख्य होने से वही आवश्यक रूप में प्रचलित है।

प्रश्न—प्रतिक्रमण प्राकृत भाषा में ही क्यों हो ? यदि प्रचलित लोकभाषा में अनुवाद पड़ा जाय तो अर्थ का ज्ञान अच्छी तरह हो सकता है ?

उत्तर—प्राचीन प्राकृत पाठों में इतनी गम्भीरता और उच्च भावना है कि वह आज के अनुवाद में पूर्णतया उतर नहीं सकती है। कभी-कभी ऐसा होता है कि मूलभावना का स्पर्श भी नहीं हो पाता। दूसरी बात यह है कि लोक भाषाओं में हुए अनुवादों को साधना का अङ्ग बनाने से धार्मिक क्रिया की एकरूपता नष्ट हो जाती है। सांवत्सरिक आदि पर्वविशेष पर यदि सामूहिक रूप में विभिन्न भाषा-भाषी प्रतिक्रमण करने

पेड़ों को तो क्या चिन्ता होगी ? यदि कुछ रोनेवाला कोई मुद्द ! हमारा
मूल प्रश्न तो ही है गुणों का स्वरूप आश्चर्य है। हाँ, स्वरूप को धर्म
न पर्वतों का वन व निम्न अनुपातों का मापन आश्चर्य है। परन्तु
य वान अथ मनमने व जिण हो, मूल विषय में उच्च स्तर नदी देना
चाहिए।

प्रश्न—प्रतिमण का क्या इतिहास है ? पर क्या और वहाँ किन
रूप में प्रचलित रहा है ?

उत्तर—प्रतिमण का इतिहास यही है कि जब से वैश्वधर्म है,
जब से माधु और धर्म की स्थापना है, तभी से प्रतिमण भी है।
स्थापना की शक्ति के लिए ही तो प्रतिमण है। अतः जब से स्थापना,
तभी से उमड़ी गुण भी है। इन दृष्टि से प्रतिमण अनादि है।

वर्तमान काल चक्र में चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। अतः प्रथम और
अन्तिम तीर्थंकर के काल में साधक अधिक जागरूक न थे अतः उनके
लिए दोष लगे या न लगे, नियमेन प्रतिमण का विधान होने से
भ्रुव प्रतिमण है। परन्तु बीच के २२ तीर्थंकरों के काल में साधकों
के अतीव विवेकमय एवं जागरूक होने के कारण दोष लगने पर ही
प्रतिमण किया जाता था, अतः इनके शासन का अभ्रुव प्रतिमण
है। इसके लिए भगवती सूत्र, स्थानांगसूत्र एवं कला सूत्र शक्ति आदि
द्रष्टव्य हैं। आचार्य मद्रवाहु ने भी आश्चर्य निरूपित में ऐसा ही
कहा है—

सपट्टिकमणो धर्मो,

पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स ।

मज्झिमयाणं जिणारणं,

कारणजाणं पट्टिकमणं ॥ १०४४ ॥

कुछ आचार्यों का कथन है कि दैविक, रात्रिक, पार्थिक, चातु
र्मासिक एवं साप्ताहिक उक्त पाँच प्रतिमणों में से कोई तीर्थंकरों के

काल में दैवसिक एवं रात्रिक दो ही प्रतिक्रमण होते थे, शेष नहीं।
अतः सप्ततिस्थानक ग्रन्थ में कहा है :—

देवसिय, राइय, पक्खिय,
चउमासिय वच्छरिय नामाओ ।

दुएहं परा पडिक्कमणा,
मज्झिमगाणं तु दो पढमा ॥

उक्त दो प्रतिक्रमणों के लिए कुछ सज्जन यह सोचते हैं कि प्रातः और सायं नियमेन प्रतिक्रमण किया जाता होगा। परन्तु यह बात नहीं है। इसका आशय इतना ही है कि दिन और रात में जब भी जिस क्षण भी दोष लगता था, उसी समय प्रतिक्रमण कर लिया जाता था। उभय काल का प्रतिक्रमण नहीं होता था। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के शासन में भी दोष काल में ही ईर्यापथ एवं गोचरी आदि के प्रतिक्रमण के रूप में तत्काल प्रतिक्रमण का विधान है। फिर भी साधक असावधान हैं। अतः सम्भव है समय पर कभी जागृत न हो सके, इसलिए उभय काल में भी नियमेन प्रतिक्रमण का विधान किया गया है। परन्तु त्राईस तीर्थंकरों के शासन में साधक की स्थिति अतीव उच्च एवं विवेकनिष्ठ थी, अतः तत्काल प्रतिक्रमण के द्वारा ही नियमेन शुद्धि कर ली जाती थी। जीवन की गति पर हर क्षण कड़ी नजर रखने वालों के लिए प्रथम तो भूज का अवकाश नहीं है। और यदि कभी भूल हो भी जाए तो तत्क्षण उसकी शुद्धि का मार्ग तैयार रहता है। आचार्य जिनदास आवश्यक चूर्णि में इसी भावना का स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं—“पुरिम पडिक्कमण्हिं उभओ कालं पडिक्कमितठवं, इरियावहियमाणतेहिं उचार पासवण आहारादीण वा विवेगं-काऊण, पदोसपच्चूसेसु, अतियारो हो तु वा मा वा तहावस्सं पडिक्कमितठवं एतेहिं चेव ठाणेहिं । मज्झिमगाणं तित्थे जदि अतियारो अथि तो दिवसो हो तु रत्ती वा, पुठ्वयो, अवरणहो, मज्झणहो, पुठ्वरत्तोवरत्तं वा, अड्ढरत्तो वा ताहे चेव पडिक्कमन्ति । नथि तो न पडिक्कमन्ति ।

तेषां ते असदा पद्यगुणान्ता परिष्कारमा, न च पमादबहुलो, तेषां तेषां
एव भवति ॥

महाविदेह क्षेत्र में हमारी परम्परा के अनुसार महाकाल २२ तीर्थंकरों
के समान ही त्रिनयान है, अतः वहाँ भी दोष लगते ही प्रतिजन्मण
होता है, उभय काल आदि नहीं ।

आवकों के प्रतिजन्मण के सम्बन्ध में क्या स्थिति थी, यह अभी
समझना स्वयं नहीं है । परन्तु अभी ऐसा ही क्या जा सकता है कि
माधुश्री के समान आवकों का भी अपने अपने त्रिनयान में यथाकाल
ध्रुव एवं अध्रुव प्रतिजन्मण होता होगा ।

प्रश्न—प्रतिजन्मण की क्या विधि है ? कौन से पाठ कब और
कहाँ पढ़ने चाहिए ?

उत्तर—आनकल विभिन्न गच्छों की लम्बी-चौड़ी विभिन्न परम्पराएँ
प्रचलित हैं । अस्तु, आज की परम्पराओं के सम्बन्ध में हम कुछ नहीं
बढ़ सकते । हाँ उच्चाध्ययन सूत्र में समाचारी नामक छद्मगीमर्ष अध्ययन
में प्रतिजन्मण विधि की एक साक्ष्य रूप रेखा है, वह इस प्रकार है—

(१) सर्वं प्रथम कायोत्तमं म दैवसिद्धि शान दर्शन चरित्र सम्प्रधी
अतिचारों का चिन्तन करना चाहिए^१ । (२) कायोत्तमं पूर्ण कर

१—अतिचार चिन्तन के लिए आनकल हिन्दी गुन्गाती भाषा में
कुछ पाठ प्रचलित हैं । परन्तु पुराने काल में ऐसा कुछ नहीं था और
न होना ही चाहिए । प्रत्येक व्यक्ति का जीवन प्रवाह अलग-अलग बहता
है, अतः प्रत्येक को अतिचार भी परिस्थिति वश अलग-अलग लगते हैं,
मला उन सब विभिन्न दोषों के लिए कोई एक निश्चित पाठ कैसे हो
सकता है ? साधक को अतिचार सम्प्रधी कायोत्तमं में यह विचारना
चाहिये कि अमुक दोष, अमुक समय विशेष में, अमुक परिस्थिति वश
लगा है ? कब, कहाँ, किस के साथ क्रोध, अभिमान, छल या लोभ
का व्यवहार किया है ? कब, कहाँ, कौनसा विकार मन वाणी एवं कर्म के

गुरुदेव के चरणों में वन्दन करना चाहिए और उनके समक्ष पूर्व चिन्तित अतिचारों की आलोचना करनी चाहिए । (३) इस प्रकार प्रतिक्रमण करने के बाद प्रायश्चित्त स्वरूप कायोत्सर्ग करना चाहिए । (४) कायोत्सर्ग पूर्ण करके गुरुदेव को वन्दन तथा स्तुति मंगल करना चाहिए । यह दिवस प्रतिक्रमण की विधि है । यहाँ आवश्यक के अन्त में प्रत्याख्यान का विधान नहीं है ।

रात्रिक प्रतिक्रमण का क्रम इस प्रकार निरूपण किया है—(१) सर्व प्रथम कायोत्सर्ग में रात्रि सम्बन्धी, ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप सम्बन्धी अतिचारों का चिन्तन करना चाहिए । (२) कायोत्सर्ग पूर्ण करके गुरुको वन्दन करना चाहिए और उनके समक्ष पूर्व चिन्तित अतिचारों की आलोचना करनी चाहिये । (३) इस प्रकार प्रतिक्रमण करने के बाद गुरु का वन्दन और तदनन्तर दुबारा कायोत्सर्ग करना चाहिए । (४) इस कायोत्सर्ग में अपनी वर्तमान स्थिति के अनुकूल ग्रहण करने योग्य तप-रूप प्रत्याख्यान का विचार करना चाहिए । (५) कायोत्सर्ग पूर्ण करने

क्षेत्र में अवतीर्ण हुआ है ? यह सोचना ही अतिचार चिन्तन है । बंधे हुए पाठों के द्वारा यह आत्म प्रकाश नहीं मिल सकता है ।

१—उत्तराव्ययन सूत्र में यह नहीं कहा गया कि कायोत्सर्ग में क्या विचारना चाहिए ? कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त स्वरूप है अतः वह अपने आप में स्वयं एक व्युत्सर्ग तप है । जो कष्ट हो उन्हें समभाव से सहना ही कायोत्सर्ग का ध्येय है । कायोत्सर्ग में समभाव का चिन्तन ही मुख्य है । इसलिए मूल सूत्र में कायोत्सर्ग में पठनीय पाठ विशेष का उल्लेख नहीं है । परन्तु समा साधक इंस उच्च स्थिति में नहीं होते, इस कारण बाद में 'लोगस्स' पढ़ने की परम्परा चालू हो गई, जो आज भी प्रचलित है ।

२—आज भगड़ा है कि कायोत्सर्ग में कितने लोगस्स का पाठ करना चाहिए ? परन्तु आप देख सकते हैं कि मूलसूत्र में लोगस्स का

य गद गुरु को उन्दन एवं उनका प्रत्यक्षानुभव पर लेना चाहिए । (१)
अन्त में गद गुरु ने य द्वारा आवश्यक की समाप्ति होनी चाहिए ।

यह उत्तराध्ययन गुरु जातिन संज्ञित विषय सम्यक् है । दुर्भाग्य ने
आज इतना गड़बड़ थोड़ा है कि कुछ मार्ग ही नहीं मिलता है ।
कौन क्या कर रहा है, इस पर कर्तव्य ही ठीक दिव्य की बात ।

प्रश्न—आयश्चर्य अर्थात् प्रतिमण्डल विषय सम्यक् करना चाहिए ?

उत्तर—दिन की समानि पर दैविक प्रतिमण्डल होता है और रात्रि
की समानि पर रात्रिक । महीने में २८ बार पार्थिक प्रतिमण्डल होता है,
एक कृष्णपक्ष की समानि पर तो दूसरा शुक्लपक्ष की समानि पर । यह
पार्थिक प्रतिमण्डल पाल्क दिन की समानि पर ही होता है प्रातः नहीं ।
चातुर्मासिक प्रतिमण्डल वर्ष में तीन होते हैं, एक आषाढी पूर्णिमा के
दिन, दूसरा पार्थिक पूर्णिमा के दिन और तीसरा पाल्गुन पूर्णिमा के
दिन । यह प्रतिमण्डल भी चातुर्मासिक दिन की समानि पर ही होता है ।
मासिक प्रतिमण्डल वर्ष में एक बार भाद्रपद शुक्ला पंचमी के दिन
सन्ध्या समय होता है ।

दिन की समानि पर सन्ध्या समय किया जाने वाला प्रतिमण्डल दिन
के चौथे पहर के चौथे भाग में^१, अर्थात् लगभग दो घड़ी दिन शेष
रहते स्थितिभूमि और उच्चार भूमि की प्रतिलेखना करने के परचात
प्रारंभ कर देना चाहिए । समानि के समय का मूल आगम में उल्लेख
नहीं है । परन्तु उपदेशप्रामाद आदि ग्रन्थों का कहना है कि सूर्य निपते समय
अथवा आकाश में प्रथम तारक दर्शन होने समय आयश्चर्य पूर्तिस्वरूप

वही भी उल्लेख नहीं है, वहाँ तो लुटे आयश्चर्य के रूप में ग्रहण करने
योग्य तप के सम्बन्ध में विचार करने का विधान है । परन्तु साधक जब
स्थूल हो गया तो चिन्तन जाता रहा, फलतः उसे लोमस का पाठ पढ़ा
दिया । 'न' होने से कुछ होना अच्छा है ।

१. देखिए, उत्तराध्ययन २६ । २८, २९ ।

प्रत्याख्यान ग्रहण कर लेना चाहिए। यह प्राचीनकाल की परंपरा है। परन्तु आजकल सूर्य के अस्त होने पर प्रतिक्रमण की आज्ञा ली जाती है। जहाँ तक मैं समझता हूँ इसका कारण सन्ध्या समय के आहार की प्रथा है। उत्तराध्ययन सूत्र आदि के अनुसार जबतक साधु-जीवन में दिन के तीसरे पहर में केवल एक बार आहार करने की परंपरा रही, तबतक तो वह प्राचीन काल मर्यादा निभती रही, परन्तु ज्यों ही शाम को दुबारा आहार का प्रारंभ हुआ तो प्रतिक्रमण की कालसीमा आगे बढ़ी और वह सूर्यास्त पर पहुँच गई। समाप्ति का स्थान प्रारंभ ने ले लिया।

प्रातःकाल के प्रतिक्रमण का समय भी रात्रि के चार्थ पहर का चार्था भाग ही बताया है^१। सूर्योदय के समय प्रत्याख्यान ग्रहण कर लेना चाहिए। प्रातःकाल की परंपरा आज भी शायद उसी भाँति चल रही है।

क्या प्रातःकाल के समान दैवसिक प्रतिक्रमण का भी अपना वह पुराना कालमान अपनाया जायगा? क्यों नहीं, यदि सायंकालीन आहार के सम्बन्ध में कोई उचित निर्णय हो जाय तो।

प्रश्न—आवश्यक सूत्र-पाठ का निर्माणकाल क्या है? वर्तमान आगम साहित्य में इसका क्या स्थान है? इसके रचयिता कौन हैं?

उत्तर—यह प्रश्न बहुत गंभीर है। इस पर मुझ जैसा लेखक स्पष्टतः 'हाँ या ना' कुछ नहीं कह सकता। फिर भी कुछ विचार उपस्थित किए जाते हैं।

जैन आगम साहित्य को दो भागों में बाँटा गया है—अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य। अङ्ग प्रविष्ट के आचारांग, सूत्रकृतांग आदि बारह भेद हैं। अङ्ग बाह्य के मूल में दो भेद हैं आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त। आवश्यक के सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव आदि छह भेद हैं, और आवश्यक व्यतिरिक्त के दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि अनेक भेद हैं। यह विभाग नन्दी-सूत्र के श्रुताधिकार में आज भी देखा जा सकता है।

उपयुक्त विभाग पर से यह प्रतीतलित होता है कि 'आवश्यक' श्रंग अर्थात् मूल आगम नहीं है, 'श्रंगबाह्य' शब्द ही इस बात को स्पष्ट कर देता है। श्रंगप्रविष्ट और श्रंगबाह्य की व्याख्या भी यही है कि जो गणधर रचित हो, वह श्रंग-प्रविष्ट। और जो गणधरों के बाद होने वाले स्थविर मुनियों के द्वारा प्राचीन मूल आगमों का आधार लेकर कही शब्दशः तो कही अर्थशः निमित्त हो, वह श्रंग बाह्य। देखिए, आचार्य जिनदास आवश्यक चूर्णि में यही व्याख्या करते हैं। "जे भरहते हि भगवन्ते हि अईषाणगयवहमाणदत्तखेत्तकाजमाधजयाचरित्त दसीहि अत्था परुविया ते गणहरोहि परमबुद्धि सच्चिवायगुणभम्पनेहि सर्व चेव तित्थगरसगासाओ अवज्जमिक्खणं सत्थसत्ताणं हितट्ठयाणं मुत्तनेण वदसिबद्धा तं श्रंगपविट्ठं, आधाराइ दुवाक्खसदिहं। जं पुण अण्येहि विसुखागमबुद्धिगुत्तेहि येरेहि अप्पाज्याणं मणुयाणं अप्प- बुद्धिसत्तीणं य दुग्गाहकं ति काक्ख तं चेव आधाराइ सुयणाणं परम्परागतं अत्थतो गंयतो य अतिचट्ठं ति काक्ख अणुक्कंवा निमित्तं दसवेतालियमादि परुवियं तं अणोगमेदं अणुंगपविट्ठं।"

श्रंग प्रविष्ट और श्रंगबाह्य की यही व्याख्या उमास्वातिवृत्त तत्त्वार्थ भाष्य, भद्रमूर्त्तिकृत राजचार्तिक आदि प्रायः सभी श्वेताम्बर एवं दिग्गजर ग्रन्थों में है। इस व्याख्या पर से मालूम होता है कि प्राचीन जैन परम्परा में आवश्यक को श्रीगुधर्मा स्वामी आदि गणधरों की रचना नहीं माना जाता था। अपितु स्थविरों की कृति माना जाता था।

अब प्रश्न रह जाता है कि किन काल के किन स्थविरों की कृति है? इसका स्पष्ट उत्तर अभी तक हमने पाम नहीं है। हाँ, आवश्यक सूत्र पर आचार्य भद्रमाहु की नियुक्ति है, सो उनसे बहुत पहले ही कभी सूत्र पाठों का निर्माण हुआ होगा। वर्तमान आगम साहित्य के सर्व प्रथम लेखन काल में आवश्यक सूत्र विद्यमान था, तभी तो भगवती सूत्र आदि में उसका उल्लेख किया गया है। इन उल्लेखों को देखकर कुछ लोग कहते हैं, कि आवश्यक आदि भी गणधर-कृत ही हैं, तभी तो मूल आगम में

उनका उल्लेख है। परन्तु वह उल्लेख देवद्विगणी द्वाभाश्रमण के समय में एक सूत्र के विस्तृत लेख को दूसरे सूत्र के आधार पर संक्षिप्त कर देने के विचार से हुआ है। वह उल्लेख गणधरकृत कदापि नहीं है। पण्डित सुखलालजी ने आवश्यक की ऐतिहासिकता पर काफी सुन्दर एवं विस्तृत चर्चा की है। परन्तु यह चर्चा अभी और गम्भीर चिन्तन की अपेक्षा रखती है।

पाठक एक प्रश्न और कर सकते हैं कि आवश्यक सूत्रपाठ के निर्माण से पहले साधक आवश्यक क्रिया कैसे करते होंगे? प्रतिक्रमण आदि की क्या स्थिति होगी? उत्तर में निवेदन है कि नवकार मन्त्र, सामायिक सूत्र^१ आदि कुछ पाठ तो अतीव प्राचीन काल से प्रचलित आ रहे थे। रहे शेष पाठ, सो पहले उनका अर्थरूप में चिन्तन किया जाता रहा होगा। बाद में जनसाधारण की कल्याण भावना से प्रेरित होकर उन पूर्व प्रचलित भावों को ही स्थविरों ने सूत्र का व्यवस्थित रूप दे दिया होगा। इस सम्बन्ध में लेखक अभी निश्चयपूर्वक कुछ कहने की स्थिति में नहीं है। अलम्।

प्रश्न—क्या जैन धर्म के समान अन्य धर्मों में भी प्रतिक्रमण का विधान है।

उत्तर—जैन धर्म में तो प्रतिक्रमण की एक महत्त्व पूर्ण एवं व्यवस्थित साधना है। इस प्रकार का व्यवस्थित एवं विधानात्मक रूप तो अन्यत्र नहीं है। परन्तु प्रतिक्रमण की मूल भावना की कुछ झलक अवश्य यत्र तत्र मिलती है।

बौद्ध धर्म में कहा है—

“पाणातिपाता चेरमणि सिक्खापदं समादियामि। अदिन्नादाना चेरमणि सिक्खापदं समादियामि। कामेसु मिच्छाचारा चेरमणि

१—सामायिक सूत्र की प्राचीनता के लिए अन्तकृददशांग आदि प्राचीन सूत्रों में एवं भगवान् नेमिकालीन प्राचीन मुनियों के लिए यह पाठ आया है कि—‘सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिक्कइ।’

सिञ्ज्यापदं समादियामि । मुग्धायादा येरमणि सिञ्ज्यापदं समादि-
यामि । मुरामेरयमज्जवमादट्ठाना येरमणं निस्स्यारदं समादियामि ।”

—लघुगट, पंचगील ।

“मुखिनो वा ऐमिनो होन्तु सज्जे सत्ता मज्जन्तु मुखितत्ता ।”

“मेत्तं च सज्जलोकस्मिन्,
मानसं भावये अपग्निमाणं ।

उद्धं अथो च तिरियं च,
असत्ताध अयेरं असपत्तं ॥

—लघुगट, मेत्तमुत्त ।

वैदिक धर्म म कहा है—

“ममोपात्तदुस्तिष्ठयाय श्री परमेश्वर प्रीतये प्रातः सायं सन्ध्यो
वासवमहं करिष्ये ।

—संन्यासत संनृत्यवाक्य

“ॐ सूर्यश्च मा मनुश्च मनुष्यश्च मनुकृतेभ्यः पापेभ्यो
रक्षन्ताम् । यद् राज्या पापमकार्यं मनसा वाचा हस्ताभ्यां पदभ्या-
मुदरेण शिरसा रात्रिस्तद्वलुम्पतु यद् किञ्चिद् दुरितं मयीद्महममृत-
योनौ सूर्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहाः ।”

—कृष्ण यजुर्वेद ।

वैदिक धर्म प्रार्थनाप्रधान धर्म है । उसके गहों परचात्ताप भी
प्राथना प्रधान ही होता है, परमेश्वर की प्रसन्नता के लिए ही होता है ।
फिर भी सब पापों के प्रायश्चित्त की भावना का स्रोत पाया जाता है, ज
मनुष्य के अन्तःकरण के मूल भावों का प्रतिनिधित्व करता है ।

प्रश्न—आवनल आपश्चक साधना पूर्ण विधि से शुद्ध रूप में
नहीं हो पाती है, अतः अविधि एवं अशुद्ध विधि से ही करते रहें तो
क्या हानि है ? अविधि से करते रहेंगे, तब भी परम्परा तो सुगन्धित
 रहेगी ।

उत्तर—आपका प्रश्न बहुत सुन्दर है । जैन धर्म में विधि का

बहुत बड़ा महत्त्व है। उपयोग शून्य अविधि से की जाने वाली साधना केवल द्रव्य साधना है, वह अन्तर्हृदय में ज्ञानज्योति नहीं जगा सकती ! आचार्य हरिभद्र के शब्दों में इस प्रकार की उपयोगशून्य साधना केवल कायचेष्टा रूप है, अतः कायवासित एवं वागवासित है ।^१ जब तक साधना मनोवासित न हो, तब तक कुछ भी अच्छा परिणाम नहीं आता है। अच्छा परिणाम क्या, बुरा परिणाम ही आता है। मुख से पाठों को दुहराना, परन्तु तदनुसार आचरण न करना, यह तो स्पष्टतः मृषावाद है। और यह मृषावाद विपरीत फल देने वाला है।

कुछ लोग अविधि एवं अशुद्ध विधि के समर्थन में कहते हैं कि जैसा चलता है चलने दो ! न करने से कुछ करना अच्छा है। शुद्ध विधि के आग्रह में रहने से शुद्ध क्रिया का होना तो दुर्लभ है ही, और इधर थोड़ी बहुत अशुद्ध क्रिया चलती रहती है, वह भी छूट जायगी। और इस प्रकार प्राचीन धर्म परम्परा का लोप ही हो जायगा।

इसके उत्तर में कहना है कि धर्म परम्परा यदि शुद्ध है तब तो वह धर्म परम्परा है। यदि उपयोग शून्य भारस्वरूप अशुद्ध क्रिया को ही धर्म कहा जाता है, तब तो अनर्थ ही है। अशुद्ध परम्परा को चालू रखने से शास्त्र विरुद्ध विधान को बल मिलता है, और इसका यह परिणाम होता है कि आज एक अशुद्ध क्रिया चल रही है तो कल दूसरी अशुद्ध क्रिया चल पड़ेगी ! परसों कुछ और ही गड़बड़ हो जायगी। और इस प्रकार गन्दगी घटने की अपेक्षा निरन्तर बढ़ती जायगी, जो एक दिन सारे समाज को ही विकृत कर देगी। अस्तु साधक

१—इहंरा उ कायवासितपायं,

अहंवा महामुसावाओ ।

वा अणुस्वाणं चिय,

कायव्वो एस विन्नासो ॥

—योगविंशिका १२।

के लिए आवश्यक है कि वह साधना की शुद्धता का अधिक ध्यान रखे। तब ब्रह्म कर भूल को मध्य देना पाव है।

कुछ भी न करने की अपेक्षा कुछ करने को शास्त्रगारों ने जो अच्छा कहा है उसका भाव यह है कि व्यक्ति दुर्बल है। वह प्रारम्भ से ही शुद्ध विधि के प्रति बहुमान रखता है और तदनुसार ही आचरण भी करना चाहता है, परन्तु प्रमादवश भूल हो जाती है और उचित रूप में सह्यवैध नहीं कर पाता है। इन प्रकार के विवेकशील जाग्रत साधकों के लिए कहा जाता है कि जो कुछ बने करते जाओ, जीवन में कुछ न कुछ करते रहना चाहिए। भूल हो जाती है, इसलिए छोड़ बैठना ठीक नहीं है। प्राथमिक अभ्यास में भूल हो जाना सहन है, परन्तु भूल सुधारने की दृष्टि हो, तदनुसार प्रयत्न भी हो तो वह भूल भी आत्मन में भूल नहीं है। यह अशुद्ध क्रिया, एक दिन शुद्ध क्रिया का कारण बन सकती है। जानबूझ कर पहले से ही अशुद्ध परम्परा का आलम्बन करना एक गलत है, और शुद्ध पद्धति का लक्ष्य रखते हुए भी एवं तदनुसार प्रयत्न करते हुए भी अभावधानीवश भूल हो जाना दूसरी गलत है। पहली बात का किसी भी दशा में समर्थन नहीं दिया जा सकता। हाँ, दूसरी बात का समर्थन इस लिए किया जाता है कि वह व्यक्तिगत जीवन की दुर्बलता है, सर्वे समानता की अशुद्ध परम्परा नहीं है। समानता में कौन सी दुर्बल अशुद्ध विधि विधानों की परम्परा का तो दूर कर विचार करना चाहिए। हाँ, व्यक्तिगत जीवन सम्बन्धी प्राथमिक अभ्यास की दुर्बलता निरन्तर मचेर रहने से एक दिन दूर हो सकती है। धनुर्विद्या के अभ्यास करने वाले यदि जाग्रत चेतना से अभ्यास करने हैं तो उनसे पहले पहल क्रोध भूलें भी होती हैं, परन्तु एक दिन धनुर्विद्या के पारंगत पण्डित हो जाते हैं। एक-एक जल रिंदु के पड़ने होने होते एक दिन सरोवर भर जाते हैं। प्राथमिक अभ्यासनाओं से धनरागर मग रड़े हाना पहले मित्र की वापसता है। जो लोग अभ्यासना के भय से कुछ भा नहीं करते हैं, उनकी अपेक्षा के अन्धे

हैं, जो साधना करते हैं, असफल होते हैं, और फिर साधना करते हैं। इस प्रकार निरन्तर भूलों एवं अमफलताओं से संघर्ष करते हुए जाग्रत चेतना के सहारे एक दिन अवश्य ही सफलता प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार के साधकों को लक्ष्य में रखकर कहा है:—

अविहिकया वरमकृत्यं,

उत्सुग्न-सुतं भणंति गीयथा ।

पायच्छिद्रं जम्हा,

अकण्ठं गुरुयं कण्ठं लह्यं ॥

—अविधि से करने की अपेक्षा न करना अच्छा है, यह उत्सुग्न वचन है। क्योंकि धर्मानुष्ठान न करने वाले को गुरु प्रायश्चित्त आता है, और धर्मानुष्ठान करते हुए यदि कहीं प्रमादवश अविधि हो जाय तो लघुप्रायश्चित्त होता है।

प्रश्न—जो गृहस्थ देश विरति के रूप में किसी व्रत के धारक नहीं हैं, उनको प्रतिक्रमण करना चाहिए, या नहीं? जब व्रत ही नहीं है तो उनकी शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—व्रत हों, या न हों, फिर भी प्रतिक्रमण कर्णीय है। जिसको व्रत नहीं है, वह भी प्रतिक्रमण के लिए सामायिक करेगा, चतुर्विंशतिस्तव एवं वन्दना, क्षमापना आदि करेगा तो उसको भाव-विशुद्धि के द्वारा कर्मनिर्जरा होगी। और दूसरी बात यह है कि प्रतिक्रमण मिथ्या श्रद्धान और विषगीत प्रवृत्तियों का भी होता है। अतः सम्यक्त्व-शुद्धि का प्रतिक्रमण भी जीवन-शुद्धि के लिए आवश्यक है।

प्रश्न—प्रतिक्रमण किस दिशा की ओर मुख करके करना चाहिए?

उत्तर—आगम साहित्य में पूर्व और उत्तर दिशा की ओर मुख करके प्रतिक्रमण करने का विधान है। पश्चात्कालीन आचार्य भी यह परम्परा मानते रहे हैं, पञ्च वस्तुक में लिखा है—‘पुन्याभि मुहा उक्त मुहा य आचक्षर्यं पकृञ्चन्ति ।’ पूर्व और उत्तर दिशा का वैज्ञानिक-दृष्टि से क्या महत्त्व है, यह लेखक के सामायिक सूत्र में देखना चाहिए।

श्रमण-सूत्र

[मूल, अर्थ, विवेचन]

: १ :

नमस्कार-सूत्र

नमो अरिहंताणं,
नमो सिद्धाणं,
नमो आचारियाणं,
नमो उवज्झायाणं,
नमो लोए सव्व-साहूणं ।

शब्दार्थ

नमो = नमस्कार हो	नमो = नमस्कार हो
अरिहंताणं = अरिहंतों को	उवज्झायाणं = उपाध्यायों को
नमो = नमस्कार हो	नमो = नमस्कार हो
सिद्धाणं = सिद्धों को	लोए = लोक में
नमो = नमस्कार हो	सव्व = सब
आचारियाणं = आचार्यों को	साहूणं = साधुओं को

भावार्थ

श्री अरिहंतों को नमस्कार हो, श्री सिद्धों को नमस्कार हो, श्री आचार्यों को नमस्कार हो, श्री उपाध्यायों को नमस्कार हो, और मानव संसार में वर्तमान समस्त साधुओं को नमस्कार हो ।

विवेचन

अग्ने से महान् पवित्र एवं निर्मल आमात्रा का नमस्कार करने की परंपरा आज-कल से नहीं, अनादिकाल से चली आ रही है। महापुरुष के पवित्र व्यक्तित्व का आकर्षण ही ऐसा है कि भक्तिशील माधक, अग्ने आप ही उनके चरण कमला में भात—गद्गद् हो जाता है, नमस्कार के रूप में सर्वत्र अंगुण करने के लिए तैयार हो जाता है। अध्यात्म माधना की यात्रा पर इनसे हुए माधक के हृदय में, आत्मनिष्ठ महापुरुष के प्रति नमस्कार की अमर प्रेरणा, स्वयंसेव उद्भूत होती है। प्रारंभिक माधक उन्दन नहीं कर लेता है, तबतर उसके अन्तर्मन में शान्ति नहीं हो पाती है। परन्तु यों ही अद्भुत के साथ नमस्कार के लिए, मनक झुकाता है, त्यों ही जीवन के कणकण में अनिर्वचनीय दिव्य शान्ति का स्वर्गीय निर्भर यह निरालता है। समार के तूफानों से लुब्ध हृदय हृदय एकतागमी ही हल्कासा-स्थिर हो जाता है। इस पर स्पष्ट निश्चित है कि नमस्कार, मनुष्य का अग्ना प्रकृति मित्र धर्म है, यह कुछ धार्मिक प्रथा के रूप में अथवा व्यावहारिक सम्पत्ता के रूप में ऊपर से लादा गया व्यर्थ का भार नहीं है।

जैन धर्म में अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु के पांच महान् आत्मा माने गए हैं। जहाँ-तहाँ धर्मशास्त्रों में इन्हीं के स्तुतिगान गाए गए हैं। जैसा कि कुछ अनजान साधु समझते हैं, ये किसी व्यक्ति विशेष के नाम नहीं हैं, प्रत्युत आध्यात्मिक गुणों के विकास में प्राप्त होने वाले पाँच महान् आध्यात्मिक अवलम्ब पद हैं। इन पर जैन धर्म का ठेका नहीं है, दावा नहीं है कि ये उसके ही, साम्प्रदायिक दृष्टि से उसकी मान्यता वाले ही महान् हो गए हैं, या हो सकने हैं। सच्चा जैन धर्म विजय का धर्म है और यह विजय है इन्द्रियों पर, मन पर, विकारों पर, कामनाओं पर। जहाँ यह विजय है, वहीं जैन धर्म है। साम्प्रदायिक रूप विशेष की दृष्टि से भले ही वह वहाँ न हो, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से वह वहाँ सर्वत्र विद्यमान है। जैन धर्म मोक्ष-प्राप्ति

में वेप या लिंग की किसी प्रकार की रोक नहीं लगाता है। उसके यहाँ पुरुष भी मुक्त हो सकते हैं, स्त्री भी मुक्त हो सकती है, तीर्थकर भी मुक्त हो सकते हैं, साधारण जन भी मुक्त हो सकते हैं, जैन-धर्म के साम्प्रदायिक रूढ़वाले स्वर्लिङ्गी साधु भी मुक्त हो सकते हैं, अन्य सम्प्रदाय वाले अन्यर्लिङ्गी साधु भी मुक्त हो सकते हैं, और तो क्या गृहस्थ की वेप-भूषा में भी मुक्त हो सकते हैं। परन्तु इन सब के लिए एक ही शर्त है, वह है राग-द्वेष के विजय की। जिसने भी राग-द्वेष को जीता, मोह को मारा, वही जैन-धर्म में भगवान् हो गया। यही कारण है कि नमस्कार सूत्र में अरिहंतों को नमस्कार करते हुए नमो अरिहंताणं कहा गया है। नमो तित्थयराणं नहीं। तीर्थकर भी अरिहंत हैं, परन्तु सभी अरिहंत तीर्थकर नहीं होते। अरिहंतों के नमस्कार में तीर्थकरों को नमस्कार आ जाती है, परन्तु व्यक्ति विशेष स्वरूप तीर्थकरों के नमस्कार में अरिहंतों को नमस्कार नहीं आ सकती है। तीर्थकरत्व मुख्य नहीं है, अर्हद् भाव ही मुख्य है। तीर्थकरत्व, जैन-धर्म की भाषा में आदयिक प्रकृति है, कर्म का फल है। परन्तु अरिहंतदशा नायिक भाव है, वह किसी कर्म का फल नहीं, किन्तु कर्मों की निर्जरा का फल है। तीर्थकरों को नमस्कार भी अर्हद्भाव मुखेन है, स्वतन्त्र नहीं। यह है जैन-धर्म का विराट रूप। जैन-धर्म में व्यक्तिपूजा के लिए जग भी स्थान नहीं है। जो कुछ भी है वह सब, एकमात्र गुण पूजा ही है। 'गुणाः पूजा-स्थानं गुणेषु न च लिंगं न च वयः' यह है जैन-धर्म का गम्भीर घोष, जो अनन्तकाल से विश्व ब्रह्माण्ड में गूँजता चला आ रहा है। जैनधर्म में जहाँ कहीं व्यक्तिपूजा को जगह मिली भी है, वह वहाँ व्यक्ति में रहने वाले आदरास्पद गुणों को ध्यान में रखकर ही है, स्वतन्त्र नहीं। अतएव जैन-धर्म अपने लिए बड़ी निर्भयता के साथ सार्वभौम धर्म होने का दावा रखता है और कहता है कि अखिल संसार का हर कोई मनुष्य, फिर भले ही वह किसी भी जाति का हो, किसी भी देश का हो, किसी भी धर्म का हो, अपने आध्यात्मिक गुणों के विकास

भक्त्या प्राप्त कर आर्द्रत बन सकता है, जैनधर्म में पुरुषार्थों अति-
कठनीय महात्मा तथा परमात्मा ही सकता है। यही कारण है कि प्रभु
नमस्कार मूल में ध्यातिरिणों का नाम न लेकर केवल आध्यात्मिक
भूमिकाओं का ही नाम लिया गया है। पञ्चमस्कृत नमस्कार मंत्र के द्वारा
अनन्तअनन्त अरिष्ट, मित्र, आचार्य, उपाध्याय, और माधुर्यों को
नमस्कार किया गया है। बिना भक्त एव निराश्रय भावना है! इसी में
समष्टि उदयगता का किनासा मुन्दर भावना भरा निर्य है!

नमस्कार मूल में निर्य एक प्रारंभ उदा करता है, यह ईश्वर
की भावना में सञ्जाता है। जब जैनधर्म की मान्यता के अनुसार कर्मा
या ईश्वर नहीं है, फिर नमस्कार में क्या लाभ है? अब गेह अरिष्ट
आदि महान् आत्मा, वे भी महान् या परित्र जो कुछ भी है आने
निर्य है, हमारे लिए तो कुछ करने-कराने नहीं है, मोक्ष, या स्वर्गादि कुछ
देने नहीं है, तब फिर उनका नमस्कार करने से भी क्या लाभ!

उत्तर पहले ही दिया जा चुका है कि नमस्कार मनुष्य का स्वभाव
मिद्वधर्म है। अपने आदर्श महान् आत्माओं को नमस्कार करना
हृदय का स्वतन्त्र भद्राभाव है, उसमें सौदेसजी का क्या अर्थ? यह
नमस्कार 'गुणियु प्रमोद' का अमर स्वर है, 'गुणी जनों की देन हृदय
में मेरे प्रेम उमड़ आवे' का दिव्य राग है। यहाँ क्यों और क्या के
लिए ध्यान ही नहीं है। फिर भी कुछ जानना अपेक्षित हो तो यह
यह है कि गुणीजनों को नमस्कार करने में माधुर्य अथवा ही उन गुणों
की ओर स्नेहादृष्ट होना है, स्वयं वैसा बनना चाहता है, फलतः धीरे
धीरे अपने उपाध के आदर्शों को जीवन में उतारने लगता है,
अनन्तात्म्या ध्येयानुसार ध्याता भी उमी मय में परिवर्तित हो जाता
है। यह है भक्त से भगवान् होने का, आत्मा से परमात्मा बनने का
मार्ग। बनने का मार्ग है, बनाने का नहीं। नमस्कार भाव—विशुद्धि
के लिए, पवित्र मानना के लिए, एव आदर्श स्थिर करने के लिए
किया जाता है। जैसा आदर्श हो, यदि वैसी ही भावना जाग्रत रखनी

जाय, निष्क्रिय न बैठकर, आदर्शपूर्ति के लिए सतत प्रेरणा प्राप्त की जाय, तो जीवन का कल्याण स्वयं सिद्ध है। यह नमस्कार का आन्तरिक भाव है, जो नमस्कार सूत्र के द्वारा पूर्णरूप से स्पष्ट हो जाता है। महाराणा प्रताप की चर्चा चलने पर बहुतों को वीरता के आवेश में मूँछें ऐंठते देखा है, तो क्या महाराणा खुद आकर मूँछें ऐंठ जाते हैं या वीरता के भाव भर जाते हैं? नहीं, यह सब कुछ नहीं है। महाराणा का जीता जागता आदर्श वीर जीवन ही स्मृति में उतर कर कायर से कायर हृदय में भी वीरता की विजली भर देता है। जो जैसी श्रद्धा रखता है, वह वैसा बन जाता है। 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः।' 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।' शेर का बच्चा गड़रिये ने पाल लिया, वस अपने को वह भेड़ बकरी ही समझने लग गया। परन्तु एक दिन जंगल में शेर को देखा तो अपने स्वरूप का भान हो आया, बकरीभन न मालूम कहाँ भाग गया, शेर, शेर हो गया। यही भाव नमस्कार मन्त्र का है। हम सब आत्माएँ मूल में अर्हत्स्वरूप, सिद्धस्वरूप हैं। परन्तु अनादि कालीन मोहमाया का ग्रन्थकार उक्त शुद्ध स्वरूप का भान नहीं होने देता है। परन्तु ज्यों ही आत्म स्वरूप-प्राप्त अरिहन्त आदि का, अथवा स्वरूप प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील साधु आदि का चिन्तन होता है तो साधक आत्माओं को अपने शुद्ध स्वरूप का भान हो उठता है। उपाध्याय देवचन्द्रजी का स्वर इस सम्बन्ध में सुनने योग्य है:—

अज-कुल-गत केशरी लहै रे,

निज पद सिंह निहाल ।

तिम प्रभु भक्ते भवी लहै रे,

आत्म - शक्ति संभाल ॥

नमस्कार मुग्धा में भेड़ मदान् आत्माओं को मिल जाता है। मगल में अनन्त अनन्त आत्माएँ हैं। नार गति और चांगमी ताम्र योनियों में आन्त जीता रा अनन्त मगल आने मुक्तदुःख की भोग यात्रा कर रहा है। और अनन्त आत्माएँ ये हैं, जो मगल यात्रा को समाप्त कर अजर अमर मातृभाम में पहुँच कर मुक्त हो चुके हैं। इस प्रकार उद् और मुक्त अनन्त आत्माओं में आध्यात्मिक इष्टि से पंच प्रसार व आत्मा ही मदान् है, भेड़ है। इनके अनिष्टित न कोई पवित्र है, न कोई मदान् है। इसीलिए पुराने ग्रन्थों की भाषा में इनका पञ्च परमेश्वरी कहा जाता है। परमे तिष्ठतीति परमेश्वरी, अर्थात् जो आत्माएँ परम = शुद्ध पवित्र दशास्त्र उच्च स्वरूप में, वीर्यग भाव रूपा सम भाव में श्री = रहते हैं, वे परमेश्वरी कहलाते हैं। मगल के अन्य साधारण वामनामम आत्माओं की अपेक्षा आध्यात्मिक विभाग ने उच्च स्वरूप में पहुँचे हुए अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और गुरु ही पञ्च परमेश्वरी हैं। मगल की वही से उनी भौतिक विभूति पाए हुए चक्रवर्ती सम्राट् और इन्द्र भी इन पंच आत्माओं के समस्त तुल्य हैं, हीन हैं। ये विश्व की ऊँची से ऊँची भूमिकाओं पर पहुँचे हुए हैं, वही कारण है कि स्वर्ग व इन्द्र भी इनके भी चरणों में मस्तक टेकते हैं। स्वर्ग ने यस्य ह्य देवी देवताओं पर शासन करने वाला इन्द्र अन्यत्र कहीं नहीं झुटना है। भौतिक जगत् का यह सन्ने उदा प्रतिनिधि, जैन दर्शन की परमारा व अनुसार एक मात्र त्याग व चरणा में ही झुटना है। इन विराट् ससार में त्याग के प्रतिनिधि ये पंच ही मदान् आत्मा हैं। नमस्कार मन्त्र में उक्त पंच परमेश्वरी आत्माओं को नमस्कार किया जाता है, अतः नमस्कार मन्त्र का दूसरा नाम परमेश्वरी मन्त्र भी है।

नमस्कार के द्वारा नमस्करणीय पंच मदान् पवित्र आत्माएँ, परमेश्वरी क्या हैं ? इस प्रश्न का उत्तर पंच पदों की मूल व्युत्पत्ति से ही मिल जाता है। जैन साहित्य में पंच पदों का उद्दे विस्तार से वर्णन है।

परन्तु यहाँ विस्तार का प्रसंग नहीं है, मञ्जेप में ही अग्निहन्त आदि के मूल स्वरूप का परिचय दिया जाता है ।

प्रथम पद अग्निहन्त का है । अग्निहन्त में दो शब्द हैं अग्नि और हन्त । अग्नि का अर्थ है, राग द्वेष आदि अन्दर के शत्रु, और हन्त का अर्थ है, नाश करने वाला । अतः फलितार्थ यह हुआ कि जो महान् आत्मा, आध्यात्मिक साधना के बल पर, मन के विकारों से लड़ते हैं, वामनाओं से संघर्ष करते हैं, राग द्वेष से टकरा लेते हैं, और अन्त में इनको पूर्णरूप से मर्दा के लिए नष्ट कर डालते हैं, वे अग्निहन्त कहलाते हैं । अग्निहन्त होने पर ही अर्हन्त होते हैं—सुग, नर, मुनिजन द्वारा वन्दनीय होते हैं—तीन लोक की प्रभुता प्राप्त करते हैं—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र्य, अनन्त शक्ति रूप अनन्त चतुष्टय के भाग्य होते हैं—अखिल विश्व के ज्ञाता द्रष्टा होते हैं—मंसार सागर के अन्तिम तट पर पहुँचने वाले होते हैं । अग्निहन्त की भूमिका, समभाव की सबसे उत्कृष्ट भूमिका है । सुन्दर पर राग और असुन्दर पर द्वेष, यहाँ विलकुल नहीं होता है । सुख, दुःख, हानि, लाभ, जीवन, मरण आदि विरोधी द्वन्द्वों पर एक रस दृष्टि रहती है । शत्रु मित्र सबके लिए, अनन्तानन्त प्राणियों के लिए, कल्याण भावना का कभी न बंद होनेवाला अनन्त निर्भर उनके कण-कण में प्रवाहित होता रहता है । मन, वाणी और कर्म कपायभाव से अलित रहते हैं ।

अग्निहन्त की भूमिका में तीर्थंकर अग्निहन्त भी आ जाते हैं, और दूसरे सब अग्निहन्त भी । तीर्थंकर और दूसरे केवली अग्निहन्तों में आत्म-विकास की दृष्टि से कुछ भी अन्तर नहीं है । सब अग्निहन्त अन्तरंग में एक ही भूमिका पर होते हैं । सबका ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और वीर्य समान ही होता है । सबके सब अग्निहन्त क्षीण मोह की भूमिका पार करने के बाद तेरहवें गुण स्थान में होते हैं, न कोई एक इंच आगे और न कोई एक इंच पीछे । ज्ञातृभाव में तत्तमता का भेद नहीं होता है । यही कारण है कि भगवान् महावीर ने अपने सात सौ शिष्यों को, जो केवल ज्ञानी अग्निहन्त हो गए

ये, अने समान बालास है । उन्होंने-उनमे कन्दन भी नहीं बगता । प्रयेह तीर्थवर अग्निहन्त भमण्य-गह्व का मर्यादित नेता होता है, परन्तु यह अग्निहन्त दशा प्राप्त माधवा से कन्दन नहीं बगता । यह वह भूमिका है, जो आध्यात्मिक विज्ञान की दृष्टि से ग्राह्य की भूमिका है । अतएव जब हम नमो अग्निहन्ताण करते हैं, तब श्रुतमन्त्र महाधीर ग्यामी आदि सब तीर्थवरा को, गन हनुमान् आदि सब अर्द्धमात्र प्राप्त महापुरुषों को, गन्धिगी अग्निहन्तों को, अन्त्यागिणी अग्निहन्तों को, गृहनिगी अग्निहन्तों को, स्त्री अग्निहन्तों को, पुत्र अग्निहन्ता को, भूमण्डल पर के अनीय, अनागत, वर्तमान अनन्तानन्त अग्निहन्तों का नमस्कार हो जाती है । नमस्कार कता की दृष्टि से शब्द का नमस्कार एक है, परन्तु नमस्कारणीय अग्निहन्ता की एक भाव की दृष्टि से यह अनन्त हो जाती है ।

दूसरा पद सिद्ध का है । सिद्ध का अर्थ पूर्ण है । जो गगद्वेष रूप शत्रुओं को जीतकर, अग्निहन्त बनकर, चौदहवें गुण स्थान की भूमिका को भी पार कर, महा के लिए जन्ममरण से रहित होकर, शरीर और शरीर सम्बन्धी गुण दुःखों को पारकर, अनन्त एकरम आत्मस्वरूप में स्थित हो गए हैं, द्रव्य और मात्र दोनों ही प्रकार के कर्मों से अलिप्त होकर निराहुल आनन्दमय शुद्ध स्वभाव में परिणत हो गए हैं, ये सिद्ध कहलाते हैं । सिद्ध दशा मुक्त दशा है, वहाँ एकमात्र आत्मा ही आत्मा है, पर द्रव्य और परपरिणति कुछ नहीं है । वहाँ कर्म नहीं, और कर्मबन्ध के कारण भी नहीं, अतएव वहाँ से लौटकर मसार में आना नहीं है, जन्म मरण पाना नहीं है । सिद्ध लोक के श्रेष्ठभाग में विराजमान है । जहाँ एक सिद्ध है वहाँ अनन्त सिद्ध हैं ; प्रकाश में प्रकाश मिला हुआ है । 'नमो सिद्धाण' के पद द्वारा विचालकों अनन्त-अनन्त सिद्धों को नमस्कार की जाती है । माधक सम्भक्त की भूमिका से, चतुर्थ गुण स्थान से विकाश करता हुआ जीवन्मुक्त-अस्मित बनता है, और उसके बाद विदेहमुक्त सिद्ध हो जाता है । इस प्रकार सिद्ध आत्म विकाश की अन्तिम कोटि पर हैं, उनमें आगे और कोई विकाश भूमिका नहीं है । यह है

साधक से साधना द्वारा सिद्ध होने की श्रम यात्रा । जैन संस्कृति का अन्तिम ध्येय सिद्धत्व है ।

तीसरा पद आचार्य का है । आचार्य को धर्म-प्रधान श्रमण संघ का पिता कहा है । 'आचार्यः परमः पिता ।' वह अहिंसा, सत्य आदि आचार का स्वयं दृढ़ता से पालन करता है, पर परिणति से दृष्टकर स्वपरिणति में रमण करता है, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों पर विजय पाने के लिए प्रयत्नशील रहता है, साधु धर्म का उत्कृष्ट रूप अपने आचार व्यवहार पर से प्रमाणित करता है, तीव्रकषाय के उदय का अभाव होने से प्रशान्त, क्षमाशील, विनम्र, सरल एवं आत्म-सन्तुष्ट रहता है । आचार्य, संघ का शासन, धर्म-शासन के लिए करता है । वह पद अधिकार का नहीं, साधकों के जीवन-निर्माण का पद है । श्रावक अथवा साधु जब संयम यात्रा करते हुए भटक जाते हैं, अयुक्त आचरण कर बैठते हैं, तब आचार्य ही उनको सही मार्ग पर लाता है, योग्य प्रायश्चित्त देकर आत्मा की शुद्धि करता है । वह साधकों की आत्मा का चिकित्सक है । न वह स्वयं भटकता है, और न दूसरों को भटकने देता है । वह अरिहंत की भूमिका की ओर बढ़ने वाला वह महा-प्रकाश है, जो अपने पीछे चलने वाले चतुर्विध संघ का पथ प्रदर्शन करता है । आचार्य को दीपक कहा है, जो ज्योति से ज्योति जलाता हुआ दूसरे आत्म-दीपों को भी प्रदीप्त कर देता है । 'नमो आयरियाण' के पद द्वारा अनन्त-अनन्त भूत, वर्तमान एवं अनागत आचार्यों को नमस्कार किया जाता है ।

चौथा पद उपाध्याय का है । यह पद भी बहुत महत्त्वपूर्ण है । साधक जीवन में ज्ञान-प्रकाश का होना अत्यन्त अपेक्षित है । विवेकी ज्ञान-निष्ठ साधक ही साधना के वास्तविक स्वरूप को समझ सकता है, उत्थान और पतन के कारणों की विवेचना कर सकता है, धर्म और अधर्म में भेद-रेखा खींच सकता है, संसार और मोक्ष के मार्ग का पृथक्-करण कर सकता है । अज्ञानी साधक क्या जानेगा ? वह अध्या

के योग से। हिंसा अमृत्य आदि का दुर्भाव-न मन में रखना होता है, न वचन में, और न शरीर में। इतनी बड़ी पवित्रता है, साधु जीवन की! जैन धर्म व्यक्ति और वेप को महत्त्व नहीं देता, वह देता है महत्त्व, गुणों को। जिस व्यक्ति में भी ये गुण हों, वह जैन धर्म का साधु है। यह साधुत्व भाव गृहस्थ वेप में रहे हुए व्यक्ति को भी आ सकता है, अन्य मतमतान्तरों के भिक्षुओं को भी आ सकता है, किसी को भी आ सकता है। अतएव पाँचवें पद में 'नमो लोण सच्चसाहूण' कहते हुए 'लोण' और 'सच्च' शब्द जोड़े गए हैं, इसका भाव है कि केवल गच्छादि में रहनेवाले अपने वेप के साधु ही नहीं, अपितु मानव-लोक में सब साधुओं को नमस्कार करता हूँ। आचार्य अभयदेव भगवती मूर्त की टीका के प्रारंभ में ही महामन्त्र नमस्कार की व्याख्या करते हुए कहते हैं—'लोके=मनुष्यलोके, न तु गच्छादौ, ये सर्वसाध-विस्तेभ्यो नमः।' अतएव 'नमो लोण सच्च साहूण' के पंचम पद द्वारा अतीत, अनागत और वर्तमान अनन्तानन्त साधुओं को नमस्कार किया जाता है।

अग्निहंत आदि पाँचों पदों का मूल स्वरूप 'वीतराग विज्ञानता' है। यह वीतराग विज्ञानता ही है, जो अग्निहंत आदि को त्रिभुवन के पूज्य बनाती है। जीवत्व भाव की दृष्टि से तो सब जीव बराबर ही हैं, बद्ध भी और मुक्त भी। परन्तु जो जीव ज्ञान से हीन हैं और राग द्वेषादि से महान् हैं, वे आध्यात्मिक क्षेत्र में निन्दनीय हैं। परन्तु जो ज्ञान से महान् हैं और राग द्वेषादि से हीन हैं, वे वीतराग आत्मा तीन लोक के बन्दी हैं। अग्निहंत और सिद्ध पूर्णरूप से रागादि से हीन हैं, तथा ज्ञानादि से महान् हैं, अतः उनमें पूर्ण वीतराग भाव और पूर्ण ही ज्ञान भाव स्पष्टतः सिद्ध है। परन्तु आचार्य, उपाध्याय और साधु अभी साधक ही हैं, अपूर्ण ही हैं। वीतराग भाव और ज्ञान भाव की साधना चल रही है, अभी मज्जित पर नहीं पहुँची है। अतः इनमें एक देशेन रागादि की हीनता और ज्ञानादि की विशेषता होने से एकांश में वीतराग भाव और

विज्ञान भाव सिद्ध है। पाँचा ही पद बीतराग भाव के पद हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु, जहाँ साधक बीतराग है तो वहाँ अरिहत और सिद्ध, सिद्ध बीतराग हैं। कोई भी पद ऐसा नहीं है जो बीतराग भावना से शून्य हो। बीतराग भावना जैन धर्म का प्राण है और वह पाँच पदों में स्पष्ट अभिव्यक्त रहती है।

जैन धर्म का मूल तत्त्व तीन है—देव, गुरु और धर्म। तीनों ही नमस्कार मन्त्र में परिलक्षित हैं। अरिहत जीन्मुक्त रूप में और सिद्ध निदेहमुक्त रूप में, आत्मविकास की पूर्ण तथा परमात्मदर्शन पर पहुँचे हुए हैं, अतः पूर्ण रूप से पूज्य होने के कारण देवत्व कोटि में गिने जाते हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु आत्मविकास की अपूर्ण अवस्था में हैं, परन्तु पूर्णता के लिए प्रयत्नशील हैं, अतः अग्ने से निम्नश्रेणी के साधक आत्माओं के पूज्य और अग्ने से उच्चश्रेणी के अरिहत सिद्ध स्वरूप देवत्व भाव के पूज्य होने से गुरु कोटि में सम्मिलित किए गए हैं। सर्वत्र व्यक्ति से भाव में लक्षणा है, अतः अर्हद् भाव, सिद्ध भाव, आचार्यभाव, उपाध्याय भाव, साधुभाव का महण किया जाता है। अरिहत्तों को क्या नमस्कार? अर्हद् भाव को नमस्कार है। साधुओं को क्या नमस्कार? साधुत्व भाव को नमस्कार है। इसी प्रकार आपस भी भाव ही नमस्कार का लक्षण सिद्ध है। और यह भाव ही धर्म है। अहिंसा और सत्य आदि आत्मभाव पाँच पदों के प्राण हैं। अतः नमस्कार मन्त्र में धर्म का अन्तर्भाग भी हो जाता है, उसे भी नमस्कार कर लिया जाता है।

पाँच पदों में सबसे महान् सिद्ध पद है। अतः सर्व प्रथम नमस्कार सिद्धा को ही किया जाना चाहिये था, परन्तु किया गया है अरिहत्तों को। यह क्या घात है? समाधान है कि सिद्धा से पहले अरिहत्ता को नमस्कार व्यावहारिक दृष्टि की विशेषता है। सिद्धा का स्वरूप को बताने वाले कौन हैं? अरिहत। मिथ्यात्व के अन्धकार में भटकते मानव समार को सत्य की अग्रगण्य ज्योति के दर्शन कराने वाले कौन हैं?

अरिहंत । अरिहंत हमारे परमोत्कारी हैं, उन्होंने केवल ज्ञान के द्वारा बन्ध और मोक्ष का रहस्य जानकर करुणा-दृष्टि से हमें बताया । आचार्य, उपाध्याय, माधु और श्रावक आदि जितने भी साधक हैं, सब उन्हीं के बताए मार्ग पर चल रहे हैं, अतः सर्व प्रथम नमस्कार उनको न हो तो और किनको हो ?

नमस्कार मंत्र को मंत्र क्यों कहते हैं ? मंत्र का अर्थ आजकल भूत-प्रेत आदि का आह्वान हो गया है; जादू टोना हो गया है; अतः ऊपर का प्रश्न, इसी विचारधारा को आगे लेकर आया है । परन्तु मंत्र का मूल अर्थ है—मनन करने से ज्ञान = रक्षा करने वाला । जो मनन करने से, चिन्तन करने से भक्त को दुःखों से ज्ञान देता है, रक्षा करता है, वह मंत्र होता है । 'मंत्रः परमो ज्ञेयो मनन-ज्ञाने ह्यतो नियमात् ।' नमस्कार मंत्र पर यह मंत्रत्व पूर्ण रूप से ठीक उतरता है । महान् पवित्र वीतराग आत्माओं के प्रति नमस्कार आदि के रूप में अखण्ड श्रद्धा भक्ति व्यक्त करने से मन का अन्धकार दूर होता है, संशय का नाश होता है, आत्मशक्ति का विकास होता है, आत्मशक्ति का विकास होने से दुःखों का नाश स्वयं सिद्ध है । प्रत्येक दुःख का मूल संशय में है, अज्ञान में है, और आत्मिक दुर्बलता में है । और जब ये सब न होंगे, तब दुःख कैसा ?

नमस्कार सूत्र के दो भाग हैं । 'पहला' भाग मूल 'नमस्कार' सूत्र है, जिसका उल्लेख पाँच पदों के रूप में मूल पाठ में किया गया है । जप अथवा अन्य किसी मंगलाचरण के स्थान में उक्त पञ्च पद स्वरूप नमस्कार सूत्र का ही प्रयोग किया जाता है । दूसरा भाग चूलिका अर्थात् परिशिष्टरूप है, जिसमें नमस्कार का फल तथा माहात्म्य सूचित किया गया है । एक वस्तु कितनी ही क्यों न महत्त्वपूर्ण हो, परन्तु जब तक उसका व्यवस्थित रूप से निरूपण न हो तब तक वह साधक उन्हीं को आकृष्ट नहीं कर सकती । चूलिका इसी उद्देश्य

की पूर्ति' व लिए है। चूलिका का मूल पाठ आर भागार्थ इस प्रकार है—

एमां पंच - नमोस्कारो,
सव्व-पाय - प्पणामणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं,
पढमं हवइ मंगलं ॥

—यह पाँच पदां का किया गया नमस्कार, सब पादां का पूर्ण रूप से नाश करने वाला है और सब मंगलां में श्रेष्ठ मंगल है।

यह नमस्कार सूत्र समस्त जैन आगधनाओं का केन्द्र है। आसक अथवा माधु पात्र काल उठते ही, श्रावण छुलते ही सर्वप्रथम नमस्कार सूत्र पढ़ते हैं। किसी भी समय कोई भी शुभ कार्य करना हो तो पहले नमस्कार सूत्र पढ़ा जाता है। रात्रि के समय शीघ्रा पर सोते हुए भी नमस्कार सूत्र पढ़कर ही सोना किया जाता है। स्वाध्याय करते समय, प्रतिक्रमण करते समय, विहार और गीचरचर्या आदि के समय, सर्वत्र नमस्कार सूत्र की मंगलाध्वनि गूँजती रहती है। धम्म सूत्र के प्रारम्भ में भी यह मंगलार्थ प्रयुक्त हुआ है। अरि हत आदि पाँच पद हम सब साधनों के लिए आराध्य हैं, अतः प्रारम्भ में सर्वप्रथम इन्हीं व श्री चरणां में भद्राञ्जलि अर्पित की जाती है।

नमस्कारसूत्र का प्रत्येक नमस्कारपद एक एक अन्वयन है और सम्पूर्ण सूत्र एक महान् श्रुतरत्न है। तथापि नन्दीसूत्र आदि में नमस्कार सूत्र का सूत्रत्वेन स्वतन्त्र उल्लेख नहीं किया है। कारण यह है कि नमस्कारसूत्र मंगलाचरण के रूप में समस्त सूत्रों के प्रारम्भ में अर्पित किया हुआ है, अतः वह उन्हीं सूत्रों के अन्तर्गत मान लिया गया है। आचार्य अभिनन्देव भगवती सूत्र की टीका में ऐसा ही उल्लेख

करते हैं—'अथ समस्तश्रुतकण्धानामाद्यावुपादीयते, अतएव चायं
तेषामभ्यन्तरतयाऽभिधीयते ।'

नमस्कार सूत्र का विस्तार बहुत बड़ा है । हमारा प्राचीन जैन
साहित्य यत्र-तत्र सर्वत्र नमस्कार सूत्र की महिमा से अंकित है । अधिक
विस्तार में न जाकर संचित में ही कुछ भावना स्पष्ट की है । अधिक
जिज्ञासा हो तो लेखक की महामंत्र नवकार और सामायिक सूत्र
नामक पुस्तकों से लाभ उठाया जा सकता है ।

: २ :

सामायिक-सूत्र

करेमि भंते ! सामादयं
 सव्यं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि
 जावज्जीवारं
 तिविहं तिविहेणं
 मण्णं, वायारं, काण्णं
 न करेमि, न कारवेमि,
 करंतंपि अन्नं नं समणुजाणामि
 तस्स भंते !
 पडिकमामि, निंदामि, गरिहामि,
 अप्पाणं वोसिरामि ।

शब्दार्थ

भंते = भगवन् !

सामादयं = सामायिक

करेमि = करता हूँ

(कैसी सामायिक ?)

सव्यं = सब प्रकार के

सावज्जं = पाप सन्नि-

जोग = कृपापा-

पच्चक्खामि = हूँ

(स्वयं के लिए ?)	दग्धं = कटे हुए
उपजीवित = यावजीवन,	अत्रापि = दूसरों को भी
जीवनपर्यन्त	न = नहीं
(किस नियम से ?)	समस्तुनाशमि = शब्दा समझूँगा
निश्चिन्तं = तीन प्रकार के योग से	(उपसंहार)
निश्चिन्तं = तीन प्रकार का त्याग	भन्ते = हे भगवन् !
करता हूँ	तस्य = उस पूर्व पाप से
(यह कैसे ?)	परिष्काममि = निवृत्त होता हूँ
मनोगतं = मन से	निद्रामि = उसकी निन्दा करता हूँ
वाचात् = वचन से	गरिहामि = गद्गद् करता हूँ
कायात् = काय से	आपाशं = आत्मा को, पाप कर्मकारी
न करेमि = न करूँगा (सावय कर्म)	अतीत आत्मा को
न काम्येमि = न कराऊँगा	श्रेयिगामि = त्यागता हूँ

भाषार्थ

भन्ते ! मैं सामाधिक व्रत ग्रहण करता हूँ । (राग द्वेष का अभय अथवा दर्शन, ज्ञान, चारित्र का लाभ ही सामाधिक है) अतः सावय = पाप कर्म वाले व्यापारों का त्याग करता हूँ ।

जीवन पर्यन्त मन, वचन और शरीर—इन तीन योगों से पाप कर्म न मैं स्वयं करूँगा, न दूसरों से कराऊँगा, और न स्वयं पाप कर्म करने वाले दूसरों का अनुमोदन ही करूँगा ।

भन्ते ! पूर्वकृत पाप से मैं निवृत्त होता हूँ, स्वयं अपने हृदय में उस पाप को बुरा समझता हूँ, आपकी साक्षी से उसको गद्गद्-निन्दा करता हूँ ; आत्मा की जो पाप कर्म करने वाली अतीत अवस्था है, उसका पूर्ण रूप से त्याग करता हूँ ।

विवेचन

यह सामाधिक सूत्र, वह प्रतिज्ञा सूत्र है, जो मुनि दीक्षा ग्रहण करने

गमन बोना जाता है। प्रत्युत पाठ को शब्द रूप में नहीं, किन्तु अर्थ रूप में अनाद्वैत से स्वीकार कर लेने के बाद माधव उमी राग गुरु की कोटि से निश्चय कर साधुता की कोटि में आ जाता है। गिरा दितकर भी के पद पर पहुँचने के लिए सामायिक गुरु का आनमन सेना, जैन परम्परा के अनुसार ग्यारह है।

यह गुरु केरन वेग परिवर्तन करने के लिए नहीं है। अतः यह जीवन-परिवर्तन का आदर्श लेकर आया है। उष विचार और उष आचार का जीवन आनाना ही सामायिक गुरु का दुन्दुभिनाद है। जहाँ हम अपने पड़ोसी सम्प्रदायों में दीजा देते समय 'ऊँ शिवाय नमः' अथवा 'ऊँ विष्णवे नमः' मंत्रों की पूँक को ही गये मरा देगते हैं, यहाँ हथर जैनधर्म में जीवन को भोगविनाम के पथ पर ले हटाकर वैराग्य के उद्दीन पथ पर अग्रसर करना ही दीजा का आदर्श समझा जाता है। किन्हीं मंत्रों के अन्तर भवण मात्र से जीवन परिवर्तन के निदान में जैनधर्म का कभी भी विभाग नहीं रहा। सामायिकगुरु का पत्येक शब्द हमी वैराग्य और वैराग्य के आदर्शों से रंगा हुआ है। भूतान की हजारों शताब्दियों इसके प्रकाश से चमक रही हैं। लाखों मुनि और आर्थाशा के जीवन इसी के आलोक में जगमगाते रहे हैं। भगवान् आदिनाथ से लेकर आज तक का हमारा कोटि-कोटि वर्षों का इतिहास सामायिक गुरु की इस नन्ही सी शब्दावली से जुड़ा हुआ है। करोड़ों वर्ष पहले भगवान् आदिनाथ भी श्रुपभदेव भी इसी गुरु को लेकर मयन के उग्रपथ पर अग्रसर हुए हैं, और करोड़ों वर्ष बाद भगवान् महावीर भी यही 'करोमि सामादय' बोलते हुए साधना के महान् पथ पर आरुढ़ हुए हैं। कोटि-कोटि साधकों के जीवन का पल-पल इसी गुरु की छत्रदाया में गुजरा है। एक शब्द में कहूँ तो यह जैनधर्म का प्राण है। विशाल जैन साहित्य इसी नन्हे से गुरु की प्रदक्षिणा करता आ रहा है।

सामायिक एक उत्कृष्ट साधना है। जिस प्रकार आनाथ समस्त

चर-अचर वस्तुओं का आधारभूत है, उसी प्रकार अन्य सब साधनाओं = धर्म क्रियाओं का आधार सामायिक है। विना आधार के किसी भी चीज का रहना जिस प्रकार असम्भव है, उसी प्रकार सामायिक के विना कोई भी गुण आत्मा में नहीं रह सकता। यह सब गुणों के लिए वैसे ही है, जैसे मधुमत्तिकाओं में मधुकर राजा, जिसके रहते सब मत्तिकाएँ रहती हैं, और जिसके चले जाने पर सभी मत्तिकाएँ साथ ही चली जाती हैं।

सामायिक का अर्थ समता है। बाह्य दृष्टि का त्याग कर अन्तर्दृष्टि द्वारा आत्मनिरीक्षण में मन को जोड़ना, विषमभाव का त्याग कर समभाव में स्थिर होना, राग-द्वेष के पथ से हटकर सर्वत्र सर्वदा करुणा एवं प्रेम के पथ पर विचरना, सांसारिक पदार्थों का यथार्थ स्वरूप समझ कर उन पर से ममता एवं आसक्ति का भाव हटाना, और ज्ञान-दर्शन-चारित्र्यरूप आत्मस्वरूप में रमण करना सामायिक है, समता है, त्याग है, वैराग्य है। अन्धकारपूर्ण जीवन को अलोकित करने का इससे अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं हो सकता।

सामायिक का पथ आसान नहीं है, यह तलवार की धार पर धावन है। जबतक निन्दा-प्रशंसा में, मान-अपमान में, हानि-लाभ में, स्वजन-परजन में, एकत्व बुद्धि, समत्व बुद्धि नहीं हो जाती, तब तक सामायिक का पूर्ण आनन्द नहीं उठाया जा सकता। प्राणिमात्र पर, चाहे वह छोटा हो या बड़ा हो, मित्र हो या शत्रु हो, समभाव रखना कितना ऊँचा आदर्श है, कितनी ऊँची साधुता है ! जबतक यह साधुता न हो तबतक खाली वेप लेकर जनवंचन से क्या लाभ ?

जो समो सब्वभूएणु, तसेसु थावरेसु य ;
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं ।

—अनुयोग द्वार

दूर क्यों जाएँ ? सामायिक क्या है—इस प्रश्न का उत्तर हमें प्रस्तुत

सूत्र के द्वारा ही मिल जाता है। आइए, जरा विशेष शब्दों पर ध्यान देते चले : -

सर्वप्रथम 'करेमि भंते' शब्द हमारे समझ आता है। गुरुदेव के प्रति कितनी श्रद्धा और भक्ति के सुधारस से सना हुआ शब्द है यह ! 'भदि कल्याणे सुखे च' धातु से भन्ते = भदन्त शब्द बना है। भदन्त का अर्थ कल्याणकारी एव सुखकारी होता है। गुरुदेव से बढ़कर संसार जन्म दुःख से राण देने वाला और कौन है ? भन्ते के भवान्त तथा भयान्त ये दो संस्कृत रूपान्तर भी मिल जाते हैं। भवान्त और भयान्त का अर्थ स्पष्ट है—भय = संसार का अन्त करने वाले, तथा भय = डर का अन्त करने वाले। गुरुदेव की शरण में पहुँचने के बाद भय और भय का क्या अस्तित्व ?

आगे चलिए, सामायिक शब्द है। इसके निर्वचनों की कोई इयत्ता नहीं है। अनेक विशेषावश्यक भाष्य में ही दश-बारह हजार श्लोकात्मक ग्रन्थ इस शब्द पर लिखा गया है। आचार्य नमि निर्वचन करते हैं कि—आत्मा के समान ही दूसरों के दुःख को भी समझना और उसे न करना साम है, साम ही स्वार्थिक कण् होने पर सामायिक हो जाता है। (२) राग द्वेष से सर्वथा तटस्थ रहना सम है, वही आपादेश एव कण् होने पर सामायिक कहलाता है। (३) राग द्वेष रहित सम की प्राप्ति ही सामायिक है —

(१) आत्मोपमया परदुःखाकरणं साम, तदेव सामायिकम्।

(२) राग-द्वेषान्तरालमर्तित्वं समं, तदेव सामायिकम्।

(३) समस्य=प्ररक्तद्विष्टस्याऽऽयः समायः, तदेव सामायिकम्।

एकास्तोपशान्ति-गमनमित्यर्थः।

—प्रतिक्रमण सूत्रवृत्ति ।

तीसरा शब्द 'साधयन्त्र' है, जो सम्पूर्ण पापों का एकमात्र नाचक हार पावसन्ति योगा—व्यापारा का मोक्ष कराता है। अतएव 'साध' शब्द

सावज्जं जोगं पच्चखामि' इस वाक्य के द्वारा सूत्रकार ने सामायिक का पूर्ण लक्षण हमारे सामने रख दिया है ! जबतक समस्त पाप कर्मों का त्याग न हो, तबतक उच्चकोटि की साधुता वाली सामायिक नहीं होती ।

कुछ मज्जन ऐसे मिल सकते हैं, जो कुछ देर के लिए सब पापों को त्याग करने के लिए तैयार हो जायें । किन्तु यहाँ तो 'जावज्जीवाए' की शर्त है । साधु होने के लिए सामायिक जीवनपर्यन्त धारण की जाती है । सांसारिक वासनाओं का सदा के लिए त्याग कर वैराग्य रंग में रँगना होता है, अन्तःशत्रुओं से जूझना होता है । यह हिमालय जैसा भार समस्त जीवन शिर पर उठाए रखना, वीरों का काम है, कायरों का नहीं ।

पापों का त्याग कुछ स्थूलरूप से नहीं किया जाता । बहुत गहराई में उतर कर पापों का एक-एक दरवाजा बंद करने पर ही सच्ची साधुता प्राप्त होती है । साधु की सामायिक सर्व विरति है, अतः तीन करण तथा तीन योग से, अर्थात् नौ प्रकार से पाप-कर्मों का यावज्जीवन के लिए त्याग किया जाता है । इसी बात को लक्ष्य में रख कर प्रतिज्ञा-पाठ में कहा है कि 'तिविहं तिविहेणं' । मन, वचन और काय से न पाप करूँगा, न कराऊँगा, न करने वालों का अनुमोदन करूँगा । तीन करण तथा तीन योग के संमिश्रण से सामायिक प्रत्याख्यान के नौ भेद होते हैं:—

- (१) मन से करूँ नहीं ।
- (२) मन से कराऊँ नहीं ।
- (३) मन से अनुमोदूँ नहीं ।

- (१) वचन से करूँ नहीं ।
- (२) वचन से कराऊँ नहीं ।
- (३) वचन से अनुमोदूँ नहीं ।

- (१) काय से करूँ नहीं ।

(२) पाप से कराऊँ नहीं ।

(३) पाप से अनुमादू नहीं ।

शास्त्रीय परिभाषा में उक्त नौ प्रकारों का नरकाणि ने नाम से उल्लेख किया है । यही नरकाणि अतीत, अनागत, वर्तमानकाल के सम्बन्ध से सप्तविंशति कोटररूप बन जाती है । मुनि पाप कर्मों का त्याग तीनों काल के लिए करता है । न वर्तमान में करना न भविष्य में करना और न अतीत में । अतीत में न करना का अर्थ है कि पूर्व कृत कर्मों से पूरनया अपना समर्थन हटा लेना ।

निन्दा और गद्दा में क्या अन्तर है ? लोक में तो दोनों एकार्थ ही माने जा रहे हैं ? उत्तर है कि आगम की भाषा में निन्दा और गद्दा भिन्नार्थ माने गए हैं । आत्मसाक्षी से अपने आन पापों से पूरणा करना निन्दा है, और गुरुसाक्षी से बिना किसी दूसरे योग्य व्यक्ति की साक्षी से पापों की आलोचना करना गद्दा है । 'आत्मसाक्षिकी निन्दा, गुरुसाक्षिकी गद्दा'—आचार्य हरिमद्र ।

अन्तिम शब्द 'अप्यार्षं बोधिरामि' है । सङ्क्षिप्त अर्थ है—'आत्मा को त्यागना ?' प्रश्न है, आत्मा को कैसे त्यागना ? क्या आत्मा त्यागी जा सकती है ? आत्मा से अभिप्राय पूर्व जीवन से है । पापकर्मों ने दूषित पूर्व जीवन को त्यागना ही आत्मा को त्यागना है । 'आत्मानम् = अतीतसावद्ययोगकारिणमश्वाध्यम् च्युत्सृजामि'—आचार्यनमि । किन्ती ऊँची उड़ान है ? किन्ती भव्य कहना है ? पुराना सदा-गला गदा मलिन जीवन त्यागकर नवीन स्वच्छ एवं भव्य जीवन को अपनाएँ, माया का पाश सदा के लिए छिन्न भिन्न हो जायगा ।

यद सच बुद्ध तो सुन्दर है, सुचारु है, ग्राह्य है, किन्तु एक प्रश्न अङ्कित है, उसका भी समाधान हो जाना चाहिए । प्रश्न है—मामासिक सूत्र प्रतिष्ठा गठ है, अतः दीक्षित होते समय इसका स्मरणना टीक था, किन्तु अग्रे प्रतिदिन प्रतिक्रमण के समय इसने दुःखाने से क्या लाभ ?

नित्य नई प्रतिज्ञा तो नहीं ली जाती, वह तो यावज्जीवन के लिए एक बार ही ली जाती है ?

प्रश्न सुन्दर है; उत्तर सुनिष्ट । मानवजीवन में प्रतिज्ञा का महत्व बड़ा भारी है । साधारण से साधारण प्रतिज्ञा के लिए भी बहुत कुछ साहस, उत्साह एवं शक्ति की आवश्यकता होती है । प्रतिज्ञा वही मनुष्य ले सकता है और पाल सकता है, जो शेर का सा मजबूत दिल और हौसला रखता हो, जिसके विचार सुमेरु के समान कभी न झुकने वाले हों । आज के दम्भपूर्ण युग में प्रतिज्ञा ले लेना तो हँसी खेल हो गया है; परन्तु उसका निभा ले जाना बड़ी उलझी हुई पहेली बन गया है । येन केन प्रकारेण वाणी तो दम्भ की दासी बन सकती है, परन्तु हृदय का क्या होगा ? वहाँ तो दो पड़त नहीं हो सकते ? यह याद रखने की बात है कि प्रतिज्ञा पर मात्र वाणी की मुहर काफी नहीं है । जब तक हृदय की मुहर न लगे, तब तक कुछ भी नहीं । और आप जानते हैं, हृदय की मुहर लगाने के लिए किन कठिनाइयों में से गुजरना होता है ?

आप तो दूर चले जा रहे हैं । हमारे प्रश्न से इस चर्चा का क्या सम्बन्ध ? दूर नहीं, पास आ रहा हूँ । मेरे कहने का यह भाव है कि जब साधारण प्रतिज्ञाओं का पालन भी कठिन पड़ता है, तब साधुत्व की प्रतिज्ञा के पालन की कठिनाई का तो कहना ही क्या ? वह तो जीते जी मरजाने के संकल्प पर ही निभ सकती है । अस्तु प्रतिज्ञापूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि प्रतिज्ञा का हर समय ध्यान रखा जाय । वह सर्वदा हमारे हृदय पर अंकित रहे । अतएव प्रतिज्ञा सूत्र को दुहराते रहने की परंपरा, भारत की प्राचीन परंपरा है । सामायिक सूत्र प्रतिज्ञासूत्र है, अतः इसका भी प्रतिब्रमण के समय प्रातः सायं दुहराना आवश्यक है । गृहीत प्रतिज्ञा को इस प्रकार सुबह शाम दुहराते रहने से कर्तव्यपालन का जोश कभी ठंडा नहीं पड़ता, सदैव प्रतिज्ञा के लक्ष्य का भान बना रहता है, अन्तर्हृदय साहस से भरता रहता है; फलतः मानसिक दुर्बलताएँ माधुर्य ग्रहणी नहीं होने पाती ।

दूसरे प्रतिज्ञा पाठ के बोलने का यह भी भाव है कि गांधी को सबसे पहले अपने ग्रहण किए हुए मन का सफल आना चाहिए कि मैंने यह आत्मयोग सिद्ध करने का क्या, कैसे, किस रूप में और भय तक के लिए स्वीकार किया है ? इसके बाद ही प्रतिक्रमण में यह विचारना ठीक हो सकता है कि क्या, कैसे और किस रूप में मेरा यह मन दूषित हुआ है ? तब तक लिए हुए मन के स्वप्न का ही सफल न होगा, तब तक उमम लगने वाले दोषों का क्या साक सफल आणगा ? हम दृष्टि से भी प्रतिक्रमण से पहले प्रस्तुत प्रतिज्ञापाठ का स्मरण कर लेना, आवश्यक है ।

: ३ :

मङ्गल-सूत्र

चत्वारि मंगलं—
अरिहंता मंगलं,
सिद्धा मंगलं,
साहू मंगलं,
केवलि-परिणत्तो
धम्मो मंगलं ।

शब्दार्थ

चत्वारि = चार

मंगलं = मङ्गल हैं

अरिहंता = अरिहंत

मंगलं = मङ्गल हैं

सिद्धा = सिद्ध

मंगलं = मङ्गल हैं

साहू = साधू

मंगलं = मङ्गल हैं

केवलि = केवली का

परिणत्तो = कहा हुआ

धम्मो = धर्म

मंगलं = मङ्गल है

भावार्थ

संसार में चार मङ्गल हैं:—

अरिहंत भगवान् मङ्गल हैं ।

सिद्ध भगवान् मङ्गल हैं ।

साधु-महाराज मङ्गल है ।

सरेश-प्रहसित धर्म मङ्गल है ।

विवेचन

म गल ! अज्ञ, कितना प्रिय शब्द है म गल ! स सर का प्रत्येक प्राणी अनन्तकाल से म गल को शोध में है, म गल की तन्त्राम में है । म गल के लिए मनुष्य ने क्या कुछ नहीं किया ? भीमकाय पर्वतों की यात्रा की, अरार जलराशि से भरे उच्चात्तरग समुद्रों को लाँघा, गीदड़ जगलाँ को रीँद ढाला, रत्न री नदियाँ बहा दीं, अनन्तवार अपने को मृत्यु के भीमण मुख में ढाला । किन्तु हनाश ! म गल नहीं मिला । कल्याण की प्राप्ति नहीं हुई । कभी कुछ देर के लिए म गल समझ कर किमी वस्तु को अमाना भी, परन्तु यह क्या ! फिर बही हाथ हाथ ! म गल कहाँ गया ? दरिद्र का राज्य स्वप्न हो गया ! स्थायी आनन्द का साधन अब तक न मिले, तब तक कैसा म गल ? मनुष्य की अन्तः रात्मा क्षणिक म गल के व्यामोह में अपने आपसे कुछ क्षण के लिए भुला सकती है, परन्तु जीवन की समस्तता का वास्तविक हल नहीं हो सकता ।

म गल प्राप्त भी कैसे हो ? अब तक वस्तुस्थिति का ठीक ठीक ज्ञान न हो तब तक कितना ही विशाल प्रयत्न हो, वह फलप्रद नहीं हो सकता । फलप्रद क्या ? कभी-कभी वह बहुत ही भयंकर उलटन परिणाम भी लाता है । गन्तव्य स्थान पूर्ण में हो और चञ्चल पश्चिम को, तो क्या परिणाम निकलेगा ? गर्मी से घेरया हुआ मनुष्य धक्कती हुई अग्नि की ज्वालाओं में छुलाँग लगा दे तो क्या हाथ लगेगा ? भूमि की व्याकुलता में विषमिश्रित, मिणत्र भर पेट खाया जाय तो उसकी क्या कीमत चुकानी पड़ेगी ? म गल के लिए स सारी प्राणियों का प्रयत्न ठीक इसी दिशा में हुआ है, तभी उसके भाग्य का राण' द्वार खुलने के लिये उसे सही क्षणिक क्षण के लिये तैयार होना पड़ेगा ।

विभूति, मंसार का ऐश्वर्य, मंगल नहीं है। आप दुनिया की किमी भी वस्तु को मंगल समझ कर तदर्थ प्रयत्न करेंगे तो आपको अमंगल ही हाथ आयगा। सामारिक उलझनों से भरे लौकिक मंगलों से न आज तक किमी ने शान्ति पाई और न भविष्य में ही कोई पा सकेगा। लौकिक मंगलों के ऊँचे से ऊँचे साधनों पर पहुँचकर फिर मनुष्य टोकर खा गया है। वह अभ्युदय = उत्थान नहीं, अपितु उन्नति है। उन्नति का अर्थ है—उत् + नति अर्थात् उठकर गिरना।

ऊपर की कण्टिकाओं को पढ़ कर निराश न बलिए। यह न समझिए कि अब हमारे उद्धार का कोई मार्ग ही नहीं है? हमें इसी प्रकार टोकरें खाते अनन्तकाल व्यतीत करना होगा? मंगल की प्राप्ति कभी हमें होगी ही नहीं? हमारे अध्यात्म-ज्ञानी पूर्वजों ने दुनियावी मंगलों से पृथक् अलाकिक मंगलों की शोच की है। यह मंगल, वह मंगल है, जो कभी अमंगल नहीं होता।

भगवान् अरिहन्त देव, भगवान् सिद्ध देव, त्यागी साधू और सर्वज्ञ-प्ररूपित अहिंसा धर्म अलाकिक = लोकोत्तर मंगल हैं। आत्मकल्याण के लिए इनसे बढ़ कर कोई अन्य मंगल नहीं हो सकता। यह वह प्रकाश है, जो हजारों आंधियों के तूफान में भी धुँधला नहीं हो सकता। कैसा ही विकट समय हो, कैसी ही भीषण परिस्थितियाँ हों; इनकी ओर से मंगल-वृष्टि होनी ही रहेगी। हृदय के अनन्तकाल से सोये हुए बोमल भावों को जागृत करो, श्रद्धा के उजड़े और सूखे हुए उम्वन को हरा-भरा करो, मंगलचतुष्टयी की ओर अपने को सर्वात्मना अभिमुख करो; तुम्हें अमर-शान्ति प्राप्ति होगी, जिसे पाकर तुम धन्य-धन्य हो जाओगे!

प्रस्तुत मंगल चतुष्टयी में प्रथम के दो मंगल आदर्शरूप हैं। हमारे जीवन का अन्तिम लक्ष्य क्रमशः अरिहन्त और सिद्ध भगवान् हैं। अरिहन्त पद में जीवन को सर्वथा राग द्वेष से रहित बनाया जाता है और सिद्ध पद में जीवन की पूर्णता को, सिद्धता को प्राप्त कर लिया जाता

है। श्रमिन्, सिद्ध का स्मरण करते ही हमें अपने गन्तव्य लक्ष्य का ध्यान आ जाता है।

साधुभगल हमारे जीवन का अनुमती मापी एवं मार्ग-प्रदर्शक है। आध्यात्मिक क्षेत्र में आज सीधा प्रकाश इन्हीं से मिलता है। हमारे सामने जगति अरिहन्त निद्रा पूर्ण निद्रता के आदर्श भगल हैं, तब साधु साधकता के आदर्श भगल हैं। साधु पद में आचार्य, उग्राध्याय और मुनि तीनों का ग्रहण होना है।

धर्म भगल सबसे श्रान्त न है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह मौख्य भगल है। यदि वास्तविकता को देखा जाए तो पूर्वोक्त तीनों भगलों का निर्माण धर्म के द्वारा ही होता है। बिना धर्म के साधु क्या, और बिना साधना किए अरिहन्त और सिद्ध की निद्रता क्या? सूत्रकार ने श्रान्त में धर्म का उल्लेख करके इसी सिद्धान्त पर प्रकाश डाला है कि धर्म ही भगलों का मूल है। यदि पुण्य में सुगन्ध न हो, मित्रता में मिठास न हो, श्रम में उत्प्रेक्षा न हो तो उनका क्या स्वरूप बच रहेगा? कुछ भी नहीं। ठीक वही दशा धर्म हीन मानव की है। 'धर्मोऽस्मिन् पशुमि-समाना ।'

धर्म की शक्ति बहुत बड़ी है। भानुजी दीक्षित कहते हैं—'धरति विश्वमिति धर्मे'—जो विश्व को धारण करता है वह धर्म है। आचार्य हरिमद्र दशवैकालिक सूत्र के प्रथम अध्यायन की टीका में लिखते हैं—'दुर्गंतौ प्रपन्नन्वमात्मानं धारयतीति धर्मे'—जो दुर्गति में पड़ते हुए आत्माओं को धारण करता है, नीचे नहीं गिरने देता है, ऊपर ही ऊपर उठाए रखता है, वह धर्म है। अस्तु धर्म से बढ कर भगल और कोन हो सकता है? यही 'सर्वधर्मगलमाद्गश्यं, सर्वं कल्याणकारणम्' है।

धर्म शब्द से कौनसा धर्म ग्राह्य है? इस सम्बन्ध में महती विप्रतिपत्तियाँ हैं। उन्हीं और सम्प्रदायों के चक्कर में पड़कर यह गरीब शब्द एक प्रकार से अपना स्वरूप ही खो बैठा है। न मालूम कौन सा वह दुर्माण्य का दिन था, जिस दिन धर्म शब्द को सम्प्रदाय के अर्थ में

प्रयुक्त किया गया। भगवान् महावीर ने दृढ़ता के साथ यह संप्रदाय-वाद का खोल उतार फेंका और स्पष्ट रूप से धर्म का वास्तविक चित्र जनता के सामने रखवा। दशवैकालिक सूत्र के प्रथम ही अव्ययन में कहा है—‘अहिंसा, संजमो तवो !’—‘अहिंसा, संयम और तप धर्म है।’ मैं समझता हूँ धर्म का यह निर्वचन साम्प्रदायिक हृदयंदी से सर्वथा ऊपर है।

धर्म के लिए ‘केवलिपरिणत्तो’ विशेषण दिया है। यह बहुत गंभीर एवं रहस्यपूर्ण है। अहिंसा, संयम और तप धर्म है, यह हम कैसे मानें ? दूसरे हिंसा-प्रधान अनुष्ठान धर्म क्यों नहीं ? इसी का उत्तर यह विशेषण देता है। विशेषण का भाव है, केवल-ज्ञानी सर्वज्ञों द्वारा कहा हुआ धर्म ही धर्म होता है। जो केवल ज्ञानी नहीं हैं, वे अनात हैं। अनात-का कथन कथमपि प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। अतः एव धर्म के प्रवक्ता सर्वज्ञ होने चाहिएँ, साक्षाद् द्रष्टा होने चाहिएँ। आत्मा में संपूर्ण पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को जानने का पूर्ण सामर्थ्य है। संसारी अवस्था में अज्ञानरूप मल से आवृत होने के कारण पूर्ण प्रकाश नहीं हो पाता, परन्तु जब अज्ञान का पूर्णतया नाश एवं क्षय हो जाता है, तब आत्म-ज्योति के समान कोई भी पदार्थ दुर्ज्ञेय अथवा अज्ञेय नहीं रहता। ज्ञान, आत्मा का अना वास्तविक स्वभाव है। जब उत्कृष्ट साधना के द्वारा दोष और आवरण का समूल क्षय हो जाता है, तब दर्पण तल-पर पदार्थ-समूह की तरह समस्त पदार्थ-जात आत्मदर्पण में झलकने लगते हैं। धर्म और अधर्म का वास्तविक स्वरूप इनसे छुपा नहीं रहता। अतः धर्म की प्रामाणिकता के लिए यह आवश्यक है कि धर्म, रागद्वेष के मल से रहित पूर्ण सर्वज्ञों द्वारा कहा हुआ हो ! आज भी हम श्रोता की अपेक्षा साक्षाद् द्रष्टा पर अधिक विश्वास करते हैं। कल्पना करो, आपके पास दो आदमी आते हैं। एक कहता है—अमुक बटना मैंने सुनी है, पर आप उस पर विश्वस्त नहीं होते। दूसरा कहता है—मैंने साक्षात् वह बटना देखी है, आप भटपट विश्वास कर लेते हैं। वह है साक्षाद् द्रष्टा का महत्त्व ! अतएव धर्म भी साक्षाद् द्रष्टा केवल-

शानी का रहा हुआ हमें अधिक भडाहद होगा है। उनके साथ मत्त की व्याप्ति अधिक सुदृढ़ होगी है।

मगल शब्द के निर्वचन अनेक प्रकार से किए हैं। आनन्दक निरुक्ति तथा श्री जिनभद्र गणीकृत विशेषावरण के आधार पर आचार्य हरिभद्र दशपैसात्रिक टीका में निम्नलिखित हैं—‘मङ्गलपतेऽभिगम्यते हितमनेनेति मङ्गलम्’—जिससे हित की प्राप्ति हो वह मङ्गल है। ‘मां गात्रवनि मवादिदि मङ्गलं-संसारदुष्पनपति’—जो मत्तदवाच्य आत्मा को संसार से अलग करता है वह मङ्गल है। विशेषावरण भाष्य के टीकाकार मत्तधारी हेमचन्द्र कहते हैं—‘मङ्गलपतेऽलक्षितेऽनेनेति मङ्गलम्’—जिससे आत्मा शोभायमान हो, वह मङ्गल है। ‘मोदन्तेऽनेनेति मङ्गलम्’ जिससे आनन्द तथा हर्ष प्राप्त होता है वह मङ्गल है। ‘मङ्गलं = पूज्यन्तेऽनेनेति मङ्गलम्’—जिसके द्वारा आत्मा पूज्य = विभिन्य होना है, वह मङ्गल है। प्रत्येक व्युत्पत्ति लौकिक मङ्गल की महत्ता न बनाकर उक्त लोभोत्तर मङ्गल की ही अद्वितीय महत्ता को प्रकट करती है। अतः साधक का कर्तव्य है कि लौकिक मङ्गलों की श्रार से मन को हटाकर उसे इन्हीं मङ्गलों के प्रति सर्वात्मना अर्पण करना चाहिए।

: ४ :

उत्तम-सूत्र

चत्तारि लोगुत्तमा—
अरिहंता लोगुत्तमा,
सिद्धा लोगुत्तमा,
साहू लोगुत्तमा,
केवल-परिणत्तो
धम्मो लोगुत्तमो ।

शब्दार्थ

चत्तारि = चार	साहू = साधु
लोगुत्तमा = लोक में उत्तम है	लोगुत्तमा = लोक में उत्तम है
अरिहंता = अरिहन्त	केवलि = केवली का
लोगुत्तमा = लोक में उत्तम है	परिणत्तो = हा हुआ
सिद्धा = सिद्ध	धम्मो = धर्म
लोगुत्तमा = लोक में उत्तम है	लोगुत्तमो = लोक में उत्तम है

भावार्थ

चार लोक = संसार में उत्तम = श्रेष्ठ हैं :—

अरिहन्त भगवान् लोक में उत्तम हैं ।

मिद्ध भगवान लोक में उत्तम हैं ।

साधु महाराज लोक में उत्तम हैं ।

सर्वज्ञ-प्ररूपित धर्म लोक में उत्तम है ।

विवेचन

पूर्वसूत्र में मगल का निरूपण निग गया है । अत्र प्रश्न है—
मगल कौन हो सकता है ? अहिंसक, सिद्ध, साधु अथ च धर्म मगल
हैं पर क्या मगल हैं ? इन्हीं प्रश्नों के उत्तर की आशय से कहे करते हुए
सूत्रकार कहते हैं कि चार उत्तम हैं । जो उत्तम होता है, वही मगल
होगा है—यह धारणा किमपि निगमन नहीं हो सकती ।

ससार में विवर भी जाइए, उत्तम की शोध है । युद्ध के मैदान
में उत्तम सैनिक अपेक्षित हैं, निगर्धी उत्तम मास्टर पर सुभ्य हैं,
सारगानदार उत्तम नौकर को शरर धन्य हैं, और तो क्या उत्तम
भाजन, उत्तम वस्त्र उत्तम घर पर मनुष्य सुवमन है । क्या सबमुच
ही य मय उत्तम हैं ? उत्तर में आप नहीं तो मुझे ही 'न' लिखना
होगा । प्रतिदिन देखते हैं, आपका उत्तम सैनिक कल अनुत्तम हो
जाता है और दग गग जाता है । मास्टर साहज और नौकर की
उत्तमता भी स्थायी नहीं है, प्रार निन भोजन, वस्त्र और घर की
उत्तमता पर मानन पागल बना हुआ है, उनकी उत्तमता तो सर्वथा
वास्थव है । निगर्धी यह है कि ससार का राई भी चीन सर्वथा आर
सर्वग उत्तम न है । आर का सर्वथा और सर्वदा उत्तम न हा, व
उत्तम ही नहीं गाली उत्तमता की धारणा है । उत्तम का अर्थ है—
ऊँचा शाना मिश्र ऊँचा शाना, सनस ऊँचा होना । जिसका उ गन
पुन धन भी आग न जाय, और न अमन सही को पनन की आर
स गन, वही मनुष्य उत्तम होगा है । एतदथ 'उत् + तम' शब्द धी
धुपति पर ही शान्तज्ञान में विचार कीणि ।

हो तो उत्तम शब्द भी धुपति में अनुगार अहिंसक, सिद्ध, साधु

और धर्म ही उत्तम है। इनसे बढ़कर और कौन उत्तम है ? अनन्त-काल से भटकती हुई भव्य आत्माओं को उत्थान के पथ पर ले जाने वाले ये ही चार उत्तम हैं। आत्मजाग्रति के क्षेत्र में हम इनकी दूसरी उपमा नहीं पाते। अपने जैसे ये बस आप ही हैं—“गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः।” आकाश की उपमा देने के लिए क्या कोई दूसरा आकाश है ? समुद्र की उपमा बताने के लिए क्या कोई दूसरा जलाशय है ? अखिल त्रिलोकी में उत्तमता की शोध करते हुए हमारे पूर्व महर्षियों को ये चार ही अपनी जोड़ के आप ही उत्तम मंगल मिले। इस सम्बन्ध में मुझे पण्डितराज जगन्नाथ का एक पद्य याद आ रहा है, जो यहाँ पूर्ण आचित्य को लिए हुए हैः—

गाहितमखिलं गहनं,

परितो दृष्टाश्च विटपिनः सर्वे;

सहकार ! न प्रपेदे,

मधुपेन तथोपमा जगति !

—भामिनी-विलास १।२०

“भ्रमर ने सारा का सारा वन छान डाला, एक-एक करके सब वृक्षों को अच्छी तरह देख लिया; परन्तु हे आम्र वृक्ष ! उसे तेरे समान और कोई वृक्ष मिला ही नहीं।”

ठीक इसी प्रकार मुमुक्षु भ्रमरगण को सम्पूर्ण जड़ एवं चैतन्यरूप विश्व-चक्र को भली भाँति देखने पर भी उपर्युक्त उत्तम चतुष्टयी की तुलना में कोई नहीं मिल सका।

उक्त चार उत्तमों में अरिहंत और सिद्ध परमात्मरूप में उत्तम हैं। कर्म मल को दूर करने के बाद शुद्ध आत्म-ज्योतिरूप हो जाना ही परमात्मा हो जाना है; और इस दृष्टि से अरिहंत और सिद्ध परम = उत्कृष्ट पवित्र आत्मा, परमात्मा हैं। साधुपद वाच्य आचार्य, उपाध्याय,

और मुनि, महात्मा के रूप में उत्तम है। ये अभी परमात्मा नहीं बने, किन्तु परमात्मा के पथ पर महात्मा होकर अग्रसर हो रहे हैं, त्याग और वैराग्य के तेज में आत्मा को महान्, महत्तर, महत्तम बना रहे हैं, अन्तु इनकी शान का दूसरा साधन मिलना कठिन है। 'अप रहा धम्म', वह साधन के रूप में सर्वोत्तम है। आत्मा से महात्मा और महात्मा से परमात्मा बनने के लिए धम्म ही एक उत्कृष्ट साधन है। संसार की और गल चीजें, आत्मा को पतन की ओर ले जाती हैं; क्लृप्ति बनाती हैं, और अस्वस्थ दुःख-दायकाल में जलाकर निवृत्त कर देती हैं, जबकि धम्म दुर्गति में पड़ते हुए आत्माओं को धारण करने के कारण 'धारणाद् धम्मः' के निर्वचन की अप्रिमरीक्षा में पूर्णतया पुनः उठता है।

तत्त्वार्थविभाग गूय के भाष्य की सम्प्रदायिका में, पूर्व आचार्य उनाम्बानि, सम्पूर्ण मानव जगत को द्वाद विभागों में विभक्त करते हैं—
अधमाधम, अधम, मिध्यम, मध्यम, उत्तम और उत्तमोत्तम।

१—अधमाधम मनुष्य वह है, जो लोक और परलोक दोनों को नष्ट करने वाले अत्यन्त नीच पागचरण करता है। न उसे इस लोक की लज्जा और प्रतिष्ठा का खयाल रहता है और न परलोक का ही। वह परले सिरे का नास्तिक होता है। धम्म और अधम्म के विधि-निषेधों को नष्ट दोग समझता है। वह उचित और अनुचित किसी भी पद्धति का खयाल किए बिना एकमात्र अग्ना अभीष्ट स्वार्थ मिद्ध करना चाहता है। वह मनुष्य वैराग्यामी, परस्त्री सेवन करनेवाला, माताहारी, चोर, दुराचारी एवं सव-जीर्ण को निर्दयतापूर्वक सताने वाला होता है। न यह इस लोक में सुख शान्ति, प्रतिष्ठा और आनन्द प्राप्त करता है और न परलोक में ही अपने जीवन को सुखमय बना पाता है।

२—अधम मनुष्य वह है, जो उपर्युक्त अधमाधम मनुष्य की भौति परस्त्री गमन, चोरी आदि अत्यन्त नीच आचरण तो नहीं करता; परन्तु विप्रशान्ति का त्याग नहीं कर सकता। वह अपनी सारी शक्ति लगा कर

इस लोक के ही सुन्दर सुखोपभोगों को प्राप्त करता है और उन्हें पाकर अपने को भाग्यशाली समझता है। यह जीवन, धर्म को लक्ष्य में रख कर प्रगति नहीं करता, प्रत्युत लोकलज्जा के कारण ही अत्यन्त नीच दुराचरणों से बचा रहता है। इस जीवन में भोगासक्ति इतनी तीव्र होती है कि धर्माचरण के प्रति किसी भी प्रकार की श्रद्धा-भक्ति जागृत ही नहीं होती।

३—विमध्यम मनुष्य वह है, जो लोक और परलोक दोनों को सुधारने का प्रयत्न करता है। यह आस्तिक जीवन का प्रथम सोपान है। यहाँ लोकलज्जा के द्वारा विधিনিषेध का प्रश्न हल नहीं किया जाता, प्रत्युत पाप-पुण्य के प्रकाश में जीवनयात्रा प्रगतिशील होती है। यह जीवन समय पर दान करता है, दूसरों की सेवा करता है, ताकि उसका परलोक भी सुन्दर हो। एक साधारण सदाचारी गृहस्थ का जीवन विमध्यम जीवन है। यह लोक और परलोक के दोनों घोड़ों पर सवारी करना चाहता है। परन्तु परलोक के सुखों के लिए, यदि इस लोक के सुख छोड़ने पड़ें तो इसके लिए तैयार नहीं होता। यह सुन्दर भविष्य के लिए सुन्दर वर्तमान को निछावर नहीं कर सकता। यह दोनों ओर एक जैसा मोह रखता है, इसका सिद्धान्त है 'माल भी खाना, बैकुण्ठ भी जाना'।

४—मध्यम-मनुष्य का जीवन विमध्यम की अपेक्षा कुछ ऊँचा होता है। वह इस लोक की अपेक्षा परलोक के सुखों की अधिक चिन्ता करता है। यदि उसे परलोक को सुधारने के लिए इस लोक में कुछ कष्ट भी उठाना पड़े, सुख सुविधा भी छोड़नी पड़े तो इसके लिए सहर्ष तैयार रहेगा। वह परलोक के सुख की आसक्ति में इस लोक के सुख की आसक्ति का त्याग कर सकता है, परन्तु वीतराग भाव की साधना में दोनों ही प्रकार की सुखासक्ति का त्याग नहीं कर सकता। संसार की वर्तमान मोहमाया उसे भविष्य के प्रति लापरवाह नहीं बनाती। वह सुन्दर वर्तमान और सुन्दर भविष्य के चुनाव में सुन्दर भविष्य को चुनने

का ही अधिक प्रयत्न करेगा, परन्तु उनका वह सुन्दर भविष्य मुष्णमर्ति रूप होगा, अनासक्ति रूप नहीं ।

५—उत्तम साधक वह है, जिसकी सम्पूर्ण साधना लोक और परलोक दोनों की आसक्ति से सर्वथा दूर, निशुद्ध आत्मतत्त्व के प्रकाश के लिए होती है । मौलिक मुद्दा चाहे वर्तमान का हो अथवा भविष्य का, लोक का हो अथवा परलोक का, दोनों ही उसकी दृष्टि में हेय हैं । वह लोहे की बेड़ी और सोने की बेड़ी में कुछ अन्तर नहीं समझता । उसने लिए दोनों ही बाधन-रूप हैं । उसका समग्र जीवन एकमात्र आत्मतत्त्व के प्रकाश के लिए, सर्वथा उन्धनमुक्त होने के लिए गतिशील रहता है । ससार का भोग चाहे चक्रवर्ती पद का हो अथवा इन्द्रपद का, वह एकान्त निस्पृह अनासक्त भाव से रहता है । ससार का कोई भी प्रयोजन उसे धीनराग भाव की साधना के पवित्र मार्ग से एक क्षण के लिए भी नहीं भटका सकता । यह पद उत्तम साधक और उत्तम मुनि का है । मोक्षपद के ये दोनों ही यात्री अनासक्त जीवन के उच्च आदर्श हैं ।

६—अब रहा उत्तमोत्तम महामानव का पद । उसके लिए क्या परिभाषा प्रस्तावें ? वह सारी जीवों की सम्पूर्ण परिभाषाओं से ऊपर है । फिर भी परिचय की एक हलकी सी झलक के लिए कह सकते हैं कि जो आत्मतत्त्व का पूर्ण प्रकाश पाकर स्वयं कृतकृत्य हो चुका हो, पूर्ण हो चुका हो, तथापि विश्वकल्याण की भावना से दूसरों को पूर्ण बनाने के लिए अहिंसा सत्य आदि उत्तम धर्म का उपदेश देता हो, वह उत्तमोत्तम मानव है । इस कोटि में अरिहन्त भगवान् आते हैं । अरिहन्त भगवान् केवल ज्ञान का प्रकाश शकर निष्प्रिय नहीं हो जाते, प्रत्युत नि स्वार्थ भाव से जनता के प्रति परम धर्म का उपदेश देते हैं ।

कर्माहितमिह चासुतं,

चाधमतमो नरः समारभते ।

इह फलमेव त्वधर्मो,

विमंध्यमस्तूभयफलार्थम् ॥४॥

परलोक - हितायैव,

प्रवर्तते मध्यमः क्रियासु सदा ।

मोक्षायैव तु घटते,

विशिष्टमतिरुत्तमः पुरुषः ॥५॥

यस्तु कृतार्थोऽप्युत्तम-

मवाप्य धर्मं परेभ्य उपदिशति ।

नित्यं स उत्तमेभ्यो-

ऽप्युत्तम इति पूज्यतम एव ॥६॥

—तत्त्वार्थ भाष्य

प्रेमी पाठकों से निवेदन है कि आप इधर-उधर व्यर्थ ही कहाँ भटक रहे हैं, उत्तम की शोध कर रहे हैं ? आत्मज्योति का प्रकाश हमें कहीं और उत्तमों से नहीं मिल सकता । आत्मतत्त्व रूप उत्तम सिद्ध पद की प्राप्ति के लिए एकमात्र साधन अहिंसा सत्य आदि उत्तम धर्म है । और वह उत्तम धर्म हमें उत्तम अरिहन्त भगवानों के द्वारा बताया गया है । आज अरिहन्त भगवान् हमारे समक्ष विद्यमान नहीं हैं, परन्तु उनके बताए हुए धर्म का आचरण करने वाले उत्तम साधु तो विद्यमान हैं । उत्तम साधु अरिहन्त भगवान् के प्रतिनिधि हैं, आचार्य कुन्दकुन्द की अलंकार-भाषा में कहें तो अरिहन्त भगवान् के प्रतिविम्ब हैं । अतः आइए, उनके चरणों में बैठ कर उत्तम धर्म का उपदेश ले और अन्त में उत्तमोत्तम पद की प्राप्ति करें ।

प्रस्तुत चार उत्तमों में धर्म का नंबर अन्तिम है । इसका भाव यह है कि वास्तविक उत्तमता धर्म में ही है । धर्म के द्वारा ही आदि के

का ही अधिक प्रयत्न करेगा, परन्तु उन्हा वह सुन्दर भविष्य दुर्लभकृत रूप होगा, अनात्मनि रूप नहीं ।

५ —उत्तम माधक वह है जिसकी सम्पूर्ण गाधना लोभ और परमाह दोनों की आत्मकृति से सर्वथा दूर, निशुद्ध आत्मनस के प्रकाश के लिए होती है । मौनिक मुग चाहें धर्ममान का हो अथवा भविष्य का, लोभ का हो अथवा परलोक का, दोनों ही उमरी दृष्टि में देख हैं । वह लोभ की बेड़ी और लोभ की बेड़ी में कुछ अन्तर नहीं समझता । उसका चित्त दोनों ही बधन रहा है । उसका समग्र जीवन एकमात्र आत्मनस के प्रकाश के लिए, सर्वथा उन्धनमुक्त होने के लिए गतिशील रहता है । समार का भोग चाहें चरुयती पद का हो अथवा इन्द्रपद का, वह एकान्त निशुद्ध अनात्म भाव से रहता है । समार का कोई भी प्रलोभन उसे क्षीणग भाव की सोधना के पवित्र मार्ग से एक क्षण के लिए भी नहीं मटका सकता । यह पद उत्तम आधक और उत्तम मुनि का है । मोक्षपद के ये दोनों ही यात्री अनात्म जीवन के उद्य आदर्श हैं ।

६ —अब रहा उत्तमोत्तम महामानव का पद । उसके लिए क्या पारभागा प्रतन्नार्थ ? वह स सारी बीबों की सम्पूर्ण परिभाषाओं से ऊपर है । फिर भी परिचय की एक हलकी सी भलक के लिए वह सकते हैं कि जो आत्मनस का पूर्ण प्रकाश पाकर स्वयं वृत्तवृत्त्य हो चुका हो, पूर्ण हो चुका हो, तथापि निश्चकल्याण की भावना से दूसरों को पूर्ण बनाने के लिए अहिंसा सत्य आदि उत्तम धर्म का उपदेश देता हो, वह उत्तमोत्तम मानव है । इस कोटि में अरिहन्त भगवान् आते हैं । अरिहन्त भगवान् केवल-ज्ञान का प्रकाश पारर निष्क्रिय नहीं हो जाते, प्रत्युत नि स्वार्थ भाव से जनता के प्रति परम धर्म का उपदेश देते हैं ।

कर्माहितमिह चाहुः,

चावमतमो नरः समारभते ।

शरण-सूत्र

चत्तारि सरणं पवज्जामि—
अरिहंते सरणं पवज्जामि,
सिद्धे सरणं पवज्जामि,
साहू सरणं पवज्जामि,
केवलि-परणत्तं धम्मं
सरणं पवज्जामि ।

शब्दार्थ

चत्तारि = चार की

सरणं = शरण

पवज्जामि = लेता हूँ

अरिहंते = अरिहन्तों की

सरणं = शरण

पवज्जामि = लेता हूँ

सिद्धे = सिद्धों की

सरणं = शरण

पवज्जामि = लेता हूँ

साहू = साधुओं की

सरणं = शरण

पवज्जामि = लेता हूँ

केवलि = केवली के

परणत्तं = कहे हुए

धम्मं = धर्म की

सरणं = शरण

पवज्जामि = लेता

तीन पदाँ को उत्तमत्त्व प्राप्त है । जैन धर्म' गुण-सूत्रा का पदापाती है । गुण के द्वारा ही गुणी का महत्त्व है, अन्यथा नहीं ।

साधु पद म आचार्य और उपाध्याय पद का भी अन्तर्भाँन हो जाता है । अतः चार म गल, चार उत्तम और चार शरण में महामत्र परमेस्त्री के पाँच पदों का एक ठक पदाँ को महत्त्व प्रदान करने वाले उत्तम धर्म' का समावेश है । अरिहन्त, सिद्ध, साधु—(आचार्य, उपाध्याय, साधु) ये तीन गुणी हैं और वेगलि प्ररूणित धर्म' गुण है । जैन धर्म' गुणी आत्माओं को वन्दन करते समय साध ही गुण को भी वन्दन करता है । यह भाग्यत्मक साधना का अद्वितीय आदर्श है ।

मं अग्नि पर ही हो सकता है। इनके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है, शरणा नहीं है। ओ दुनिया के भूले मानव ! क्यों भटक रहा है ? क्यों भटक रहा है ? आ, ओग जीन में शीन आ। तेरे उद्धार का मार्ग प्रशस्त है, तेरा भविष्य समुज्ज्वल है। तू अग्निहोतों की, मित्रों की, माधुष्यों की ओर सर्वशून्य-व्यक्ति धर्म की शरणा क्यों नहीं लेता है ? सूरदास ने अगर कृपा कर के सहज ही में यह गुम रहस्य हमारे लिए प्रकट कर दिया है। अब तुम जो चाहो सो पा सकते हो। दिशा बदलने ही दशा बदल जाती है। जबतक उत्तम चतुष्टय की शरणा में न आए, ये, तभी तक दुःख, कष्ट, पीडा, व्यथा, अज्ञान, मोह सब कुछ था। पर अग्न ? अब तो सर्वत्र शान्ति है, सुख ही सुख है।

सुख, शान्ति, आनन्द कहीं बाहर नहीं है। वह हमारे अन्दर ही है, बट में ही है। केवल अग्नी अज्ञानता ही हमें कष्ट देती रहती है। चागें उत्तमों की शरणा लेने से वह अज्ञान दूर होता है, ज्ञान जाग्रत होता है। हम अग्नी रक्षा करने में, अग्ने भाग्य के निर्माण में समर्थ हो जाते हैं। प्रभु का प्रताप इतना ही है कि हमें प्रकाश मिल जाता है, अग्नेयन का भान हो जाता है, आध्यात्मिक दरिद्रता चक्काचूर हो जाती है, आत्मिक ऐश्वर्य की ज्योति सब ओर जगमगा उठती है।

एक दरिद्र था। उसके घर एक फकीर आया। आवाज लगाते ही दरिद्र घर से बाहर आकर देखता है तो एक फकीर भिक्षा की प्रतीक्षा में द्वार पर खड़ा है। दरिद्र बेचारा गिड़गिड़ा कर कहने लगा—'महात्मन् ! मेरा अगर सोमांग्य है कि आप दया करके पधारे; पर घर में तो अन्न का दाना भी नहीं है, काहे से सेवा करूँ ? दरिद्र हूँ, अग्ना ही पेट भरना कठिन हो रहा है।' फकीर ने कहा—'अरे वह क्या ? तुम्हारे समान तो संसार में कोई भाग्यवान ही नहीं है।' फकीर खुले दरवाजे से अन्दर की ओर भाँक रहा था। अन्दर शिलाग्र पर एक लोड़ा रक्खा हुआ था। पूछा—'वह क्या है ?' दरिद्र ने उत्तर दिया—'महाराज ! पत्थर है इससे चटनी पीसा करता हूँ।' सन्त ने —'नहीं, यह पत्थर

भाषार्थ

चार की शरण स्वीकार करता हूँ —

अरिहन्तों की शरण स्वीकार करता हूँ ।

सिद्धों की शरण स्वीकार करता हूँ ।

साधुओं की शरण स्वीकार करता हूँ ।

सर्वज्ञ-प्ररूपित धर्म की शरण स्वीकार करता हूँ ।

विवेचन

स सार दुःख की ज्वालाओं से चारों ओर जल रहा है, कहीं भी मुक्त नहीं, कहीं भी शान्ति नहीं । भोगवियाँ अपने बज में व्याकुल हैं तो स्वर्ण महल अपने दुःख में प्रकम्पित हैं । दरिद्र अपनी सीमा में दुःखी हैं तो नरेन्द्र भी अपनी सीमा में सुखी नहीं हैं । मानव-हृदय सर्वदा दुःखों की ज्वालाओं से धँस धँस करके जल रहा है । मनुष्य असहाय है, निष्पाय है, किस की शरण में जाय ?

स सार के जितने भी पदार्थ हैं, मनुष्य को शरण नहीं दे सकते । न धन, न राज्य, न ऐश्वर्य, न सेना, न परिवन, न मित्र, न शरीर, न शुद्ध, न और कुछ । जीवन के अन्तिम क्षणों का दृश्य हमारे सामने है । अज्ञानी मानव इस दुनिया से छिपटे रहने का कितना प्रयत्न करता है ? किन्तु मृत्यु कहीं छोड़ती है ? वह विश्व जीगत्मा को पसीट कर ले ही जाती है । उस समय कौन शरण देता है ? कौन बचाता है ? कोई नहीं । धन त्रिखोटी में बदल पड़ा रह जाता है, पशु धन पाड़े में बदल रहा रहता है, स्त्री देखाते तक और भिर-परिवन शमसान तक । आगे जैसी करनी वैसी भरनी । हा हन्त ! फिर भी मनुष्य कितना पागल है, जो इन्हीं दुनिया की छँपेगी गलियों में तो भटक रहा है, किन्तु मैदान में आकर सूर्य के पूर्ण प्रकाश का दर्शन करना नहा चाहता ।

अनादिकाल से भोगमाया में व्याकुल जीगत्मा का यदि उद्धार हो सकता है कल्याण हो सकता है, तो पूर्णज्ञान चार उत्तमों की शरण

में आने पर ही हो सकता है। इनके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है, शरण नहीं है। ओ दुनिया के भूले मानव ! कहाँ भटक रहा है ? क्यों भटक रहा है ? आ, और शीघ्र से शीघ्र आ। तेरे उद्धार का मार्ग प्रशस्त है, तेरा भविष्य समुज्ज्वल है। तू अरिहंतों की, सिद्धों की, साधुओं की और सर्वज्ञ-रूपित धर्म की शरण क्यों नहीं लेता है ? सूत्रकार ने अपार कृपा कर के सहज ही में यह गुप्त रहस्य हमारे लिए प्रकट कर दिया है। अब तुम जो चाहो सो पा सकते हो। दिशा बदलते ही दशा बदल जाती है। जबतक उत्तम-चतुष्टय की शरण में न आए थे, तभी तक दुःख, कष्ट, पीड़ा, व्यथा, अज्ञान, मोह सब कुछ था। पर अब ? अब तो सर्वत्र शान्ति है, सुख ही सुख है।

सुख, शान्ति, आनन्द कहीं बाहर नहीं है। वह हमारे अन्दर ही है, घट में ही है। केवल अपनी अज्ञानता ही हमें कष्ट देती रहती है। चारों उत्तमों की शरण लेने से वह अज्ञान दूर होता है, ज्ञान जागृत होता है। हम अपनी रक्षा करने में, अपने भाग्य के निर्माण में समर्थ हो जाते हैं। प्रभु को प्रताप इतना ही है कि हमें प्रकाश मिल जाता है, अनेमन का भान हो जाता है, आध्यात्मिक दरिद्रता चक्काचूर हो जाती है, आत्मिक ऐश्वर्य की ज्योति सब ओर जगमगा उठती है।

एक दरिद्र था। उसके घर एक फकीर आया। आवाज लगाते ही दरिद्र घर से बाहर आकर देखता है तो एक फकीर भिक्षा की प्रतीक्षा में द्वार पर खड़ा है। दरिद्र बेचारा गिड़गिड़ा कर कहने लगा—‘महात्मन् ! मेरा अपार सोमाग्य है कि आप दया करके पंचारे; पर घर में तो अन्न का दाना भी नहीं है, काहे से सेवा करूँ ? दरिद्र हूँ, अपना ही पेट भरना कठिन हो रहा है।’ फकीर ने कहा—‘अरे वह क्या ? तुम्हारे समान तो संसार में कोई भाग्यवान ही नहीं है।’ फकीर खुले दरवाजे से अन्दर की ओर भाँक रहा था। अन्दर शिलागट्ट पर एक लोड़ा रक्ता हुआ था। पूछा—‘वह क्या है ?’ दरिद्र ने उत्तर दिया—‘महाराज ! पत्थर है, इससे चटनी पीना करता हूँ।’ सन्त ने कहा—‘नहीं, वह पत्थर

नहीं है, यह तो पारम है ।' गरीम को कैसे विराम होना ? परन्तु ज्यों ही करीर ने दरिद्र के तग, करछी, निमग आदि लोहे को चीत्रों को पारम से छूआ तो सब मोने व मन गए । अब क्या था, एक क्षण में ही उस गरीम की सारी दरिद्रता मिट गई, आँसे खुल गई ! ठीक यही दशा हमारी है । पारम रूप आत्मा से निगममोग की चटनी पीम रहे हैं । परन्तु ज्यों ही म गल-चतुग्य के उज्ज्वल प्रकाश से आँसे खुलती हैं तो एक ही क्षण म जीवन का नकशा उदल जाना है । प्रभु शक्ति हमारे अन्दर ही है, वह माँगी हुई बाहर से नहीं मिलती । जैन धर्म का आदर्श बाहर से कुछ पाने का नहीं है । और न किसी से कुछ लेने का ही है । म गल चतुग्य की शरण हमें कुछ देती नहीं है, प्रत्युत हमें अग्ना मान करनी है, सुप्त ज्ञान-चेतना को जागृत करनी है । 'पारसी माधना यस्य त्तिक्ष्मन्वनि ताच्छी'—श्याय के अनुसार, जो जैसा स्मरण करता है वह वैसा बन जाता है । ध्यान की महिमा अग्ररंपार है ।

एक प्रश्न है, उस पर निचार कर ले । आजकल लोग इतना नाम लेते हैं, प्रभु का स्मरण करते हैं, किन्तु उद्धार नहीं होता, यह क्या बात ? ठीक है, हमारा उद्धार इसलिए नहीं हो रहा है कि जिस प्रकार नाम लेना चाहिए वैसे नहीं लेते । केवल चला चलने के लिए, लोक दिखावे के लिए, संख्या-गूर्ति करने के लिए भगवान का नाम लिया जाता है । यदि आराध्य देव के प्रति हृदय में यथार्थ श्रद्धा हो, आकर्षण और प्रेम हो, आदर-सुद्धि हो, निष्काम भाव हो तो अवश्य ही ज्ञान की चिनगायी प्रचलित होगी । श्रद्धा का बल असीम होना है ।

प्रतिक्मण आवश्यक के प्रारंभ में यह म गल, उत्तम, एवं शरण सूत्र इसलिए पड़ा जाया है कि साधक शान्त भाव से अपने मन का दृढ़, निश्चल, सरल एवं श्रद्धालु बना सके । प्रतिक्मण के लिए आध्यात्मिक भूमिका तैयार करने के लिए ही यह तिसूत्री यहाँ स्थान पाए हुए है । 'दसण सुद्धि-निमित्त' आवश्यक चूर्णि ।

: ६ :

संक्षिप्त प्रतिक्रमण-सूत्र

इच्छामि पडिक्कमिउं

जो मे देवसिओ अइयारो कओ,

काइओ, वाइओ, माणसिओ—

उस्सुत्तो, उम्मग्गो,

अकप्पो, अकरणिज्जो;

दुज्झाओ, दुव्विचिंतिओ,

अणायारो,

अणिच्छियव्वो,

असमण-पाउग्गो;

नाणे तह दंसणे चरित्ते

सुए सामाइए;

तिएहं गुत्तीणं, चउएहं कसायाणं,

पंचएहं महव्वयाणं, छएहं जीवनिकायाणं,

सत्तएहं पिंडेसणाणं, अठएहं पवयण-माऊणं,

नयएहं वंभचेरगुत्तीणं,
 दसहिहे समणधम्मो समणाणं जोगाणं,
 जं खंडियं जं विराहियं
 तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

शब्दार्थ

पडिक्कमिउ = प्रतिक्रमण करना

इच्छामि = चाहता हूँ

मे = मैंने

जे = जो

देयसिञ्चो = दिय-सम्बन्धी

अदयारो = अतिचार

कञ्चो = किया हो

[कैसा अतिचार ?]

काइञ्चो = काय-सम्बन्धी

वाइञ्चो = वचन-सम्बन्धी

माणसिञ्चो = मन-सम्बन्धी

[तीनों का निरासीकरण]

उत्सुतो = सूत्र-विरुद्ध

उम्मणो = मार्ग-विरुद्ध

अण्णो = आचार-विरुद्ध

अकरणिञ्चो = न करने योग्य

दुग्गमञ्चो = दुष्परिणाम

दुग्गिचिणिञ्चो = दुष्श्रित्तरूप

अणायारो = न आचरने योग्य

अणिद्धिपज्जा = न चाहने योग्य

अत्तमणसउण्णो = माधु का अनुचित

[ये अतिचार विनियमक होते हैं ?]

नाणे = ज्ञान में

तइ = तथा

दमणे = दर्शन में

चरित्ते = चरित्र में

[तीनों के भेद]

सुए = ध्रुव ज्ञान में

सामाएण = सामायिक चरित्र में

[उपसंहार]

तिरहं = तीन

गुत्तीण = गुणियों की

चउएह = चार

कमायाण = कथाओं के निवेदों की

पचएहं = पाँच

महव्ययाण = महाव्रतों की

छएह = छह

जीवनिक्कायाण = जीवनिकायों की

एत्तएह = सात

दिहेमणाण = विषद्वैवर्ण्याओं की

अण्णहं = आठ

प्रवचणमाऊण = प्रवचन माताओं की	जं = जो
नवरहं = नौ	खंडियं = खण्डना की हो
ग्रंभचेरगुत्तीण = ब्रह्मचर्य गुप्तियों की	जं = जो
दसविहे = दश-विध	विराहियं = विराधना की हो
समणधम्मे = श्रमणधर्म में के	तस्स = उसका
समणाण = श्रमण सम्बन्धी	दुक्कडं = पाप
जोगाण = कर्तव्यों की	मे = मेरे लिए
	मिच्छा = मिथ्या हो
अन्वार्थ	

मैं प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ। ज्ञान, दर्शन, चारित्र में अर्थात् श्रुतधर्म और सामायिक धर्म के विषय में, मैंने दिन में जो कायिक, वाचिक तथा मानसिक अतिचार = अपराध किया हो; उसका पाप मेरे लिए निष्फल हो।

वह अतिचार सूत्र से विरुद्ध है, मार्ग = परम्परा से, विरुद्ध है, कल्प = आचार से विरुद्ध है, नहीं करने योग्य है, दुर्ध्यान - आर्तप्यान रूप है, दुर्विचिन्तित = रौद्रध्यान रूप है, नहीं आचरने योग्य है, नहीं चाहने योग्य है, संक्षेपमें साधु-वृत्ति के सर्वथा विपरीत है—साधु को नहीं करने योग्य है।

तीन गुप्ति, चार करावों की निवृत्ति, पाँच महाव्रत, छह पृथिवी, जज्ञ आदि जीवनक्रियाओं की रक्षा, सात पिण्डैषणा, आठ प्रवचन माता, नौ ब्रह्मचर्य गुप्ति, दशविध श्रमण धर्म के श्रमणसम्बन्धी कर्तव्य, यदि खण्डित हुए हों अथवा विराधित हुए हों तो वह सब पाप मेरे लिए निष्फल हो।

विवेचन

मनुष्य देव भी है और राक्षस भी। देव, यों कि यदि वह सदाचार के मार्ग पर चले तो अपनी आत्मा का कल्याण कर सकता है, आस-पास के देश, जाति और समाज का कल्याण कर सकता है, यदि और

आगे बढ़े तो विश्व का कल्याण कर सकता है। नरक के समान दुःखाकुल संसार को स्वर्ग में परिवर्तन कर देना उसके कार्य का क्षेत्र है।

शब्दस, यों कि यदि वह दुष्टाचार के शुभार्थ पर चले तो अग्नी भी शान्ति गोता है, हमरों की भी शान्ति गोता है, और संसार में सब और आदि प्रादि भन्वा देना है। स्वर्ग के समान सुखी संसार को गैरन नरक की घोर बन्धनाओं में पटक देना, उसका साधारण-सा हँसी खेल है।

मनुष्य के पास उसे देव और राक्षस बनाने के लिए तीन महान् शक्तियाँ हैं—मन वचन, और शरीर। इनके वन पर वह मना बुग जो चाहे कर सकता है। उक्त तीनों शक्तियों को विश्व के कल्याण में लगाया जाय तो उपर वारा न्वाता है; और यदि अत्माचार में लगा दिया जाय तो उधर सपाचट मैदान है। मनुष्य का भविष्य इन्हीं के अन्धे घुरे पन पर बना बिगड़ा करता है। अतएव धर्मशास्त्रज्ञों ने जगह जगह इन पर अधिक से अधिक नियमन रखने का जोर दिया है।

साधु मुनिराज स्वयंसेद्धात्मक ने रूप में संसार के रंगमंच पर अजनीरा होते हैं; अतः उन्हें तो पद-पद पर मन, वचन और शरीर की शुभाशुभ चेष्टाओं का ध्यान रखना ही चाहिए। इस सम्बन्ध में जरा सी भी लापरवाही भयकर पतन के लिए हो सकती है। अस्तु, प्रस्तुत पाठ में इन्हीं तीनों शक्तियों से दिन रात में होने वाली भूलों का परिमार्जन किया जाता है और भविष्य में अधिक सावधान रहने की सुट्टा गारण बनाई जाती है।

यह प्रतिनिमण का प्रारम्भ सामान्य गूर है। इसमें सत्त्व से आचार-विचार-सम्बन्धी भूलों का प्रतिनिमण किया जाता है। अगले पाठों में जो विमृष्ट प्रतिनिमण किया होने वाली हैं, उसकी यहाँ मात्र आधार शिला रखी गई है।

अप्रति, सूत्र में आप दुष्ट बुद्ध विशेष शब्दों का स्वीकरण किया

जाता है। क्योंकि पारिभाषिक शब्दों का केवल शब्दार्थ के द्वारा निर्णय नहीं किया जा सकता।

उत्सूत्र

उत्सूत्र का अर्थ सूत्र-विरुद्ध आचरण है। सूत्र-मूल आगम को कहते हैं। वह अर्थों की सूचना करता है, अतः सूत्र कहलाता है। 'अर्थ-सूचनात्सूत्रम्'—वृद्धकल्प प्रथम उद्देश की मलयगिरि टीका। अथवा 'उत्सूतो' का संस्कृत रूप उत्सूक्त भी बनाया जाता है। सूक्त का निर्वचन है—अच्छीतरह कहा हुआ शास्त्र—'सुष्ठु उक्तमिति।' सूक्त-विरुद्ध उत्सूक्त होता है।

उन्मार्ग

उन्मार्ग का अर्थ है मार्ग के विरुद्ध आचरण करना। हरिभद्र आदि प्राचीन-टीकाकार ज्ञायोपशमिक भाव को मार्ग कहते हैं, और ज्ञायोपशमिक भाव से औदयिक भाव में संक्रमण करना उन्मार्ग है। चारित्रावरण कर्म का जब ज्ञायोपशम होता है, तब चारित्र का आविर्भाव होता है। और जब चारित्रावरण कर्म का उदय होता है तब चारित्र का घात होता है। अतः साधक को प्रतिक्षण उदयभाव से ज्ञायोपशमिक भाव में मंचरण करते रहना चाहिए।

उन्मार्ग का अर्थ, परंपरा के विरुद्ध आचरण करना भी किया जाता है। मार्ग का अर्थ परंपरा है। पूर्व-कालीन त्यागी पुरुषों द्वारा चला आने वाला पवित्र कर्तव्य-प्रवाह मार्ग है। 'मग्नो आगमणीई, अहवा संविग्न-ग्रहजणाङ्गण'—धर्मरत्न-प्रकरण।

अकल्प

चरण और करण रूप धर्म व्यापार का नाम कल्प है—आचार है। जो चरण करण के विरुद्ध आचरण किया जाता है, वह अकल्प है। चरण सत्तति और करण सत्तति का निरूपण परिशिष्ट में किया गया है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र

वहाँ ज्ञान से सम्पन्न ज्ञान का ग्रहण है, और दर्शन तथा चारित्र से

सम्यग् दर्शन एवं सम्यक् चारेण वा । यह जैन धर्म का राजमार्ग रूप मोक्षमार्ग है । 'सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य मोक्षमार्गः ।' श्री उमा-स्वाति रचित तत्त्वार्थसूत्र १ । १ ।

मूल ने सम्यग् शब्द का उल्लेख नहीं है । परन्तु केवल, ज्ञान शब्द भी कुज्ञान का निरोधी होने से अपने श्रद्धा सम्यक्त्व लिए हुए है । इसी प्रकार दर्शन, कुदर्शन की व्यावृत्ति करता है और चारित्र्य, कुचारित्र्य की ।

मूल पाठ है 'नाथे सह दंरुणे चरिते' । परन्तु आचार्य हरिभद्र ने यहाँ सह शब्द का उल्लेख नहीं किया है ।

श्रुत

श्रुत का अर्थ श्रुतज्ञान है । नीतधर्म तीर्थंकर देव के श्रीमुख से सुना हुआ होने से आगम साहित्य को श्रुत कहा जाता है । श्रुत, यह अन्य ज्ञानों का उपलक्षण है, अतः यह भी ग्राह्य है । श्रुत का अतिचार है-विपरीत भ्रष्टा और विपरीत प्ररूपण ।

सामायिक

सामायिक का अर्थ समभाव है । यह दो प्रकार से माना जाता है—सम्यक्त्व रूप और चारित्र्य रूप । चारित्र्य पौंच महाव्रत, पौंच समिति, तीन गुणि आदि है । और सम्यक्त्व जिन पररूपित सत्य-मार्ग पर भ्रष्टा है । इसने दो भेद हैं—निर्मागज और अधिगमज । सामायिक में सम्यक्त्व और चारित्र्य दोनों का अन्तर्भाव होने से यह आक्षेप दूर हो जाता है कि—यहाँ ज्ञान और चारित्र्य के साथ सम्यग् दर्शन का उल्लेख क्यों नहीं किया गया ?

चार कपाय

चार कपाय का वर्णन आने कपायसूत्र में आने वाला है । यहाँ केवल इतना ही वर्णन है कि—मूल-पाठ 'चउयहं कसायाण' है जिसका 'जं खडियं जं विराहियं' के साथ योग होने पर अर्थ होता है—यदि चार कपायों का खण्डन किया हो तो मिच्छामि दुक्कडं । आ

वेचन में होंगे, यह क्या उलटा अर्थ है ! कपायों का खरडन तो इष्ट ही होता है, फिर अतिचार कैसा ? शंका सर्वथा उचित है । अतएव यहाँ 'कपाय' शब्द लक्षणा के द्वारा कपाय-निवृत्ति रूप माना जाता है । अतएव कपाय-निवृत्ति में यदि कहीं दुर्बलता की हो तो उस अतिचार की शुद्धि की जाती है । इसी प्रकार पङ्जीवनिकाय की भी पङ्जीवनिकाय के रक्षण में लक्षणा है ।

सात पिण्डैपणा

दोष-रहित शुद्ध प्रासुरु अन्न जल ग्रहण करना 'एपणा' है । इसके दो भेद हैं—पिण्डैपणा और पानैपणा । आहार ग्रहण करने को पिण्डैपणा कहते हैं, और पानी ग्रहण करने को पानैपणा । पिण्डैपणा के सात प्रकार हैं:—

(१) असंसृष्टा = असंसृष्टा—देय भोजन से बिना सने हुए हाथ तथा पात्र से आहार लेना ।

(२) संसृष्टा = संसृष्टा—देय भोजन से सने हुए हाथ तथा पात्र से आहार लेना ।

(३) उद्धडा = उद्धृता—बटलोई से थाली आदि में गृहस्थ ने अग्रने लिए जो भोजन निकाल रखा हो, वह लेना ।

(४) अल्पलेवा = अल्पलेपा—जिसमें चिकनाहट न हो, अतएव लेय न लग सके, इस प्रकार के भुने हुए चणे आदि ग्रहण करना ।

(५) अवग्गहीआ = अवगृहीता—भोजनकाल के समय भोजन-कर्ता ने भोजनार्थ थाली आदि में जो भोजन परोस रक्खा हो, किन्तु अभी भोजन शुरू न किया हो वह आहार लेना ।

(६) पग्गहीआ = प्रगृहीता—थाली आदि में परोसने के लिए चम्मच आदि से निकाला हुआ, किन्तु थाली में न डाला हुआ, बीच में ही ग्रहण कर लेना । अथवा थाली में भोजन कर्ता के द्वारा हाथ आदि से प्रथम बार तो प्रगृहीत हो चुका हो, पर दूसरी बार ग्रहण लेने के कारण भूँटा न हुआ हो, वह आहार लेना ।

(७) उन्मिषधर्मा = उन्मिषधर्मा—जो आहार अधिक होने से प्रथम अन्य किसी कारण से फेंकने योग्य समझ कर डाला जा रहा है, वह ग्रहण करना ।

आचार्य द्वितीय श्रुतस्कन्ध विण्डैयणा अध्यायन में तथा स्थानाग सूत्र में विण्डैयणा का वर्णन आता है । यह उत्कृष्ट त्याग अनस्था की निहा-सम्बन्धी भूमिमाएँ हैं ।

आचार्य हरिभद्र पाठान्तर के रूप में 'सतरह विण्डैयणा' की जगह 'सतरह पाण्डेयणा' का उल्लेख भी करते हैं । ये मात पानैयणा विण्डैयणा न समान ही हैं । 'सत्ताना पानैयणानाम् केचित् पठन्ति । ता अग्नि चैवभूता एव ।' —आचार्य हरिभद्र ।

आठ प्रवचन-माता

प्रवचन माता, पाँच समिति और तीन गुप्ति का नाम है । प्रवचन माता इसलिए कहते हैं कि द्वादशांग वाणी का जन्म इन्हीं से हुआ है । { अर्थात् संपूर्ण जैन वाङ्मय की आधार भूमि पाँच समिति और तीन गुप्ति ही है । माता के समान साधक का हित करने के कारण भी इनको माता कहा जाता है । इनका विशद वर्णन आगे यथास्थान किया जाने वाला है ।

दशविध श्रमण धर्म में आमण याग

श्रमण, साधू को कहते हैं । उसका ज्ञान्ति, मुक्ति आदि दशविध धर्म—जिसका वर्णन आगे किया जाने वाला है—श्रमणधर्म कहलाता है । दशविध श्रमणधर्म में आमण याग क्या है ? इसके लिए यह बात है कि श्रमण-सम्बन्धी योग = कर्तव्य को आमण याग कहते हैं । दशविध श्रमण धर्म में श्रमण का क्या कर्तव्य है ? कर्तव्य यह है कि क्षमा आदि दश विध श्रमण धर्म का सम्यक् रूप से आचरण करना चाहिए, सम्यक् भ्रष्टान = विश्राम रखना चाहिए और यथावसर सम्यक् प्रवचन = प्रतिपादन भी करना चाहिए । आचार्य हरिभद्र कहते हैं—'आमणयोगानाम् = सम्यक् प्रतिसेवन-भ्रष्टान-प्रवचन-जप-गानां यत्प्रविष्टम् ।'

खण्डित, विराधित

‘जं खंडियं जं विराहियं’ में जो खण्डित और विराधित शब्द आए हैं, उनका कुछ विद्वान यह अर्थ करते हैं कि—‘एकदेशेन खण्डना’ होती है और ‘सर्वदेशेन विराधना’ । परन्तु यह विराधना वाला अर्थ संगत प्रतीत नहीं होता । यदि व्रत का पूर्णरूपेण सर्वदेशेन नाश ही हो गया तो फिर प्रतिक्रमण के द्वारा शुद्धि किसकी की जाती है ? जब चक्षु नष्ट ही हो गया तो फिर उसके धोने का क्या प्रयत्न ? वास्तविक अर्थ यह है कि—अल्पांशेन खण्डना होती है और अधिकांशेन विराधना । अधिकांश का अर्थ अधिक मात्रा में नाश होना है, सर्वांश में पूर्णतया नाश नहीं । अधिकांश में नाश होने पर भी व्रत की सत्ता बनी रहती है, एकान्ततः अभाव नहीं होता, जहाँ कि—‘मूलं नास्ति कुतः शाखा’ वाला न्याय लग सके । आचार्य हरिभद्र भी इसी विचार से सहमत हैं—‘विराधितं सुत्तरां भग्नं, न पुनरेकान्ततोऽभावापादितम् ।’

प्रस्तुत सूत्र में ‘जं खंडियं जं विराहियं तस्स’ तक अतिचारो का क्रियाकाल बतलाया गया है; क्योंकि यहाँ अतिचार किस प्रकार किन व्रतों में हुए—यही बतलाया है, अभी तक उनकी शुद्धि का विधान नहीं किया । आगे चलकर ‘मिच्छामि दुक्कडं’ में अतिचारों का निष्ठा-काल है । निष्ठा का अर्थ है यहाँ समाप्ति, नाश, अन्त । हृदय के अन्तस्तल से जब अतिचारों के प्रति पश्चात्ताप कर लिया तो उनका नाश हो जाता है । यह रहस्य ध्यान में रखने योग्य है ।

जैनधर्म दिवाकर पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज अपने साधु-प्रतिक्रमण में ‘तस्स मिच्छामि दुक्कडं’ से पहले ‘जो मे देवसिओ अइयारो कओ’ यह अंश और जोड़ते हैं; परन्तु यह अर्थ-संगति में ठीक नहीं बैठता । सूत्र के प्रारंभ में जब ‘जो मे देवसिओ अइयारो कओ’ एक बार आ चुका है, तब व्यर्थ ही दूसरी बार पुनरुक्ति क्यों ? आचार्य हरिभद्र आदि भी यह अंश स्वीकार नहीं करते ।

: ७ :

ऐर्यापथिक-सूत्र

इच्छामि प्रडिक्कमिउं
इरियावहियाए विराहणाए
गमणागमणे पाणाक्कमणे
वीय-क्कमणे, हरिय-क्कमणे,
ओसा-उत्तिग-पणग-दग-
मट्टी-मक्कडा-संताणा-संकमणे,
जे मे जीवा विराहिया,
एगिंदिया, तेइंदिया,
तेइंदिया, चउरिंदिया,
पंचिंदिया
अभिहया, वत्तिया
लेसिया, संघाइया
संघट्टिया,
परियाविया, किलामि

उद्धमिया,
 ठाणाओ ठाणं मंरुमिया,
 जोरियाओ वरोरिया,
 तस्म
 मिच्छा मि दुस्सकडं ।

शब्दार्थ

इच्छामि = चाहता हूँ ।

पट्टिकमिडं = प्रतिक्रमण करना,

निवृत्त होना

(किम से ?)

हरियावदियाए = वेर्यापथिकसम्बन्धी

मिराह्याए = विराधना से हिंसा से

(विराधना किम तरह होती है ?)

गमणागमणे = मार्ग में जाते, आते

पाणकमणे = प्राणियों को कुच
 लने से

वीयकमणे = बीजों को कुचलने से

हरियकमणे = हरित वनस्पति को

कुचलने से

आमा = ओस को

उत्तिग = कीदीनाल या कीदी

आदि के बलको

पणग = सेवाल, काई को

दग = सचित्त जल को

मट्ठी = सचित्त पृथ्वी को

मकडा स ताणा = मकड़ी के जालों
 को

संक्रमणे = कुचलने से, मसलने से

जे - जो भी

मे = मैंने

जीग = जीव

मिराहिया = विराधित किए हों

(कौन जीव विराधित किए हों ?)

एगिदिया = एकेन्द्रिय

वेइ दिया = द्वीन्द्रिय

तेइ दिया = त्रीन्द्रिय

चउरिदिया = चतुरिन्द्रिय

पचिदिया = पंचेन्द्रिय

(विराधना के प्रकार)

अभिहग = सम्मुख आते हुए
 रोके हों

वत्तिग = धूलि आदि से ढाँपे हों

लेसिया = भूमि आदि पर मसले हों

संघाद्व्या = इकट्ठे कर पीड़ित किए हों	संक्रामिया = संक्रामित किए हों
संघट्टिया = छू कर पीड़ित किए हों	जीवियाओ = जीवन से ही
परिताविया = परितापित किए हों	ववरोविया = रहित किए हों, मार डाले हों
किलामिया = अधमरे से किए हों	तस्स = तस्सम्बन्धी जो कुछ भी
उद्दविया = त्रस्त किए हों	दुक्कटं = दुष्कृत, पाप
ठाणाओ = एक स्थान से	मि = मेरे को लगा हो,
ठाणं = दूसरे स्थान पर	मिच्छा = (वह सब) मिथ्या हो

भावाथे

प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ, मार्ग में चलते हुए अथवा संयम धर्म का पालन करते हुए यदि असावधानता से किसी भी जीव की और किसी भी प्रकार की विराधना = हिंसा हुई हो तो मैं उस पाप से निवृत्त होना चाहता हूँ।

(किन क्रियाओं से और किन जीवों की विराधना होती है ?)
मार्ग में कहीं गमनागमन करते हुए प्राणियों को पैरों के नीचे या और किसी तरह कुचला हो, सचित्त जौ, नेहूँ या और किसी भी तरह के बीजों को कुचला हो, दबाया हो। घास, अंकुर आदि हरित वनस्पति को मसला हो, दबाया हो। आकाश से रात्रि में गिरनेवाली ओस, चींटियों के बिल या नाल, पाँचों ही रंग की सेवाल—काई, सचित्त जल, सचित्त पृथ्वी और मकड़ी के सचित्त जालों को दबाया हो, मसला हो।

किं बहुना ? एक स्पर्शन इन्द्रिय वाले (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति) एकेन्द्रिय जीव, स्पर्शन और रसन दो इन्द्रिय वाले (कृमि, शंख, गिडोआ आदि) द्वीन्द्रिय जीव; स्पर्शन, रसन घ्राण तीन इन्द्रिय वाले (चींटी, मकौड़ा, कुंथुआ, खटमल आदि) त्रीन्द्रिय जीव; स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु चार इन्द्रिय वाले (मक्खी, मच्छर

डॉस बिच्छू, चाँचड़, टीड, पतंग आदि) चतुरिन्द्रिय जीव; स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र उभर पाँच इन्द्रिय वाले (मछली, मेंढक आदि सम्पूर्ण तथा गमज तिर्यच मनुष्य आदि) पञ्चेन्द्रिय जीव, इस प्रकार किमी भी प्राणी की मैंने विराधना की हो ।

[किस तरह की विराधना की हो ?] सामने आते दुर्यों को रोक कर स्वतंत्र गति में बाधा डाली हो, धूल आदि से ढँके हों, भूमि आदि पर मसले हों, समूह रूप में इकट्ठे कर एक दूसरे को आपस में टकराया हो टूट कर पीड़ित किए हों, परित्यापित=दुःखित किए हों, मरण-तुल्य अधमरे से किए हों प्रसूत=भयभीत किए हों, एक स्थान से दूसरे स्थान पर उठाकर रखे हों-बदले हों, कि बहुना, प्राण से रहित भी किए हों, तो मेरा वह सब अतिचारान्वय पाप मिथ्या हो, निष्कल हो ।

विराधन

मानस-जीवन में गमनागमन का बहुत बड़ा महत्व है । यह वह क्रिया है, जो प्रायः सब क्रियाओं से पहले होनी है, और सर्वत्र होती है । निहार करना हो, गाँची जाना हो, शौच जाना हो, लघुशंका करनी हो, धूँकना हो, अर्थात् कुछ भी इधर उधर का काम करना हो तो पहले गमनागमन की ही क्रिया होनी है । शरीर की जो भी श्रन्दन या कम्पन रूप क्रिया है, वह मत्र गमनागमन में सम्मिलित हो जाती है । अतएव प्रतिजमण साधना में सर्वप्रथम गमनागमन का प्रतिजमण का ही विधान किया गया है ।

जब तक यह शरीर चैतन्य-सत्ता से युक्त है, तब तक शरीर को मास पिंड बनाकर एक कोने में तो नहीं डाला जा सकता ? यदि कुछ दिन का लिए ध्यान लगाकर बैठे, योगसाधना की समाधि लगाते, तब भी किन्ने पिन के लिए ? भगवान् महावीर छद्द छद्द मास का वाया-मार्ग करके पथर की चपटन की तरह निःशब्द पड़े जाते थे, परन्तु आतिर

वे भी तब के बाद भिक्षा के लिए जाते थे और दधर उधर विहार करते थे। साधक के लिए यह असंभव है कि वह सारा जीवन निराहार रहकर एक स्थान में निस्पन्द पड़ा हुआ प्रतिपल मृत्यु की प्रतीक्षा करता रहे। और इस प्रकार का निष्क्रिय एवं निर्माल्य-जीवन यापन करना, स्वयं अपने आप में कोई साधना भी तो नहीं है। तीर्थकर अरिहन्त आध्यात्मिक साधना के ऊँचे से ऊँचे शिखर पर पहुँचे हुए भी, केवल ज्ञान केवल दर्शन पाकर कृतकृत्य होते हुए भी, जनकल्याण के लिए कितना भ्रमण करते हैं? गाँव-गाँव और नगर-नगर घूम-घूम कर किस प्रकार सत्य की दुन्दुभि बजाते हैं? श्री राहुल सांकृत्यायन भगवान् महावीर को भारतवर्ष का सर्वश्रेष्ठ घुमकड़राज कहते हैं। घुमकड़राज, अर्थात् घुमकड़ों का, घूमने वालों का राजा। बहुत दूर न जाकर संक्षेप में कहूँ कि जब तक जीवन है, गमनागमन के बिना कैसे रहा जा सकता है? गृहस्थ हो, साधु हो, तीर्थकर हो, सबको गमनागमन करना ही होता है। गृहस्थ तो घर बँधकर बैठा है, वह तो एक गाँव में बँधकर बैठा भी रहे। परन्तु साधु के लिए तो चार मास वर्षावास को छोड़कर शेष आठ महीने का काल विहार-काल ही माना गया है। कुछ विशेष कारण हो जाय तो बात दूसरी है, अन्यथा सशक्त साधु के लिए शेष काल में विहार करते रहना आवश्यक है। यदि प्रमादवश विहार न करे तो प्रायश्चित्त का भागी होता है। जैन धर्म में साधु के लिए मठ बँधकर बैठ जाना, सर्वथा निषिद्ध है। उसके लिए तो घुमकड़ी भी साधना का एक अंग है, अनासक्त जीवन की एक कसौटी है। वह साधु ही क्या जो घुमकड़ न हो। घुमकड़ साधु का जीवन निर्मल रहता है, विकारों में नहीं उल्लभता है। उसे गंगा की धार की तरह बहते ही रहना चाहिए। बहती धार ही निर्मल रह सकती है। कहा है—‘साधु तो रमता भला, पड़ा गँधीला होय।’

अब प्रश्न यह है कि गमनागमन की क्रिया में तो पाप लगता है, अतः साधु के लिए गमनागमन, विहारचर्या कैसे विहित हो सकती

है ? जिस क्रिया में पाप लगना हो, वह तो माधु को नहीं करनी चाहिए ?

उत्तर में निवेदन है कि जैनधर्म उपयोग का धर्म है, यतना का धर्म है। यहाँ गमनागमन, भोजन, भाषण आदि के रूप में जो भी क्रियाएँ हैं, उन सब में पाप बताया है। परन्तु वह, प्रमाद अवस्था में होता है। अप्रमत्त दशा में रहते हुए कोई पाप नहीं है। साधक यदि असावधान है, निवेकहीन है, राग द्वेष की परिणति में पैसा है, यतना का कुछ भी विचार नहीं रखता है, तो वह पाप-कर्म का बन्ध करता है। वह कोई क्रिया करे या न करे, उसका पाप लगता ही रहता है। कर्तव्यविधि प्रति उपेक्षा, अविवेक और प्रमाद अपने आप में स्वयं एक पाप है। और यह पाप ही है, जो क्रियाओं को पाप के रंग से रँगता है। यदि साधक अप्रमत्त है, निवेकशील है, यतना का विचार रखता है, समय की साधना में सतत जाग्रत रहता है, वह यदि कोई प्रवृत्ति करता भी है तो वह जाग्रत रहकर करता है, अतः उसे किसी प्रकार का पाप नहीं लगता है। पाप या दोष क्रियाओं में नहीं, क्रियाओं की पृष्ठ भूमि में रहने वाले कारणाधिक भाव में है, प्रमाद भाव में है। इसके लिए मैं कुछ प्राचीन उद्धरण आपके सामने रख रहा हूँ।

भगवान् महावीर कहते हैं—

‘पमायं कम्ममाहंसु

अप्पमायं तहावरं ।’

(सूत्रकृतांग सूत्र ८।३)

—प्रमाद कर्म है और अप्रमाद अकर्म है, धर्म का अभाव है।

‘जयं चरे जयं चिट्ठे,

जयमासे जयं सए ।

जयं भुजंतो भासंतो,

पाव-कर्मं न बंधइ ॥'

(दशवै० ४ । ८)

—जो साधक यतना से चलता है, यतना से खड़ा होता है, यतना से बैठता है, यतना से सोता है, यतना से भोजन करता है और दोलता है, वह पापकर्म का बन्ध नहीं करना है ।

आचार्य शीलांक कहते हैं:—

‘अथोपयुक्तो याति ततोऽप्रमत्तत्वाद् अवन्यक्त एव ।’

(सूत्रकृतांगटीका १ । १ । २ । २६)

—जब साधक उपयोगपूर्वक चलता है, तब वह चलता हुआ भी अप्रमत्त भाव में है, अतः अवन्यक्त होता है ।

जैन संस्कृति में साधु के गमनागमन के लिए ईर्यासमिति शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ है गमनागमन में सम्यक् प्रवृत्ति । यह समिति संवर है, पापाश्रव को रोकने वाली है, कर्मों की निर्जरा का कारण है, अपने आप में धर्म है । यहाँ निवृत्तिमूलक प्रवृत्ति होती है, अतः असत्क्रिया का त्याग और सत् क्रिया का स्वीकार ही जैनधर्म की प्रवृत्ति का प्राण है ।

जैन-धर्म के आचार्यों का हजार-हजार वर्षों से सुनाया जानेवाला यह अमर स्वर क्या कभी मिथ्या ठहराया जा सकता है ? और क्या इसके रहते हुए जैन धर्म को अव्यवहार्य और उपहासास्पद बताया जा सकता है ? क्या अब भी विवेकानन्दजी का यह कहना सत्य है कि ‘जैन धर्म के लोग प्रवृत्ति से इतना घबराते हैं, कि लंबे-लंबे उपवासों के द्वारा अपना शरीर त्याग देते हैं ?’ यदि ये सब लोग जैन धर्म की यतना को समझते होते, अप्रमत्त भाव के विचार पर लक्ष्य देते होते तो क्या उपयुक्त भ्रान्त-भावना व्यक्त करते ? जैन-धर्म का हृदय यतना है ।

यदि यत्ना है तो धर्म है, धर्म की रक्षा है, तब है, सब प्रकार का सुख तथा आनन्द है। यत्ना पूर्वक उचित प्रवृत्ति के क्षेत्र में धर्म का प्रवेश नहीं है। एक जैनाचार्य कहता है:—

जयसेह धम्म-जयणी,

जयणा धम्मम्म पालिणी चै ।

तय - बुद्धिगरी जयणा,

एगंत - सुहायहा जयणा ॥

—यत्ना धर्म की जननी है, और यत्ना ही धर्म का रक्षण करने वाली है। यत्ना से तब की अभिवृद्धि होती है और वह एकान्त रूप में सुखायद = सुख देने वाली है।

अब प्रश्न यह है कि अब मानु गमन करना है, तब अप्रमत्त भाव के कारण उसे पाप तो लगता नहीं है, फिर वह ईर्ष्याधिक विषा का प्रतिक्रमण क्यों करता है? प्रत्युत ऐर्ष्याधिक प्रतिक्रमण-पाट की क्या आवश्यकता है?

सावधान है कि साधारण मनुष्य आधिर मनुष्य है, भूल का पुतना है। वह कितनी ही कभी न सावधानी रखे, आधिर कभी न कभी लक्ष्य च्युत हो ही जाता है। अतः मनुष्य पूर्ण सर्वज्ञ-बुद्ध का अधिकारी नहीं हो जाता, तबतक वह आध्यात्मिक उत्थान के पथ पर-अग्रसर होता हुआ, पूरी-पूरी सावधानी से कदम रखता हुआ भी, कभी छोटी-मोटी स्वल्पानार्थ कर ही बैठता है। छद्मरथ अवस्था में 'मैं पूर्ण शुद्ध हूँ' यह दावा करना सर्वथा अज्ञानता पूर्ण है, घृष्टता का सूचक है।

अतएव जानते या अज्ञानते जो भी दूषण लगे, उन सबका प्रति क्रमण करना और मग्निय में अधिकाधिक सावधानी से रहकर पापों से बचे रहने का दृढ़ संकल्प रखना, प्रत्येक संयमी मुमुक्षु का आवश्यक कर्तव्य है। दोनों को रक्षित कर लेना, अपने से पीछा पाए जीनों से

जमा माँग लेना, पाप कार्य के प्रति अन्तर्हृदय से घृणा व्यक्त करना, और उचित प्रायश्चित्त ले लेना ही आत्म-विशुद्धि का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है।

प्रस्तुत पाठ के द्वारा यही उपर्युक्त आत्म-विशुद्धि का मार्ग बताया गया है। जिस प्रकार वस्त्र में लगा हुआ दाग क्षार तथा साबुन से धोकर साफ किया जाता है, वस्त्र को स्वच्छ तथा श्वेत कर लिया जाता है, उसी प्रकार गमनागमनादि क्रियाएँ करते समय अशुभयोग, मन की चंचलता, अज्ञानता, या अविवेक आदि के कारण से पवित्र संयम-धर्म में किसी भी तरह का कुछ भी पापमल लगा हो, किसी भी जीव को किसी भी तरह का कष्ट पहुँचाया हो, तो वह सब पाप इस पाठ के पश्चात्तापमूलक चिन्तन द्वारा साफ किया जाता है, अर्थात् ऐर्यापथिक आलोचना के द्वारा अपने संयम-धर्म को पुनः स्वच्छ कर लिया जाता है।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में 'पंच प्रतिक्रमण' के भाष्यकार श्रोयुत प्रभुदासजी ने लिखा है कि ऐर्यापथिक क्रिया तेरहवें गुणस्थान में अरिहन्त केवलज्ञानियों को भी लगती है, अतः वे भी ऐर्यापथिक क्रिया से लगे कर्म को दूर करने के लिए प्रतिक्रमण करते हैं।

परन्तु बहुत कुछ विचार-विमर्श करने के बाद भी यह सिद्धान्त में नहीं समझ सका। यह ठीक है कि तेरहवें गुणस्थान में भी ऐर्यापथिक क्रिया लगती है और उससे केवल सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है। वह बन्ध केवल योग-परित्यन्दन के कारण होता है, कषाय एवं प्रमाद तो वहाँ-ही ही नहीं। कर्म का स्थितिबन्ध तो कषाय-एवं प्रमाद के द्वारा ही होता है। अतः कषाय-रहित अप्रमत्त दशा में योग-परित्यन्द रूप ऐर्यापथिक क्रिया से, पहले समय में कर्म बँधता है, दूसरे समय में उसका वेदन होता है और तीसरे समय में उसकी निर्जरा हो जाती है। इसके बाद वह कर्म अकर्म हो जाता है। अत्र विचार कीजिए कि जो कर्म समयमात्र

ही वेदनमूल में रहा है, उसका प्रतिमण देने होगा। पाठादि के शुद्ध व्यवहार में तो अमर्य्य समय लग जाते हैं, तब तब तो यह कर्म, अकर्म ही हो गया, आत्मा पर लगा ही न रहा। अतः बीतराग अर्हन्त केवलज्ञान दशा में, अशुभ योग से शुभ योग में लौटने का ऐरागधिक प्रतिक्रमण, कैसे हो सकता है? हाँ, व्यवहार स्तर के लिए कहा जाय तो बात दूसरी है। इस पर भी विद्वानों को विचार करने की अपेक्षा है, क्योंकि वे कलमार्गीय अवस्था में हैं। अतः व्यर्थ के व्यवहार से बंध हुए नहीं हैं।

यह तो हुआ ऐरागधिक आलाचना का निश्चयन। अब कुछ मूल पाठ पर विवेचन करना है। पहला प्रश्न नाम का ही है कि प्रस्तुत पाठ का ऐरागधिक क्या कहते हैं? आचार्य नभि का समाधान है कि हेरणं = ईयां, गमनमित्यर्थ। उत्प्रधान. पन्था ईयांपिथ, तत्रभवत् ऐयांपिथी !' अर्थात् ईयां का अर्थ गमन है, गमनप्रधान जो पथ = मार्ग, वह ईयांपिथ कहलाता है। और ईयांपिथ में होने वाली क्रिया ऐरागिथिनी क्रिया होती है। मार्ग में इधर उधर आते जाते जो क्रिया होती है, वह ऐरागिथिनी कहलाती है। आचार्य हेमचन्द्र अपने योग शास्त्र की स्वोच्छृति में ईयांपिथ का अर्थ श्रेष्ठ आचार करते हैं, और उक्तमें गमनागमनादि के कारण असावधानता से जो दूषणरूप क्रिया हो जाती है, उसे ऐरागिथिनी कहते हैं—'ईयांपिथः साध्याचारः तत्रभवत् ऐयांपिथी।' अस्तु, उक्त ऐरागिथिनी क्रिया की शुद्धि के लिए जो प्रायश्चित्तरूप-सूत्र रीति बनाया है, वह भी ऐरागिथिनी-सूत्र कहलाता है।

प्रस्तुत-सूत्र एक गम्भीर विचार हमारे समक्ष रखता है। वह यह कि किसी जीव को मार देना ही, प्राणरहित कर देना ही, हिंसा नहीं है। प्रस्तुत सूत्र या स्थूल जीव को किसी भी सूक्ष्म या स्थूल चेष्टा के माध्यम से, किसी भी प्रकार की सूक्ष्म या स्थूल पीडा पहुँचाना भी हिंसा है। आपस में टक्करना, ऊपर तले इकट्ठे कर देना, धूल आदि डालना, भूमि पर ममलना, टोकर लगाना, स्वतन्त्रगति में दनाचट

डालना, एक स्थान से हटाकर दूसरे स्थान पर बदलना, भयभीत करना, और तो क्या छूना भी हिंसा है। जैनधर्म का अहिंसा-दर्शन कितना सूक्ष्म है ! वह हिंसा और अहिंसा का विचार करते समय केवल ऊपर-ऊपर ही नहीं तैरता, अपितु गहराई में उतरता है।

जीव हिंसा का आगमों में, वैसे तो बहुत बड़े विस्तार के साथ वर्णन है। परन्तु इतने विस्तार में जाने का यहाँ प्रसंग नहीं है। संक्षेप में ही अहिंसा के मूल-रूप कितने होते हैं ? केवल यह बता देना ही आवश्यक है।

सर्व प्रथम जीव-हिंसा के तीन रूप होते हैं—संरंभ, समारंभ, और आरंभ।

संरंभ—जीवों की हिंसा का संकल्प करना।

समारंभ—जीवों की हिंसा के लिए साधन जुटाना, प्रयत्न करना।

आरंभ—जीवों को किसी भी तरह का आघात पहुँचाना, घात कर डालना।

उक्त तीनों को क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार कपायों से गुणित करने पर $4 \times 3 = 12$ होते हैं। इन बारह भेदों को मन, वचन, काय रूप तीन योगों से गुणन करने पर ३६ भेद होते हैं। इन ३६ भेदों को कृत = करना, कारित = कराना, अनुमोदना = समर्थन करते हुए को अच्छा समझना, इन तीन से गुणन करने पर जीवाधिकरणी हिंसा के १०८ भेद बन जाते हैं। अहिंसा-महाम्रत के साधकों को पूर्ण अहिंसा के लिए इन सब हिंसा के भेदों से बचकर रहने की आवश्यकता है।

मूल पाठ में हिंसा के भेद बताते हुए कहा है कि जीवों को छूना भी हिंसा है, जीवों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर बदलना भी हिंसा है। इस सम्बन्ध में प्रश्न है कि कोई दुर्बल अंग पीड़ित जीव कहीं धूप या सरदी में पड़ा छटपटा रहा है, मृत्यु के मुख में पहुँच रहा है तो क्या उसे छूना और दुःखप्रद स्थान से सुख प्रद स्थान में

उदलना भी हिंसा ही है ? यदि वह भी हिंसा ही है तो फिर दया और उपकार के लिए स्थान ही कहाँ रहेगा ?

उत्तर में निवेदन है कि मूल पाठ के स्थूल शब्दों पर दृष्टि न आटका कर भाव के गाम्भीर्य में उतरिए और शब्दों ने दीछे रही हुई भाव की शृङ्खला टटालिए । हिंसा के भाव से, कयाग्न के भाव से, निर्दयता के भाव से यदि किसी जीव को छुआ जाय अथवा उदला जाय, तब तो हिंसा होती है । परन्तु यदि दया के भाव से रत्ना के भाव से किसी को छुना और अन्यत्र उदलना हो तो वह हिंसा नहीं है, अपितु सत्त्व और निर्जरा रूप धर्म है । निया के दीछे भाव को देखना आवश्यक है । अन्यथा निर्येकीनता और जड़ता का राज्य स्थापित हो जायगा । साधक कहाँ का भी न रहेगा । यदि कोई चींटी आदि जीव साधु के पात्र में गिर जाय तो क्या उसे छूएँ नहीं ? और अन्यत्र मुग्नित स्थान में उदले नहीं ? यदि ऐसा करे तो क्या हिंसा होगी ? आप उत्तर देगे, नहीं होगी ? क्या नहीं ? तो आप फिर उत्तर देगे—'क्योंकि कष्ट पहुँचाने का दुःसंकल्प नहीं है, अपितु रत्ना करने का पवित्र संकल्प है ।' अस्तु इसी प्रकार जीव-दया व नाते जीवों को छूने और बदलने में रहे हुए अहिंसा रहस्य को भी समझ लेना चाहिए ।

प्रस्तुत सूत्र के मुख्य रूप से तीन भाग हैं । 'इच्छामि पटिकमिड हरियावहियाए विराहयाए' यह प्रारम्भ का सूत्र आज्ञा सूत्र है । इनमें गुरुदेव से ऐश्वर्यमय प्रतिजमण की आज्ञा ली जाती है । 'इच्छामि' शब्द से ज्ञात होता है कि साधक पर गहरा का कोई दयाल नहीं है, वह अपने आप ही आत्मशुद्धि के लिए प्रतिजमण करना चाहता है और इसके लिए गुरुदेव से आज्ञा माँग रहा है । प्रायश्चित्त और दण्ड में यही तो भेद है । प्रायश्चित्त में अपराधी की दण्डात्मक ही अपराध को स्वीकार करने और उसकी शुद्धि के लिए उचित प्रायश्चित्त लेने की होती है । दण्ड में दण्ड के लिए कोई स्थान नहीं है । वह तो बलात् होगा । दण्ड में दण्ड मुख्य है । अब प्रायश्चित्त जहाँ अपराधी

की आत्मा को ऊँचा उठाता है, वहाँ दण्ड उसे नीचे गिराता है। सामाजिक व्यवस्था में दण्ड से भले ही कुछ लाभ हो। परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में तो उसका कुछ भी मूल्य नहीं है। यहाँ तो इच्छापूर्वक प्रसन्नता के साथ गुरुदेव के समस्त पहले पापों की आलोचना करना और फिर उसका प्रतिक्रमण करना, जीवन की पवित्रता का मार्ग है।

हाँ, जिन दूसरे पाठों में 'इच्छामि पडिक्कमिडं' न होकर केवल 'पडिक्कमामि' है, वहाँ पर भी 'पडिक्कमामि' क्रिया के गर्भ में 'इच्छामि' अवश्य रहा हुआ है। पडिक्कमामि का भावार्थ यही है कि 'मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, अर्थात् मैं अब प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ, अतएव गुरुदेव ! आज्ञा दीजिए।'।

'गमणागमणे' से लेकर 'जीवियाओ ववरोविया' तक का अंश आलोचना-सूत्र है। आलोचना का अर्थ है—गुरुदेव के समस्त स्पष्ट हृदय से व्योरेवार अपराध का प्रकटीकरण, अर्थात् प्रकट करना। यह अंश भी कितना महत्त्वपूर्ण है ! अपने आप अपनी भूल को स्वीकार करना, साधारण बात नहीं है। सहसी वीर पुरुष ही ऐसा कर सकते हैं। जब लजा और अहंकार के दुर्भाव को छोड़ा जाता है, प्रतिष्ठा के भय को भी दूर हटा दिया जाता है, आत्मशुद्धि का पवित्र भाव हृदय के कण-कण में उभर आता है, तब कहीं आलोचना होती है। आलोचना का साधना के क्षेत्र में बहुत बड़ा महत्त्व है।

इसके आगे 'तस्स मिच्छामि दुक्कडं' का अन्तिम अंश आता है। यह अंश प्रतिक्रमण सूत्र कहलाता है। प्रतिक्रमण का अर्थ है—'मिच्छामि दुक्कडं' देना, अपराध के लिए क्षमा माँग लेना। जैनधर्म में आलोचना और प्रतिक्रमण, दश प्रायश्चित्त में से प्रथम के दो प्रायश्चित्त माने गए हैं।

इसीप्रकार अन्य प्रतिक्रमण के पाठों में भी उक्त तीन अंशों का परिज्ञान कर लेना चाहिए।

नून सूत्र में 'उत्तिग' शब्द आया है, उसका अर्थ चींटियों का नाल या चींटियों का बिल किया है। आचार्य हरिभद्र 'गर्दभ की आकृति के जीव विशेष' अर्थ भी करते हैं। 'उत्तिगा गर्दभाकृतयो जीवा, कीटिकानगराणि वा।' आचार्य जिनदास महत्तर के उल्लेख से मालूम होता है कि यह भूमि में गड्ढा करने वाला जीव है, अतः सम्भव है, यह आज की भाषा में 'घुग्गू' हो। 'उत्तिगा नाम गर्दभाकृति जीवा, भूमीषु गड्ढयं कर्त्तु'—आचार्यक शृणु।

'दग-मट्टी' का अर्थ बल और पुष्पी किया है। आचार्य हरिभद्र भी उक्त-सूत्र के दोनों शब्दों को भिन्न भिन्न मान कर बल और पुष्पी अर्थ करते हैं। परन्तु वे 'दग मट्टि' शब्द को एक शब्द भी मानते हैं और उसका अर्थ करते हैं—'चिकपल अर्थात् कीचड़।' 'दकमृत्तिका चिकपलं, अथवा दकमृत्तयादपूकायः, मृत्तिकामहस्यादपूष्पीकायः।'।

आचार्य हरिभद्र ने अभिहया का अर्थ किया है—'अभिमुखागता हता चरणेन घटिताः, उत्तिष्य तिता वा।' इसका भाव है—'पैर से टोकर लगाना, या उठाकर फेंक देना।'।

'वर्तिषा' का अर्थ—पुत बनाना भी किया है। 'वर्तिषाः पुत्री शृणाः, पूरुषा वा स्थगिताः' आचार्य हरिभद्र।

सदुत्तिग का अर्थ सूना किया है, जिसके लिए आचार्य हरिभद्र का आधार है। 'सदुत्तिग मनाकु-सुत्ताः।'।

ऊपर के शब्दों के सम्बन्ध में आचार्य हरिभद्र के विम मत का उल्लेख किया गया है, ठीक वैसा ही आचार्य जिनदास महत्तर का भी मत है। इसके लिए आधार-सूत्रों द्रष्टव्य हैं।

: = :

शय्या-सूत्र

इच्छामि पडिकमिडं—

पगामसिज्जाए, निगामसिज्जाए,

उव्वट्टणाए, परिवट्टणाए, आउंटणाए, पसारणाए,^१

छप्पइय-संघट्टणाए,

कूइए, ककराइए,

छीए, जंभाइए,

आमोसे, ससरव्वामोसे,

आउलमाउलाए, सोअणवत्तियाए,

इत्थीविप्परियासियाए, दिट्ठिविप्परियासियाए,

मण-विप्परियासियाए, पाणभोयण-विप्परियासियाए,—

जो मे देवसिओ अइयारो कओ,

तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

शब्दार्थ

१ पडिकमिडं = प्रतिक्रमण करना

[किं विप्रयक ?]

इच्छामि = चाहता हूँ

पगामसिज्जाए = चिरकाल

सोने ने

१—‘आउंटणा-पसारणाए’ इत्यपि पाठः ।

निगामभिज्ञाए = बार-बार चिर
काज तक सोने से

उचट्टणाए = करबट बढ़ाने से

परिचट्टणाए = बार-बार करबट
बढ़ाने से

आउ टणाए = हाथ पैर आदि को
संकुचिग करने से

पवारणाए = हाथ पैर आदि को
फैलाने से

दुष्पदय = पट्पट्टी सूका आदि
को

म धट्टणाए = स्पर्श करने से

बूइए = खांसते हुए

पकराइए = शय्या के दोप कटते
हुए

छीए = चीकते हुए

जंभाइए = डबासी लेते हुए

आमोसे = बिना पूँजे स्पर्श करते
हुए

मगरसंगमोसे = सवित्त रज से पुत्र
पशु को देने हुए

आउनपाउलाए = आकुल व्या-
कुलता से

साश्रयवृत्तिगाए = स्वप्न के निमित्त
से

इधी निगिरियामियाए = स्त्री संबंधी
विपर्यास से

दिट्ठि निगिरियामियाए = दृष्टि के
विपर्यास से

मणुविगिरियासिशाए = मन के
विपर्यास से

पाणभोग्गु = पानी और भोजन के

निगिरियामियाए = विपर्यास से

जो = यदि कोई

मं = मैंने

देवसिओ = दिवस सम्बन्धी

अइयागे - अतिचार

कयो = किया हो तो

ॐ निपर्यास का अर्थ निपर्यय है । स्वप्न में स्त्री के द्वारा ब्रह्मचर्य की मानना में निपर्यय हो जाना, स्त्री निपर्यास है । जिनदास महत्तर कहते हैं—'निपर्यासो अन्नभवेर ।' परन्तु केवल अन्नब्रह्मचर्य ही नहीं, निमी भी प्रहार की संयमनिरुद्ध गति या प्रवृत्ति निपर्यास है । आगे मनोनिपर्यास और पानभोजनविपर्यास आदि में यही अर्थ टीक बैठता है ।

स्त्री साधक 'इत्थी निगिरियासिशाए' के स्थान में 'पुरिसनिगिरियासि-
याए' पढ़ें । उनके लिए पुनर ही निपर्यास का निमित्त है ।

तत्स = उसका

मि = मेरे लिए

दुकडं = पाप

मिच्छा = मिथ्या हो

भावार्थ

शयन-सम्बन्धी प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ। शयनकाल में यदि बहुत देर तक सोता रहा हूँ, अथवा बार बार बहुत देर तक सोता रहा हूँ, अथवा के साथ एक बार करवट ली हो, अथवा बार बार करवट ली हो, हाथ पैर आदि अंग अथतना से समेटे हों अथवा पसारे हों, यूका=जूँ आदि छुद्र जीवों को कठोर स्पर्श के द्वारा पीड़ा पहुँचाई हो—

बिना यतना के अथवा जोर से खाँसी ली हो, अथवा शब्द किया हो, यह शय्या बड़ी विषम तथा कठोर है—इत्यादि शय्या के दोष कहे हों; बिना यतना किए छींक एवं जँभाई ली हो, बिना प्रमार्जन किए शरीर को खुजलाया हो अथवा अन्य किसी वस्तु को दृष्टा हो, सचित्त रज वाली वस्तु का स्पर्श किया हो—

[ऊपर शयनकालीन जागते समय के अतिचार बतलाए हैं; अब सोते समय के अतिचार कहे जाते हैं।] स्वप्न में विवाह युद्धादि के अवलोकन से आकुल व्याकुलता रही हो—स्वप्न में मन भ्रान्त हुआ हो, स्वप्न में स्त्री संग किया हो, स्वप्न में स्त्री को अनुराग भरी दृष्टि से देखा हो, स्वप्न में मन में विकार आया हो, स्वप्न दशा में रात्रि में भोजन-पान की इच्छा की हो या भोजन पान किया हो—

अर्थात् मैंने दिन में जो भी शयन-सम्बन्धी अतिचार किया हो, वह सब पाप मेरा मिथ्या = निष्फल हो।

विवेचन

जैन आचार शास्त्र बहुत ही सूक्ष्मताओं में उतरनेवाला है। साधक-जीवन की सूक्ष्म से सूक्ष्म चेष्टाओं, भावनाओं एवं विकल्पों पर सावधानी तथा नियंत्रण रखना, यह महान उद्देश्य, इन सूक्ष्म चर्चाओं के पीछे रहा हुआ है। आज का उड़ाऊ चंचल मन भले ही इनको उपहास की

चीन समझे तथाच लक्ष्य न दे, किन्तु जिसको साधना की चिन्ता है, भूनों का पश्चात्ताप है, वह कभी भी इस ओर से उदासीन नहीं रह सकता ।

एक करोड़गति सेठ है । रात ने बारह बज गए हैं, तथापि घड़ीघाते की जाँच-पड़ताल हो रही है । एक पाई गुम है, उसका मीजान नहीं मिल रहा है । आप कहेंगे—यह भी क्या ? पाई ही तो गुम हुई है, उसके लिए इतनी मिरदर्दी ? परन्तु आप अर्थशास्त्र पर ध्यान दीजिए । एक पाई का मूल्य भी कुछ कम नहीं है । 'जज्ञधिन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्णते घट' की उक्ति के अनुसार बूँद-बूँद से गट मर जाता है और पाई पाई जोड़ते हुए तिजोरी भर जाती है ।

धर्मसाधना के लिए भी ठीक यही बात है । साधारण साधक भी छोटी से छोटी साधनाओं पर लक्ष्य देते हुए एक दिन ऊँचा साधक बन जाता है । इसके निपरीत साधारण सी भूनों की उपेक्षा करते रहने से ऊँचे-से ऊँचा साधक भी पतन के पथ पर फिसल पड़ता है । यही कारण है—जैनशास्त्रशास्त्र सूत्रम-से-सूत्रम भूला पर भी ध्यान रखने का आदेश देता है ।

प्रस्तुत सूत्र श्रमण सम्प्रदायी अतिचारों का प्रतिशमण करने के लिए है । सोते समय का भी शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक भूत हुई इस समय की सीमा से बाहर अतिक्रमण हुआ हो, किसी भी तरह का निर्मोह हुआ हो, उन सबके लिए पश्चात्ताप करने का, 'मिच्छा दुक्कड' देने का विधान प्रस्तुत सूत्र में किया गया है ।

आत्र की बनना, जब कि प्रत्यक्ष जाग्रत अवस्था में किए गए पाप का भी उत्तरदायित्व लेने के लिए तैयार नहीं है, तब जैनमुने स्व अवस्था की भूना का उत्तरदायित्व भी अपने ऊपर लिए हुए है । शय तो एक प्रकार से क्षणिक मृतदशा मानी जाती है । वहाँ का मन मनुष्य अपने वश में नहीं होता । अतः साधारण मनुष्य कह सकता है कि 'सो समय में क्या कर सकना था ? मैं तो लाचार था । मन ही भ्रान्त रह

मैंने तो कुछ नहीं किया ?' परन्तु संयम पथ का श्रेष्ठ साधक ऐसा नहीं कह सकता । वह तो ज्ञात-अज्ञात सभी भूलों के प्रति अपना उत्तरदायित्व दृढ़ता से निभाता है । वह अपने साधना-जीवन के प्रति किसी भी अवस्था में बेग़बन नहीं रह सकता ।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो स्वप्न जगत हमारे जागृत जगत का ही प्रतिबिम्ब है । प्रायः जैसा जागृत होता है, वैसा ही स्वप्न होता है । यदि हम स्वप्न में भ्रान्त रहते हैं, संयम सीमा से बाहर भटक कर कुछ विपर्यास करते हैं तो इसका अर्थ है अभी हमारा जागृत भी सुदृढ़ नहीं है । स्वप्न की भूलें हमारी आध्यात्मिक दुर्बलताओं का संकेत करती हैं । यदि साधक अपने स्वप्न जगत पर बराबर लक्ष्य देता रहे तो वह अवश्य ही अपने जागृत को महान बना सकता है । जीवन के किस क्षेत्र में अधिक दुर्बलता है ? संयम का कौन-सा अंग अपरिपुष्ट है ?— इसकी सूचना स्वप्न से हमें मिलती रहेगी और हम जागृत दशा में उसी पर अधिक चिन्तन मनन का भार देकर उसे सबल एवं सशक्त बनाते रहेंगे । आदर्श के प्रति जागरूकता संसार की एक बहुत बड़ी शक्ति है । यदि साधक चाहे तो क्या जागृत और क्या स्वप्न प्रत्येक दशा में अपने आप को सदाचारी, संयमी एवं प्रतिज्ञात व्रत पर सुदृढ़ बनाए रख सकता है ।

प्रस्तुत सूत्र के प्रारंभ में सोते समय के कुछ प्रारंभिक दोष बतलाए हैं । बारबार करवटे बदलते रहना, बारबार हाथ पैर आदि को सिकोड़ते और फैलाते रहना—मन की व्याप्ति एवं अशान्त दशा की सूचना है । जिन लोगों का मन अधिक चंचल एवं इधर-उधर की बातों में अधिक उलझा रहता है, वह शय्या पर घंटों इधर-उधर करवटे बदलते रहते हैं, हाथ पैर आदि को बारबार सिकोड़ते-पसारते रहते हैं; बारबार आँखें बन्द कर सोने का उपक्रम करते हैं, फिर भी अच्छी तरह सो नहीं पाते । साधक जीवन के लिए मन की यह भूमिका अच्छी नहीं मानी जाती । साधक का कर्तव्य है कि सोने से पहले मन को संकल्प-विकल्पों

से खाली कर ले, ताकि सुषुप्ति दशा में उन्नित निद्रा आए, फलतः शरीर भलीभाँति निश्चेष्ट रह कर अपनी श्रान्ति मिश्र सके एवं समय क्षेत्र से गहर शरीर और मन का निपवास भी न हो सके। सोने के लिए नदी सावधानी की आवश्यकता है, यदि अधिक चिन्तन के साथ बहें तो जगृत अवस्था की अपेक्षा भी स्वप्नावस्था में जागरूक रहने का अधिक महत्त्व है।

प्रकामशय्या

‘शय्या’ शब्द शयनवाचक है और ‘प्रकाम’ अत्यन्त का सूचक है, अतः प्रकाम शय्या का अर्थ होना है—अत्यन्त आना, मर्यादा से अधिन सोना, चिरकाल तक सोना। यह, शब्दार्थ और भाग्यार्थ में हम प्रसट कर आए हैं। इसके अनतिरिक्त ‘प्रकाम शय्या’ का एक अर्थ और भी है। उसमें ‘शेरतेऽस्यामिति शय्या’—इस व्युत्पत्ति के अनुसार ‘शय्या’ शब्द संधारे का, निहोने का वाचक है, और ‘प्रकाम’ उत्कट अर्थ का वाचक है। इसका अर्थ होता है—‘प्रमाण से गहर नदी एवं गहोदार कोमल गुदगुड़ी शय्या।’ यह शय्या साधु के कठोर एवं कर्मठ जीवन के लिए उन्नित है। साधु आराम लेने के लिए नहीं सोता। प्रणिपल के विरक्त जीवन में प्राम में उसे कहीं आराम की पुर्मत है ? अतः अशक्य परिवार के नाते ही निद्रा लेनी होनी है, आराम के लिए नहीं। यदि इस प्रकार की कोमल शय्या का उपयोग करेगा तो अधिक देर तक आलस्य में पड़ा रहेगा, ठीक समय पर जाग न भरेगा, फलतः स्वास्थ्य आदि धर्म नियमों का मन्त्री मूर्ति पालन न हो सकेगा।

निकाम शय्या

प्रकाम शय्या का ही बार बार सेवन करना, अधरा बार-बार अधिक काल तक सोत रहना, निकाम शय्या है। आचार्य हरिभद्र और नमि प्रकाम शय्या और निकाम शय्या के दोनों ही अर्थों का उल्लेख करते हैं। आचार्य विनयास महत्त का भी वही अभिमत है।

उद्वर्तना और परिवर्तना

उद्वर्तना का अर्थ है एक-बार करवट बदलना, और परिवर्तना का अर्थ है बार-बार करवट बदलना । आचार्य जिनदास महत्तर आवश्यक चूर्णि में उद्वर्तन का अर्थ करते हैं—‘एक करवट से दूसरी करवट बदलना, त्रयीं करवट से दाहिनी करवट या दाहिनी से त्रयीं करवट बदलना ।’ और परिवर्तना का अर्थ करते हैं—‘पुनः वही पहले वाली करवट ले लेना ।’ ‘वामपासेण निवृत्तो संतो जं पल्लत्थत्ति, एतं उठ्वत्तणं । जं पुणो वामपासेण एव’ परियत्तणं ।’ आचार्य हरिभद्र भी ऐसा ही कहते हैं । परिवर्तना का प्राकृत मूलरूप ‘परियट्ठण’ भी मिलता है ।

‘उव्वट्ठणाए’ से पहले संधारा शब्द का प्रयोग भी बहुत-सी प्रतियों में मिलता है । उसका अर्थ किया जाता है ‘संधारे पर करवट बदलना ।’ परन्तु जिनदास महत्तर और हरिभद्र आदि प्राचीन आचार्य उसका उल्लेख नहीं करते । अतः हमने भी मूल पाठ में इसको स्थान नहीं दिया है । वैसे भी कुछ महत्त्वपूर्ण नहीं है । शय्या सूत्र यह स्वयं ही है । अतः करवट शय्या पर ही ली जायगी । उसके लिए शय्या पर करवट बदलना, वह कथन कुछ गम्भीर अर्थ नहीं रखता ।

कर्करायित

‘कर्करायित’ शब्द का अर्थ ‘कुड़कुड़ाना’ है । शय्या यदि विषम हो, कठोर हो तो साधू को शान्ति के साथ सब कष्ट सहन करना चाहिए । साधू का जीवन ही तितिक्षामय है । अतः उसे शय्या के दोष कहते हुए कुड़कुड़ाना नहीं चाहिए ।

स्वप्न-प्रत्यया

प्रस्तुत-सूत्र में ‘आउलमाउलाए’ के आगे ‘सोअणवत्तियाए’ पाठांश आता है । उसका अर्थ है—स्वप्नप्रत्यया, अर्थात् स्वप्न के प्रत्यय = निमित्त से होने वाली संयमविरुद्ध मानसिक क्रिया । आचार्य हरिभद्र ने इसका सम्बन्ध ‘आउलमाउलाए’ से जोड़ा है । प्रकरण की दृष्टि से आगे के शब्दों के साथ भी इसका सम्बन्ध है ।

एक प्रश्न

सूत्रों में दिवाशयन अर्थात् दिन में सोने का निषेध किया गया है। जब दिन में सोना ही नहीं है, तब साधू को इन सम्बन्ध में दैवमित्र अतिचार कैसे लग सकता है? प्रश्न ठीक है। अब जरा उत्तर पर भी विचार कीजिए। जैनधर्म स्थापनादमय धर्म है। यहाँ एकान्त निषेध अथवा एकान्त विधान, किमी मिडान्त का नहीं है। उत्तर्ग और अमवाद का चक्र धरातर चलता रहता है। अस्तु, दिवाशयन का निषेध श्रौतमित्रीक है और कारणवश उसका विधान आपवादिक है। विहास्यास की यकावट से तथा अन्य किसी कारण से आपवाद के रूप में यदि कभी दिन में सोना पड़ तो अल्प ही सोना चाहिए। यदि नहीं कि अमवाद का आश्रय लेकर सर्वथा ही समय-सीमा का अतिव्रमण कर दिया जाय! इसी दृष्टि को लक्ष्य में रखकर सूत्रकार ने प्रस्तुत शयनातिचारप्रतिब्रमण-सूत्र का दैवलिक प्रतिब्रमण में भी विधान किया है। वस्तुतः उत्तर्गदृष्टि से यदि सूत्र, रात्रि प्रतिब्रमण का माना जाता है।

प्रस्तुत शयनसूत्रों, जब भी साधक सोकर उठे, अमर्य पढ़ने का विधान है। और शय्या-सूत्र पढ़ने के बाद किसी सम्प्रदाय में एक लोगस्स का तो किसी में चार लोगस्स पढ़ने की परम्परा है।

गोचरचर्या-सूत्र

पठिक्रमामि

गोयरचरियाए, भिन्नखायरियाए

उग्घाड-कवाड-उग्घाडणाए, साणा-वच्छा-दारासंवट्टणाए,

मंडी-पाहुडियाए, बलि-पाहुडियाए, ठवणापाहुडियाए,—

संकिए, 'सहसागारे, अणोसणाए,

पाणभोयणाए, वीयभोयणाए, हरियभोयणाए,

पच्छाकम्मियाए, पुरेकम्मियाए,

अदिट्टहडाए, दग-संसट्ट-हडाए, रय-संसट्ट-हडाए,

पारिसाडणियाए, पारिट्ठावणियाए, ओहासण-भिन्नखाए

जं उग्गमेणं, उप्पायणोसणाए—

अपरिसुद्धं, परिग्गहियं, परिभुत्तं वा

जं न परिट्ठवियं,

तस्स मिच्छा मि दुक्कडं !

१—'सहसागारिण' ऐसा भी कुछ प्रतियों में पाठ है। परन्तु जिनदास महत्तर और हरिभद्र आदि प्राचीन आचार्यों ने 'सहसागारे' पाठ का ही उल्लेख किया है।

शब्दार्थ

पटिकमामि = प्रतिक्रमण करता हूँ

गोचरचरियाए = गोचर-चर्या में

भिक्षाचरियाए = भिक्षा-चर्या में

[दोन कैमे लगे ?]

उग्गाड = चपचुले^१

कग्गाड = कित्वाड़ों को

उग्गाडियाए = खोलने से

माया = कुत्ते

वच्छा = बड़दे

दाग = बर्छों का

म पट्टयाए = संपदा करने से

म डी = अग्रपिण्ड की^२

पाहुडियाए = भिक्षा से

वणि = वलिकर्म की^३

१—‘उग्गाड नाम किञ्चि धर्गित’ इति जिनदास महत्तराः ।

२—‘मंडीपाहुडिया नाम आदे साधू आगतो ताए मंडीए अणमि वा भायणे अग्ग पिंड उक्कडिदताए सेसाओ देति ।’ इति जिनदास महत्तराः ।

३—‘बलि-पाहुडिया नाम अग्गिमि हुभति, चउर्दिमि वा अचणित करेति, ताहे साहुम्म देति ।’ इति जिनदास महत्तराः ।

[मण्टी प्राभृतिका और बलिप्राभृतिका के न लेने का यह अभि-
प्राय है—‘प्राचीन काल में और बहुत से स्थानों में आजकल भी
लोकमान्यता है कि जब तक तैयार किये हुए भोजन में से बलि के रूप
में भोजन का कुछ अंश अलग निकाल कर नहीं रख दिया जाता, या
दिशाओं में नहीं डाल दिया जाता या अग्नि में आहुत नहीं कर दिया
जाता, तब तक यह भोजन अछूता रहता है, फलतः उसे उपयोग में
नहीं लाया जाता । बलि निकाल कर अलग न रखी हो और इतने में
साधु पहुँच जाए तो यह स्थिति दूसरे पात्र में बलि निकाल कर रख
लेता है और फिर साधु को भोजन देना चाहता है । परन्तु यह भिक्षा
आत्म का निमित्त होने से ग्राह्य नहीं है । दूसरी बात यह है कि जब
तक बलि निकाली न थी, तब तक भोजन का उपयोग नहीं हो रहा
था । अब साधु के निमित्त से बलि निकाल ली तो दूसरे लोगों के

पाहुडियाए = भिक्षा से

ठवणा = स्थापना की

पाहुडियाए = भिक्षा से

सं किए = शंकित आहार लेने से

सहसागारे = शीघ्रता में लेने से

अणोसणाए = बिना एषणा के लेने से

पाणभोयणाए = प्राणी वाले भोजन से

धीयभोयणाए = धीज वाले भोजन से

हरियभोयणाए = हरित वाले भोजन से

पच्यकम्मियाए = पश्चात्कर्म से

पुरेकम्मियाए = पुरःकर्म से

अदिट्ठ = अदृष्ट वस्तु के

हडाए = लेने से

दग संसट्ठ = जल से संसृष्ट

हडाए = लेने से

रय संसट्ठ = रज से संसृष्ट

हडाए = लेने से

पारिषाटणियाए = पारिषाटनिकासे

पारिट्ठावणियाए = पारिष्ठापनिक से

ओहासण = उत्तम वस्तु माँग क

भिक्षयाए = भिक्षा लेने से

जं = (और) जो

उग्गमेण = आधाकर्मादि उद्गम दोषों से

उत्पायण = उत्पादन दोषों से

एसणाए = एषणा के दोषों से

अरिसुद्धं = अशुद्ध आहार

परिग्गहियं = ग्रहण किया हो

वा = तथा

परिसुत्तं = भोगा हो

जं = (और) जो भूल से लिए

हुआ अशुद्ध

न = नहीं

परिट्ठवियं = परठा हो तो

तस्स = उसका

दुक्कडं = पाप

मि = मेरे लिए

मिच्छा - मिथ्या हो

भोजन के लिए भी छूट हो गई। यह प्रवृत्ति-दोष भी साधु के निमित्त ही होता है। अतः अहिंसा की सूक्ष्म विचारणा के कारण इस प्रकार की भिक्षा जैन मुनि के लिए अग्राह्य है।]

भावार्थ

गोचरचर्या रूप भिक्षाचर्या में, यष्टि ज्ञात अथवा अज्ञात किसी भी रूप में जो भी अतिचार = दोष लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ = उस अतिचार से वापस लौटता हूँ ।

[कौन से अतिचार ?] अधस्तुले कियाड़ों को खोलना; कुशे, यड़ने और बन्धों का संघट्टा = स्पर्श करना; मण्डो प्राभृतिका = अग्रप्रियङ लेना; बलिप्राभृतिका = बलिकर्मार्थ तैयार किया हुआ भोजन लेना अथवा साधु के आने पर बलिकर्म करके दिया हुआ भोजन लेना । स्थापनाप्राभृतिका = भिक्षुओं को देने के उद्देश्य से अलग रखवा हुआ भोजन लेना । शङ्कित = आधाकर्मादि दोषों की शका वाला भोजन लेना; सहसाकार = शीघ्रता में आहार लेना; बिना दृक्का = दान बिन किए लेना, प्राण भोजन = जिसमें कोई जीव पड़ा हो ऐसा भोजन लेना; बीज-भोजन = बीजों वाला भोजन लेना; हरितभोजन = सचित्त वनस्पति वाला भोजन लेना; पश्चात्कर्म = साधु को आहार देने के बाद तदर्थ सचित्त जल से हाथ या पात्रों को धोने के कारण लगने वाला दोष; पुर कर्म = साधु को आहार देने से पहले सचित्त जल से हाथ या पात्र के धोने से लगने वाला दोष; अट्टाहृत = बिना देखा भोजन लेना; उदक संमृष्टाहृत = सचित्त जल के साथ स्पर्श वाली वस्तु लेना, रज संमृष्टाहृत = सचित्त रज से स्पृष्ट वस्तु लेना, पारिशाटनिका = देते समय मार्ग में गिरता-बिखरता हुआ आने वाला भोजन लेना, पारिष्ठापनिका = ' आहार देने के पात्र में पहले से रहे हुए

१—कुछ अनुवादक पारिष्ठापनिका का 'परठने-योग्य कालातीत त्रयोम्य वस्तु ग्रहण करना।' अथवा 'साधु को ग्रहण करने के बाद उम्मी पात्र में रहे हुए शेष भोजन को जहाँ दाता द्वारा के व देने की प्रथा हो, वहाँ ग्रहण की सम्भावना होते हुए भी आहार ले लेना।' ऐसा अर्थ भी करते हैं।

परन्तु हमने जो अर्थ किया है, उस के लिए आचार्य जिनदाम महस्त्र का प्राचीन आधार है—'परिहृणयियाए तत्थ भायणो अरण' किंचि आसी, तादे न परिहृयेत्तुण अरण' देति।' आवश्यक चूर्ति ।

किसी भोजन को डाल कर, दिया जाने वाला अन्य भोजन लेना; अवभाषण भिक्षा=विशिष्ट भोजन का माँगना अवभाषण है, सो अवभाषण के द्वारा भिक्षा लेना; उद्गम=आधा कर्म आदि १६ उद्गम दोषों से सहित भोजन लेना; उत्पादन=धात्री आदि १६ साधु की तर्फ से लगने वाले दोषों से सहित भोजन लेना । पृथ्या=ग्रहणपण्या के शंका आदि १० दोषों से सहित भोजन लेना ।

उपयुक्त दोषों वाला अशुद्ध=साधुमर्यादा की दृष्टि से अशुद्ध आहर पानी ग्रहण किया हो, ग्रहण किया हुआ भोग लिया हो; किन्तु दूषित जानकर भी परठा न हो तो तत्जन्य समस्त पाप मिथ्या हो ।

विवेचन

जीवनयात्रा के लिए मनुष्य को भोजन की आवश्यकता है । यदि मनुष्य भोजन न करे, सर्वदा और सर्वथा निराहार ही रहे तो मनुष्य का कोमल जीवन टिक नहीं सकता । और जीवन की अहिंसा, कृत्य आदि उच्च साधनाओं के लिए, कर्तव्य पूर्ति के लिए मनुष्य को जीवित रहना आवश्यक है । जीवन का महत्त्व संसार में किसी भी प्रकार से कम नहीं आँका जा सकता; परन्तु शर्त है कि वह शुभ उद्देश्य के लिए हो, स्व-पर के कल्याण के लिए हो; दुराचार या अत्याचार के लिए न हो । जैन धर्म जैसा कठोर निवृत्तिप्रधान धर्म भी जीवन के प्रति उपेक्षित रहने को नहीं कहता । आत्मघाती के लिए वह महापापी शब्द का प्रयोग करता है ।

भोजन आवश्यक है, इसके लिए कोई-दूसरा विकल्प हो ही नहीं सकता । परन्तु भोजन कैसा और किसलिए करना चाहिए ? यह एक विचारणीय प्रश्न है । साधारण लोगों का खयाल है कि भोजन स्वादिष्ट होना चाहिए, फिर भले वह कैसा ही हो ? ये लोग जीवन की महत्ता को नहीं जानते । इनका जीवन-क्षेत्र केवल जिह्वा के चार अंगुल के टुकड़े पर ही केन्द्रित है । अच्छे-अच्छे स्वादिष्ट चटनी, आचार, मुरब्बे,

निष्ठात्र आदि गान्ता और मन्त्र रचना, यही इनके जीवन का आदर्श रहता है। स्वादु भोजन के फेर में ये लोग धार्मिक मर्यादा का तो क्या खयाल रखने में ? अरने स्वास्थ्य की भी विन्ना नहीं करते और अष्टमट ग्राहीर एक दिन अपने अमूल्य मानव जीवन को मिट्टी में मिला देते हैं। इनका आदर्श है—‘भोजन के लिए जीवन’; बल्कि होना चाहिए—‘जीवन के लिए भोजन’।

दूसरी भेणी में ये लोग आते हैं जो स्वादु भोजन के फेर में तो नहीं पड़ते। परन्तु पुष्टिकर एवं शक्तिप्रद भोजन का मोह वे भी नहीं त्याग सके हैं। शरीर को मजबूत बनार्ने, बलिष्ठ बदलवाने बने, और मनचाही ऐश करे, यही आदर्श इन लोगों के जीवन का है। इनके आगे का कोई भी उज्ज्वल चित्र इनकी आँखों के समक्ष नहीं रहता। धर्म की मर्यादा से इनका भी कोई सम्बन्ध नहीं होता। भोजन पुष्टिकर होना चाहिए, फिर भले वह कैसा ही हो और किसी भी तरह मिला हो।

तीसरी भेणी आत्मनत्व के पारम्पी साधक पुरुषों की है। ये लोग ‘जीवन के लिए भोजन’ का आदर्श रख कर कार्य-क्षेत्र में उतरते हैं। स्वादु भोजन तथा पुष्टिकर भोजन से इन्हें कुछ मतलब नहीं, इन्हें तो शरीर यात्रा के लिए जैसा भी रूप सुना और जितना भी भोजन मिले, वही पथात है। साधक को अरने आहार पर पूरा-पूरा कानू रखना चाहिए। वह जो कुछ भी ग्राए, वह केवल औपधि के रूप में शरीर रखा के लिए ही ग्राए, स्वाद के लिए बदापि नहीं।

साधक के भोजन का आदर्श है—हित, मित्र, पथ्य। भोजन ऐसा होना चाहिए, जो ग्रहर हो, स्वास्थ्यमर्द्धक हो और धर्म की दृष्टि से भी उपयुक्त हो। मांस, मद्य अथवा अन्य धर्म विरुद्ध अभिन्न भोजन, वह बदापि नहीं करता। एतद्धर्म वह जीवन से हाथ धोने के लिए तैयार रहता है, किन्तु अविविध मादक पदार्थों का सेवन किसी भी प्रकार नहीं कर सकता। भोजन का मन के साथ बनिष्ठ सम्बन्ध है। मनुष्य जैसा अस राना है, मन कैसा ही उन जाता है। सात्विक भोजन करने वाले के

मन सात्त्विक होता है, और तामसिक भोजन करने वाले का मन तामसिक । जो साधक अहिंसा एवं सत्य मार्ग का पथिक है; उसे विकार-वर्द्धक उत्तेजक पदार्थों से सर्वथा अलग रहना चाहिए । यह भोजन की द्रव्य-शुद्धि है ।

दूसरी ओर भोजन का न्याय प्राप्त होना भी आवश्यक है । किसी को पीड़ा पहुँचा कर अथवा असत्य आदि का प्रयोग करके प्राप्त हुआ भोजन, आत्मा को तेजस्वी नहीं बना सकता । तेजस्वी बनाना तो दूर, प्रत्युत आत्मा का पतन करता है और कभी-कभी तो मनुष्यता तक से शून्य बना देता है ।

जैन संस्कृति में भोजन के ये दो ही प्रकार हैं, एक वह सात्त्विक होना चाहिए और दूसरे न्याय प्राप्त । एक तीसरा और विशेषण भी है, जो स्पृश्यास्पृश्य व्यवस्था के मानने वालों की ओर से लगाया जाता है । वह विशेषण है—भोजन, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि उच्च कुल का होना चाहिए; शूद्र और अन्त्यज आदि का नहीं । जैन धर्म के तीर्थंकर उक्त तीसरे विशेषण में कोई सार नहीं देखते । मानव-मात्र की एक जाति है, उसमें ऊँच-नीच के भेद सर्वथा काल्पनिक हैं । केवल व्यापार-भेद, राष्ट्र-भेद अथवा रंग-भेद से मानव जाति में भेदबुद्धि पैदा करना और उसके बल पर आवास में घृणा और द्वेष की आग भड़काए रखना, संसार का सबसे भयंकर अपराध है । जैन-सूत्रों का आग्रह है—‘न दीसह जाइ-विसेस कोइ’—‘जन्म से जाति की कोई विशेषता नहीं देखी जाती’—उत्तराध्ययन । हम देखते हैं कि गौतम जैसे प्रतिष्ठित मुनि भी उत्तम, मध्यम और अधम तीनों कुलों में भिक्षा के लिए भ्रमण करते हैं । यद्यपि पश्चात्कालीन टीकाकारों ने स्पृश्या-स्पृश्यता के व्यामोह में पड़कर उत्तम मध्यमादि कुलों की व्याख्या, धनी और निर्धन के भेद पर की है; किन्तु यह व्याख्या स्पष्टतः मूल भावों का अनुसरण नहीं करती । मानवता के नाते केवल भोजन की स्वयं शुद्धता और न्याय प्राप्तता ही अपेक्षित है, फिर भले ही वह भोजन किसी का भी हो—ब्राह्मण का हो अथवा शूद्र का हो ।

साधु का जीवन, त्याग-वेगम्य का जीवन है। वह स्वयं साधारण कार्यों से सर्वथा अलग है। अतः वह स्वयं भोजन न बना कर भिक्षा पर ही जीवनयापन का निर्माण करता है। साधु की भिक्षा, साधारण भिक्षुओं जैसी नहीं होती। उसने भिक्षा पर भी इतने ग्रन्थन डाले हैं कि, इसका एक पृथक् साहित्य ही बन गया है। जैन आगम साहित्य का अधिभाग भाग, जैन मुनि की गोचरचर्या के नियमोपनिषदों से ही परिपूर्ण है। किसी को किसी भी प्रकार की पीड़ा पहुँचाए बिना पूर्ण शुद्ध, सात्विक, उदर समाता भोजन लेना ही जैन भिक्षा का आदर्श है।

जैन भिक्षु के लिए नवकोटि परिशुद्ध आहार प्रदण करने का विधान है। नव कोटि इस प्रकार है—न स्वयं पकाना, न अपने लिए दूसरों से कहकर पकवाना, न पकाते हुए का अनुमोदन करना, न खुद बना बनाया खरीदना, न अपने लिए खरीदवाना और न खरीदने वाले का अनुमोदन करना, न स्वयं किसी को पीड़ा देना, न दूसरे से पीड़ा दिलवाना और न पीड़ा देने वाले का अनुमोदन करना। उक्त नवकोटि के लिए, वैशिष्ट स्थानाग सूत्र का नवम स्थान।

आप देख सकते हैं—किन्तनी अधिक सूत्र अहिंसा की मर्यादा का ध्यान रक्खा गया है। भिक्षा के लिए न स्वयं किसी तरह की पीड़ा देना, न दूसरे से दिलवाना, और यदि कोई स्वयं ही साधु को भिक्षा दिलाने के उद्देश्य से किसी को पीड़ा देने लगे तो उसका भी अनुमोदन न करना। हृदय की विशाल कामलता के लिए एवं भिक्षा की पवित्रता के लिए, जैन इतना सा ही अश पर्याप्त है।

भगवन्नी सूर कमाने शतत्रय प्रथम उद्देश्य में भिक्षा के चार दोष उल्लेख हैं—क्षेयान्तिमान्त, कालान्तिमान्त, मार्गान्तिमान्त और प्रमाणान्तिमान्त।

१—क्षेयान्तिमान्त दोष यह है कि सूयाश्व से पहले ही आहार प्रदण कर लेना और सूयाश्व होते ही खानेना। साधु के लिए नियम है

इके न रात में आहार ग्रहण करना और न रात में खाना । सूर्योदय होने के बाद जब तक आवश्यक स्वाध्याय न कर ले तब तक आहार नहीं ग्रहण किया जा सकता । यह नियम भोजन के संयम के लिए कितना आवश्यक है ?

२—कालातिक्रान्त दोष यह है कि—प्रथम प्रहर में लिया हुआ भोजन चतुर्थ प्रहर में खाना । भगवान् महावीर ने मर्यादा बाँधी है कि साधु अपने पास तीन प्रहर से अधिक काल तक भोजन नहीं रख सकता पहले प्रहर का लिया हुआ तीसरे प्रहर तक खा सकता है, यदि चतुर्थ प्रहर में खाए तो प्रायश्चित्त लेना होता है । यह नियम संग्रह वृत्ति को रोकने के लिए है । यदि संग्रह वृत्ति को न रोका जाय तो भिक्षा का पवित्र आदर्श ही नष्ट हो जाता है । अधिक से अधिक मॉगना और अधिक से अधिक काल तक संग्रह किए रखना, भगवान् महावीर को सर्वथा अनभीष्ट है । जैन साधु का भिक्षा संग्रह अधिक से अधिक तीन पह तक है, कितना आदर्श त्याग है ?

३—सार्गातिक्रान्त दोष यह है कि अर्धयोजन से अधिक दूर त आहार ले जाना । साधु के लिए नियम है कि वह आवश्यकता पड़ने पर अधिक से अधिक अर्धयोजन अर्थात् दो कोस तक भोजन ले जा सकता है, इसके आगे नहीं । यह नियम भी अधिक संग्रह की वृत्ति को रोक और भोजन की तृष्णा को घटाने के लिए है । अन्यथा भोजन ग्रहण साधु विहार यात्रा में भोजन से ही लदा हुआ फिरेगा, संयम का आदर्श कैसे पालेगा ?

४—प्रमाणातिक्रान्त दोष यह है कि—प्रमाण से अधिक भोजन करना । जैन मुनि, यदि भोजन अधिक काल तक रख नहीं सकता । अधिक खा भी नहीं सकता । भोजन, शरीर निर्वाह के लिए है और वह वस्तीस ग्रासों के द्वारा हो सकता है । अतः ३२ ग्रासों से अधिक आहार करना, मुनि के लिए सर्वथा निषिद्ध है । यह नियम भी भिक्षा

य ममय अधिक माँगने की प्रवृत्ति को रोकने और रस गदला के भाव को कम करने के लिए है ।

आचार्यग गूर द्वितीय श्रुतस्कन्ध के द्वितीय अध्यायन नरम उद्देश्य म दण्डन आता है कि साधु को रुखा सूरा जैसा भी भोजन मिले वैसा ही महर्ष खाता चाहिए । यह नहीं कि अच्छा-अच्छा रस लिया और रुखा-सूरा डाल दिया । यदि ऐसा किया जान तो उसने लिए निशीथ गूर में दण्ड का विधान है । यह नियम भी भिक्षा की शुद्धि के लिए परमावश्यक है । अन्यथा ऐसा होता है कि विशिष्ट भोजन की तलाश म मनुष्य इधर ठधर देर तक माँगता रहता है और फिर अधिक सभ्रद करने के बाद अच्छा-अच्छा खाकर बुरा-बुरा फेंक देता है ।

दशवैकालिक आदि सूत्रों में यह भी विधान है कि भिक्षा के लिए घनिष्ठ घरों की ही खात्र में न रहे, ताकि स्वादु भोजन मिले । मार्ग में चलते हुए जो भी घर आ जायें सभी में बिना किसी शर्मी गरीब के भेद के जाना चाहिए और अपनी विधि के अनुसार जैसा भी सुन्दर अथवा असुन्दर, किन्तु प्रकृति के अनुकूल भोजन मिले, ग्रहण करना चाहिए । भोजन के सम्बन्ध में स्वास्थ्य का ध्यान रखना तो आवश्यक है, किन्तु स्वाद का ध्यान कतई नहीं रखना चाहिए । मगरान महावीर ने प्रत्येक नियम, मानव जीवन की दुर्दलनाओं को लक्ष्य में रखते हुए ऐसा रनाया है, जिससे भिक्षा में किसी भी प्रकार की दुर्दलता प्रवेश न कर सके और भिक्षा का आदर्श कलकित न हो सके ।

वृत्तस्त्वभाय प्रथम उद्देश्य में भिक्षा के लिए जाने से पहले कार्योत्सर्ग करने का विधान है । इस कार्योत्सर्ग=ध्यान में विचार जाता है कि—आज मैंने कौन सा आचार्य अथवा निर्विकृति का व्रत ले रखा है और उसके लिए कितना और वैसा भोजन आवश्यक है ? यह कार्योत्सर्ग अपनी भूय की अन्तर्ध्वनि सुनने के लिए है, ताकि मर्यादित एव आवश्यक भोजन ही लाया जाय, अमर्यादित तथा अनावश्यक नहीं ।

भोजन लाने के बाद जब तक गुरुचरणों में अथवा भगवान् की सादरी से गोचरचर्या का आलोचन अथ च प्रतिक्रमण नहीं कर लिया जाता, तब तक भोजन नहीं खाया जा सकता। यह नियम गुरुदेव के समक्ष गोचरचर्या की रिपोर्ट देने के लिए है कि—किसके यहाँ से, किस तरह से, कितना, और कैसा भोजन लिया गया है? यदि कहीं गोचरी में भूल मालूम पड़े तो उसके प्रतिकारस्वरूप प्रायश्चित्त ग्रहण करना होता है।

उपर्युक्त लम्बा विवेचन लिखने का मेरा उद्देश्य यह है कि जैनसाधु की भिक्षावृत्ति, भीख माँगना नहीं है। यहाँ भिक्षावृत्ति में जीवन के महान आदर्शों को भुलाया नहीं जाता; प्रत्युत उन्हें और अधिक दृढ़ किया जाता है। भिक्षा महान् आदर्श है—यदि उससे वास्तविक लाभ उठाया जाय तो। कौन घर कैसा है? उसका आचार विचार क्या है? जीवन की उच्च संस्कृति का उत्थान हो रहा है अथवा पतन? कौन व्यसन कहाँ किस रूप में घुसा हुआ है? इत्यादि सब प्रश्नों का उत्तर साधु को भिक्षा के द्वारा मिल सकता है और यदि वह समर्थ हो तो तदनुसार उपदेश देकर जनता का कल्याण भी कर सकता है। जैनधर्म में भिक्षाचर्या स्वयं एक तपस्या है। वह जीवन की पवित्रता का महान मार्ग है।

आजकल भिक्षा के विरुद्ध जो आन्दोलन चल रहा है, उसके साथ यह भी विचार करना आवश्यक है कि—कौन किस तरह भिक्षा माँग रहा है? सन्नको एक लाठी से नहीं हँका जा सकता। यद्यपि यह ठीक है कि आज राष्ट्र में बेकार मिलमंगों का दल जोर पकड़ गया है; हजारों लाखों साधुनामधारी आज देश के लिए अभिशाप सिद्ध हो रहे हैं। आचार्य हरिभद्र ऐसे मनुष्यों की भिक्षा को पौरुषघ्नी बतलाते हैं, वह अवश्य ही निषिद्ध भिक्षा है। भिक्षाष्टक में आचार्य ने तीन प्रकार की भिक्षा बतलाई है—सर्व सम्पत्करी, पौरुषघ्नी और वृत्तिभिक्षा। सर्व सम्पत्करी भिक्षा त्यागी विरगात्मा साधु मुनिराजों की होती है।

यह भिक्षा स्वयं साधक की आत्मा में, राष्ट्र में तथा समाज में सदाचार का प्रचरण होने सञ्चार करने वाली है। दूसरी पौष्ट्यभिक्षा भिक्षा है। जो मनुष्य आलस्यमय स्वयं पुरुषार्थ न करके साधुके पहन कर भिक्षा द्वारा आजीविका चलाता है, यह पौष्ट्यभिक्षा भिक्षा है। इस-वस्तु मज्झम आश्रमी, यदि केवल साधुता की भाषा रचकर मोज उड़ाता है तो वह अपने पौष्ट्य का नष्ट करने के अतिरिक्त और क्या करता है ? यह भिक्षा अमरव हो राष्ट्र के लिए घातक है। वाचक यशोविनय इनी सम्बन्ध म कहते हैं —

दीक्षा-ररोधिनी भिक्षा,
पौष्ट्यभिक्षा प्रकीर्तिता;
धर्मलाघवमेव स्यात्,
तथा पात्रस्य जीवतः ॥११॥

—शार्ङ्गि० ६

तीसरी वृत्तिभिक्षा यह है, जो दीन अन्य आदि असहाय मनुष्य स्वयं कुछ कार्य नहीं कर सकने के कारण भिक्षा माँगते हैं। अब तक राष्ट्र इन लोगों के लिए कोई विशेष धन्य नहीं कर देता, तब तक मानवता के नाते इन लोगों का भी भिक्षा माँगने का अधिकार है।

उपर्युक्त वक्तव्य से स्पष्ट हो गया है कि जैनमुनि की भिक्षा का क्या स्वरूप है ? यह अन्य भिक्षाओं से किस प्रकार भिन्न है ? यह राष्ट्र के लिए अथवा साधक के लिए घातक नहीं, प्रत्युत उपकारक है ? अब कुछ प्रस्तुत पाठान्तर्गत विशेष शब्दों का स्पष्टीकरण कर लेना भी आवश्यक है

गा-चर चर्या

कतना ऊँचा भाव भरा शब्द है ? 'गोश्रर्यं गोचर चर्यं चर्या,

गोचर इव चर्यागोचर चर्या'—यह व्युत्पत्ति आचार्य हरिभद्र के द्वारा कथित है। इसका भावार्थ है—जिस प्रकार गाय वन में एक-एक घास का तिनका जड़ से न उखाड़ कर ऊपर से ही खाती हुई घूमती है, अपनी जुधा निवृत्ति कर लेती है और गोचरभूमि एवं वन की हरियाली को भी नष्ट नहीं करती है; उसी प्रकार मुनि भी किसी गृहस्थ को पीड़ा न देता हुआ थोड़ा थोड़ा भोजन ग्रहण करके अपनी जुधा निवृत्ति करता है। दशवैकालिक सूत्र में इसके लिए मधुकर = भ्रमर की उपमा दी है। भ्रमर भी फूलों को कुछ भी हानि पहुँचाए बिना थोड़ा-थोड़ा रस ग्रहण करता है एवं उसी पर से आत्म वृत्ति कर लेता है।

भिक्षा चर्या

भिक्षाचर्या का मूलार्थ भिक्षा के लिए चर्या होता है। अर्थात् भिक्षा के लिए भ्रमण करना। आवश्यक के टीकाकार श्री हरिभद्र तथा स्थानांग सूत्र के टीकाकार श्री अभयदेव ऐसा ही अर्थ करते हैं। परन्तु प्रतिक्रमण के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य तिलक यहाँ भिक्षा अर्थ करते हैं और वह हृदय को लगता भी है। उनका कहना है—‘प्रथम गोचर चर्या में चर्या शब्द भ्रमणार्थक है और यहाँ भिक्षाचर्या में चर्या शब्द मुक्ति = भक्षण का वाचक है।’ अर्थ होगा—‘उपलब्ध भिक्षा का खाना’। भिक्षान्न खाते समय भोजन की निन्दा एवं एक भोजन को दूसरे भोजन में मिलाकर स्वादिष्ट बनाने से जो संयोजन आदि दोषों के अतिचार होते हैं, उनकी शुद्धि से तात्पर्य है। “आद्यश्चर्या शब्दो भ्रमणार्थः द्वितीयः पुनः भक्षणार्थः। भिक्षायाः चर्या = मुक्तिरित्यर्थः”—तिलकाचार्य।

कपाटोद्घाटन

साधारण रूप से भी यदि घर के द्वार के किवाड़ बंद हों तो उन्हें खोल कर भोजन लेना दोष है; क्योंकि इससे बिना प्रमार्जन किए उद्घाटन के द्वारा जीव विराधना दोष की सम्भावना रहती है। तथा इस प्रकार आहार लेने से असभ्यता भी प्रतीत होती है। संभव है गृहस्थ घर के अंदर किसी विशेष व्यापार में संलग्न हो और साधु अचानक किवाड़

गलतर अंदर जान तो अनुचित मालूम दे। यह उत्तमार्ग मार्ग है। यदि हमी विशेष कारण के लिए आवश्यक वस्तु लेनी हो और तदर्थ किराड़ मोलने ही ता यतना के साथ रज्य मोले अथवा खुलगाय जा सकते हैं, यह अथवादमार्ग है। इस पर से जो लोग यह अर्थ निकालते हैं कि— 'साधु को किराड़ खोजने और बद नहीं करने चाहिते' के गलती पर है। इससे लिए दशवैकान्तिक सूत्र के पंचम अध्यायन की १८ वीं गाथा देखनी चाहिए, वहाँ गृहस्थ की आज्ञा लेकर किराड़ खोजने का विधान स्पष्टता उल्लिखित है।

खानादि सघट्टन

साधु को बहुत शान्ति और विवेक के साथ आहार ग्रहण करना चाहिए। मार्ग में रहे हुए उच्छा, गच्छों और उच्चों के ऊपर पड़ते हुए भिक्षा लेना, लोकमन्यता और आगम दोनों गद्दी-दण्डियों से धर्जित है। और विराधना का दोष, इस प्रवृत्ति के द्वारा लगता है। मूल में दारा शब्द आता है, जिसका अर्थ स्त्री और चालक दोनों होती हैं, यह ध्या में रहे। परन्तु टीकाकार बालक ही अर्थ ग्रहण करते हैं।

मण्डी प्राभृतिका

मण्डी दुकन को तथा उपलक्षण से अन्य पात्र को कहने हैं। उनमें तैयार किए हुए भोजन के कुछ अन्न अंश को पुण्यार्थ निकालकर, जो रख दिया जाता है, वह अग्रपिण्ड कहलाता है। लोक रूढ़ि के कारण आधेय अग्रपिण्ड भी आचार अर्थात् मण्डीरुद वाच्य ही है। मण्डी की प्राभृतिका = भिक्षा, मण्डी प्राभृतिका कहलाती है। यह पुण्यार्थ होने से साधु के लिए निषिद्ध है। अथवा साधु के आने पर पहले अग्रभोजन दूसरे पात्र में निकाल ले और फिर शेष में से दे तो वह भी मण्डी प्राभृतिका दोष है, क्योंकि इससे प्रवृत्ति दोष लगता है। आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज उक्त पद का अग्रपिण्ड अर्थ करते हैं, इसका रहस्य क्या है, यह अभी अज्ञात है। हाँ प्राचीन परम्परा में कहीं भी यह अर्थ नहीं देखा गया।

बलि प्राभृतिका

देवता आदि के लिए पूजार्थ तैयार किया हुआ भोजन बलि कहलाता है। वह भिन्ना में नहीं ग्रहण करना चाहिए। यदि ग्रहण करले तो दोष होता है। अथवा साधु को दान देने से पहले दाता द्वारा सर्वप्रथम आवश्यक बलिकर्म करने के लिए बलि को चारों दिशाओं में फेंककर अथवा अग्नि में डाल कर पश्चात् जो भिन्ना दी जाती है, वह बलि प्राभृतिका है। ऐसा करने से साधु के निमित्त से अग्नि आदि जीवों की विराधना का दोष होता है।

स्थापना प्राभृतिका

साधु के उद्देश्य से पहले से रखवा हुआ भोजन लेना, स्थापना प्राभृतिका दोष है। अथवा अन्य भिक्षुओं के लिए अलग निकालकर रखे हुए भोजन में से भिन्ना लेना, स्थापना प्राभृतिका दोष होता है। ऐसा करने से अन्तराय दोष लगता है।

शङ्कित

आहार लेते समय यदि भोजन के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के आधाकर्मादि दोष की आशंका हो तो वह आहार कदापि न लेना चाहिए। भले ही दोष का एकान्ततः निश्चय न हो, केवल दोष की संभावना ही हो, तब भी आहार लेना शास्त्र में वर्जित है। साधना मार्ग में जरा-सी आशंका की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। दोष की आशंका रहते हुए भी आहार ग्रहण कर लेना, बहुत बड़ी मानसिक दुर्बलता एवं आसक्ति का सूचक है।

सहसाकार

प्रत्येक कार्य विवेक और विचार पूर्वक होना चाहिए। शीघ्रता में कार्य करना, क्या लौभिक और क्या लोकोत्तर, दोनों ही दृष्टियों से अहितकर है। शीघ्रता करने से कार्य के गुण-दोष की ओर कुछ भी लक्ष्य नहीं रहता। शीघ्रता मनुष्य-हृदय के हलकपन एवं छिड़लेपन को प्रकट करती

है। अतएव शास्त्रकार कहते हैं कि यदि साधु शीतला से आहार लेता है और तत्कालीन परिस्थिति पर कुछ भी गभीरतापूर्वक विचार नहीं करता है, तो वह सह्यमात्र दोष माना जाता है।

पाणिसणाए

गुह्य-सी आधुनिक प्रतियां म पाणिसणाए के आगे पाणिसणाए पाठ भी लिखा मिलता है। किन्तु किसी भी प्राचीन प्रति म इसका उल्लेख देने में नहीं आया। न हरिमद्र आदि प्राचिन आचार्य ही आर्यसूत्र पर की ग्रन्थी टीकाओं म इस सम्बन्ध में कुछ कहते हैं। जैसे भी यन् व्यर्थ-ना ही पतीत होता है। प्रस्तुत सूत्र म केवल गोचरार्था सम्बन्धी लोगों की चर्चा है, यहाँ अन्न अथवा पानी की एण्णा के सम्बन्ध म कोई पृथक् म'केन नहीं है। जो भी पान है, सर अन्न और जल दोनों पर सामान्यता से लगते हैं। पाणिसणाए का अर्थ होता है, पानी की एण्णा से। मैं नहीं समझता, पूजन भी आत्मागमभी मदारगज, किस आधार पर इस पद का यह अर्थ करते हैं कि—'पानी की एण्णा पृण' रीति में न की हो।' 'पाणिसणाए' म कहीं भी तो 'न' का प्रयोग नहीं है। एक और बात है—पूज्य श्रीजी मूल पाठ में इस शब्द का उल्लेख नहीं करते, किन्तु व्याख्या करने हुए इस मूल पाठ मान कर अर्थ करते हैं। पना नहीं, मूल पाठ में न होते हुए भी यह शब्द व्याख्या में किम आधार पर मूल मान लिया गया ?

कुछ आधुनिक अशुद्ध प्रतियां में 'पाणिसणाए' भी है और उसके आगे 'अणभोजना' पाठ भी है। परन्तु वह पाठ भी अर्थहीन है। म भय है, कुछ लोगों ने 'पाणिसणाए' से पानी और 'अणभोजना' से अन्न भोजन समझा हो।

प्राणभोजना

मूल शब्द 'प्राणभोजना' है। इसका सह्यन रूप 'पानभोजना' बना कर कुछ विद्वान पानी और भोजन अर्थ करते हैं। परन्तु परंपरा के अनुसार प्राण म शक्ति के लिये जो अन्न रीति में खाया जाता है, वह प्राणभोजना है।

आदि आचार्यों की परंपरा के अनुसार यहाँ वही अर्थ उचित है, जो हमने शब्दार्थ तथा भावार्थ में प्रकट किया है। विकृत दधि तथा ओदन आदि भोजन में जो यदा-कदा रसज प्राणी उत्पन्न हो जाते हैं, उनकी विराधना जिस भिन्ना में होती है, वह भिन्ना प्राणभोजना कहलाती है। एक साधारण-सा प्रश्न यहाँ उठ सकता है। वह यह कि मूल शब्द में प्राणी नहीं, प्राण शब्द है, उसका अर्थ प्राणी किस प्रकार किया जा सकता है? उत्तर में कहना है कि अर्शाद्यच् प्रत्यय के द्वारा 'प्राणा अस्य सन्तीति प्राणः' इस प्रकार प्राणों वाला प्राणी भी प्राण शब्द वाच्य हो जाता है। ईर्यायथिक आलोचना सूत्र में 'पाणकमणे' का अर्थ भी उक्त रीति से प्राणियों पर आक्रमण करना होता है। द्वादशावर्त वन्दन सूत्र इच्छामि खमासमणों में 'कोहाए' आदि चार शब्द भी अर्शाद्यच् के द्वारा ही सिद्ध होते हैं। 'कोहाए' = 'क्रोधया' का अर्थ होता है— 'क्रोधोऽस्य अस्तीति क्रोधा, तथा क्रोधवत्या क्रोधानुगतया।' जो आशा-तना क्रोध से युक्त हो वह क्रोधा कहलाती है। आगम में इस भाँति अर्शाद्यच् प्रत्यय का प्रयोग विपुल परिमाण में हुआ है। अतएव पाणभोग्या में भी पाण = प्राण शब्द प्राणी का वाचक ही माना जाता है।

अदृष्टादृता

गृहस्थ के घर पर पहुँच कर, साधू को जो भी वस्तु लेनी हो, वह स्वयं जहाँ रक्खी हो, अपनी आँखों से देखकर लेनी चाहिए। यदि कोठे आदि में रक्खी हुई वस्तु, बिना देखे ही गृहस्थ के द्वारा लाई हुई ले ली जाती है तो वह अदृष्टादृत दोष से दूषित होने के कारण अप्राप्त होती है। इस दोषोत्प्लेख के अन्तर में यह भाव है कि—देव वस्तु न मालूम किस सचित्त वस्तु पर रक्खी हुई हो? अतः उसके लेने में जीवविराधना दोष लगता है।

पारिष्ठापनिका

पारिष्ठापन से होने वाली भिन्ना, पारिष्ठापनिका कहलाती है। पूज्यश्री

आत्मारामजी महाराज इसका अर्थ करते हैं—‘बिना कारण आहार को परिष्ठापन करना = गेर देना ।’ मालूम होता है—पूज्यश्री जी यहाँ परिष्ठापना समिति के भ्रम में हैं । परन्तु यह अर्थ उचित नहीं प्रतीत होता । यहाँ ये सब शब्द तृतीयान्त तथा सप्तम्यन्त हैं और इनका सम्बन्ध ‘अग्निमुद्र परिगृह्य’ से है । अतएव उक्त समग्र वाक्य-समूह का अर्थ होता है—‘क्याटोद्घातन पारिष्ठापनिका आदि दोषमहित भिक्षा के द्वारा जो अशुद्ध आहार ग्रहण किया हो तो वह पाप मिथ्या हो । अब आप देख सकते हैं कि परिष्ठापना समिति का यहाँ ‘परिगृहीत’ के साथ कैसे अनुपपन्न हो सकता है ? परिष्ठापना समिति का काल तो परिगृहीत = ग्रहण करने के बाद भुक्त शेष को डालते समय होता है ? अतएव आचार्य नमि यहाँ पारिष्ठापनिका शब्द का वही अर्थ करते हैं जो हमने शब्दार्थ और भावार्थ में किया है—‘प्रदानभाजनगत द्रव्य-न्तरोज्ज्वलनवर्ण परिष्ठापनम्, तेन निवृत्ता पारिष्ठापनिका तथा ।’

अवभाषण भिक्षा

ग्रहण के घर पहुँच कर साधू का केवल भोजन और पानरूप साधारण भिक्षा ही माँगनी चाहिए । यदि वहाँ किसी विशिष्ट वस्तु की माँग करता है तो वह दोष माना जाता है । साधू को केवल उत्तर-पूर्वार्थ ही भोजन लेना है, फिर वह भले ही माधारण हो या असाधारण । इस महान आदर्श को भूल कर यदि साधू सुन्दर आहार की प्रवचना में परा में अच्छा भोजन माँगता फिरता है तो वह साधुत्व से भी गिरता है साथ ही धर्म की एव श्रमण सब की अवहेलना भी करता है । हाँ अपना रुत में किसी विशेष कारण पर यदि कोई विशिष्ट वस्तु किसी परिचित घर से माँगी जाय तो फिर कोई दोष नहीं होता ।

उद्गम, उत्पादन, एषणा

गोचरचर्या में उपर्युक्त तीन शब्द बहुत ही महत्वपूर्ण हैं । अवतक साधु उक्त तीनों शब्दों का वास्तविक परिचय न प्राप्त कर लें, तब तक गोचरचर्या की पूर्ण शुद्धि नहीं की जा सकती । एषणा समिति के तीन

भेद है—गवेषणौपणा, ग्रहणौपणा, परिभोगौपणा । गवेषणौपणा की शुद्धि के लिए १६ उद्गम दोष और १६ उत्पादन दोषों का परिहार करना चाहिए । उद्गम दोष गृहस्थ की ओर से लगते हैं और उत्पादन दोष साधु की ओर से । ग्रहणौपणा के साधू तथा गृहस्थ दोनों के संयोग से उत्पन्न होने वाले शंक्ति आदि १० दोष हैं । ये ४२ दोष हैं, जिनके कारण गृहीत आहार अशुद्ध माना जाता है । परिभोगौपणा के पाँच भेद हैं, जो माण्डले के दोषरूप में प्रसिद्ध हैं । ये दोष भोजन करते हुए लगते हैं । इन सबका वर्णन परिशिष्ट में देखिए ।

यह गोचरचर्या का पाठ गोचरी लाने और करने के बाद भी अवश्य पठनीय है ।

: १० :

काल-प्रतिलेखना-सूत्र

पट्टिककमामि

चाउरकालं सज्जायस्म अकरणया२

उभयोक्कालं भंडोऽगरणस्म अप्पडिलेहणा२,

दुप्पडिलेहणाए,

अप्पमज्जणाए, दुप्पमज्जणाए,

अइक्कमे, वइक्कमे,

अइयारे, अणायारे,

जो मे देवसियो अइयारो कओ

तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

शब्दाथे

पट्टिककमामि=प्रतिक्रमण करती हैं

चाउरकाल=चार काल में

सज्जायस्म=रगप्पाय के

अकरणयाए=न करने से

उभयोक्काल=दोनों काल में

भंडोऽगरणस्म=भाण्ड तथा उप
वरण को

अप्पडिलेहणाए=अप्रतिलेखना से
दुप्पडिलेहणाए=दुष्प्रतिलेखना से

अप्पमज्जणाए=अप्रमार्जना से

दुष्प्रमज्जणाए = दुष्प्रमार्जना से	देवसिञ्चो = दिवस सम्बन्धी
अइक्कमे = अतिक्रम में	अइयारो = अतिचार = दोष
वइक्कमे = व्यतिक्रम में	कञ्चो = किया हो
अइयारे = अतिचार में	तस्स = उसका
अणायारे = अनाचार में	दुक्कडं = पाप
जो = जो	मि = मेरे लिए
मे = मैंने	मिञ्छा = मिथ्या हो

भावार्थ

स्वाध्याय तथा प्रतिलेखना सम्बन्धी प्रतिक्रमण करता हूँ। यदि प्रमादवश दिन और रात्रि के प्रथम तथा अन्तिम प्रहर-रूप चार काल में स्वाध्याय न की हो, प्रातः तथा सन्ध्या दोनों काल में वस्त्र-पात्र आदि भाण्डोपकरण की प्रतिलेखना न की हो, अच्छी तरह प्रतिलेखना न की हो, प्रमार्जना न की हो, अच्छी तरह प्रमार्जना न की हो; फल-स्वरूप अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार सम्बन्धी जो भी दैवसिक अतिचार = दोष किया हो तो वह सब पाप मेरे लिए मिथ्या = निष्फल हो।

विवेचन

संसार में काल की बड़ी महिमा है। जो मनुष्य, जो समाज, जो राष्ट्र समय को आदर करते हैं, उचित समय से लाभ उठाते हैं, वे अम्युदय के गौरव-शिखर पर पहुँच कर संसार को चमत्कृत कर देते हैं। इस के विपरीत जो आलस्यवश समयानुकूल प्रवृत्ति न कर सकने के

१—'दिया पढमचरिमासु, रत्तिपि पढमचरिमासु च पोरसीसु सज्जाञ्चो अवस्स फातव्वो।' इति जिनदासमहत्तराः।

'चतुर्कालं-दिवसरजनी-प्रथम—चरमप्रहरेषु इत्यर्थः।' इति आचार्य हरिभद्राः।

कारण समय का ताभ नहीं उठा पाते, ये प्रगति की दौड़ में गर्भगा पीछे रह जाते हैं, उनके भाग्य में पश्चात्ताप के अनिरुद्ध और बुझ नहीं रहता ।

मनुष्य का कर्तव्य है कि—यह योजना के अनुसार, प्रोग्राम के मुताबिक प्रगति करे । जिस कार्य के लिए जो समय निश्चित किया हो, उस कार्य को उसी समय करने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए । मनुष्य यह है, जो दौड़ घड़ी की सुई की तरह पूर्ण नियमित दग से कार्य करता है । स्वीकृत योजना का परित्याग कर बरा भी इधर उधर घेर फेर से किया जाने वाला कार्य रस प्रद एवं शक्ति प्रद नहीं होता । दूर क्यों जाएँ, पाग ही देखिए । जब मनुष्य को कड़ाके की भूल लगी हो और उस समय षष्ठा पानी पीने के लिए लाया जाय तो कैसा रहेगा ? और जब बहुत उग्र प्यास लगी हो तब सुन्दर मिष्ट भोजन उपस्थित किया जाय तो क्या आनन्द आएगा ? प्रत्येक कार्य अपने समय पर ही ठीक होता है । समयविरुद्ध अच्छे से अच्छा कार्य भी अभद्र एवं श्रमभिर हो जाता है । मानव जीवन के लिए यह अनमोल समय मिला है । इसे व्यर्थ ही प्रमादवश बर्बाद न करो । भगवान् महावीर के उपदेशानुसार प्रत्येक सत्कार्य को, उसके निश्चित समय पर ही करने के लिए तैयार रहो । कितनी ही क भट हो, गड़गड़ हो, किन्तु अपने निश्चित कर्तव्य से न चूमो । 'काले काल समाधरे'—उत्तराख्ययन सूत्र ।

लोकदृष्टि की भाँति लोकात्तर दृष्टि में भी कालोचित किया या बड़ा महत्त्व है । साधु का जीवन सर्वथा नियमित रूप से गति करता है । युद्ध में चढ़े हुए सेनापति के लिए जिस प्रकार प्रत्येक क्षण अनमूल्य होता है उसी प्रकार कर्म शानुश्री से युद्ध में सलग्न साधक भी जीवन का प्रत्येक क्षण अनमूल्य समझता है । कर्तव्य के प्रति जगत्सी भी उपेक्षा समस्त योजनाओं को धूल में मिला देती है । योजना के अनुसार प्रगति न करने से, मनुष्य, जीवन क्षेत्र में भिड़ूँ जाता है । जीवन की प्रगति के प्रत्येक अंग को आलोकित रखने के लिए काल की प्रतिरोधना करना, अती

आवश्यक है। उत्तराख्ययन सूत्र के २६ वें अध्ययन में काल-प्रतिलेखना के सम्बन्ध में एक बहुत ही सुन्दर प्रश्नोत्तर है :—

कालपडिलेहणयाए रां भंते ! जीवे किं जणयइ ?

कालपडिलेहणयाए रां नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ ।

“भगवन् ! काल की प्रतिलेखना से क्या फल होना है ?”

“काल की प्रतिलेखना से ज्ञानावरण कर्म का ज्ञ होना है।”

उपयुक्त सूत्र कालप्रतिलेखना का है। सूत्रकार ने अपनी गंभीर भाषा में कालोचित क्रिया का महत्त्व बहुत ही सुन्दर ढंग से वर्णन किया है। आगम में कथन है कि दिन के पूर्वाह्न तथा अपराह्न में तथैव रात्रि के पूर्व भाग तथा अपर भाग में—इस प्रकार दिन और रात्रि के चारों कालों में, नियमित स्वाध्याय करनी चाहिए। इसी प्रकार प्रातःकाल और सायंकाल दिन के दोनों कालों में नियमित रूप से वस्त्र पात्र आदि की प्रतिलेखना भी आवश्यक है। यदि आलस्यवश उक्त दोनों आवश्यक कर्तव्यों में भूल हो जाय तो उसकी शुद्धि के लिए, प्रतिक्रमण करने का विधान है।

स्वाध्याय

भारतीय संस्कृति में स्वाध्याय का स्थान बहुत ऊँचा एवं पवित्र माना गया है। हमारे पूर्वजों ने जो भी ज्ञानराशि एकत्रित की है और जिसे देखकर आज समस्त संसार चमत्कृत है, वह स्वाध्याय के द्वारा ही प्राप्त हुई थी। भारत जब तक स्वाध्याय की ओर से उदासीन न हुआ तब तक वह ज्ञान के दिव्य प्रकाश से जगमगाता रहा।

पूर्वकाल में जब भारतीय विद्यार्थी गुरुकुल से शिक्षा समाप्त कर विदा होता था तो उस समय आशीर्वाद के रूप में आचार्य की ओर से यही महावाक्य मिलता था कि—‘स्वाध्यायान्मा प्रमदः।’ इसका अर्थ है—‘वत्स ! भूलकर भी स्वाध्याय करने में प्रमाद न करना।’ कितना सुन्दर उपदेश है ? स्वाध्याय के द्वारा ही हित और अहित का ज्ञान होता

है, वायु पुण्य का पता चलता है, वायु अन्तर्मन का ज्ञान होता है। स्वाध्याय हमारे अन्धकारपूर्ण जीवन पथ के लिए दीपक के समान है। त्रिम प्रकार दीपक के द्वारा हमें मार्ग के अंधेरे और घरे पन का पता चलता है और तदनुसार गगन ऊपर-गायक मार्ग को छोड़ कर अंधेरे मार्ग मुँहरे पथ पर चलते हैं, दीपक उगी प्रकार स्वाध्याय के द्वारा हम धर्म और अधर्म का पता लगा लेते हैं और जगत् भित्त का आभार ले तो अधर्म का छोड़कर धर्म के पथ पर चलकर जीवन यात्रा को प्रशस्त बना सकते हैं।

शास्त्रकारों ने स्वाध्याय को नन्दन वन की उमा दी है। त्रिम प्रकार नन्दन वन में प्रत्येक दिशा की ओर भय से भय रह्य, मन को आनन्दित करने के लिए होते हैं, यहाँ जाकर मनुष्य गगन प्रकार की दुःख बमेश सम्पन्धी भ्रमों में भूल जाता है, उभी प्रकार स्वाध्याय नन्दन वन में भी एक से एक सुन्दर एवं शिवा पर हर्य देगने को मिलने है, तथा मन दुनिवाधी भ्रमों में मुक्त होकर एक अलौकिक आनन्द-भोक में विचरण करने लगता है। स्वाध्याय करते समय कभी महापुरुषों के जीवन की पवित्र एवं दिव्य भयँरी आँखों के सामने आती है, कभी स्वर्ग और नरक के हर्य धर्म तथा अधर्म का परिणाम दिखाने लगते हैं। कभी महापुरुषों की अमृतगण्ठी की पुरीत धारा नदी हुई मिलती है, कभी तर्क विर्क की हवाई उमान बुद्धि की बहुत ऊँचे अनन्त विचाराकाश में उठा ले जाती है। और कभी कभी भद्रा, भक्ति एवं सदाचार के ज्योतिर्मय आदर्श हृदय को गद्गद कर देते हैं। शास्त्राचन हमारे लिए 'यत् पिबेत् तद् ब्रह्माचरे' का आदर्श उपस्थित करता है। जब कभी आपका हृदय सुभा हुआ हो, सुभयवा हुआ हो, तुम्हें चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार घिरा नजर आता हो, कदम-कदम पर विषमताओं के जाल बिछे हुए हों तो आप किसी उच्छ्रोति के पवित्र आध्यात्मिक ग्रन्थ का स्वाध्याय कीजिए। आप का हृदय ज्योतिर्मय हो जायगा, चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश गिरा नजर आया, विषमताएँ चूर-चूर होती

मानूँगी, एक महान् दिव्य अलौकिक स्फूर्ति, तुम्हें प्रगति के पथ पर अग्रसर करनी हुई प्राप्त होगी ।

योगदर्शन के भाष्यकार महर्षि व्यास भी स्वाध्याय के आदर्श पुजारी हैं । आप परमात्म-ज्योति के दर्शन पाने का साधन एकमात्र स्वाध्याय ही बतलाते हैं—

स्वाध्यायाद् योगमासीत्,
योगात्स्वाध्यायमामनेत् ।

स्वाध्याय—योगसंपत्त्या,
परमात्मा प्रकाशते ॥
(योग० १.१ २८—व्यासभाष्य)

—‘स्वाध्याय से ध्यान और ध्यान से स्वाध्याय की साधना होती है । जो साधक स्वाध्यायमूलक योग का अच्छी तरह अभ्यास कर लेता है, उसके सामने परमात्मा प्रकट हो जाता है ।’

भगवान् महावीर तो स्वाध्याय के केंद्र पक्षपाती हैं । बारह प्रकार की तपः साधना में स्वाध्याय का स्थान भी रक्खा गया है और स्वाध्याय तप को बहुत ऊँचा अन्तरंग तप माना गया है । अपने अन्तिम प्रवचनस्वरूप वर्णन किए गए उत्तराध्ययन-सूत्र में आप बतलाते हैं कि—‘सज्जापेणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ ।’ ‘स्वाध्याय करने से ज्ञानावरण कर्म का क्षय होता है, ज्ञान का अलौकिक प्रकाश जगमगा उठता है ।’ आप देखते हैं—जीवन में जो भी दुःख है, अज्ञान-जन्य ही है । जितने भी पाप, जितनी भी बुराइयाँ हो रही हैं, सबके मूल में अज्ञान ही छुपा बैठा है । अस्तु, यदि अज्ञान का नाश हो जाय तो फिर किस चीज़ की कमी रह जाती है ? मनुष्य ने जहाँ ज्ञान, विवेक, विचार की शक्ति का प्रकाश पाया, वहाँ उसने संसार का समस्त ऐश्वर्य भर पाया ।

तं अन्नाणी कम्मं,

गवेइ चट्ठयाहिं वामकोडीहिं ।

तं नाणी तिहिं गुत्तो,

खवेइ उमायमित्तेण ॥ ११३ ॥

—संथाएइत्ता

—‘अश्वी मायक कराइयो वणो की कटोर तपः मायना के द्वारा जिनने कर्म नष्ट करता है, श्वी मायक मन, वचन और शरीर का वश में करता हुआ उनने ही कर्म एक श्वाभ मर में लय कर डालता है।’

स्वाध्याय वार्त्ता की तन्मया है । इसके द्वारा हृदय का मन धुलकर साफ हो जाता है । स्वाध्याय अन्नः प्रोक्षण है । इसी के अभ्यास में गहन में पुरुष आत्मोन्नति करते हुए महामा, परमामा हो गए हैं । अन्तर का ज्ञानदीप्त बिना स्वाध्याय के प्रग्नरहित हो ही नहीं सकता । -

यथाग्निर्दारुमध्यस्थो,

नात्तिष्टेन्मयनं विना ।

विना चाभ्यामयोगेन,

ज्ञानदीपस्तथान हि ॥

—योग सिम्भारनिपद

—‘जैसे लकड़ी में रखी हुई अग्नि मयन के बिना प्रकट नहीं होती, उभी प्रकार ज्ञानदीप्त, जो हमारे भीतर ही विद्यमान है, स्वाध्याय के अभ्यास के बिना प्रदीप्त नहीं हो सकता ।’

अब यह विचार करना है कि स्वाध्याय क्या वस्तु है ? स्वाध्याय शब्द के अनेक अर्थ हैं —

‘अध्ययनं अध्याय’, ‘सोमनोऽध्याय स्वाध्याय’—आय. ४ अ. ।
 सु + अध्याय अर्थान् सुदु अध्याय = अध्ययन का नाम स्वाध्याय है ।

निष्कर्ष यह है कि—आत्मकल्याणकारी श्रेष्ठ पठन-पाठनरूप अध्ययन का नाम ही स्वाध्याय है ।

स्थानांग-सूत्र के टीकाकार अभयदेव सूरि स्वाध्याय का अर्थ करते हैं—सुष्ठु = भलीभाँति आ = मर्यादा के साथ अध्ययन करने का नाम स्वाध्याय है । 'सुष्ठु आ = मर्यादया अधीयते इति स्वाध्यायः'—स्था० २ ठा० २३० ।

वैदिक विद्वान् स्वाध्याय का अर्थ करते हैं—'स्वयमध्ययनम्'—किसी अन्य की सहायता के बिना स्वयं ही अध्ययन करना, अध्ययन किये हुए का मनन और निदिध्यासन करना । दूसरा अर्थ है—'स्वस्यात्मनोऽध्ययनम्'—अपने आपका अध्ययन करना और देखभाल करते रहना कि अपना जीवन ऊँचा उठ रहा है या नहीं ?

जैन शास्त्रकारों ने स्वाध्याय के पाँच भेद बतलाए हैं—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा ।

गुरुमुख से सूत्र पाठ लेकर, सूत्र जैसा हो वैसा ही उच्चारण करना, वाचना है । वाचना के द्वारा सूत्र के शब्द-शरीर की पूर्ण-रूप से रक्षा की जाती है । अतएव हीनाक्षर, अत्यक्षर, पदहीन, घोष हीन आदि दोषों से बचने की सावधानी रखनी चाहिए ।

स्वाध्याय का दूसरा भेद पृच्छना है—सूत्र पर जितना भी अपने से हो सके तर्क-वितर्क, चिन्तन, मनन करना चाहिए और ऐसा करते हुए जहाँ भी शंका हो गुरुदेव से समाधान के लिए पूछना चाहिए । हृदय में उत्पन्न हुई शंका को शंका के रूप में ही रखना ठीक नहीं होता ।

सूत्र-वाचना विस्मृत न हो जाय, एतदर्थ सूत्र की बार-बार गुणनिका = परिवर्तना करना, परिवर्तना है !

सूत्रवाचना के सम्बन्ध में तात्त्विक चिन्तन करना, अनुप्रेक्षा है । अनुप्रेक्षा, स्वाध्याय का महत्त्वपूर्ण अंग है । बिना अनुप्रेक्षा के ज्ञान चमक ही नहीं सकता ।

अब कि सूत्र-वाचना, पृच्छना, परिपत्तना और अनुपेक्षा के बाद
नम्र का वाग्मभिः रूप मुन्द हो जाय, तब उन-वह्याय के लिए धर्मों
पदेश करना धर्म कथा है ।

भगवान् महावीर ने किन्ना अधिक मुन्दर वैजानिक धर्म, स्वाध्याय
का रक्खा है ? शास्त्रों के शब्द और अर्थ दोनों शरीरों की रक्षा के लिए
किन्नी मुन्दर योजना है ? यदि उपर्युक्त पद्धति से शास्त्रों का स्वाध्याय=
अध्ययन किया जाय तो साधक अगम्य ही ज्ञान के क्षेत्र में अद्वितीय
प्रकाश पा सकता है । कुछ भी अध्ययन न करके धर्म कथा के मंत्र पर
पहुँचने वाले कथक्कड़ जरा हम और लक्ष्य दे कि धर्म कथा का नम्र
कानमा है ?

आत्मकल स्वाध्याय के नाम पर निकुल अर्थहीन परंपरा चल रही
है । आत्र के स्वाध्यायी लोग, स्वाध्याय का अभिप्राय यही समझते हैं
कि किसी धर्म पुस्तक का निच कुछ पाठ कर लेना, और यम ! न शुद्ध
उच्चारण की और ध्यान दिया जाता है और न अर्थ का ही कुछ चिन्तन
मनन होता है । स्वाध्याय के लिए केवल शास्त्र के शब्द शरीर को
मर्श कर लेने से ही काम नहीं चल सकता । यद्यपि शुद्ध उच्चारण मात्र
से भी कुछ लाभ अवश्य होता है । क्योंकि शब्दों के उच्चारण से भी
मानों का रुग्णन तरतिन होता है और उसका जीवन पर प्रभाव पड़ता
है । परन्तु हम पूरा लाभ तभी उठा सकेगे, जब कि पाठ करते समय
पृच्छना, परिपत्तना, अनुपेक्षा का भी ध्यान रखें ।

स्वाध्याय में उन पेश करने के लिए वर्तमान युग की भाषा में भी
कुछ नियम ऐसे हैं, जिन पर विचार करने की आवश्यकता है । यदि
अच्छी तरह से निम्नोक्त नियमों पर ध्यान दिया जाय तो स्वाध्याय का
अपूर्ण आनन्द प्राप्त हो सकता है ।

(१) एकामता—अब हम स्वाध्याय कर रहे हैं तो हमारा ध्यान
चारों ओर से हटकर पुस्तक के शब्दों और अर्थों की ओर ही होना
चाहिए । इसके लिए आवश्यक है कि जो कुछ हम मुख से पाठ करें,

उसे अपने कानों से भी ध्यान पूर्वक सुनते जायँ । जिह्वा और श्रोत्र दो इन्द्रियों के एक साथ काम करने से मन अवश्य एकाग्र हो जाता है । अच्छा हो, यदि पाठ करते समय प्रत्येक पंक्ति को ठहर-ठहर कर दो तीन बार पढ़ा जाय ।

(२) नैरन्तर्य—स्वाध्याय में जहाँ तक हो सके अन्तर (विच्छेप) नहीं होना चाहिए । थोड़ा-बहुत स्वाध्याय नित्य नियमपूर्वक करते ही रहना चाहिये । परंपरा की कड़ी टूटते ही स्वाध्याय की वही हालत होती है जैसी कि साँकल की कड़ी टूटने पर साँकल की होती है ।

(३) विषयोपरति—स्वाध्याय के लिए ग्रन्थों का चुनाव करते समय यह ध्यान में रखना चाहिए कि हमारा उद्देश्य सांसारिक विषयवासनाओं के जीवन से ऊपर उठना है । अतः रागद्वेष, घृणा शृंगार आदि की पुस्तकें न पढ़ कर सदाचार, भक्ति और कर्तव्य-सम्बन्धी पुस्तकें ही पढ़नी चाहिएँ ।

(४) प्रकाश की उत्कण्ठा—स्वाध्याय करते समय मन में यह दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि पाठ के द्वारा हमारी अन्तःस्थ आत्मा में प्रकाश फैल रहा है । संकल्प का बल महान होता है, अतः स्वाध्याय के समय का शुद्ध संकल्प अवश्य ही अन्तर्ज्योति प्रदान करेगा ।

(५) स्वाध्याय का स्थान—स्वाध्याय के लिए पवित्र एवं शुद्ध वातावरण से सम्पन्न स्थान होना चाहिए । जो स्थान कोलाहल एवं गंदे दृश्यों वाला हो, वह स्वाध्याय के लिए सर्वथा अनुपयुक्त होता है ।

प्रतिलेखना

साधु के पास जो भी वस्त्र पात्र आदि उपधि हो, उसकी दिन में दो बार-प्रातः और सायं-प्रतिलेखना करनी होती है । उपधि को बिना देखे-भाले उपयोग में लाने से हिंसा का दोष लगता है । उपधि में सूक्ष्म जीवों के उत्पन्न हो जाने की अथवा बाहर के जीवों के आश्रय लेने की संभावना रहती है; अतः प्रत्येक वस्तु का सूक्ष्म निरीक्षण करते हुए जीवों को देखना चाहिए, और यदि कोई जीव दृष्टिगत हो तो उसे

प्रमार्जन के द्वारा किसी भी प्रकार की धीना पहुँचाए बिना एकान्त स्थान में धीरे से छोड़ देना चाहिए । प्रथम अर्द्धमात्रन की कितनी अधिक गह्रम माधना है ? घर्म के प्रति कितनी अधिक जागरूकता है ? भगवान महारीर, अपने शिष्यों को, वर्तमान क्षेत्र में, कहीं भी उपेक्षित नहीं होने देते ।

कच्चाप आदि को अच्छी तरह खोलकर चारों ओर से देगना, प्रति लेगना है और रजोहरण तथा पूँजली के द्वारा अच्छी तरह माफ करना, प्रमार्जना है । पायादि को बिल्कुल ही न देगना, अप्रतिलेगना है । और इसी प्रकार बिल्कुल प्रमार्जन न करना, अप्रमार्जन है । आलम्बरश शीघ्रता में अधिधि से देगना, दुप्रतिलेगना है । और इसी प्रकार शीघ्रता में बिना विधि से उपयोग हीन दशा में प्रमार्जन करना, दुप्यमा र्जन है । प्रतिलेगना के सम्बन्ध में जानकरी की इच्छा रखने वाले सन्न उल्लास्यन सूत्र का समाचारी अध्ययन अवलोकन करे ।

चार प्रकार के दोष

प्रत्येक वन में लगाने वाले कितने भी दोष होते हैं, उनके चार प्रकार हैं—(१) अतिक्रम, (२) व्यतिक्रम, (३) अतिचार (४) अनाचार

(१) अतिक्रम—ग्रहण किए हुए वन अथवा प्रतिज्ञा को भंग करने का संकल्प करना ।

(२) व्यतिक्रम—वन भंग करने के लिए उद्यत होना ।

(३) अतिचार—वन भंग करने के लिए साधन जुटा लेना तथा एक देश से वन किंवा प्रतिज्ञा को खण्डित करना ।

(४) अनाचार—व्रत को सर्वथा भंग करना ।

उदाहरण के लिए आधानमाँ आहार का उदाहरण अधिक स्पष्ट है इस पर से दोषों की कल्पना ठीक तरह समझ में आ सकती है ।

—जोई अनुसारी भक्त आधाकर्मों आहार तैयार कर साधु नमस्त्रण दे और माफ जानते हुए भी उस निमन्त्रण को स्वीकार कर

आधाकर्मी-आहार लेने की इच्छा करे और पात्र लेकर उठ खड़ा हो, तो वहाँ तक अतिक्रम दोष होता है। आधाकर्मी आहार लेने के लिए उपाश्रय से बाहर पैर रखने से लेकर घर में प्रवेश करने, भोली-खोलकर फैलाने तक व्यतिक्रम दोष है। आधाकर्मी आहार ग्रहण करने से लेकर उपाश्रय में आकर खाने की तैयारी करने तथा ग्रास हाथ में उठाने तक अतिचार दोष है। और ग्रास मुख में डालने तथा खा लेने पर अनाचार दोष लगता है। इन चारों ही दोषों में उत्तरोत्तर दोष की अधिकता है।

अतिक्रमादि के लिए, ऊपर आधाकर्मादूषित आहार के ग्रहण का जो उदाहरण दिया है, उसके लिए जिनदास महत्तर-कृत आवश्यक चूर्ण देखनी चाहिये। वहाँ विस्तार से अतिक्रमादि के स्वरूप व अनिरूपण किया गया है।

आचार्य हरिभद्र ने भी जिनदास महत्तर के उल्लेखानुसार अतिक्रमादि का विवेचन किया है। उन्होंने इस सम्बन्ध में एक प्राचीन प्राकृत-गाथा उद्धृत की है, जो सञ्ज्ञेऋत्विजिज्ञासु के लिए बड़ी महत्वपूर्ण है। लेखक भी उसको उद्धृत करने का भाव संवर नहीं कर सकता।

“आधाकम्म-निमन्तण,

पडिसुणमाणे अइक्कमो होइ ।

पय-भेयाइ यइक्कम,

गहिए तइए यरो गलिए ॥”

[आधाकर्म-निमन्त्रणे,

प्रतिश्रयवति अतिक्रमो भवति ।

पद-भेदादि व्यतिक्रमो,

गृहीते तृतीय इतरो गिलिते ॥]

अहिमा, सत्य आदि महान्न रूप मूल गुणों में अनिष्टम, व्यनिष्टम तथा अतिचार ने कारण मलिनाता आती है, अर्थात् चारित्र का मूल रूप दूषित हो जाता है परन्तु मर्यादा नष्ट नहीं होता, अतः उसकी शुद्धि आलोचना एवं प्रतिक्रमण के द्वारा करने का विधान है। परन्तु यदि मूल गुणों में ज्ञान बृद्ध कर अनाचार का दोष लग जाए तो चारित्र का मूल रूप ही नष्ट हो जाता है। अतः उक्त दोष की शुद्धि के लिए केवल आलोचना एवं प्रतिक्रमण ही काफी नहीं है, प्रत्युत कठोर प्रायश्चित्त लेने का अथवा कुछ विशेष दुःप्रसंगों पर नष्ट सिरे से व्रत ग्रहण करने का विधान है।

परन्तु उत्तर गुणों के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। उत्तर गुणों में तो अतिक्रमादि चारों ही दोषों से चारित्र में मलिनाता आती है, परन्तु पूर्णतः चारित्र भग्न नहीं होता। स्वाध्याय और प्रतिलेखना उत्तर गुण है। अतः प्रत्युत काल प्रतिलेखना सूत्र के द्वारा चारों ही दोषों का प्रतिक्रमण किया जाता है।

शास्त्रोक्त समय पर स्वाध्याय या प्रतिलेखना न करना, शास्त्र निषिद्ध समय पर करना, स्वाध्याय एवं प्रतिलेखना पर श्रद्धा न करना, तथा इस सम्बन्ध में मिथ्या प्रवृत्तियाँ करना या उचित विधि से न करना, इत्यादि रूप में स्वाध्याय और प्रतिलेखना सम्बन्धी अतिचार दोष होते हैं।

यह काल प्रतिलेखना सूत्र, स्वाध्याय तथा प्रतिलेखना करने के बाद भी पड़ा जाता है।

: ११ :

असंयम-सूत्र

पडिक्कमामि

एगविहे

असंजमे

शब्दार्थ

पडिक्कमामि = प्रतिक्रमण करता हूँ, एगविहे = एक प्रकार के
निवृत्त होता हूँ असंजमे = असंयम से

भावार्थ

अविरतिरूप एक-विध असंयम^१ का आचरण करने से जो भी
अतिचार = दोष लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ ।

विवेचन

मनुष्य क्या है ? इसका उत्तर कविता की भाषा में है—‘कामनाओं का
समुद्र ।’ संसारी मनुष्य की कामनाएँ अनन्त हैं । कौन क्या प्राप्त नहीं
करना चाहता ? जिस प्रकार समुद्र में हजारों, लाखों, करोड़ों तरंगों

१—‘संजमो सम्मं उवरमो ।’ इति निनदास महत्तराः ।

‘असंयमे अविरतलक्षणे सति प्रतिषिद्धकरणादिना यो मया दैव-
सिकोऽतिचारः कृत इति गम्यते’ इत्याचार्य हरिभद्राः ।

उच्चावच भाव से इधर उधर सतत दोनायमान रहती हैं, उसी प्रकार मनुष्य के मन में भी कामनाओं की अनन्त तरंगें तूफान मचाए रहती हैं। किसी उबड़ कलकत्ते जैसे विशाल शहर के चौराहे पर एक हो जाइए, कामना समुद्र का प्रत्यक्ष हो जायगा। हजारों नमूण्ड पूर्व से पश्चिम, पश्चिम से पूर्व, दक्षिण से उत्तर, उत्तर से दक्षिण आ जा रहे हैं। सबकी अपनी-अपनी एक धुन है अपनी-अपनी एक कलना है। कौन इस नर मुण्डों के समुद्र को इधर से उधर, उधर से इधर प्रवाहित कर रहा है ? उत्तर है—कामना । ये रेलें इतनी तेज राज क्यों दौड़ाई जा रही हैं ? ये भीमकाय जलयान समुद्र का बंद स्थल चीरते हुए क्या चीखें मार रहे हैं ? ये वायुयान क्या इतनी शीघ्रता से आकाश में दौड़ाये जा रहे हैं ? कहना पड़ेगा, 'कामना के लिए ।' कामनाओं के कारण आन, आन क्या आनादि से स सार में भयकर उथल पुथल मच रही है । 'इच्छाद्वा आनाससमा अणुतिथा ।' 'कामना इच्छा के वास, ससार इति कीर्तित ।'

परन्तु प्रश्न है—मनुष्य को कामनाओं से क्या मिला ? सुख ? सुख नहीं दुःख ही मिला है । आज तक कोई भी मनुष्य, अपनी कामनाओं के अनुसार सुख नहीं पा सका । रक का भी देखा है, राजा को भी, सभी इच्छापूर्ति के अभाव में व्याकुल हैं । मनुष्य नाम धारी जीव, अपनी आशाओं की अधि का पार पाले, यह सर्वथा असम्भव है । और जब तक कामनाओं की पूर्ति न हो जाय, तब तक शान्ति कहाँ ? सुख कहाँ ? अतएव हमारे शीतराग महापुरुषों ने कामनाओं की पूर्ति में नहीं, कामनाओं के नियंत्रण में ही, सुतोष में ही सुख माना है । कामनाओं के सम्बन्ध में किसी न किसी मर्यादा का आश्रय लिए बिना काम चल ही नहीं सकता । शास्त्रीय परिभाषा में हमें का नाम सयम है । 'स + यम अर्थात् सबधानी के साथ मली भौति इच्छाओं का नियमन करना । सयम मनुष्यता की कसौटी है । जिसमें कितना अधिक सयम उसमें उतनी ही अधिक मनुष्यता ।

संयम का विरोधी असंयम है। यही समस्त सांसारिक दुःखों का मूल है। चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले रागद्वेष-रूप कषाय भाव का नाम असंयम है। असंयम के होने पर आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में परिणति नहीं करता, सदाचार में प्रवृत्ति नहीं करता। असंयमी की दृष्टि बहिर्मुखी होती है, अतः वह पुद्गल-वासना को ही श्रेय समझने लगता है। अतएव प्रस्तुत सूत्र में असंयम के प्रति-क्रमण का यह भाव है कि—संयम-पथ पर चलते हुए यदि कहीं भी प्रमादवश असंयम हो गया हो, अन्तर्हृदय साधना पथ से भटक गया हो, तो वहाँ से हटाकर पुनः उसे आत्म-स्वरूप में केन्द्रित करता हूँ।

संग्रहनय की दृष्टि से सब प्रकार के असंयमों का सामान्यतः एक असंयम पद से ग्रहण कर लिया है। आगे आने वाले सूत्रों में विशेष रूप से असंयमों का नामोल्लेख किया गया है।

१. प्राचीन प्रतियों में एक विध असंयम से लेकर अन्तिम 'मिच्छामि दुःकटं' तक एक ही पाठ माना है। यह मानना है भी ठीक अतएव यहाँ से लेकर, सब सूत्रों का सम्बन्ध अन्तिम 'मिच्छामि दुःकटं' से किया जाता है। यहाँ पृथक् पृथक् सूत्रों का विभाग, केवल विप्रयावबोध की दृष्टि से किया गया है। सूत्र का क्रम-भंग करना अपना उद्देश्य नहीं है।

: १२ :

बन्धन-सूत्र

पङ्क्तिमामि

दोहिं बंधणेहिं—

राग-बंधणेणं

दोम-बंधणेणं ।

शब्दार्थ

पङ्क्तिमामि = प्रति क्रमण करना हूँ रागबन्धणेणं = राग के बन्धन से
दोहिं = दोनों दोमबन्धणेणं = द्वेष के बन्धन से
बंधणेहिं = बन्धनों से

भावार्थ

दो प्रकार के बन्धनों से जगते दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ, अर्थात् उनसे पीछे हटता हूँ । (कौन से बन्धनों से ?) राग के बन्धन से, द्वेष के बन्धन से ।

विवेचन

जन्म-मरण रूप संसार विषवृत्त के दो ही जीव हैं—राग और द्वेष । राग आसक्ति को बढ़ते हैं और द्वेष अप्रीति को । मनुष्य ने शरीर इन्द्रियों को ही मग्न कुप्य माना हुआ है, इन्हीं की पञ्चिर्षा में सर्वदम

निष्ठावर किया हुआ है। अतएव जब शरीर और इन्द्रियों को अच्छी लगने वाली कोई इष्ट अवस्था होती है तो उससे राग करता है और जब शरीर और इन्द्रियों को अच्छी न लगने वाली कोई विरतीत अनिष्ट अवस्था होती है तो उससे द्वेष करता है। इस प्रकार कहीं राग तो कहीं द्वेष—इन्हीं दुर्विकल्पो में मानव जीवन की अमूल्य वृद्धियाँ बर्बाद होरही हैं। जब तक राग-द्वेष की मलिनता है, तब तक चारित्र की शुद्धता किसी भी तरह नहीं हो सकती। चारित्र की शुद्धता की क्या बात? कभी-कभी राग-द्वेष का आधिक्य तो चरित्र को मूल से ही नष्ट कर डालता है। राग-द्वेष की प्रवृत्ति चारित्र-मोह के उदय से होती है, और चारित्र-मोह संयम-जीवन का दूषक एवं नाशक माना गया है।

यदि अन्तर्दृष्टि से देखा जाय तो राग-द्वेष हमारे दुर्बल मन की ही कल्पनाएँ हैं। किसी वस्तु के साथ इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। वस्तु अपने स्वरूप में न कोई अच्छी है और न कोई बुरी। मनुष्य की कल्पना ही उन्हें अच्छी-बुरी माने हुए है। उदाहरण के लिए निशानाथ चन्द्र को ही लीजिए। आकाशमण्डल में चन्द्रमा के उदय होते ही चकोर हर्षोन्मत्त हो जाता है तो चकवा चकवी शोक से व्याकुल हो उठते हैं। चन्द्रमा का उदय देखकर चोर दुःखित होता है तो साहूकार

१. 'न काम-भोगा समयं उवेन्ति,

न यावि भोगा विगडं उवेन्ति।

जे तप्पओसी य परिग्गहीय

सो तेसु मोहा विगडं उवेह् ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र ३२। १०१

—काम भोग अर्थात् सांसारिक पदार्थ ग्रहण-आप न तो किसी मनुष्य में समभाव पैदा करते हैं और न किसी में राग-द्वेष रूप विकृति ही पैदा करते हैं। परन्तु मनुष्य स्वयं ही उनके प्रति राग-द्वेष के नाना विकल्प बनाकर मोह से विकार-ग्रस्त हो जाता है।

हर्षित । अत्र प्रताप, चन्द्रमा दुःखरूप है अथवा सुखरूप ? आप कहेंगे, दोनों में से एक भी नहीं । यदि वह दुःख रूप होता तो प्रत्येक को दुःख ही देता । और सुखरूप ही होता तो प्रत्येक को सुख ही देता । परन्तु ऐसा है क्यों ? वह तो एक ही समय में भिन्न भिन्न व्यक्तियों को भिन्न भिन्न रूप में सुख दुःख का जनक होता है । अतएव ५० टोडरमल्ल जी राग द्वेष करने को मिथ्या भाव मतलाते हैं । किसी वस्तु में उस वस्तु से विपरीत भावना करना ही तो मिथ्या भाव है और यहाँ पर द्रव्य में इष्टता तथा अनिष्टता कुछ भी नहीं है, परन्तु रागद्वेष के द्वारा उसमें वह की जाती है । अतएव राग द्वेष, मिथ्या नहीं तो क्या है ?

जैन धर्म का सम्पूर्ण साहित्य, राग द्वेष के विरोध में ही सन्नद्ध किया गया है । जैन धर्म निवृत्ति प्रधान धर्म है, फलतः उसने राग द्वेष की निवृत्ति पर अत्यधिक बल दिया है । राग द्वेष को घटाए बिना तपश्चरण का, साधना का कुछ अर्थ नहीं रहता । आचार्य मुनिचन्द्र का एक श्लोक है—“रागद्वेषौ यदि स्यातां तपसा किं प्रयोजनम् ।”

प्रस्तुत सूत्र में रागद्वेष को बन्धन कहा है । रागद्वेष के द्वारा अग्निष कर्मों का जन्म होता है, अतः वे बन्धन पदवाच्य हैं । ‘बद्धपतेऽष्टविधेन कर्मणा येन हेतुभूतेन तद् बन्धनम्’—आचार्य नाम ।

आचार्य जिनदास महत्तर-कृत रागद्वेष की व्याख्या का भाव यह है—जिसका द्वारा आत्मा कर्म से रंगा जाता है, वह मोह की परिणति राग है और जिस मोह की परिणति से किसी से शत्रुता, घृणा, क्रोध, अहंकार आदि किया जाता है वह द्वेष है । ‘रजतं रज्यते वासनेन जीव इति राग, राग एव बन्धनम् । द्वेषणं द्विपत्यनेन इति वा द्वेष, द्वेष एव बन्धनम् ।’ आचार्य चूर्ण ।

आचार्य हरिमद्र, अपनी आवश्यक टीका में एक श्लोक उद्धृत करते हैं, जो रागद्वेष से होने वाले कर्मों पर अच्छा प्रकाश डालता है —

‘स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य,
 रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम् ।
 राग-द्वेषाक्लिन्नस्य,
 कर्म - बन्धो भवत्येवम् ॥’

—अर्थात् जिस मनुष्य ने शरीर पर तेल चुपड़ रक्खा हो, उसका शरीर उड़ने वाली धूल से जैसे नन जाता है, वैसे ही राग-द्वेष के भाव से आक्लिन्न हुए आत्मा पर कर्म-रज का बन्ध हो जाता है ।

: १३ :

दण्ड-सूत्र

पटिक्कमामि

तिहिं दंडेहिं—

मणदंडेणं

वयदंडेणं,

कायदंडेणं ।

शब्दार्थ

पटिक्कमामि = प्रति क्रमण करता हूँ मणदंडेणं = मनदण्ड से
तिहिं = तीनों वयदंडेणं = वचन दण्ड से
दंडेहिं = दण्डों से कायदंडेणं = कायदण्ड से

भावार्थ

तीन प्रकार के दण्डों से लगे दोषों का प्रति क्रमण करता है ।
(कौन से दण्डों से ?) मनोदण्ड से, वचन-दण्ड से, काय-
दण्ड से ।

विवेचन

दुष्प्रयुक्त मन, वाणी और शरीर को आध्यात्मिक भाषा में दण्ड कहते हैं । जिसके द्वारा दण्डित हो, ऐश्वर्य का अपहार=नाश हो, वह दण्ड कहलाता है । लौकिक द्रव्य दण्ड लाठी आदि हैं, उनसे द्वारा शरीर दण्डित होता है । और उभयुक्त दुष्प्रयुक्त मन आदि भाव-दण्डत्रय से

चारित्र्यरूप आध्यात्मिक ऐश्वर्य का विनाश होने के कारण आत्मा दण्डित= धर्मभ्रष्ट होता है । 'दण्डयते चारित्र्यैश्वर्यापहारतोऽसारीक्रियते एमिरात्मेति दण्डाः द्रव्यभावभेदभिज्ञाः । भावदुर्दैरिहाधिकारः' मनः-प्रभृतिभिश्च दुष्प्रयुक्तैर्दण्डयते आत्मेति । आचार्य हरिमद्र ।

आगमकार उक्त दण्डों से बचने के लिए साधक को सर्वथा सावधान करते हैं । इस सम्बन्ध में जरा सी भूल भी आत्मा का पतन करने वाली है ।

मन, वचन, शरीर की अशुभ प्रवृत्ति दण्ड है । इस अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा ही अपने आप को तथा दूसरे प्राणियों को दुःख पहुँचता है । किस दण्ड से किस प्रकार दुःख पहुँचता है ? किस प्रकार श्रेष्ठ आचार मलिन होता है ? इसके लिए नीचे की तालिका पर दृष्टिपात कीजिए—

मनो-दण्ड

(१) विवाद करना, (२) निर्दय विचार करना, (३) व्यर्थ कल्पनाएँ करना, (४) मन को वश में न करके इधर-उधर भटकने देना, (५) दूषित और अपवित्र विचार रखना, (६) किसी के प्रति घृणा, द्वेष, अनिष्ट चिन्तन करना आदि-आदि ।

वचन-दण्ड

(१) असत्य=मिथ्या भाषण करना, (२) किसी की निन्दा घ चुगली करना, (३) कड़वा बोलना, गाली एवं शाप देना, (४) अपनी बड़ाई हाँकना (५) व्यर्थ की बातें करना, (६) शास्त्रों के सम्बन्ध में मिथ्या प्रवृत्ति करना, आदि ।

काय-दण्ड

(१) किसी को पीड़ा पहुँचाना, मार पीट करना, (२) व्यभिचार करना, (३) किसी की चीज चुराना, (४) अकड़ कर चलना, (५) व्यर्थ की चेष्टाएँ करना, (६) असावधानी से चलना, किसी चीज के उठाने-रखने में अकतना करना, आदि ।

: १४ :

गुप्ति-सूत्र

पडिक्कमामि
तिहिं गुत्तीहिं
मणगुत्तीए,
वयगुत्तीए
कायगुत्तीए ।

शब्दार्थ

पडिक्कमामि = प्रतिश्रमण करता हूँ मणगुत्तीए = मनोगुप्ति से
तिहिं = तीनो वयगुत्तीए = वचनगुप्ति से
गुत्तीहिं = गुप्तियों से कायगुत्तीए = कायगुप्ति से

भावार्थ

तीन प्रकार की गुप्तियों से = अर्थात् उनका आचरण करते हुए प्रमादवश जो भी लसम्बन्धी विपरीताचरणरूप दोष जगे हों, उनका प्रतिश्रमण करता हूँ । (किन गुप्तियों से ?) मनोगुप्ति से, वचनगुप्ति से, कायगुप्ति से ।

विवेचन

गुप्ति का अर्थ, रक्षा होना है—‘गोपनं गुप्तिः’ । अतएव मनोगुप्ति-

मन की रक्षा वचनगुप्ति, वचन की रक्षा, कायगुप्ति-काय की रक्षा है। रक्षा का अर्थ नियंत्रण है आचार्य हरिभद्र के उल्लेखानुसार गुप्ति प्रवीचार और अप्रवीचार उभय-रूपा होती है; अतः अशुभयोग से निवृत्त होकर शुभयोग में प्रवृत्ति^१ करना, गुप्ति का स्पष्ट अर्थ है। अपने विशुद्ध आत्म-तत्त्व की रक्षा के लिए अशुभ योगों को रोकना, गुप्ति का स्पष्टतर अर्थ है। आत्ममन्दिर में आने वाले कर्मरज को रोकना, गुप्ति का स्पष्टतम अर्थ है।

मनोगुप्ति

आर्त तथा रौद्र ध्यान-विषयक मन से संरंभ, समारंभ तथा आरंभ सम्बन्धी संकल्प-विकल्प न करना; लोक-परलोक हितकारी धर्म ध्यान सम्बन्धी चिन्तन करना; मध्यस्थ-भाव रखना; मनोगुप्ति है।

वचन-गुप्ति

वचन के संरंभ, समारंभ, आरंभ सम्बन्धी व्यापार को रोकना, विकथा न करना; झूठ न बोलना; निन्द्य चुगली आदि न करना; मौन रहना; वचन गुप्ति है।

१—जबकि गुप्ति में भी अशुभ योग का निग्रह और शुभ योग का संग्रह, अर्थात् अशुभयोग से निवृत्ति और शुभ योग में प्रवृत्ति होती है और इसी प्रकार समिति में भी अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति होती है; फिर दोनों में भेद क्या रहा? उत्तर है कि गुप्ति में असत्क्रिया का निषेध मुख्य है और समिति में सत्क्रिया का प्रवर्तन मुख्य है। गुप्ति अन्ततोगत्वा प्रवृत्ति रहित भी हो सकती है। परन्तु समिति कभी प्रवृत्ति-रहित नहीं हो सकती। वह प्रवीचार-प्रधान ही होती है। आवश्यक सूत्र की टीका में आचार्य हरिभद्र ने इसी सम्बन्ध में एक प्राचीन गाथा उद्धृत की है—

‘समिग्रो नियमा गुत्तो,

गुत्तो समियत्तणमि भइयन्वो।

कुमल-वडमुदीरितो,

जं वयगुत्तो वि संमिग्रो वि ॥,

शाय गुप्ति

शारीरिक क्रिया सम्बन्धी नरम, समारम्भ, आरम्भ में प्रवृत्ति न करना उठने बैठने-हलने चलने-माने आदि म मयम रगता, अशुभ व्यासारा का परित्याग कर करना पूर्वक मत्प्रवृत्ति करना, शाय गुप्ति है।

सरभ समारम्भ आरम्भ

क्रिया आदि कार्यो के लिए प्रयत्न करने का मकल्य करना सरभ है। उनी म कल्य एवं कार्य की पूर्ति के लिए साधन जुगना समारम्भ है। श्रम श्रम म उस म कल्य का कार्य रूप में परिणत कर देना आरम्भ है। क्रिया आदि कार्य की, म कल्यमय रहम अवस्था में लेकर उसको प्रकृत्य म पूरा कर देने तक, या तीन अवस्थाएँ होती हैं, उन्हें ही अनुक्रम में सरभ, समारम्भ, आरम्भ कहते हैं।

तत्त्वार्थ गूत्रसार उमास्वानिजी ने 'सम्बन्धयोगनिघट्टो गुप्ति' १।४—इम गूत्र क द्वारा मन, उचन और शरीर क बाणों का जो प्रशस्त निघट्ट किया जाता है, उसे गुप्ति कहा है। प्रशस्तनिघट्ट का अर्थ है—विषय श्रम भ्रष्टा पूर्वक मन, उचन एवं शरीर का उन्मार्ग से रोकना और समार्ग म लगाता। इम पर से कथित होता है कि-दृष्टयाग आदि की प्रमेयाश्रय द्वारा किया जाने वाला योगनिघट्ट गुप्ति म सम्मिलित नहीं होता।

एक बात और। यहाँ गूत्र म गुप्ति का से प्रतिनिधन नहीं किया है, प्रवृत्त गुप्ति को से जाने वाल दोषों से अधिकमणु किया है। यही कारण है कि 'गुनीक्ष' म 'वर्णा' न करते देखते गूनीय विमति की है, जिसका मध्य म गुनेददुःख अनेकारण म है। गुन से अनेकारण भ्रम होने हैं। गुने का ठीक आचरण न करना, उसकी भ्रष्टा न करना, अथवा गुप्ति के मध्य म विमोह प्रकटता करना, गुनेददुःख अनेकारण होने हैं।

१५

शल्य-सूत्र

पडिक्कमामि

तिहिं सल्लेहिं

माया-सल्लेणं,

नियाण-सल्लेणं,

मिच्छादंसण-सल्लेणं

शब्दार्थ

पडिक्कमामि = प्रतिक्रमण करता हूँ नियाणसल्लेणं = निदान के
तिहिं = तीनों शल्य से

सल्लेहिं = शल्यों से

मिच्छा दंसण = मिथ्या दर्शन के

माया सल्लेणं = माया के शल्य से सल्लेणं = शल्य से

भावार्थ

तीन प्रकार के शल्यों से होने वाले दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ। (किन शल्यों से ?) मायाशल्य से, निदानशल्य से, और मिथ्या-दर्शन शल्य से।

विवेचन

अहिंसा, सत्य आदि व्रतों के लेने मात्र से कोई सच्चा भक्ती नहीं बन

मरता । मुन्ती होने के लिये उसे पड़ली एन मुख्य शर्त यह है कि—उसे शल्य-रहित होना चाहिए । इसी आदर्श को ध्यान में रख कर आचार्य उमास्वातिजी तन्मा रं सूत्र में कहते हैं—नि शक्यो घृती—३।१३।

माया, निगान और मिथ्यादर्शन, उक्त तीनों दोष आगम की भाषा में शल्य कहलाते हैं । इनके कारण आत्मा स्वस्थ नहीं बन सकता, स्वीकृत व्रता के पालन में एकाग्र नहीं हो सकता ।

शल्य का अर्थ होता है—जिसने द्वारा अन्तर में गीड़ा साली रहती हो, कमरुनी रहती हो वह तीर, भाला, काँटा आदि । द्रव और भाव दाना शल्या पर घटने वाली आचार्य हरिभद्र की शल्यव्युत्पत्ति यह है—'शक्यतेऽनेनेति शक्यम् ।' आध्यात्मिक क्षेत्र में माया, निदान और मिथ्या दर्शन को लक्षण वृत्ति के द्वारा शल्य समझिए कहा है कि—जिस प्रकार शरीर में किसी भाग में काँटा, कील तथा तीर आदि तीक्ष्ण वस्तु चुन जाय तो जैसे वह मनुष्य का लुब्ध भिण रहती है, चैन नहीं लेने देती है उसी प्रकार सूत्रात् शल्यवत् भी अन्तर में रहे हुए मायन की अन्तरात्मा का शांति नहीं लेने देते हैं, मर्यादा व्याकुल एवं बेचैन भिण रहते हैं । नीना ही शल्य, तान कर्मजब के हनु हैं, अतः दुःखोपदरु होने के कारण शल्य हैं ।

माया-शल्य

माया का अर्थ वस्तु होता है । अतएव छुला करना, ढोंग रचना, गमने की वृत्ति रचना, ढोंग लगा कर गुरुदेव के गमन माया के कारण आनाचना न करना, अन्य रूप से मिथ्या आलोचना करना, तथा किसी पर भूँटा आशय लगाना इत्यादि माया शल्य है ।

निदान शल्य

धर्माचरण के द्वारा गामारिक फल की कामना करना, भोगों की लालसा रखना, निगान शल्य होता है । उदाहरण के लिए देखिए । किसी राजा प्रथम देवता आदि का पैसा देव कर निग सुन कर माम

यह संकल्प करना कि—ब्रह्मचर्य, तप आदि मेरे धर्म के फलस्वरूप मुझे भी ऐसा ही वैभव, समृद्धि प्राप्त हो; यह निदान शल्य है।

मिथ्या दर्शन शल्य

सत्य पर श्रद्धा न लाना एवं असत्य का कटाग्रह रखना, मिथ्या-दर्शन शल्य होता है। यह शल्य बहुत ही भयंकर है। इसके कारण कभी भी सत्य के प्रति अभिरुचि नहीं होती। यह शल्य सम्यग्दर्शन का विरोधी है, दर्शन मोहनीय कर्म का फल है।

: १६ :

गौरव-सूत्र

पडिक्कमामि

तिहिं गारवेहिं—

इड्ढी-गारवेणं,

रस-गारवेणं

सायागारवेणं

शब्दार्थ

पडिक्कमामि = प्रतिक्रमण करता हूँ इड्ढीगारवेण = अद्धि गौरव से

तिहिं = तीनों

रसगारवेण = रस गौरव से

गारवेहिं = गौरवों से

सायागारवेण = साता गौरव से

भावार्थ

तीन प्रकार के गौरव = अशुभ भावनारूप भार से लगने वाले दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ । [किन गौरवों से ?] अद्धि के गौरव से, रस के गौरव से, और साता = सुख के गौरव से ।

विशेष

गौरव का अर्थ गुह्य है । यह गौरव, द्रव्य और भाव से दो प्रकार का होता है । पत्थर आदि की गुह्यता, द्रव्य गौरव है और अभिमान एवं

भ के कारण होने वाला आत्मा वा अशुभ भाव, भाव गौग्य है ।
 लुन मत्र में भाव गौग्य की चर्चा है । भाव गौग्य आत्मा को संसार
 मर में दुशये रखता है, ऊपर उभरने नहीं देता ।

भाव गौग्य के तीन भेद हैं—ऋद्धि-गौग्य, रस गौग्य और साता-
 गौग्य । इनके स्पष्टीकरण के लिए नीचे देविए ।

ऋद्धि-गौग्य

राजा आदि के द्वारा प्राप्त होने वाला उँचा पद एवं सत्कार
 सम्मान पाकर अभिमान करना, और प्राप्त न होने पर उसकी लालसा
 रखना, ऋद्धि गौग्य है । मंत्तेम-भाषा में सत्कार-सम्मान, वन्दन, उग्र
 व्रत, विद्या आदि का अभिमान करना, ऋद्धि गौग्य कहलाता है ।

रस-गौग्य

दूध, दही, घृत आदि मधुर एवं स्वादिष्ट रसों की इच्छानुसार प्राप्ति
 होने पर अभिमान करना, और प्राप्ति न होने पर उनकी लालसा रखना,
 रस गौग्य है । आचार्य जिनदास महत्तर रस-गौग्य के लिए जिह्वा-दण्ड
 शब्द का बहुत सुन्दर प्रयोग करते हैं । 'रसगारवे जिह्वादंडो ।'

साता-गौग्य

साता का अर्थ—आरोग्य एवं शारीरिक सुख है । अतएव आरोग्य,
 शारीरिक सुख तथा वल्ल, पात्र, शयनासन आदि सुख के साधनों के
 मिलने पर अभिमान करना, और न मिलने पर उसकी लालसा = इच्छा
 करना, साता गौग्य है ।

: १७ :

विराधना-सूत्र

पटिस्कमामि

तिहिं विराहणाहिं

नाण-विराहणाए

दंमण-विराहणाए,

चरित्त-विराहणाए ।

शब्दार्थ

पटिस्कमामि = प्रतिक्रमण करता हूँ	दंमण = दर्शन की
तिहिं = तीनों	विराहणाए = विराधना से
विराहणाहिं = विराधनाओं से	चरित्त = चारित्र की
नाण = ज्ञान की	विराहणाए = विराधना से
विराहणाए = विराधना से	

भावार्थ

तीन प्रकार की विराधनाओं से होने वाले दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ । [कौनसी विराधनाओं से ?] ज्ञान की विराधना से, दर्शन की विराधना से, और चारित्र की विराधना से ।

विवेचन

किसी भी प्रकार का दोष न लगाते हुए चारित्र का विशुद्ध रूप से पालन करना आराधना होती है। और इसके विपरीत ज्ञानादि आचार का सम्यक् रूप से आराधन न करना, उनका खण्डन करना, उनमें दोष लगाना, विराधना है। 'विगता आराहणा विराहणा।' जिनदास महत्तर। 'कस्यचिद् वस्तुनः खण्डनं विराधनं, तदेव विराधना।' आचार्य हरिभद्र।

ज्ञान विराधना

ज्ञान की तथा ज्ञानी की निन्दा करना, गुरु आदि का अपलाप करना, आशातना करना, ज्ञानार्जन में आलस्य करना, दूसरे के अध्ययन में अन्तराय डालना, अकाल स्वाध्याय करना, इत्यादि ज्ञान विराधना है।

दर्शन विराधना

दर्शन से अभिप्राय सम्यग् दर्शन से है। सम्यग्दर्शन का अर्थ—'सम्यक्त्व' है। अतः सम्यक्त्व एवं सम्यक्त्व धारी साधक की निन्दा करना, मिथ्यात्व एवं मिथ्यात्वी की प्रशंसा करना, 'पाखण्ड मत का आडंबर देखकर डगमगा जाना, दर्शन विराधना है।

चारित्र विराधना

चारित्र का अर्थ—'सञ्चरण' है। अहिंसा, सत्य आदि चारित्र का भली भाँति पालन न करना, उसमें दोष लगाना, उसका खण्डन करना, चारित्र विराधना है।

: १८ :

कपाय-सूत्र

पट्टिकमामि

चउहि कमाण्हि—

कोह कमाण्णं,

माणकमाण्णं,

मायाकमाण्णं,

लोभकसाण्णं ।

शब्दार्थ

पट्टिकमामि = प्रतिक्रमण करता हूँ	माणकमाण्णं = मानकपाय से
चउहि = चारों	मायाकमाण्णं = मायाकपाय से
कमाण्हि = कपायों से	लोभकमाण्णं = लोभ कपाय से
कोहकमाण्णं = कोहकपाय से	

भावार्थ

कोह कपाय, मान कपाय, माया कपाय और लोभ कपाय—इन चारों कपायों के द्वारा होने वाले अतिचारों का प्रतिक्रमण करता हूँ = अर्थात् उनसे पीछे हटता हूँ ।

विवेचन

‘कपाय’ शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है। दो शब्द हैं—‘कप’ और ‘आय’। कप का अर्थ संसार होता है, क्योंकि इसमें प्राणी विविध दुःखों के द्वारा कष्ट पाते हैं, पीड़ित होते हैं। देखिए—नमि-कृत व्युत्पत्ति—‘कप्यते प्राणी विविधदुःखैरस्मिन्निति कपः संसारः।’ दूसरा शब्द ‘आय’ है जिसका अर्थ लाभ=प्राप्ति होता है। बहुव्रीहि समास के द्वारा दोनों शब्दों का सम्मिलित अर्थ होता है—जिनके द्वारा कप=संसार की आय=प्राप्ति हो, वे क्रोधादि चार कपाय-पदवाच्य हैं। ‘कपः संसारस्तस्य आयो लाभो येभ्यस्ते कपायाः।’

कपायों का वंग वस्तुतः बहुत प्रबल है। जन्म-मरणरूप यह संसार-वृत्त कपायों के द्वारा ही हराभरा रहता है। यदि कपाय न हों तो जन्म-मरण की परम्परा का विष वृत्त स्वयं ही सूखकर नष्ट हो जाय। दशवैकालिक-सूत्र में आचार्य शश्वन्भव ठीक ही कहते हैं कि—‘अनिगृहीत कपाय पुनर्भव के मूल को सींचते रहते हैं, उसे शुष्क नहीं होने देते।’ ‘सिंचन्ति मूलाइ’ पुण्यभवस्स।’

सूत्रकृतांग-सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के पष्ठ अध्ययन में कपायों को अव्यात्म-दोष बतलाया है। कपाय प्रकट और अप्रकट दोनों ही तरह से आत्मा के ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप शुद्धस्वरूप को मलिन करते हैं, कर्न रंग से आत्मा को रँग देते हैं और चिरकाल के लिए आत्मा की सुख-शान्ति को छिन्न-भिन्न कर देते हैं। जो साधक इन कपायों पर विजय प्राप्त कर लेता है, वही सच्चा साधक है। कपायविजयी साधक न स्वयं पाप कर्म करता है, न दूसरों से करवाता है, और न करने वालों का अनुमोदन ही करता है अतएव वह दुःखों से सदा के लिए छुटकारा प्राप्त कर लेता है। कारण के अभाव में कार्य कैसे हो सकता है? कपाय ही तो कर्मों के उत्पादक हैं, और कर्मों से ही दुःख होता है। जब कपाय नहीं रहे तो कर्म नहीं, कर्म नहीं रहे तो दुःख नहीं रहा। कपायों की कर्मोत्पादकता के सम्बन्ध में आचार्य वीरसेन के

धरणा मग्य मे, देशिण, क्या विगा है? 'दुःखशर्य कनेनेत्र ह्यन्ति
पल्लवाकुर्वन्ति इति कथाया'—'जो दुःखरूप धान्य को पैदा करने वाले
कर्मरुही मीन को कपण्ण करते हैं अर्थात् पनवाने करते हैं वे मोघ
मान आदि कथाय कहलाते हैं—।'

कोहो पीई पणासेइ, माणो विणप-नामणो;
माया मित्ताणि नामेइ, लोहो सव्व-विणामणो ।
उवममेण हणे कोहं, माणं मद्वदवया जिणे,
मायमज्झय-भावेणं, लोभं संतोसमो जिणे ।

—दशवे० ८ । ३८ ३९ ।

'मोघ प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करता है,
माया मित्रता का नाश करती है और लोभ सभी गुणों का नाश
करता है ।'

'शान्ति से मोघ को, मृदुता से मान को, मरलता से माया को,
आर सन्तोष से लोभ को जीतना चाहिए ।'

प्रत्येक साधक को दशवैमलिक-गूढ की यह श्रमर चाणी, हृदय
पट पर सदा अंकित रखनी चाहिए । आचार्य शम्भुभद्र के ये श्रमर
वाक्य, अमर्य ही कथाय विनय में हमारे लिए सर्व भेष्ट पथ प्रदर्शक हैं ।

: १६ :

संज्ञा-सूत्र

पडिक्कमामि

चउहिं सन्नाहिं

आहार-सन्नाए

भय-सन्नाए

मेहुण-सन्नाए

परिग्रह-सन्नाए

शब्दार्थ

पडिक्कमामि = प्रतिक्रमण करता हूँ

चउहिं = चारों

सन्नाहिं = संज्ञाओं से

आहारसन्नाए = आहार संज्ञा से

भयसन्नाए = भय संज्ञा से

मेहुणसन्नाए = मैथुन संज्ञा से

परिग्रह = परिग्रह की

सन्नाए = संज्ञा से

भावार्थ

आहार संज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा—इन चार प्रकार की संज्ञाओं के द्वारा जो भी अतिचार = दोष लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ ।

विवेचन

संज्ञा का अर्थ 'चेतना' होता है, 'संज्ञानं संज्ञा ।' किन्तु यहाँ यह

अर्थ अभीष्ट नहीं है। जेनागर्मा में संज्ञा शब्द एक विशेष अर्थ के लिए भी रूढ़ है। मोहनीय और असाता वेदनीय कर्म के उदय में जब चेतना शक्ति विचारयुक्त हो जाती है, तब यह 'संज्ञा' पदवाच्य होती है। लोक भाषा में यदि आप संज्ञा का गीत-सादा स्पष्ट अर्थ करना चाहें तो यह कर सकते हैं कि = 'कर्मोदय के प्रारम्भ से होनेवाली अभिलाषा = इच्छा।'

यह शब्द कहने के लिए तो बहुत साधारण है। साधारण संसारी जीव इच्छा को कोई महत्त्व नहीं देते। उन लोगों का कहना है कि— 'कल इच्छा ही तो बी है, और कुछ तो नहीं मिया? खाली इच्छा से क्या पाप होता है?' परन्तु उन्हें याद रखना चाहिए कि मसार में इच्छा का मूल्य बहुत है। सबलों के ऊपर मनुष्य के उत्थान और पतन दोनों मार्गों का निर्माण होता है। सामारिक मोगों की इच्छा बरते रहने से अक्षय ही आत्मा का पतन होगा। मन का चित्र यदि गन्दा है तो उसका प्रतिबिम्ब आत्मा को दूषित किए बिना किसी भी हालत में नहीं रहेगा। साधक को मन के समुद्र में उठने वाली प्रत्येक वासना-तरंगों को ध्यान में रखना चाहिए और उन्हें शान्त करने सम्बन्धी शास्त्र प्रतिपादित विधानों की जरा भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

आहार-संज्ञा

जुषावेदनीय कर्म के उदय से आहार की आवश्यकता होती है। यह समान्यतः आहार संज्ञा है। जुषा की पूर्ति के लिए भोजन करना पाप नहीं है। परन्तु मनुष्य की मानसिक धारा जब पेट पर ही केन्द्रित हो जाती है, तब आहार संज्ञा अभी मर्यादा को लाँचने लगती है और साधक के लिए घातक होने लगती है। मोह का आश्रय पाकर यह संज्ञा जब अधिक प्रलपक हो जाती है, तब अधिक से अधिक सुन्दर स्वादु भोजन खाने भी मनुष्य सन्तुष्ट नहीं होता। अग्नि के समान आहार के लिए उमरा दृष्ट धक्का ही रहता है। निम्न आहार का स्मरण करने पर आहार का गुण से आहार संज्ञा पञ्चन होती है।

भय संज्ञा

भय मोहनीय के उदय से आत्मा में जो त्रास का भाव पैदा होता है, वह भय संज्ञा है। भय आत्म-शक्ति का नाश करने वाला है। भयाकुल मनुष्य और तो क्या अपने सम्यग्दर्शन को भी सुरक्षित नहीं रख सकता। भय की बात सुनने, भयानक दृश्य देखने तथा भय के कारणों की बार-बार उद्भावन—चिन्तना करने से भयसंज्ञा उत्पन्न होती है।

मैथुन संज्ञा

वेदमोहोदय संवेदन यानी मैथुन की इच्छा, मैथुनसंज्ञा कहलाती है। कामवासना सभी पापों की जड़ है। काम से क्रोध, सम्मोह, स्मृति-भ्रंश, बुद्धिनाश और अन्त में मृत्यु के चक्र में मानव फँस जाता है। कामकथा के श्रवण से, सदैव मैथुन के संकल्प रखने आदि से मैथुन संज्ञा प्रबल होती है।

परिग्रह संज्ञा

लोभमोहनीय के उदय से मनुष्य की संग्रहवृत्ति जागृत होती है। परिग्रहसंज्ञा के फेर में पड़कर मनुष्य इधर-उधर जो भी चीज देखता है, उसी पर मुग्ध हो जाता है, उसे संग्रहीत करने की इच्छा करता है, सदैव मग्न रहता है। परिग्रह की बात सुनने, सुन्दर वस्तु देखने और घराघर संग्रह वृत्ति के चिन्तन आदि से परिग्रह संज्ञा बलवती होती है।

: २० :

विकथा-सूत्र

पडिक्कमामि
चउहि विक्कहादि-
इत्थो-कहाए
भत्त-कहाए
देम-कहाए
राय-कहाए

शब्दार्थ

पडिक्कमामि = प्रतिक्रमण करता हूँ	कहाए = कथा से
चउहि = चारों	देस = देश की
विक्कहादि = विकथामों से	कहाए = कथा से
इत्थी = स्त्री की	राय = राजा की
कहाए = कथा से	कहाए = कथा से
भत्त = भोजन की	

भावार्थ

स्त्री-कथा, भक्त-कथा, देश-कथा, और राजकथा-इन चारों विकथामों के द्वारा जो भी भक्तिचार लगा हो, उस का प्रतिक्रमण करता हूँ ।

विवेचन

आध्यात्मिक अर्थात् संयम-जीवन को दूषित करने वाली विरुद्ध एवं भ्रष्ट कथा को विकथा कहते हैं। 'विरुद्धा विनष्टा चा कथा विकथा' आचार्य हरिभद्र। साधक को विकथाओं से उसी प्रकार दूर रहना चाहिए जिस प्रकार काल-सर्पिणी से दूर रखा जाता है। आगमों में विकथाओं को लेकर बड़ी लम्बी चर्चा की गयी है और इन्हें संयम को नष्ट करने वाली बताया गया है।

मानव जीवन की यह बहुत बड़ी दुर्बलता है कि वह व्यर्थ की चर्चाओं में अधिक रस लेता है। हजारों लोग इसी तरह गप्पों के फेर में पड़कर अपने महान् व्यक्तित्व के निर्माण में पश्चात्पद रह जाते हैं, और फिर सदा के लिए पल्लताया करते हैं। साधना के उच्च जीवन की बात छोड़िए साधारण गृहस्थ की जिन्दगी पर भी विकथाओं का बड़ा वातक प्रभाव पड़ता है। विकथा के रस में पड़कर मानवता न इस लोक में यशस्विन होती है और न परलोक में। व्यर्थ ही रागद्वेष की गंदगी से अन्तर्हृदय दूषित होकर उभयतो भ्रष्ट हो जाता है।

आजकल चारों ओर से बेकारी की पुकार आ रही है। मनुष्य की कीमत पशुओं से भी नीचे गिर गयी है। हर जगह ठाली बैठा हुआ मानव, अपने अभ्युत्थान के सम्बन्ध में कुछ भी न सोच कर विकथा के द्राग जीवन नष्ट कर रहा है। आज जापान के इतने जहाज नष्ट हो गए, आज अमरीका का बेड़ा डूब गया, आज इतने हजार सैनिक खे रहे, आज सिनेमा संसार में रेणुका का नम्बर पहला है, वह बहुत मधुर गाने वाली एवं श्रेष्ठ नाचने वाली है, आज अमुक के यहाँ दावत खुली है, अच्छी हुई, इत्यादि वे सिर-पैर की अर्थहीन बातों में हमारे जन-सभाज का अमूल्य समय बर्बाद हो रहा है। क्या गृहस्थ, क्या साधु दोनों ही वर्गों को इस विकथा की महामारी से बचने की आवश्यकता है।
 खी कथा—

अमुक देश और अमुक जाति की अमुक स्त्री सुन्दर है अथवा न

है। वह बहुत सुन्दर वस्त्र पहनती है। अमुक का गाना कोयल के समान है। इत्यादि विचार अथवा वार्त्तानात्र करना स्त्री-कथा है।

भक्त कथा—

भक्त का अर्थ भोजन है। अतः भोजन सम्बन्धी कथा, भक्त कथा कहलाती है। अमुक भोजन कहाँ, क्या, कैसा बनाया जाता है? लड्डू बनाया होते हैं या जलेबियाँ? धी अधिक पुष्टिकर है या दूध? इत्यादि भोजन की चर्चा में ही व्यस्त रहना, भिक्खा नहीं तो और क्या है?

देशकथा—

देशों की विविध वेश भूरा, शृंगार-रचना, भोजन-पद्धति, एत-निर्माण कला, रीति रिवाज आदि की प्रशंसा या निन्दा करना, देशकथा है।

राजकथा—

राजाधिराजों की सेना, रानियाँ, युद्धकला, भोगविलास, वीरता आदि का वर्णन करना, राजकथा कहलाती है। राजकथा हिंसा और भोगवासना के भावों को उत्तेजित करने वाली है, अतः सर्वथा द्वेष्य है।

: २१ :

ध्यान-सूत्र

पडिक्कमामि

चउहिं भाणेहिं—

अट्टेणं भाणेणं

रुद्धेणं भाणेणं

धम्ममेणं भाणेणं

सुक्क्रेणं भाणेणं ।

शब्दार्थ

पडिक्कमामि=प्रतिक्रमण करता हूँ

चउहिं=चारों

भाणेहिं=ध्यानो से

अट्टेणं=आर्त

भाणेणं=ध्यान से

रुद्धेणं=रौद्र

भाणेणं=ध्यान से

धम्ममेणं=धर्म

भाणेणं=ध्यान से

सुक्क्रेणं=शुक्र

भाणेणं=ध्यान से

भावाथे

आर्त ध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म ध्यान और शुक्र-ध्यान—इन चारों ध्यानो से अर्थात् आर्त, रौद्र ध्यान के करने से तथा धर्म, शुक्र ध्यान के न करने से जो भी अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ ।

विवेचन

निर्वाण स्थान में स्थिर दीर्घशिता के समान निश्चल और अन्य वेषया न म कन से रहित नेत्र एव ही विषय का धारणाही चिन्तन, ध्यान कहलाता है। अर्थात् अन्तर्मुहूर्त काल तक स्थिर अभ्यसमान एव मन की एकाग्रता को ध्यान कहते हैं।

जीवस्स एगम्मज्जोगामिणिवेसो माण्ह ।

अतोमुहुत्त नीत्रयोगपरिणामस्य अवस्थानमित्यर्थः ।

—आचार्य जिनदास गरपी

ध्यान, प्रशस्त और अप्रशस्त रूप से दो प्रकार का होता है। आर्ति तथा रौद्र अप्रशस्त ध्यान हैं, अतः हेय = त्याग्य है। धर्म तथा शुद्ध प्रशस्त ध्यान है, अतः उपादेय - आदरणीय है। अप्रशस्त ध्यान करना और प्रशस्त ध्यान न करना दाय है, इसी का प्रतिनिधमण प्रस्तुत रूप में किया गया है।

आर्ति ध्यान

आर्ति का अर्थ दुःख, कष्ट एवं पीडा होता है। आर्ति के निमित्त से जो ध्यान होता है, वह आर्ति ध्यान कहलाता है। अनिष्ट वस्तु व मयोंग से, दुःख वस्तु के वियोग से, राग आदि के कारण से तथैव मोक्षा की लालसा से जो मन में एक प्रकार की विकलता सी अर्थात् सतत कम्पन होती है, वह आर्ति ध्यान है।

रौद्र ध्यान

हिंसा आदि नर विचार रखने वाला व्यक्ति रुद्र कहलाता है। रुद्र व्यक्ति के मनोभावों को रौद्र ध्यान कहा जाता है। हिंसा करने, झूठ बोलने, चाली करने और प्राप्त विषयभोगों की संरक्षण वृत्ति से ही क्रूरता का उद्भवन होता है। अतएव हिंसा, असत्य आदि का अर्थात् छेदन (देन, मारण ताड़न एवं मिथ्या भाषण, कर्षण भाषण आदि कठोर प्रवृत्तियों का मनन चिन्तन करना, रौद्र ध्यान कहलाता है।

धर्म ध्यान

श्रुत एवं चारित्र की साधना को धर्म कहते हैं। अस्तु, जो चिन्तन, मनन धर्म के सम्बन्ध में किया जाता है वह धर्म ध्यान कहलाता है। और भी अधिक स्पष्ट शब्दों में कहें तो सूत्रार्थ की साधना करना, महा-व्रतों को धारण करना, बन्ध और मोक्ष के हेतुओं का विचार करना, पाँच इन्द्रियों के विषय से निवृत्त होना, प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव रखना; इत्यादि शुभ लक्ष्यों पर मन का एकाग्र होना धर्म ध्यान होता है।

शुक्ल ध्यान

कर्म मल को शोधन करने वाला तथा शुच = शोक को दूर करने वाला ध्यान, शुक्ल ध्यान होता है। 'शोधयत्यष्ट प्रकारकर्ममलं शुचं वा बलमयतीति शुक्लम्'—आचार्य नमि। धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान का साधक है। शुक्ल ध्यान में पहुँच कर मन पूर्ण एकाग्र, स्थिर, निश्चल एवं निस्सन्द हो जाता है। साधक के सामने कितने ही क्यों न सुन्दर प्रलोभन हों, शरीर को तिल-तिल करने वाले कैसे ही क्यों न छेदन-भेदन हों, शुक्ल ध्यान के द्वारा स्थिर हुआ अचंचल चित्त लेशमात्र भी चलायमान नहीं होता। शुक्ल ध्यान की उत्कृष्टता, केवलज्ञान उत्पन्न करने वाली है और केवल ज्ञान की प्राप्ति सदा के लिए जन्म-मरण के बन्धन से छुड़ाने वाली है।

आर्त आदि चारों ही ध्यानों का स्वरूप संक्षेप-भाषा में स्मृतिस्थ रह सके, इसके लिए हम यहाँ एक प्राचीन गाथा उद्धृत करते हैं। यह गाथा आचार्य जिनदास महत्तर ने आवश्यक चूर्ण के प्रतिक्रमणाध्ययन में इसी प्रसंग पर 'उक्तंच' के रूप में उद्धृत की है। गाथा प्राकृत और संस्कृत भाषा में समिश्रित है और बड़ी ही सुन्दर है।

‘हिंसाणुरंजितं रौद्रं,

अदृष्टं कामाणुरंजितं ।

धम्मपद-सूत्रं धम्मं, मुक्कं भाणं निरञ्जणं ॥'

—हिंसा से अनुरञ्जित = रेंगा हुआ ध्यान रीति और काम से अनुरञ्जित ध्यान धर्म कहलाता है। धर्म से अनुरञ्जित ध्यान धर्म-ध्यान है और शुक्ल ध्यान पूर्ण निरञ्जन होता है।

ध्यान का वर्णन बहुत विस्तृत है। यहाँ सत्त्वोद्भूति के कारण अधिक चर्चा में नहीं उतर सके हैं। इस सम्बन्ध में अधिक जिज्ञासा वाले सत्रन प्रवचन सारोद्धार, ध्यान शतक, तत्त्वार्थ-सूत्र, स्थानांग सूत्र आदि का अवलोकन करने का कष्ट करें।

: २२ :

क्रिया-सूत्र

पण्डिकमामि

पंचहिं किरियाहिं—

काइआए

अहिगरणियाए

पाउसियाए

पारितावणियाए

पाणाइवाय किरियाए

शब्दार्थ

पण्डिकमामि = प्रतिक्रमण करता हूँ	पाउसियाए = प्राद्वेपिकी से
पंचहिं = पाँचों	पारितावणियाए = पारितापनिकी से
किरियाहिं = क्रियाओं से	पाणाइवायकिरियाए = प्राणातिपात
काइआए = कायिकी से	क्रिया से
अहिगरणियाए = आधिकरणिकी से	

भावार्थ

कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेपिकी, पारितापनिकी और प्राणाति-

गत-क्रिया—इन पाँचों क्रियाओं के द्वारा जो भी अनिष्टार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता है ।

विवेचन

कर्मबन्ध करने वाली चेष्टा, यहाँ क्रिया शब्द का वाच्य अर्थ है । स्पष्ट मापा में—'द्विषाप्रधान दुष्ट व्यापार निरोध' को क्रिया कहते हैं । आगमसाहित्य में क्रियाओं का बहुत विस्तृत वर्णन है । विस्तार-वर्द्धन में क्रिया के २५ भेद माने गए हैं । परन्तु अन्य समस्त क्रियाओं का सूत्रोक्त पाँच क्रियाओं में ही अन्तर्भाव हो जाता है, अतः मूल क्रियाएँ पाँच ही मानी जाती हैं ।

कायिकी

काय के द्वारा होने वाली क्रिया, कायिकी कहलाती है । इसके तीन भेद माने गए हैं—मिथ्या दृष्टि और अविरत सम्बन्ध दृष्टि की क्रिया अविरत कायिकी होती है, प्रमत्त संयमी मुनि की क्रिया दुष्प्रणिहित कायिकी होती है, और अप्रमत्त संयमी की क्रिया सावधयोग से उपरत होने के कारण उपरत कायिकी होती है ।

आधिकरणिनी

जिनके द्वारा आत्मा नरक आदि दुर्गति का अधिकारी होता है, यह दुर्मित्रादि का अनुग्रह निरोध अथवा घातक शस्त्र आदि, अधिकरण कहलाता है । अधिकरण से निष्पन्न होने वाली क्रिया, आधिकरणिनी होती है ।

प्राद्वेषिकी

प्राद्वेष का अर्थ 'मत्सर, डाढ़, ईर्ष्या' होता है । यह अकुशल परिणाम कर्म बन्ध का प्रबल कारण माना जाता है । अस्तु, जीव तथा अजीव किसी भी उपाय के प्रति द्वेषभाव रखना प्राद्वेषिकी क्रिया होती है ।

पारितापनिनी

ताडन आदि के द्वारा दिया जाने वाला दुःख, पारितापन कहलाता

है। परितापन मे निष्पन्न होने वाली क्रिया, पाग्नितापनिकी क्रिया कहलाती है। परितापन, अपने तथा दूसरे के शरीर पर किया जाता है, अतः स्व तथा पर के भेद से पारितापनिकी क्रिया दो प्रकार की होती है।

प्राणातिपातिकी

प्राणों का अतिपात = विनाश, प्राणानिपात कहलाता है। प्राणातिपात से होने वाली क्रिया, प्राणातिपातिकी कहलाती है। इसके दो भेद हैं—क्रोधादि कषायवश लेकर अपनी हिंसा करना, स्वप्राणातिपातिकी क्रिया है, और इसी प्रकार कषायवश दूसरे की हिंसा करना, पर-प्राणातिपातिकी है।

: २३ :

काम-गुण-सूत्र

पट्टिकमामि
पंचहिं कामगुणेहि
सदेणं
रूपेण
गंधेण
रसेण
स्पर्शेण

शब्दाथ

पट्टिकमामि = प्रतिक्रमण करता है	रूपेण = रूप से
पंचहिं = पाँचों	गंधेण = गन्ध से
कामगुणेहि = काम गुणों से	रसेण = रस से
सदेणं = शब्द से	स्पर्शेण = स्पर्श से

भावार्थ

शब्द, रूप, गन्ध, रस, और स्पर्श—इन पाँचों काम-गुणों के द्वारा जो भी अनिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता है।

विवेचन

काम का अर्थ है—‘विषयभोग’ । काम के साधनों को—रूप, रस आदि को—कामगुण कहते हैं । कामगुण में गुण शब्द श्रेष्ठता का वाचक न हो कर केवल बन्धन-हेतु वाचक है । काम के साधन शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श हैं, अतः ये सब काम गुणशब्दवाच्य हैं ।

‘कामगुण’ शब्द के पीछे रहे हुए भाव की स्पष्टता के लिए जगद्गुरु पर और विचार करले । आचार्य हरिभद्र आवश्यक सूत्र पर की अपनी शिष्यहिता टीका में कहते हैं कि संसारी जीवों के द्वारा शब्द, रूप आदि की कामना की जाती है. अतः वे काम कहलाते हैं और गुण का अर्थ है रस्सी । अस्तु, शब्दादि काम ही गुण रूप = बन्धन रूप होने से गुण हैं । शब्दादि कामों से बढ़कर संसारी जीव के लिए और कौन-सा बन्धन होगा ? सब जीव इसी बन्धन में बंधे पड़े हैं । ‘काम्यन्त इति कामाः शब्दादयस्त एव स्व-स्वरूपगुणबन्धहेतुत्वाद् गुणा इति ।’

आचार्य हरिभद्र की भावना को स्पष्ट करते हुए मलधारगच्छीय आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि ‘तेषां शब्दादिकामानां स्वकीयं यत्स्वरूपं तदेव गुण इव गुणो—दवरकस्तेन यः प्राणिनां बन्धः—सङ्गस्तद् हेतुत्वाद् गुणाः उच्यन्ते प्राणिनां बन्ध-हेतुत्वेन रज्जव इति यावत् ।’

—हरिभद्रायावश्यक वृत्ति दीप्पणक

मानव जीवन में चारों ओर बन्धन का जाल बिछा हुआ है । कोई विरला सावधान साधक ही इस जाल को पार करके अपने लक्ष्य स्थान पर पहुँच सकता है । कहीं मनोहर सुरीले शब्दों का जाल है तो कहीं कर्कश कठोर उत्तेजक शब्दों का जाल है । कहीं नयन-विमोहक सुन्दर रूप का जाल बिछा है तो कहीं वभित्स भयानक कुरूप का जाल तना हुआ है । कहीं अगर, तगर, चन्दन, केशर कस्तूरी आदि की दिल खुश करने वाली सुगन्ध का जाल लगा हुआ है तो कहीं गंदी मोरी, कीचड़, सड़ते हुए तालाव आदि की वमन करा देने वाली दुर्गन्ध का जाल फँसाने को तैयार खड़ा है । कहीं सुन्दर सुगन्धित मधुर मिश्रण

रस का जाल ललचा रहा है तो कहीं कटु, तिक्त, रूढ़ा, बन्धना कुरग का जाल बेचैन मिष्ट हुए है । कहीं मृदुल सुकोमल स्पर्श का जाल शरीर में गुदगुदी पैदा कर रहा है तो कहीं कर्षण कटोर स्पर्श का जाल शरीर में कंपकंपी पैदा कर रहा है । किंगडुना, मनुष्य जिधर भी दृष्टि डालता है उधर ही कोई न कोई राग या द्वेष का जाल आत्मा को फँसाने के लिए विद्यमान है ।

आप विचार करते होंगे—“फिर तो मुक्ति का कोई मार्ग ही नहीं ?” क्यों नहीं, अवश्य है । सावधान रहने वाले साधक के लिए ससार में कोई भी जाल नहीं । कुछ भी सुन्दर असुन्दर कामगुण आए, आप उस पर राग अथवा द्वेष न बीजिए, तटस्थ रहिए । फिर कोई बन्धन नहीं, कोई जाल नहीं । वस्तु स्वयं बन्धक नहीं है । बन्धक है, मनुष्य का रागद्वेषाकुल मन । जब रागद्वेष करोगे ही नहीं, सर्वथा तटस्थ ही रहोगे, फिर बन्धन कैसा ? जाल कैसा ?

प्रस्तुत सूत्र में यही उल्लेख है कि यदि संयम यात्रा करते हुए कहीं शब्दादि में मन भटक गया हो, तटस्थता को छोड़कर रागद्वेष युक्त हो गया हो, जाल में फँस गया हो तो उसे वहाँ से दृढ़कर पुनः संयम पथ पर अग्रसर करना चाहिए । यही काम गुण से आत्मा का प्रतिनमण है ।

: २४ :

महाव्रत-सूत्र

पटिकमामि

पंचहिं महव्यएहिं—

सव्वाओ^१ पाणाइवायाओ वेरमणं,

सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं

सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं,

सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं,

सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं ।

शब्दाथे

पटिकमामि = प्रतिक्रमण करता हूँ

पंचहिं = पाँचों

महव्यएहिं = महाव्रतों से

सव्वाओ = सब प्रकार के

पाणाइवायाओ = प्राणातिपात से

वेरमणं = विरमण, निवृत्ति

१ आचार्य जिनदास महत्तर और हरिभद्र ने 'सव्वाओ' का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु दशवैकालिक आदि के महाव्रताधिकार में प्रायः सर्वत्र 'सव्वाओ' का उल्लेख मिलता है। स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए सव्वाओ का प्रयोग औचित्यपूर्ण है। वैसे प्राणातिपातविरमण में भी अन्तर्जल्पाकार रूप में सर्व का भाव है ही।

सज्जाश्रो = सब प्रकार के

मुग्धावादाश्रो = मृदावाद से

वेरमण = विरमण

सज्जाश्रो = सब प्रकार के

अदिक्काशणाश्रो = अदत्ता दान से

वेरमण = विरमण

सज्जाश्रो = सब प्रकार के

मेहुणाश्रो = मैथुन से

वेरमण = विरमण

सज्जाश्रो = सब प्रकार के

परिग्गहाश्रो = परिग्रह से

वेरमण = विरमण

भावार्थ

सर्वे प्राणातिपाते विरमण = अहिंसा, सर्वे-मृदावाद विरमण = सत्य, सर्वे-अदत्ता दान विरमण = अस्तेय, सर्वे-मैथुन विरमण = ब्रह्मचर्य, सर्वे-परिग्रह विरमण = अपरिग्रह—इन पाँचों महाव्रतों से अर्थात् पाँचों महाव्रतों को सम्यक् रूप से पालन न करने से जो भी अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता है।

विवेचन

अहिंसा, सत्य, अस्तेय = चोरी का त्याग, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये अथ मर्यादित = सीमित रूप में ग्रहण किए जाते हैं, तब अशुभन कहलाते हैं। अशुभन का अधिकारी गृहस्थ होता है; क्योंकि गृहस्थ-ग्रन्था में रहने के कारण साधन, अहिंसा आदि की साधना के पथ पर पूर्णतया नष्ट चले सकता, हिंसा आदि का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता। अतः वह अहिंसा आदि व्रतों की उपायना अपनी सख्ति सीमा के अन्दर रहकर ही करता है। किन्तु साधु का जीवन गृहस्थ के उत्तरादायित्व से सर्वथा मुक्त होता है, अतः वह पूर्ण आत्मबल के द्वारा संयम-पथ पर अग्रसर होता है और अहिंसा आदि व्रतों की नखोटि से सदा सर्वथा पूर्ण साधना करता है, पलन-साधु के अहिंसा आदि न महाव्रत कहलाते हैं।

योगदर्शनसार वैदिक श्रुति पत्रञ्जलि ने भी महाव्रत की व्याख्या सुन्दर ढंग से की है। योगदर्शन के दूसरे पाद का ३१ वाँ सूत्र है—
,जाति देहाकालसमयाभिव्यक्त्याः मार्गभौमा महाव्रतम्।' सूत्र का

प्राणीय यह है कि—^१ जाति, देश, काल और समय = आचार अर्थात् कुलोचित कर्तव्य के बन्धन से रहित सार्वभौम = सर्व विषयक महाव्रत होते हैं। मत्स्य हिंसा के बिना अन्य हिंसा न करना, मच्छी मार की जात्यवच्छिन्ना अहिंसा है। अमुक तीर्थ आदि पर हिंसा नहीं करना देशावच्छिन्ना अहिंसा है। पूर्णमासी आदि पर्व के दिन हिंसा न करना कालावच्छिन्ना अहिंसा है। जन्त्रियों की युद्ध के सिवा अन्य हिंसा न करने की प्रतिज्ञा समयावच्छिन्ना अहिंसा है। अहिंसा के समान ही सत्य आदि के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए। जो अहिंसा आदि व्रत उभयुक्त जाति, देश काल, और समय की सीमा से सर्वथा मुक्त, असीम, निखिन्निन्न तथा सर्वरूपेण हों वे महाव्रत पदवाच्य होते हैं।

महाव्रत, तीन करण और तीन योग से ग्रहण किए जाते हैं। किसी भी प्रकार की हिंसा न स्वयं करना, न दूसरे से कराना, न करने वालों का अनुमोदन करना, मन से, वचन से और काय से—यह अहिंसा महाव्रत है। इसी प्रकार अमत्य, स्तेय = चोरी, मैथुन = व्यभिचार, परिग्रह = धन धान्य आदि के त्याग के सम्बन्ध में भी नवकोटि की प्रतिज्ञा का भाव समझ लेना चाहिए।

पाँच महाव्रत साधु के पाँच मूल गुण कहे जाते हैं। इनके अतिरिक्त शेष आचार उत्तर गुण कहलाता है। उत्तर गुणों का आदर्श मूल गुणों की रक्षा में ही है, स्वयं स्वतन्त्र उनका कोई प्रयोजन नहीं।

१—जैन-धर्म में जात्यवच्छिन्ना अहिंसा आदि का कोई महत्व नहीं है। जैन गृहस्थ की सीमित अहिंसा भी जाति, देश, तीर्थ आदि के बन्धन से रहित होती है। गृहस्थ की हिंसा विरोधी से आत्मरक्षा या किसी अन्य आवश्यक सामाजिक उद्देश्य के लिए ही खुली रहती है। जाति, कुल, तीर्थ यात्रा आदि के नाम पर होने वाली हिंसा जैन गृहस्थ के लिए स्याज्य है। गृहस्थ का अणुव्रत भी जाति, देश, कुल, तीर्थयात्रादि से अविच्छिन्न नहीं होता। वह इन सबसे ऊपर होता है।

प्रस्तुत सूत्र में पाँच महाव्रतों से प्रतिक्रमण नहीं किया गया है, प्रतिनमण किया गया है महाव्रतों में रागद्वेषादि के औद्यिक भाव के कारण प्रमादवश लगे हुए दोषों से। यह ध्यान में रखा, यहाँ हेत्वर्थक तृतीया है, पचमी नहीं। हेत्वर्थक तृतीया का सम्बन्ध अतिचारों से किया जाता है और फिर अतिचारों का पडिकमामि एव तत्स मिच्छा मि दुक्कं से सम्बन्ध होता है।

विशेष ज्ञातव्य—

प्रस्तुत महाव्रत सूत्र के पश्चात् प्रायः सभी प्राप्त प्रतियाँ और आवश्यक सूत्र के टीका-ग्रन्थों में समिति सूत्र का उल्लेख मिलता है। परन्तु आचार्य जिनदास महत्तर ने 'पथ के वि अण्णं पि पटन्ति' अर्थात् यहाँ कुछ आचार्य दूसरे पाठ भी पढ़ते हैं—इस प्रकार प्रकारान्तर के रूप में पाँच आभय द्वार, पाँच अनाथन = संवर द्वार, और पाँच निर्जरा स्थान के प्रतिनमण का भी उल्लेख किया है। पाठकों की जानकारी के लिए हम उन सब पाठों को यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

“पडिकमामि पंचहि आसवदारेहि, मिच्छत्त सविरति पमाद कसाय जोगेहि।

पंचहि अणासवदारेहि, सम्मत विरति अपमाद अकसायित्त अओमित्तेहि।

“एवहि निज्जर-आण्णेहि, नाण दंसण चरित्त तव संजमेहि।”

: २५ :

समिति-सूत्र

पडिकमामि

पंचहिं समिईहिं

इरियासमिईए

भासासमिईए

एसणासमिईए

आयाणभंडमत्तनिकखेवणासमिईए

उचार-पासवण-खेल-जल्ल-सिंघाण-परिठ्ठावणिया-
समिईए ।

शब्दार्थ

पडिकमामि = प्रतिक्रमण करता हूँ	समिईए = समिति से
पंचहिं = पाँचों	एसणा = पृषणा
समिईहिं = समितियों से	समिईए = समिति से
इरिया = इर्या	आयाण = आदान
समिईए = समिति से	भंडमत्त = भाण्डमात्र
भासा = भाषा	निकखेवणा = निक्षेपणा

सामईण - समिति से
 उच्चार = उच्चार, पुरीष
 प्रसवण = प्रसवण, सूत्र
 मल - श्लेष्म, कक

मल = जल्ल, शरीर का मल
 सिंघाण = नाक का मल
 परिष्कारणिया = इनको परठने की
 सामईण = समिति से

भावार्थ

ईर्यासमिति, भाषासमिति, पृषणासमिति, आदान-भाण्डमात्र-
 निवेपणा समिति उच्चार-प्रसवण-श्लेष्म-जरन-सिंघाण-परिष्कारणिका
 समिति—उक्त पाँचों समितियों से अर्थात् समितियों का सम्यक् पालन
 न करने से जो भी अतिचार लगा हो उसका प्रतिव्रमण करना है।

विवेचन

विवेक युक्त-द्वार प्रवृत्ति करना, समिति है। 'सम्=एकीभावेन
 इति=प्रवृत्ति समिति, शोभनैकाग्रपरिणामचेष्टेत्यर्थः।' प्राचार्य नमि
 की उपर्युक्त समिति की व्युत्पत्ति ही समिति के वास्तविक स्वरूप का
 प्रसङ्ग कर देती है। हिन्दी भाषा में उक्त संस्कृत व्युत्पत्ति का आशय
 यह है कि—प्राणातिपात आदि पाप से निवृत्त रहने के लिए प्रशस्त
 पञ्चांगता-पूर्वक की जाने वाली आगमोक्त सम्यक् प्रवृत्ति, समिति
 कहलाती है।

समिति आर गुप्ति में यह अन्तर है कि गुप्ति, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति
 उभय रूप है। और समिति केवल प्रवृत्ति रूप ही है। अतएव समिति
 वाला नियमत गुप्ति वाला होता है क्योंकि समिति भी सत् प्रवृत्ति रूप
 अशत गुप्ति ही है। परन्तु जो गुप्ति वाला है, वह दिनह्मेन समिति
 वाला होता है, अर्थात् समिति वाला हो भी, नहीं भी हो। क्योंकि
 स प्रवृत्तिरार गुप्ति के समय समिति पायी जाती है, पर वेदन निवृत्ति रूप
 गुप्ति के समय समिति नहीं पायी जाती। 'प्रवीचाराप्रवीचाररूपा गुप्तय ।
 समितय प्रवीचाररूपा एव।'—प्राचार्य हरिभद्र

ईर्या समिति

गुण-परिमाण भूमि से पञ्चांग पित्त से देवते हुए, जीर्ण को वचाते

हुए वतनापूर्वक गमनागमन करना, ईर्या समिति है। ईर्या का अर्थ गगन होता है, अतः गमन विषयक सत्प्रवृत्ति, ईर्या समिति होती है। 'ईर्यायां समितिः, ईर्या-समितिस्तया । ईर्याविषये एकीभावेन चेष्टनमित्यर्थः'

—आचार्य हरिभद्र ।

भाषा समिति

आवश्यकता होने पर भाषा के दोषों का परिहार करते हुए वतना-पूर्वक भाषण में प्रवृत्ति करना, फलतः हित, मित, सत्य, एवं स्पष्ट वचन कहना, भाषा समिति कहलाती है। 'भाषा समितिर्नाम हितमितासंदिग्धार्थ भाषणम् ।'—आचार्य हरिभद्र ।

एषणा समिति

गोचरी के ४२ दोषों से रहित शुद्ध आहार पानी तथा वस्त्र पात्र आदि उपधि ग्रहण करना, एषणा समिति है।

आदानभाण्डमात्र निक्षेपणा समिति

वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि भाण्डमात्र=उत्करणों को उपयोग पूर्वक आदान = ग्रहण करना एवं जीवरहित प्रमार्जित भूमि पर निक्षेपण = रखना, आदान भाण्डमात्र निक्षेपणा समिति होती है। 'आदानभाण्डमात्र-निक्षेपणा समितिर्नाम भाण्डमात्रे आदान-निक्षेपविषया समितिः सुन्दर-चेष्टेत्यर्थः ।'—आचार्य हरिभद्र ।

पारिष्ठापनिका समिति

मल मूत्र आदि या भुक्तशेष भोजन तथा भग्नपात्र आदि परठने योग्य वस्तु जीवरहित एकान्त स्थण्डिलभूमि में परठना, जीवादि उत्पन्न न हों—एतदर्थ उचित यतना कर देना, पारिष्ठापनिका समिति होती है।

आचार्य हरिभद्र, आवश्यक सूत्र की शिष्यहिता टीका में पारिष्ठापनिका समिति का निर्वचन करते हुए कहते हैं—'परितः—सर्वैः प्रकारैः स्थापनम्—अपुनर्ग्रहणतया न्यासः, तेन निवृत्ता पारिष्ठापनिकी ।' इसका भावार्थ यह है कि सब प्रकार से वस्तुओं को डाल देना, डाल देने

न राश पुन मरण न रुत्ता, पारिषानिका समिति हे । आदान निजो
समिति म भी गतु का निजो हे और पारिषानिका में भी म्यावना शब्देन
निजो ही हे । भद इतना ही हे कि आदान निजो समिति में मश के
लिए वस्तु का त्याग नहीं किया जाता, केवल उचित स्थान में रक्खा
जाता है । परन्तु पारिषानिका में मश के लिए त्याग कर दिया जाता है ।

पारिषानिका समिति के पाठ में जल के आगे मल शब्द का भी
कुछ लोग प्रयोग करते हैं, वह अयुक्त है । जल का अर्थ ही मल है,
द्विद वपर्य ही द्विरुक्ति क्यों की जाय ? आचार्य हरिभद्र आदि किसी भी
प्राचीन आचार्य ने मल शब्द का उल्लेख नहीं किया है । पुन्यश्री
आत्मारामजी महाशय ने मूल पाठ में तो मल का प्रयोग नहीं किया है,
परन्तु अर्थ में 'जलमल' पाठ बताकर कमरा जल, मल अर्थ किया
है । 'मल' के लिए 'मल्ल' शब्द किस भाषा में है ? कम से कम हम तो
नहीं समझ सके । मल का अर्थ पहलवान तो होता है । और जल का
रत्न अर्थ भी निश्चित ही है ।

: २६ :

जीवनिकाय-सूत्र

पडिक्कमामि

छहिं जीवनिकाएहिं—

पुढविकाएणं

आउकाएणं

तेउकाएणं

वाउकाएणं

वणस्सइकाएणं

तसकाएणं ।

शब्दार्थ

पडिक्कमामि = प्रतिक्रमण करता हूँ	तेउकाएणं = तेजः काय से
छहिं = छहों	वाउकाएणं = वायुकाय से
जीवनिकाएहिं = जीवनिकायो से	वणस्सइ = वनस्पति
पुढवि काएणं = पृथिवीकाय से	काएणं = काय से
आउकाएणं = अप् काय से	तसकाएणं = त्रसकाय से

भावार्थ

पृथिवी, आप्=जल, तेजः = अग्नि, वायु, वनस्पति, और त्रस =

दीन्द्रिय आदि—इन छहों प्रकार के जीव निम्नायों से अर्थात् इन जीवों की हिमा करने से जो भी अतिचार लगा हो, उस का प्रति क्रमण करता है ।

विवेचन

‘जीवनिम्नाय’ शब्द, जीव और निम्नाय—इन दो शब्दों से बना है । जीव का अर्थ है—जैवन् = प्रात्मा और निम्नाय का अर्थ है—राशि, अर्थात् मनुष्य । जीवों की राशि को जीवनिम्नाय कहते हैं । पृथिवी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और वस—य छह जीव निम्नाय हैं । इन्हें मृदु नाम भी कहते हैं । शरीर नाम ‘म’ से देने वाली शरीर-रचना एवं शक्ति का कारण कहते हैं । ‘जीवते इति काय ।’

जिन जीवों का शरीर पृथिवी रूप है, वे पृथिवीमाय कहलाते हैं । जिन जीवों का शरीर जलरूप है, वे जलमाय कहलाते हैं । जिन जीवों का शरीर अग्निरूप है, वे तेजस्काय कहलाते हैं । जिन जीवों का शरीर वायुरूप है, वे वायुमाय कहलाते हैं । जिन जीवों का शरीर वनस्पतिरूप है, वे वनस्पतिमाय कहलाते हैं । वे पौध, स्थावरस्पद वायव्य हैं । इन को केवल स्पर्शन इन्द्रिय होती है । वसनामम’ के उदय से गतिशील शरीर का धारण करने वाले दीन्द्रिय = कीड़े आदि, धीन्द्रिय = मूका राक्षसल आदि, चतुर्दिन्द्रिय = मसृगी मच्छर आदि, और पंचेन्द्रिय = पशु पक्षी मानव आदि जीव समाय कहलाते हैं ।

ससार में चारों ओर मत्स्याय चर रहा है । छोटे जीवों की हिमा, बड़े जीवों के हाग की जरूरी है । वही भी जीव का जीवन सुरक्षित नग है । नाना प्रकार के दुःख कलम में जैवन् प्राणी जीव हिमा में लगा हुआ है । आचारण सूत्र के प्रथम ध्युत स्थ और प्रथम अव्ययन में जीवहित, य छह कारण बताए हैं (१) जीवन निर्वाह के लिए, (२) लोग से शिरा आदि की प्रशाना पाने के लिए, (३) सम्मान पाने लिए; (४) अजगन आदि का उत्तर पाने के लिए (५) धर्म भ्रांति के कारण

जन्ममरण से मुक्ति पाने के लिए (६) आरोग्य, सुख तथा शान्ति पाने के लिए ।

जैन-मुनि के लिए सर्वथा जीवहिंसा का त्याग होता है । वह किसी जीव को किसी भी कारण से पीड़ा नहीं देता । एक बात और भी है । दूसरे धर्म, अहिंसा के केवल स्थूल रूप तक ही पहुँचे हैं, जब कि जैन-धर्म का मुनि धर्म अहिंसा की सूक्ष्म से सूक्ष्म तह तक पहुँचा है । पृथिवी, जल जैसे सूक्ष्म जीवों के प्रति भी वह उसी प्रकार सदा रहता है, जिस प्रकार संसारी जीव प्रिय स्वजनों के प्रति । इस लिए मुनि को छह काय का पीहर कहा जाता है ।

प्रस्तुत सूत्र में वृहों प्रकार के जीवसमूह को किसी भी प्रकार की प्रमाद वश पीड़ा पहुँचायी हो, उसका प्रतिक्रमण किया गया है। अहिंसा के प्रति कितनी अधिक जागरूकता है !



: २७ :

लेश्या-सूत्र

पडिक्कमामि

छहिं लेसाहिं—

किण्ह-लेसाए,

नील-लेसाए,

काउलेसाए,

तेउलेसाए,

पम्हलेसाए,

सुक्कलेसाए ।

शब्दार्थ

पडिक्कमामि = प्रतिक्रमण करता हूँ

छहिं = छहों

लेसाहिं = लेश्याओं से

किण्हलेसाए = कृष्ण लेश्या से

नील लेसाए = नील लेश्या से

काउलेसाए = कापोत लेश्या से

तेउलेसाए = तेजोलेश्या से

पम्हलेसाए = पद्मलेश्या से

सुक्कलेसाए = शुक्ल लेश्या से

भावार्थ

कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, तेजोनेश्या, पद्मलेश्या, और शुक्ल लेश्या—इन छहों लेश्याओं के द्वारा अर्थात् प्रथम तीन अधर्म-लेश्याओं का आचरण करने से और बाद की तीन धर्म-लेश्याओं का आचरण न करने से जो भी अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

विवेचन

लेश्या' का संक्षिप्त अर्थ है—'मनोवृत्ति या विचार तरंग'। उत्तराध्वयन सूत्र, भगवती सूत्र, कर्मग्रन्थ आदि में लेश्या के सम्बन्ध में काफी विस्तृत एवं सूक्ष्म रहस्यपूर्ण चर्चा की गई है। परन्तु यहाँ इतनी सूक्ष्मता में उतरने का न तो प्रसंग ही है, और न हमारे पास समय ही। हों जानकारी के नाते कुछ पंक्तियाँ अवश्य लिखी जा रही हैं, जो जिज्ञासापूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं तो कुछ उपादेय अवश्य होंगी।

१ 'लेश्या' की व्याख्या करते हुए आचार्य जिनदास महत्तर कहते हैं कि आत्मा के जिन शुभाशुभ परिणामों के द्वारा शुभाशुभ कर्म का संश्लेष होता है, वे परिणाम लेश्या कहलाते हैं। मन, वचन और कायरूप योग के परिणाम लेश्या पदवाच्य है।

'लेश्या संश्लेषणे' संश्लिष्यते आत्मा तैस्तैः परिणामान्तरैः। यथा श्लेषेण वर्ण-सम्बन्धो भवति एवं लेश्याभिरात्मनि कर्माणि संश्लिष्यते। योग-परिणामो लेश्या। जम्हा अयोगि-केवली अलेत्सो।' आवश्यक-चूणि'

श्री जिनदास महत्तर के उल्लेखानुसार धर्मलेश्या भी शुभ-कर्म का बन्ध-हेतु है। फिर भी उसे जो उपादेय कहा है, उसका कारण यह है कि आत्मा की अशुभ, शुभ और शुद्ध तीन परिणतियाँ होती हैं। शुद्ध सर्वोपरि श्रेष्ठ परिणति है। परन्तु जब तक शुद्ध में नहीं पहुँचा जाता है, जब तक पूर्णरूप से योगों का निरोध नहीं हो पाता है, तब तक साधक के लिए अशुभ योग से हटकर शुभ योग में परिणति करना, ही श्रेयस्कर है।

कृष्ण लेश्या

यह मनोवृत्ति सबसे जयन्त है। कृष्णलेश्या वाले के विचार अतीव सुदृढ़, नर, कठोर एवं निर्दय होते हैं। अग्नि, मत्स्य आदि से इनके घृणा होती है। गुण और दोष का विचार किए बिना ही सहसा कार्य में प्रवृत्त हो जाता है। लोक और परलोक दोनों के ही नुस्ते परिणामों से नहीं डरता। यह सर्वथा अजिनेन्द्रिय, भोगरिक्तामी प्राणी होता है। यह अपने सुख में मगलन करता है। दूसरों के जीवन का दुःख भी हो—उसे कोई मतलब नहीं।

नील लेश्या

यह मनोवृत्ति पहली की छवेंता दुःख टीक है, परन्तु उपादेय यह भी नहीं। यह आत्मा ईर्ष्या, असहिष्णु, मायावी, निर्लज्ज, मदाचार, क्षत्र, रमलोत्तु होता है। अपनी सुख-सुविधा में जरा भी कमी नहीं होने देता। परन्तु चित्त प्राणियों के द्वारा सुख मिलता है, उनकी भी अत्याचार न्याय के अनुसार कुछ मात्र में भाल कर लेता है।

धापोत लेश्या

यह मनोवृत्ति भी दूषित है। यह व्यक्ति विचारने, ज्ञानने और कार्य करने में रक्त होता है। अपने दोरा को देखता है। कठोर-भागी होता है। परन्तु अपनी सुख सुविधा में मदाचर होने वाले प्राणियों के प्रति करुणावश नहीं, किन्तु स्वार्थवश खंगलण का भाव रखता है।

तेजोलेश्या

यह मनोवृत्ति पवित्र है। इसके होने पर मनुष्य नर, विचारशील, दण्डु एवं धर्म में अभिरुचि रखने वाला होता है। अपनी सुख सुविधाओं को कम महत्त्व देता है और दूसरों के प्रति अधिक उदार-भावना रखता है।

पद्मलेश्या

पद्मलेश्या वाले मनुष्य का जीवन काल के समान दूसरा का

सुगन्ध देने वाला होता है। इसका मन शान्त, निश्चल एवं शुभ प्रवृत्तियों को रोकने वाला होता है। पाप ने भय लाता है, मोह और शोक पर विजय प्राप्त करता है। क्रोध, मान आदि कणाय अधिकांश में नीण एवं शान्त हो जाते हैं। वह मितभाषी, सौम्य, जितेन्द्रिय होता है।

शुक्त लेश्या

यह मनोवृत्ति सर्वसं अधिक विशुद्ध होने के कारण शुक्त कहलाती है। यह अपने सुखों के प्रति लापरवाह होता है। गरीर निर्वाहमात्र आहार ग्रहण करता है। किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देता। आसक्ति-रहित होकर सतत समभाव रखता है। राग-द्वेष की परिणति हटाकर वीतराग भाव धारण करता है।

प्रथम की तीन वृत्तियाँ त्याज्य हैं और बाद की तीन वृत्तियाँ उपादेय हैं। अन्तिम शुक्त लेश्या के बिना आत्मविकाश की पूर्णता का होना असम्भव है। जीवन-शुद्धि के पथ में अधर्म लेश्याओं का आचरण किया हो और धर्मलेश्याओं का आचरण न किया हो तो प्रस्तुत-सूत्र के द्वारा उसका प्रतिक्रमण किया जाता है।

: २८ :

भयादि-सूत्र

पडिक्कमामि

सत्तहिं भयट्ठाणेहिं, अट्ठहिं मयट्ठाणेहिं,
नरहिं वंभचेरगुत्तीहिं, दसग्गिहे समणधम्मे,—

एक्कारसहिं उवासग-पडिमाहिं, चारसहिं
भिवसु-पडिमाहिं, तेरसहिं किरियाठाणेहिं,
चउदसहिं भूयगामेहिं, पन्नरसहिं परमाहम्मिएहि
सोलसहिं गाहासोलसएहिं, सत्तरसग्गिहे असंजमे,
अट्ठारसविहे अरंभे, एग्गुणीसाए नायज्जयणेहिं,
वीसाए असमाहि-ठाणेहिं,—

इक्कणीसाए मरलेहिं, चाणीसाए परीसहेहिं,
तेणीसाए सूयगडज्जयणेहिं, चउणीसाए देवेहिं,
पणणीसाए भान्णाहिं, छव्वीसाए दसाक्कप्प-
वज्जहारणं उदेसणकालेहिं, सत्ताणीसाए अण्णगार-
गुणेहिं, अट्ठानीमाए आयारप्पकप्पेहिं, एग्गुण-

तीसाए पावसुयप्पसंगेहिं, तीसाए महामोहणीय-
ङ्गाणेहिं,—

एगतीसाए सिद्धाङ्गुणेहिं, वत्तीसाए जोग-
संगेहिं, तेत्तीसाए आसायणाहिं,—

(१) अरिहंताणं आसायणाए, (२) सिद्धाणं
आसायणाए, (३) आर्यरियाणं आसायणाए,
(४) उवज्झायाणं आसायणाए, (५) साहूणं
आसायणाए, (६) साहुणीणं आसायणाए,
(७) सावयाणं आसायणाए, (८) सावियाणं
आसायणाए, (९) - देवाणं आसायणाए,
(१०) देवीणं आसायणाए, (११) इहलोगस्स
आसायणाए, (१२) परलोगस्स आसायणाए,
(१३) केवलि-पन्नत्तस्स धम्मस्स आसायणाए,
(१४) सदेव-मणुआऽसुरस्स लोगस्स आसाय-
णाए, (१५) सव्वपाण-भूय-जीव-सत्ताणं आसा-
यणाए, (१६) कालस्स आसायणाए, (१७)
सुअस्स आसायणाए, (१८) सुअदेवयाए आसाय-
णाए, (१९) वायणायरियस्स आसायणाए,—

(२०) जं वाइद्धं, (२१) चच्चामेलियं,
(२२) हीणक्खरं (२३) अच्चक्खरं (२४) पय-
हीणं (२५) विणयहीणं, (२६) जोग-हीणं,

(२७) वामहीणं, (२८) मुट्ठु दिन्नं, (२९)
 दुट्ठु पडिच्छियं, (३०) अकाले कयो
 सज्जाओ, (३१) काले न कयो सज्जाओ,
 (३२) असज्जाए सज्जाइयं, (३३) सज्जाए
 न सज्जाइयं,—

तम्म मिच्छा मि दुक्कडं ।

शब्दार्थ

पडिक्कमामि = प्रतिक्कमय करता हूँ	स्त्रिया—क्रिया के
गत्तेहि = सात	आण्हि—स्थानों से
मयट्ठाण्हि = मय के स्थानों से	अउत्तहि—चौदह
अट्ठहि = आठ	भूयगामेहि—जीव-समूहों से
मयट्ठाण्हि = मय के स्थानों से	पन्नरमाहि—पन्द्रह
नगहि—नौ	परमाहम्मिण्हि—परमाधार्मिकों में
अम्मचेट्ठ—ब्रह्मचर्य की	सोत्तहि—सोलह
गुत्तीहि—गुत्तियों से	गादा सोत्तसण्हि—गाथा पौंडशर्कों से
दससिहे—दश प्रकार के	
समण—साधु के	सत्तरससिहे—सत्तरह प्रकार के
धम्मे—धर्म में (लगे दोनों से)	अम जमे—असंयम में
एक्कारसहि—एकारह	अट्ठारससिहे—अठारह प्रकार के
उत्तासग—आचक की	अवमे—अब्रह्मचर्य में
पडिमाहि—प्रतिमाओं से	एगूणवीमाए—उत्तीस
नारसहि—चारह	नाय-भयपेदि—शाता सूत्र के
भिक्षु—भिक्षु की	अभ्ययनों से
पडिमाहि—प्रतिमाओं से	वीमाए = बीस
तेरमाहि—तेरह	असमाहि = असमाधि के

भगवद्-गीता = स्वाध्यायिक में

न = नहीं

भगवद्-गीता = स्वाध्याय की हो

नमः = उसका

दुष्ट = पाप

मि = मेरे लिए

मिच्छा = मिथ्या हो

भानार्थ

प्रतिक्रमण करता हूँ [सात भय से लेकर तेनीस आशातनाओं तक जो अतिचार लगा हो उसका] सात भय के स्थानों = कारणों से, आठ भय के स्थानों से, नौ ब्रह्मचर्य की सुप्तियों से = उनका सम्यक् पालन न करने से, दशविध समा आदि धर्म-धर्म की विराधना से—

ग्यारह उपासक = श्रावक की प्रतिमा = प्रतिज्ञाओं से अर्थात् उनकी अश्रद्धा तथा विपरीत प्ररूपणा से, पारह भिडु की प्रतिमाओं से = उनकी श्रद्धा प्ररूपणा तथा आसेचना अच्छी तरह न करने से, तेरह क्रिया के स्थानों से अर्थात् क्रियाओं के करने से, चौदह जीवों के समूह से अर्थात् उनकी हिंसा से, पंद्रह परमाधार्मिकों से अर्थात् उन जैसा भाव या आचरण करने से, सूर्यकृताङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुतकण्ठ के गाथा अध्ययन-सहित सोलह अध्ययनों से अर्थात् तदनुसार आचरण न करने से, सत्तर प्रकार के असंयम में रहने से, अष्टारह प्रकार के वर्तने से, ज्ञातासूत्र के उन्नीस अध्ययनों से अर्थात् तदनुसार न रहने से, बीस असमाधि के स्थानों से,—

से, बाईस परीपहों से अर्थात् उनको सहन न करने, सूत्र के तेईस अध्ययनों से अर्थात् तदनुसार आचरण न देवों से अर्थात् उनकी अघहेलना करने से, पाँच भावनाओं से अर्थात् उनका आचरण न करने से, दृढकल्प और व्यवहार-उक्त सूत्रत्रयी के छद्मीस से अर्थात् तदनुसार आचरण न करने से, सत्ताईस साधु के उनको पूर्णतः धारणा न करने से, आचार प्रकल्प = आचा-

देवीण = देवियों की
 आसायणाए = आशातना से
 दल्लगस्म = इस लोक की
 आसायणाए = आशातना से
 परल्लगस्म = परलोक की
 आसायणाए = आशातना से
 केवलि = सर्वज्ञ द्वारा
 पत्तत्तम्स = प्ररूपित
 धम्मम्स = धर्म की
 आसायणाए = आशातना से
 सदेव = देव सहित
 मणुआ = मनुष्य सहित
 अमुरस्म = असुर सहित
 लोगस्म = समग्र लोक की
 आसायणाए = आशातना से
 सत्थ = सब
 पाण = प्राणी
 भूत = भूत
 जीव = जीव
 सत्ताण = सबों की
 आसायणाए = आशातना से
 कालस्म = काल की
 आसायणाए = आशातना से
 सुयस्म = श्रुत की
 आसायणाए = आशातना से
 सुयदेवणाए = श्रुत देवता की
 आसायणाए = आशातना से

गयणापरिस्म = वाचनाचार्य की
 आसायणाए = आशातना से
 (जो दोष लगा हो)
 ज = और जो (आगम पढ़ते हुए)
 वादद = पाठ आगे पीछे भोजा हो
 यच्चाभिलिय = शून्य मन से कई बार
 भोजा हो अथवा अन्य
 सूय का पाठ अन्य
 सूत्र में मिला दिया हो
 हीणकर = अक्षर छोड़ दिए हो
 अक्षकर = अक्षर पढ़ा दिए हो
 पयहीण = पद छोड़ दिए हो
 विणयहीण = विनय न किया हो
 जोगरीण = योग से हीन पढ़ा हो
 घोसहीण = घोष से रहित पढ़ा हो
 मुट्टु = योग्यता से अधिक पाठ
 दिन्न = शिष्यों को दिया हो
 डुट्टु = श्रेष्ठ भाव से
 पडिच्छिय = ग्रहण किया हो
 अकाले = अकाल में
 सभायो = स्वाध्याय
 कथो = किया हो
 काले = काल में
 सभायो = स्वाध्याय
 न कथो = न किया हो
 अस्वाध्यायिक = अस्वाध्यायिक में
 सज्जादय = स्वाध्याय की हो

संज्ञाइए = स्वाध्यायिक में

दुष्ट = पाप

न = नहीं

मि = मेरे लिए

संज्ञाइयं = स्वाध्याय की हो

मिच्छा = मिथ्या हो

तत्स = उसका

भावार्थ

प्रतिक्रमण करता हूँ [सात भय से लेकर तेतीस आशातनाश्यों तक जो अतिचार लगा हो उसका] सात भय के स्थानों = कारणों से, आठ मद के स्थानों से, नौ ब्रह्मचर्य की गुप्तियों से = उनका सम्यक् पालन न करने से, दशविध क्षमा आदि श्रमण-धर्म की विराधना से—

ग्यारह उपासक = श्रावक की प्रतिमा = प्रतिज्ञाओं से अर्थात् उनकी अश्रद्धा तथा विपरीत प्ररूपणा से, बारह भिक्षु की प्रतिमाओं से = उनकी श्रद्धा प्ररूपणा तथा आसेवना अच्छी तरह न करने से, तेरह क्रिया के स्थानों से अर्थात् क्रियाओं के करने से, चौदह जीवों के समूह से अर्थात् उनकी हिंसा से, पंद्रह परमाधार्मिकों से अर्थात् उन जैसा भाव या आचरण करने से, सूत्रकृताङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के गाथा अभ्ययन-सहित सोलह अभ्ययनों से अर्थात् तदनुसार आचरण न करने से, सत्तरह प्रकार के असंयम में रहने से, अष्टारह प्रकार के अत्रह्मचर्य में वर्तने से, ज्ञातासूत्र के उन्नीस अभ्ययनों से अर्थात् तदनुसार संयम में न रहने से, बीस असमाधि के स्थानों से,—

इक्कीस शबलों से, बाईस परीपहों से अर्थात् उनको सहन न करने से, सूत्र कृताङ्ग-सूत्र के तेईस अभ्ययनों से अर्थात् तदनुसार आचरण न करने से, चौबीस देवों से अर्थात् उनकी अवहेलना करने से, पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं से अर्थात् उनका आचरण न करने से, दशा श्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार-उक्त सूत्रत्रयी के छत्तीस उद्देशनकालों से अर्थात् तदनुकूल आचरण न करने से, सत्ताईस साधु के गुणों से अर्थात् उनको पूर्णतः धारणा न करने से, आचार प्रकल्प = आचा-

रांग तथा निशीथ सूत्र के अट्टाईस अध्यायनों से अर्थात् तदनुसार आचरणा न करने से, उनतीस पाप धृत के प्रसंगों से अर्थात् मग्न आदि पाप-धृतों का प्रयोग करने से, महामोहनीय कर्म के तीस स्थानों से—

सिद्धों के इकतीस आदि गुणों से अर्थात् उनकी उचित धृष्टा तथा प्ररूपणा न करने से, बत्तीस योग स ग्रहों से अर्थात् इनका आचरणा न करने से, तेतीस आशातनाथों से [जो कोई अतिचार लगा हो उससे प्रतिक्रमणा करता है—उसका मिच्छामि दुर्कष्ट दत्ता है]

[कौन-सी तेतीस आशातनाथों से ?] अरिहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, साध्वी, आचक, आविका, दव, दवी, इहलोक, परलोक, केवल्लि-प्ररूपित धर्म, दव मनुष्य असुरों सहित समग्र लोक, समस्त प्राण — विकल त्रय, भूत — वनस्पति, जीव = पञ्चेन्द्रिय, सत्य = पृथिवी काय आदि चार स्थावर, तथैव काल, भुत = शास्त्र, भुत-देवता, वाचनाचार्य—इन सबकी आशातना से—

तथा आगमों का अभ्यास करते पूव कराते हुए दयाविद् = सूय के पाठों को या सूत्र के अक्षरों को उच्छट-पुलट आगे पीछे किया हो, दयान्ध्रेदित = शून्य मन से कई बार पढ़ता ही रहा हो, अथवा अन्य सूत्रों के प्रकार्यक, विष्णु मूलत मिश्र-मिश्र पाठ अन्य सूत्रों में मिला दिए हो, होनाचर = अक्षर छोड़ दिए हो, अक्षरचर = अक्षर बढ़ा दिए हो, पट्ट हीन = अक्षर समूहात्मक पद छोड़ दिए हों, विनय हीन = शास्त्र पूव शास्त्राभ्यासक का समुचित विनय न किया हो, घोप हीन = उदात्तादि स्वरो से रहित पद्या हो, योगहीन = उपधानादि तपो-विशेष के बिना अथवा उपयोग के बिना पद्या हो, सुषुदन्त = अधिक प्रहृष्ट करने की योग्यता न रखने वाले शिष्य को भी अधिक पाठ दिया हो, दुष्पु प्रतीक्षित = वाचनाचार्य के द्वारा दिए हुए आगम पाठ को दुष्ट भाव से प्रहृष्ट किया हो, अकाले स्वाध्याय = कालिक शृङ्खलिक सूत्रों को उनके निश्चित काल में पढ़ा हो, कातेऽध्याध्याय = विदित काल में सूत्रों को न पढ़ा हो, अस्थाध्यायिके स्वाध्यायिन = अस्था-

याय की स्थिति में स्वाध्याय किया हो; स्वाध्यायिकेऽस्वाध्यायित =
वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय न किया हो—उक्त प्रकार से श्रुत ज्ञान
की चौदह आशातनाओं से, सब मिला कर तेतीस आशातनाओं से
जो भी अतिचार लगा हो उसका दुष्कृत = पाप मेरे लिए मिथ्या हो ।

विवेचन

प्रस्तुत-सूत्र बहुत ही संक्षिप्त भाषा में, गंभीर अर्थों की सूचना
देता है । भय से लेकर आशातना तक के बोल कुछ उपादेय हैं, कुछ
ज्ञेय हैं, कुछ हेय हैं । यदि इसी प्रकार हेय, ज्ञेय, उपादेय पर दृष्टि
रखकर जीवन को साधना पथ पर प्रगतिशील बनाया जाय तो अवश्य
ही उत्तराध्ययन-सूत्र के अमर शब्दों में वह संसार के बन्धन में नहीं रह
सकता । 'से न अच्छइ मंडले ।'

इसके विपरीत आचरण करने से अर्थात् हेय को उपादेय, उपादेय
को हेय और ज्ञेय को अज्ञेय रूप समझने से एवं 'तदनुकूल प्रवृत्ति
करने से अवश्य ही आत्मा कर्म बन्धनों में बँध जाता है । ऊँचे से
ऊँचा साधक भी राग-द्वेष की मलिनता के चक्कर में आकर पतित
हुए बिना नहीं रह सकता । प्रस्तुत सूत्र में इसी विपरीत श्रद्धा, प्ररूपणा
तथा आचरण की आलोचना एवं प्रतिक्रमण करने का विधान है ।

सात भयस्थान

(१) इहलोकभय—अपनी ही जाति के प्राणी से डरना, इहलोक-
भय है । जैसे मनुष्य का मनुष्य से, तिर्यँचका तिर्यँच से डरना ।

(२) परलोकभय—दूसरी जाति वाले प्राणी से डरना, परलोक
भय है । जैसे मनुष्य का देव से या तिर्यँच आदि से डरना ।

(३) आदानभय—अपनी वस्तु की रक्षा के लिए चोर आदि से
डरना ।

(४) अकस्माद्भय—किसी बाह्य निमित्त के बिना अपने आप
ही सशंक होकर रात्रि आदि में अचानक डरने लगना ।

(१) आजीवनमय—दुर्भिक्ष आदि में जीवन यात्रा के लिए मोहन आदि की अप्रति के दुर्भिक्ष से डरना ।

(६) मरणमय—मृत्यु से डरना ।

(७) अरलोकमय—अपराध की आशंका से डरना ।

उक्त मान भय समवायाग-सूत्र के अनुसार है ।

भय मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले आत्मा के उद्वेगस्थ परिणाम विशेष को भय कहते हैं । उसके उपसुक्त सात स्थान—कारण है । सधु को किसी भी भय के आगे अपने आपको नहीं मुकाना चाहिए । निर्मय होने का अर्थ है—‘न स्वयं भयभीत होना और न किसी दूसरे को भयभीत करना ।’ भय के द्वारा संयम जीवन दूषित होता है, तदर्थ भय का प्रतिक्रमण किया जाना है ।

आठ मद स्थान^१

(१) आतिमद—ऊँची और भ्रष्ट जाति का अभिमान !

(२) कुलमद—ऊँचे कुल का अभिमान ।

(३) बलमद—अपने बल का घमण्ड करना ।

१ ‘स्थान’ शब्द का अर्थ हेतु अर्थात् कारण किया है । अतः जाति, कुल आदि जो आठ मद के कारण हैं, मैं उनका प्रतिक्रमण करता हूँ । अमरदेव समवायाग सूत्र की टीका में स्थान शब्द का अर्थ आश्रय अर्थात् आधार—कारण करते हैं । ‘मदस्य-अभिमानस्य स्थानानि = आश्रयाः मदस्थानानि ज्ञात्वाद्गोनि ।’—समवायाग वृत्ति ।

आचार्य जिनदाग स्थान का अर्थ ‘पर्याय अर्थात् भेद’ करते हैं । “मदो नाम मानोद्वादात्मोक्त्यपरिणामः । स्थानानि—तस्यैव पर्याया भेदाः । “तानि च अष्टौ—आतिमद, कुलमद, बलमद—” ।

—आवरण चूने^२

आचार्य जिनदाग के उक्त अभिमान को हरिमद और अमरदेव भी स्वीकार करते हैं ।

(४) रूपमद—अपने रूप, सौन्दर्य का गर्व करना ।

(५) तपमद—उग्र तपस्वी होने का अभिमान ।

(६) श्रुतमद—शान्नाभ्यास का अर्थात् पण्डित होने का अभिमान ।

(७) लाभमद—अभीष्ट वस्तु के मिल जाने पर अपने लाभ का अहंकार ।

(८) ऐश्वर्यमद—अपने ऐश्वर्य अर्थात् प्रभुत्व का अहंकार ।

ये आठमद समवायांग-सूत्र के उल्लेखानुसार हैं ।

मान मोहनीय कर्म के उदय से जन्य ये आठों ही मद सर्वथा त्याज्य हैं । यदि कभी प्रमादवश आठों मदों में से किसी भी मद का आसेवन कर लिया गया हो तो तदर्थ हार्दिक प्रतिक्रमण करना उचित है ।

नौ ब्रह्मचर्य-गुप्ति

(१) विविक्त-वसति-सेवन—स्त्री, पशु और नपुंसकों से युक्त स्थान में न टहरे ।

(२) स्त्री कथा परिहार—स्त्रियों की कथा-चर्चा, सौन्दर्य आदि की चर्चा न करे ।

(३) निषद्यानुपवेशन—स्त्री के साथ एक आसन पर न बैठे, उसके उठ जाने पर भी एक मुहूर्त तक उस आसन पर न बैठे ।

(४) स्त्री-अंगोपांगादर्शन—स्त्रियों के मनोहर अंग उपांग न देखे । यदि कभी अकस्मात् दृष्टि पड़ जाय तो सहसा हटा ले, फिर उसका ध्यान न करे ।

(५) कुड्यान्तर-शब्दश्रवणादि-वर्जन—दीवार आदि की आड़ से स्त्री के शब्द, गीत, रस आदि न सुने और न देखे ।

(६) पूर्वभोगाऽस्मरण—बहले भोगे हुए भोगों का स्मरण न करे ।

(७) प्रणीत भोजन-त्याग—विकारोत्पादक गरिष्ठ भोजन न करे ।

(८) अतिमात्रभोजन-त्याग—रूखा-सूखा भोजन भी अधिक न

करे। आधा पेट अन्न से भरे, आधे में से दो भाग पानी के लिए और एक भाग दवा के लिए छोड़ दे।

(६) निभूत-परिवर्तन—अग्ने शरीर की निभूत = गन्नाष्ट न करे।^१

ब्रह्म का अर्थ 'परमात्मा' है। आत्मा की परमात्मा बनाने के लिए जो चर्चा = गमन किया जाता है, उसका नाम ब्रह्मचर्य है। शारीरिक और आध्यात्मिक सभी शक्तियों का आधार ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए जो गति आवश्यक है, वे जो ही गुतिपद मान्य हैं। मियों की ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए उपयुक्त वर्णन में स्त्री के स्थान में पुरुष समझना चाहिए।

यदि साधना करते हुए कहीं भी समादरश नौ गुतियों का अनि-
वमण किया हो, अर्थात् प्रतिनिद्ध कायों का आचरण किया हो तो उसका प्रस्ता सूत्र के द्वारा प्रतिनिमण किया जाता है।

१ यह गुतियों का वर्णन, उत्तराध्वयन-सूत्र के १६ वे अध्वयन के अनुसार किया गया है। परन्तु समसायाग सूत्र में गुतियों का उल्लेख अन्य रूप में किया है। कहाँ क्या मेरु है, यहाँ सञ्चर में बताया जाता है।
समसायाग सूत्र में तीसरी गुति, स्त्रियों के समुदाय के साथ निरुद-
मगर्क रहना है। 'नो इधीण' गणाहं सेविता मवद, ३।'

समसायाग सूत्र में मल्लीतरस भोजन त्याग और अनि भोजन त्याग गुति की सत्या नमश' पौचयी तथा छुटी है। पूर्वभोग स्मरण का त्याग तथा शुद्ध रुग्णानुगतिना आदि का त्याग सातवे और आठवे नंबर पर है।

समसायाग सूत्र में, नीची गुति का स्वरूप, सामारिक सुखोपभोग की आसक्ति का त्याग है। यह निभूतानुगतिता से अधिक व्यापक है। किसी भी प्रकार के सुखोपभोग की कामना अब्रह्मचर्य है। 'नो साया-सोवण-
स्त्रिबदे वा वि मरु ४। ३।' समसायाग सूत्र नवम समसार।

दश श्रमण धर्म

(१) क्षान्ति = क्रोध न करना ।

(२) मार्दव = मृदु भाव रखना, जाति कुल आदि का अहंकार न करना ।

(३) आर्जव = ऋजुभाव-सरलता रखना, माया न करना ।

(४) मुक्ति = निर्लोभता रखना, लोभ न करना ।

(५) तप = अनशन आदि द्वारह प्रकार का तपश्चरण करना ।

(६) संयम = हिंसा आदि आश्रयों का निरोध करना ।

(७) सत्य = सत्य भाषण करना, झूठ न बोलना ।

(८) शौच = संयम में दूषण न लगाना, संयम के प्रति निरुपलेप्ता-पवित्रता रखना ।

(९) आर्किचन्य = परिग्रह न रखना ।

(१०) ब्रह्मचर्य = ब्रह्मचर्य का पालन करना ।

यह दशविध श्रमण धर्म, आचार्य हरिभद्र के द्वारा उद्धृत प्राचीन संग्रहणी गाथा के अनुसार है—

खंती य सद्वज्जव,

मुत्ती तव संजमे य वोद्धव्वे ।

सच्चं सोयं आर्किचणं च,

बंभं च जइ - धम्मो ॥

समवायांग सूत्र का उल्लेख इस प्रकार है—‘खंती, मुत्ती, अज्जवे, नद्वे, लाधवे, सच्चे, संजमे, तवे, चयाए, बंभचेरवासे ।’ स्थानांग सूत्र में भी ऐसा ही मूल पाठ है ।

आचार्य हरिभद्र ने ‘अन्ये त्वेव’ वदन्ति’ कहकर दशविध श्रमण-धर्म के लिए एक और प्राचीन गाथा मतान्तर के रूप में उद्धृत की है—

संती मुत्ती अज्जव,

मद्व तह लाघवे तवे चेव;

संजम चियागऽकिंचण,

बोद्धव्वे वंभचेरे य ।

आचार्य हरिभद्र लाघव का अमतिवृद्धता-अनासक्तता और त्याग का सधमी साधकों को बस्त्रादि का दान, ऐसा अर्थ करते हैं। 'लाघव'-अप्रतिबद्धता, त्याग-संयतेभ्यो वस्त्रादिदानम् ।' आवश्यक शिक्षादिता टीका ।

आचार्य अभयदेव, समानागम सूत्र की टीका में लाघव का अर्थ द्रव्य से अल्प उपधि रखना और भाव से गौरव का त्याग करना, करते हैं—'लाघव' द्रव्यतोऽल्पोपधित्वा, भावतो गौरव-त्यागः ।'

श्री अभयदेव ने 'चियाए'-'त्याग' का अर्थ सन प्रकार के आश्रमों का त्याग अथवा साधुओं को दान करना, किया है। 'त्यागः सर्व-सङ्गानां, संविग्न मनोज्ञसाधुदानं वा ।'

स्थानागम सूत्र के दशम स्थान में दशविध अमण धर्म की व्याख्या करते हुए श्री अभयदेव ने 'चियाए' का केवल सामान्यतः दान अर्थ ही किया है 'चियाएत्ति त्यागो दानधर्म' इति ।'

आचार्य जिनदास, आवश्यक चूर्णि में अमण धर्म का उल्लेख इस प्रकार करते हैं—'उत्तमा लमा, मद्व', अज्जव', मुत्ती, सोय', सज्जो, संजमो, तवो, अकिंचणत्तण', वंभचेरमिति ।' आचार्य ने लमा से पूर्व उत्तम शब्द का प्रयोग बहुत सुन्दर किया है। उसका सम्बन्ध प्रत्येक धर्म से है, जैसे उत्तम लमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव आदि। लमा आदि धर्म सभी हो सकते हैं, जब कि वे उत्तम हों, शुद्धमान से किए गए हों, उनमें किसी प्रकार से प्रवचना का भाव न हो। आचार्य श्री उमास्वाति भी तत्त्वार्थ सूत्र में लमा आदि से पूर्व उत्तम विशेषण का उल्लेख करते हैं।

आचार्य जिनदास शौच का अर्थ 'धर्मोपकरण में भी अनासक्त भावना' करते हैं। 'सोयं अलुब्धा धम्मोवगरणेसु वि।' अकिंचनत्व का अर्थ, अपने देहादि में भी निःसंगता रखना, किया है। 'नथि जरस किंचणं सो अकिंचणो, तस्स भावो आकिंचणियं।' 'सदेहादिषु वि निस्संगेण भवित्तव'। आवश्यक चूर्णि

दशविध श्रमण धर्म में मूल और उत्तर दोनों ही श्रमण-गुणों का समावेश हो जाता है। संयम = प्राणातिगत विरति, सत्य = मृपानाद विरति, अकिंचनत्व = अदत्तादान और परिग्रह से विरति, ब्रह्मचर्य = मैथुन से विरति। ये पंचमहाव्रत रूप मूल गुण हैं। क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, और तप—ये सब उत्तर गुण हैं।

आध्यात्मिक साधना में अहर्निश श्रम करने वाले सर्वश्रित साधक को श्रमण कहते हैं। श्रमण के 'धर्म' श्रमण-धर्म कहलाते हैं। उक्त दशविध मुनिधर्मों की उचित श्रद्धा, प्ररूपणा तथा आसेवना न की हो तो तत्रन्य दोषों का प्रतिक्रमण किया जाता है।

ग्यारह उपासक प्रतिमा

(१) दर्शन प्रतिमा—किमी भी प्रकार का राजाभियोग आदि आगार न रखकर शुद्ध, निरतिचार, विधिपूर्वक सम्यग्दर्शन का पालन करना। यह प्रतिमा व्रतरहित दर्शन थावक की होती है। इसमें मिथ्यात्व रूप कदाग्रह का त्याग मुख्य है। 'सम्यग्दर्शनस्य शङ्कादिशङ्करहितस्य अणुवत्तादि-गुणधिकलस्य योऽभ्युपगमः। सा प्रतिमा प्रथमेति।' अभयदेव, समवा-यांग वृत्ति। इस प्रतिमा का आराधन एक मास तक किया जाता है।

(२) व्रत प्रतिमा—व्रती थावक सम्यक्त्व लाभ के बाद व्रतों की साधना करता है। पाँच अणुव्रत आदि व्रतों की प्रतिज्ञाओं को अच्छी तरह निभाता है, किन्तु सामायिक का यथासमय सम्यक् पालन नहीं करता। यह प्रतिमा दो मास की होती है।

(३) सामायिक प्रतिमा—इस प्रतिमा में प्रातः और सायंकाल

गमायित वन की लपटना निरतिचार पालन करने लगता है, ममभार हट हो जाता है। किन्तु पर्वदिना में वीरधर्म का गम्भीर पालन नहीं कर पाता। यह प्रतिमा तीन मास की होती है।

(४) वीरधर्म प्रतिमा—अष्टमी, चतुर्दशी, अमास्या और पूर्णिमा आदि पर्व दिना में आहार, शरीर गस्कार, अन्नचर्य, और व्याहार का त्याग इस प्रकार चतुर्विध त्याग्य प्रति पूर्ण वीरधर्म पालन करना, वीरधर्म प्रतिमा है। यह प्रतिमा चार मास की होती है।

(५) नियम प्रतिमा—उपयुक्त सभी प्रतीकों का मानी मॉने पालन करते हुए प्रस्तुत प्रतिमा में निम्नोक्त शर्तों विशेष रूप से धारण करनी होती है—यह स्नान नहीं करता, रात्रि में चाहे आहार का त्याग करता है। दिन में भी प्रशमन होता है। धोनी की लाँग नहीं देता दिन में नक्षत्रादी रहता है, रात्रि में मैथुन की मर्यादा करता है। वीरधर्म होने पर रात्रि मैथुन का त्याग और रात्रि में कायोर्ग करना होता है। यह प्रतिमा कम से कम एक दिन, दो दिन आदि और अधिक से अधिक पौन मास तक होती है।

(६) ब्रह्मचर्य प्रतिमा—ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करना। इस प्रतिमा की काल मर्यादा अल्पतम एक रात्रि की और उत्कृष्ट छह मास की है।

(७) सचित्त त्याग प्रतिमा—सचित्त आहार का सर्वथा त्याग करना। यह प्रतिमा अल्पतम एक रात्रि की और उत्कृष्ट काल मान से सात मास की होती है।

(८) आरम्भ त्याग प्रतिमा—इस प्रतिमा में स्वयं आरम्भ नहीं करता, छः काय के जीवों की दया पालता है। इसकी काल मर्यादा अल्पतम एक, दो, तीन दिन और उत्कृष्ट आठ मास होती है।

(९) प्रेक्ष्य त्याग प्रतिमा—इस प्रतिमा में दूसरों के द्वारा आरम्भ करने का भी त्याग होता है। यह स्वयं आरम्भ नहीं करता, न दूसरों से कराता है, किन्तु अनुमोदन का उसे त्याग नहीं होता। इस प्रतिमा का अल्पतम काल एक, दो, तीन दिन है। और उत्कृष्ट काल नौ मास है।

(१०) उद्दिष्ट भक्त त्याग प्रतिमा—इस प्रतिमा में उद्दिष्ट भक्त का भी त्याग होता है। अर्थात् अपने निमित्त बनाया गया भोजन भी ग्रहण नहीं किया जाता। उस्तरे से सर्वथा शिरो मुण्डन करना होता है, या शिखामात्र रखनी होती है। किसी गृह-सम्बन्धी विषयों के पूछे जाने पर यदि जानता है तो जानता हूँ और यदि नहीं जानता है तो नहीं जानता हूँ—इतना मात्र कहे। यह प्रतिमा जघन्य एक रात्रि की, उत्कृष्ट दश मास की होती है।

(११) श्रमणभूत प्रतिमा—इस प्रतिमा में श्रावक श्रमण तो नहीं किन्तु श्रमण भूत = मुनिसदृश हो जाता है। साधु के समान वेप बनाकर और साधु के योग्य ही भाण्डोपकरण धारण करके विचरता है। शक्ति हो तो लुञ्चन करता है, अन्यथा उस्तरे से शिरोमुण्डन कराता है। साधु के समान ही निर्दोष गोचरी करके भिक्षावृत्ति से जीवन यात्रा चलाता है। इसका कालमान जघन्य एक रात्रि अर्थात् एक दिन रात और उत्कृष्ट ग्यारह मास होता है।

प्रतिमाओं के कालमान के सम्बन्ध में कुछ मतभेद हैं। आगमों के टीकाकार कुछ आचार्य कहते हैं कि सब प्रतिमाओं का जघन्यकाल एक, दो, तीन आदि का होता है और उत्कृष्ट काल क्रमशः एक मास, दो मास यावत् ग्यारहवीं प्रतिमा का ग्यारह मास होता है। उत्तराध्ययन सूत्र की टीका में भावविजयजी लिखते हैं—‘इह या प्रतिमा यावत्-संख्या स्यात् सा उत्कर्षतस्तावन्मासमाना यावदेकादशी एकादशमास प्रमाणा। जघन्यतस्तु सर्वा अपि एकाहादिमानाः स्युः।’ उत्तराध्ययन ३१।११।

दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र में ग्यारह प्रतिमाओं का विस्तार से वर्णन है। परन्तु वहाँ पहली चार प्रतिमाओं के काल का उल्लेख नहीं है। हाँ पाँचवीं से ग्यारहवीं प्रतिमा तक के काल का उल्लेख वही है, जो हमने ऊपर लिखा है। अर्थात् जघन्य एक, दो, तीन दिन आदि और उत्कृष्ट क्रमशः पाँच, छह, सात यावत् ग्यारह मास। परन्तु आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज अपनी दशाश्रुत स्कन्ध की टीका में वही उल्लेख

करते हैं, जो हमने प्रतिमाओं के दर्शन में कालमान के सम्बन्ध में निम्ना है। अर्थात् एक मास से लेकर यावत् ग्यारहवीं प्रतिमा के ग्यारह मास। परन्तु इस मास-वृद्धि में वे पूर्व की प्रतिमाओं के काल को मिलाने का उल्लेख करते हैं। जैसे वे प्रत्येक प्रतिमा पर काल एक मास ही मानते हैं। उनके कथनानुसार, जैसा कि वे दूसरी प्रतिमा के दर्शन में लिखते हैं,—‘इस प्रतिमा के लिए दो मास समय अर्थात् एक मास पहली प्रतिमा का और एक मास इस प्रतिमा का निर्धारित किया है।’ मग्न प्रतिमाओं का काल ग्यारह मास ही होना चाहिए। परन्तु आचार्य भी उस हार में सब प्रतिमाओं का पूर्णकाल साठे पाँच वर्ष लिखते हैं। यह दोहरे में भ्रम कैसे हुई? पूर्णार का विशेष संगति चाहता है।

प्रतिमाधारक भारक, प्रतिमा की पूर्ति के बाद संयम ग्रहण कर लेता है। यदि इसी बीच में मृत्यु हो जाय तो स्वर्गोद्दी जनता है। ‘तत्प्रतिपत्तेरन्तरमेकादिभिर्दिनैः संयम प्रतिपत्त्या जीवितवयाद् वा।’ भागवतव्य, उत्तराख्ययन वृत्ति २१। ११।

परन्तु यह नियमन संयम ग्रहण करने का मत कुछ आचार्यों को अभीष्ट नहीं है। कार्तिक मेढ ने भी बार प्रतिमा ग्रहण की थी, ऐसा उल्लेख भी मिलता है।

पूर्व-पूर्व प्रतिमाओं की चर्चा उत्तरोत्तर अर्थात् आगे की प्रतिमाओं में भी चालू रहती है। देखिए, भागवतव्य की क्या लिखते हैं ? ‘प्रथमोक्तं च अनुष्ठानमपेक्षनायां सर्वं कार्यं वापदेकादश्यां पूर्वप्रतिमा-दर्शोऽवधि।’ उत्तराख्ययन २१। ११

उत्तराख्य का अर्थ भागक होता है। और प्रतिमा का अर्थ—प्रतिमा = प्रतिपद है। उत्तराख्य की प्रतिमा, उत्तराख्य प्रतिमा कहलाती है।

ग्यारह उत्तराख्य प्रतिमाओं का मास के लिए आनेवार यह है कि इन पर भद्रा न करना, अथवा इनकी विशेष प्रशंसा करना। इसी अभद्रा एवं विपरीत प्रशंसा का यही प्रतिफल है।

वारह भिक्षु-प्रतिमा

(१) प्रथम प्रतिमाधारी भिक्षु को एक दत्ति अन्न की और एक दत्ति पानी की लेना फल्यता है। साधु के पात्र में दाता द्वारा दिए जाने वाले अन्न और जल की धारा जब तक अखण्ड बनी रहे, उसका नाम दत्ति है। धारा खण्डित होने पर दत्ति की समाप्ति हो जाती है। जहाँ एक व्यक्ति के लिए भोजन बना हो वहाँ से लेना चाहिए, किन्तु जहाँ दो तीन आदि अधिक व्यक्तियों के लिए भोजन बना हो, वहाँ से नहीं लेना। इसका समय एक महीना है।

(२-७) दूसरी प्रतिमा भी एक मास की है। दो दत्ति आहार की, दो दत्ति पानी की लेनी। इसी प्रकार तीसरी, चौथी, पाँचवीं, छठी और सातवीं प्रतिमाओं में क्रमशः तीन, चार, पाँच, छह और सात दत्ति अन्न की और उतनी ही पानी की ग्रहण की जाती हैं। प्रत्येक प्रतिमा का समय एक-एक मास है। केवल दत्तियों की वृद्धि के कारण ही ये क्रमशः द्विमासिकी, त्रिमासिकी, चतुर्मासिकी, पञ्चमासिकी, षण्मासिकी, और सप्तमासिकी कहलाती हैं।

(८) यह आठवीं प्रतिमा सप्तरात्रि = सात दिन रात की होती है। इसमें एकान्तर चौविहार उपवास करना होता है। गाँव के बाहर उत्तानामन (आकाश की ओर मुँह करके सीधा लेटना), पार्श्वामन (एक करबट से लेटना) अथवा निपद्यासन (पैरों को बराबर करके बैठना) से ध्यान लगाना चाहिए। उपसर्ग आए तो शान्त चित्त से सहन करना चाहिए।

(९) यह प्रतिमा भी सप्तरात्रि की होती है। इसमें चौविहार तेल-तेले पारणा किया जाता है। गाँव के बाहर एकान्त स्थान में दण्डासन, लघुडासन अथवा उत्कटुकासन से ध्यान किया जाता है।

(१०) यह भी सप्तरात्रि की होती है। इसमें चौविहार तेल-तेले पारणा किया जाता है। गाँव के बाहर गोदोहनासन, वीरासन अथवा आम्रकुब्जामन से ध्यान किया जाता है।

(२) अनर्थ क्रिया—विना किसी प्रयोजन के किया जानेवाला पार कर्म अनर्थ क्रिया कहलाता है । व्यर्थ ही किसी को संताना, पीड़ा देना ।

(३) हिंसा क्रिया—असुक व्यक्ति मुझे अथवा मेरे स्नेहियों को कष्ट देता है, देगा, अथवा दिया है—यह सोच कर किसी प्राणी की हिंसा करना, हिंसा क्रिया है ।

(४) अकस्मात् क्रिया—शीघ्रतावश विना जाने हो जाने वाला पाप, अकस्मात् क्रिया कहलाता है । वाणादि से अन्य की हत्या करते हुए अन्तर्गत ही अन्य किसी की हत्या हो जाना ।

(५) दृष्टि विपर्यास क्रिया—मति-भ्रम से होने वाला पाप । चौरादि के भ्रम में साधारण अनपराधी पुरुष को दण्ड दे देना ।

(६) सृष्टा क्रिया—भूट डोलना ।

(७) अदत्तादान क्रिया—चोरी करना ।

(८) अश्यात्म क्रिया—वाह्य निमित्त के यिना मन में होने वाला शोक आदि का दुर्भाव ।

(९) मान क्रिया—अपनी प्रशंसा करना, घमण्ड करना ॥

(१०) मित्र क्रिया—प्रियजनों को कठोर दण्ड देना ।

(११) माया क्रिया—दम्भ करना ।

(१२) लोभ क्रिया—लोभ करना ।

(१३) ईर्ष्यापथिकी क्रिया—अप्रमत्त विवेकी संयमी को गमना-गमन से लगने वाली क्रिया ।

चौदह भूतग्राम = जीवसमूह

सूक्ष्म एकेन्द्रिय, वायु एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असेंजी पञ्चेन्द्रिय और संजी पञ्चेन्द्रिय । इन सातों के पर्याप्त और अपर्याप्त—कुल चौदह भेद होते हैं । इनकी विराधना करना, किसी भी प्रकार की पीड़ा देना, अतिचार है ।

कुछ आचार्य भूतग्राम से चौदह गुण स्थानवर्ती जीव समूहों का उल्लेख करते हैं । देखिए—आवश्यक चूणि तथा हरिभद्र कृत आवश्यक टीका ।

पंदरह परमाधार्मिक

(१) अन्न (२) अम्बुगी (३) रसाम (४) शयन (५)
रत्न (६) उपरौद्र (७) काल (८) मत्तमाल (९) अमिष (१०)
घनुः (११) कुम्भ (१२) बालुक (१३) वैराग्य (१४) मरसर (१५)
महायोग । ये परम अधार्मिक, पागचारी, नूर एवं निर्दय अमुर जालि के
देर हैं । नारकीय जीसों को व्यर्थ ही, केवल मनोभिन्नोद के लिए यातना
देते हैं । जिन संकलित रूप परिणामों से परमाधार्मिकता होता है, उनमें
प्रवृत्ति करना अनिवार है । उन अनिवारों का प्रतिप्रमण यहाँ अभीष्ट
है । 'एतज्जैहि परमाधम्मियत्तणु' भवति तेसु दाणेसु ज चट्ठिं ।'
—जिनदास महत्तर ।

गाथा षोडशक

(१) मगमय परममय (२) वैशालीर (३) उपर्गा पणिता
(४) स्त्री परिणा (५) नरक विपत्ति (६) वीर स्तुति (७) कुशल

१—गाथा षोडशक का अभिप्राय यह है कि 'गाथा नामक सोलहवों
अध्ययन है जिनका, वे मूलकृतांग-मूल के प्रथम भुक्तम्बु के मोतह
अध्ययन ।' आचार्य अमरदेव समरायांग मूल की टीसा में उक्त शब्द
पर विवेचन करते हुए लिखते हैं—'गाथाभिधान मध्ययन षोडशं येषां
तानि गाथाषोडशकानि ।' श्री भावविजयजी भी उत्तराध्ययनान्तर्गत
चरण विधि अध्ययन की व्याख्या में ऐसा ही अर्थ करते हैं । श्री जिनदास
महत्तर भी आनन्दक चूखि में लिखते हैं—'गाथाए सह सोलह
अध्यायणा तेसु, सुत्तगठपदमसुवत्तव च अम्बुपणेषु इत्यर्थः ।'

परन्तु आचार्य श्री आम्मारामजी उत्तराध्ययन-मूल में उक्त शब्द का
भावार्थ लिखते हैं कि 'गाथा नामक सोलहवें अध्ययनमें ।'—उत्तराध्ययन
३१ । १३ । मालूम होता है आचार्यजी ने शब्दगत बहुवचन पर
ध्यान नहीं दिया है, फलतः उन्हें बहुव्रीहि समास का ध्यान
नहीं रहा ।

परिभाषा (८) वीर्य (९) धर्म (१०) समाधि (११) मार्ग (१२)
समवसरण (१३) याथातथ्य (१४) ग्रन्थ (१५) आदानीय (१६) गाथा ।

ये सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के गाथा षोडशक = सोलह
अध्ययन हैं । अध्ययनोक्त आचार-विचार का भलीभाँति पालन न करना,
अतिचार है ।

सत्तरह असंयम

(१-६) पृथिवीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, और वनस्पति-
काय तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीवों की हिंसा
करना, कराना, अनुमोदन करना ।

(१०) अजीव असंयम = अजीव होने पर भी जिन वस्तुओं के द्वारा
असंयम होता है, उन बहुमूल्य वस्त्रपात्र आदि का ग्रहण करना अजीव
असंयम है ।

(११) प्रेक्षा असंयम = जीव-सहित स्थान में उठना, बैठना, सोना
आदि ।

(१२) उपेक्षा असंयम = गृहस्थ के पाप कर्मों का अनुमोदन करना ।

(१३) अपहृत्य असंयम = अविधि से परटना । इसे परिग्रहना असंयम
भी कहते हैं ।

(१४) प्रमार्जना असंयम = वस्त्रपात्र आदि का प्रमार्जन न करना ।

(१५) मनः असंयम = मन में दुर्भाव रखना ।

(१६) वचन असंयम = कुवचन बोलना ।

(१७) काय असंयम = गमनागमनादि में असावधान रहना ।

ये सत्तरह असंयम समवायांग सूत्र में कहे गए हैं ।

असंयम के अन्य भी सत्तरह प्रकार हैं—हिंसा, असत्य, अस्तेय,
अब्रह्मचर्य, परिग्रह, पाँचों इन्द्रियों की उच्छृङ्खल प्रवृत्ति, चार कपाय
और तीन योगों की अशुभ प्रवृत्ति ।

आचार्य हरिभद्र ने आवश्यक में 'असंजमे' के स्थान में

। जमे' का उल्लेख किया है। 'स जमे' का अर्थ मंथन है। संयम के । श्रुती काय-मंथन आदि सतरह भेद हैं।

ठारह अवयवचये

देव सम्बन्धी भोगों का मन, वचन और काय से स्वयं सेवन करना, मरों से कराना, तथा करते हुए को भला जानना—इस प्रकार नौ भेद वैष्णव शरीर सम्बन्धी होते हैं। मनुष्य तथा तिर्यञ्च सम्बन्धी श्रौतारिक भोगों के भी इसी तरह नौ भेद समझ लेने चाहिएँ। कुल मिलाकर अठारह भेद होते हैं।

[समभाषाग]

ताता धर्म कथा के १६ अध्ययन

(१) उज्जित अर्थात् मेघदुमार, (२) संघाट (३) अरुड (४) कुम्भ (५) शैलक (६) तुम्ब (७) सेहिणी (८) मल्ली (९) माकली (१०) चन्द्रमा (११) शम्भु (१२) उदक (१३) मण्डक (१४) लेवलि (१५) नन्दी पल (१६) अरुण कला (१७) आनीर्ण्य (१८) सुमुमादार्क (१९) पुण्डरीक । उक्त उन्नीस उदाहरणों के भागानुसार माधुर्य की मायना न करना, अनिचार है।

बीस असमाधि

- (१) द्रुत द्रुग चरित्व = झट्टी झट्टी चलना ।
- (२) अप्रमृश्य चरित्व = बिना घूँसे राखे आदि में चलना ।
- (३) दुष्प्रमृश्य चरित्व = बिना उपयोग के प्रमादित करना ।
- (४) अतिरिक्त शय्यसन्निकष = अनर्थादित शय्या और आसन रचना ।
- (५) शक्ति पराम्भ = गुह्यता का आग्रह करना ।
- (६) स्वविशेषात = स्वविशेषों का उपहनन = अवहेलना करना ।
- (७) भूतोपगत = भूत जीवों का उपहनन (हिंसा) करना ।
- (८) संग्रहण = प्रतिक्षण धानी मार मार क्रुद्ध होना ।

- (९) दीर्घ कोप = चिरकाल तक क्रोध रखना ।
 (१०) पृष्ठ मांसिकत्व = पीठ पीछे निन्दा करना ।
 (११) अभिज्ञानावभाषण = मशक होने पर भी निश्चित भाषा बोलना ।
 (१२) नवाधिकरण करण = नित्य नए कलह करना ।
 (१३) उपशान्तकलहोदीरण = शान्त कलह को पुनः उत्तेजित करना ।
 (१४) अकालस्वाध्याय = अकाल में स्वाध्याय करना ।
 (१५) मरजस्कपाणि-भिन्नाग्रहण = सचित्तगज सहित हाथ आदि से भिन्ना लेना ।
 (१६) शब्दकरण = पहर रात धीमे विकाल में जोर से बोलना ।
 (१७) संज्ञाकरण = गण-भेदकारी अर्थात् संघ में फूट डालने वाले वचन बोलना ।
 (१८) कलह करण = आक्रोश आदि रूप कलह करना ।
 (१९) सूर्यप्रमाण भोजित्व = दिन भर कुछ न कुछ खाते-पीते रहना ।
 (२०) एवणाऽसमितत्व = एवणा समिति का उचित ध्यान न रखना ।

जिस मत्कार्य के करने से चित्त में शान्ति हो, आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप मोक्षमार्ग में अवस्थित रहे, उसे समाधि कहते हैं । और जिस कार्य से चित्त में अप्रशस्त एवं अशान्त भाव हो, ज्ञानादि मोक्षमार्ग से आत्मा भ्रष्ट हो उसे असमाधि कहते हैं । उपर्युक्त बीस कार्यों के आचरण से अपने और दूसरे जीवों को असमाधि भाव उत्पन्न होता है, साधक की आत्मा दूषित होती है, और उसका चारित्र मलिन होता है, अतः इन्हें असमाधि कहा जाता है ।

‘समाधानं समाधिः—चेतसः स्वास्थ्यं, मोक्षमार्गेऽवस्थितिरित्यर्थः । न समाधिरसमाधिस्तस्य स्थानानि—आध्रया भेदाः पर्याया असमाधि-स्थानानि ।’ आचार्य हरिभद्र

श्रमणारि-स्थाना के आसेवन से जहाँ कहीं आत्मा संयम भ्रष्ट हुआ हो, उसका प्रतिनमण प्रस्तुत पाठ के द्वारा किया जाता है।

इकोस शवल दोष

(१) हस्तकर्म = हस्त मैथुन करना।

(२) मैथुन = स्त्री स्पर्श आदि मैथुन करना।

(३) रात्रिभोजन = रात्रि में भोजन लेना और करना।

(४) आधाकर्म = साधु के निमित्त से उनाया गया भोजन लेना।

५) सागारिकपिण्ड = शय्यातर अर्थात् स्थानदाता का

आहार लेना।

(६) औद्देशिक = साधु के या याचका के निमित्त उनाया गया, दीन = खरीदा हुआ आहार, आहृत = स्थान पर लाकर दिया हुआ, शमित्य = उधार लाया हुआ, आच्छिन्न = छीन कर लाया हुआ आहार लेना।

(७) प्रदिया-स्थान भग = बारम्बार प्रत्याख्यान भंग करना।

(८) गणपरिवर्तन = छह मास में गण से गणान्तर में जाना।

(९) उदक लेष = एक मास में तीन बार नाभि या जघन प्रमाण जन में प्रवेश कर नंगे आदि पार करना।

(१०) मातृ स्थान = एक मास में तीन बार माया स्थान सेवन करना। अर्थात् दूध अम्लाध छुग लेना।

(११) राजपिण्ड = राजपिण्ड ग्रहण करना।

(१२) आकुट्टया हिसा = जानबूझ कर दिसा करना।

(१३) आकुट्टया स्या = जानबूझ कर झूठ बोलना।

(१४) आकुट्टया अरपादन = जानबूझ कर चोरी करना।

(१५) सचित्पृथिवी स्पर्श = जानबूझ कर सचित् पृथिवी पर बैठना, खाना, खड़े होना।

(१६) इसी प्रकार सचित्त जल से सलिन्य और सचित्त रज वाली पृथिवी, सचित्त शिला अथवा सुर्गा वाली लकड़ी आदि पर बैठना, सेना, क्राण्मर्ग आदि करना शवल दोष है।

(१७) जीवों वाले स्थान पर तथा प्राणी, वीज, हस्ति, क्रीड़ीनगरा, लीलनफूलन, पानी, कीचड़, और मकड़ी के जालों वाले स्थान पर बैठना, सोना, कायोत्सर्ग आदि करना शत्रुल दोष है ।

(१८) जानवृक्ष कर कन्द, मूल, छाल, प्रवाल, पुष्प, फूल, वीज, तथा हरितकाय का भोजन करना ।

(१९) वर्ष के अन्दर दस बार उदक लेप = नदी पार करना ।

(२०) वर्ष में दस माया स्थानों का सेवन करना ।

(२१) जानवृक्ष कर सचित्त जल वाले हाथ से तथा सचित्त जल सहित कड़ुछी आदि से दिया जानेवाला आहार ग्रहण करना ।

उपर्युक्त शत्रुल दोष साधु के लिए सर्वथा त्याज्य हैं । जिन कार्यों के करने से चारित्र्य की निर्मलता नष्ट हो जाती है, चारित्र्य मलक्लिन्न होने के कारण कर्बुर हो जाता है, उन्हें शत्रुल दोष कहते हैं । उक्त दोषों के सेवन करने वाले साधु भी शत्रुल कहलाते हैं । 'शत्रुलं-कर्बुरं चारित्र्यं यैः क्रियाविशेषैर्भवति ते शत्रुलास्तद्योगात्साधवोऽपि ।'

—अभयदेव समवा० टीका ।

उत्तरगुणों में अतिक्रमादि चारों दोषों का एवं मूल गुणों में अनाचार के सिवा तीन दोषों का सेवन करने से चारित्र्य शत्रुल होता है ।
चाईस परीपह

(१) क्षुधा = भूख (२) पिशाङ्ग = प्यास (३) शीत = ठंड (४) उष्ण = गर्मी (५) दंशमशक (६) अचेल = वस्त्राभांश का कट (७) अरति = कठिनाइयों से घबरा कर संयम के प्रति होने वाला उदासीनता (८) स्त्री परीपह (९) चर्या = विहार यात्रा में होने वाला गमनादि कष्ट (१०) नैपेथिकी = स्वाध्याय भूमि आदि में होने वाले उपद्रव (११) शय्या = निवास स्थान की प्रतिकूलता (१२) आक्रोश = दुर्वचन (१३) वध = लकड़ी आदि की मार सहना (१४) याचना (१५) अलाम्ब (१६) रोग (१७) तृण स्पर्श (१८) जल्ल = मल का परीपह (१९) सत्कार पुरस्कार = पूजा प्रतिष्ठा (२०) प्रज्ञा = बुद्धि का गर्व (२१)

असमाधि-गाना के आसेवन से जहाँ कहीं आत्मा मंथम भ्रष्ट हुआ हो, उसका प्रतिजमण प्रस्तुत पाठ के द्वारा किया जाता है।

इकोस शबल दोष

(१) हस्तकर्म = हस्त मैथुन करना।

(२) मैथुन = स्त्री स्पर्श आदि मैथुन करना।

(३) रात्रिभोजन = रात्रि में भोजन लेना और करना।

(४) आधाकर्म = साधु के निमित्त से बनाया गया भोजन लेना।

५) सागारिक्पिण्ड = शय्यातर अर्थात् स्थानदाता का आहार लेना।

(६) औद्देशिक = साधु के या याचकों के निमित्त बनाया गया, मीन = खरीदा हुआ आहार, आहृत = स्थान पर लाकर दिया हुआ, शमित्य = उधार लाया हुआ, आच्छिन्न = छीन कर लाया हुआ आहार लेना।

(७) प्रत्याख्यान भग्न = बार-बार प्रत्याख्यान भग्न करना।

(८) गणपतिवर्त्तन = छह मास में गण से गणान्तर में जाना।

(९) उदक लेप = एक मास में तीन बार नाभि या जंघा प्रमाण जल में प्रवेश कर नदी आदि पार करना।

(१०) मातृ स्थान = एक मास में तीन बार माया स्थान सेवन करना। अर्थात् शून्य अस्थाय छुपा लेना।

(११) राजपिण्ड = राजपिण्ड ग्रहण करना।

(१२) आकुट्टया हिंसा = जानबूझ कर हिंसा करना।

(१३) आकुट्टया मृग = जानबूझ कर भुट जानना।

(१४) आकुट्टया अदत्तादान = जानबूझ कर चोरी करना।

(१५) सचित्त पृथिवी स्पर्श = जानबूझ कर सचित्त पृथिवी पर बैठना, सोना, खड़ा होना।

(१६) इसी प्रकार सचित्त जल से सस्निग्ध और सचित्त रज वाली पृथिवी, सचित्त शिला अथवा घुसों वाली लकड़ी आदि पर बैठना, सोना, वायासर्ग आदि करना शबल दोष है।

देव शब्द से चौबीस तीर्थंकर देवों का भी ग्रहण करते हैं। इस अर्थ के मानने पर अतिचार यह होगा कि—उनके प्रति आदर, श्रद्धाभाव न रखना; उनकी आज्ञानुसार न चलना, आदि आदि।

पाँच महाव्रतों की २५ भावनाएँ

महाव्रतों का शुद्ध पालन करने के लिए शास्त्रों में प्रत्येक महाव्रत की पाँच भावना बतलाई गयी हैं। भावनाओं का स्वरूप बहुत ही हृदय-ग्राही एवं जीवनस्पर्शी हैं। श्रमण-धर्म शुद्ध पालन करने के लिए भावनाओं पर अवश्य ही लक्ष्य देना चाहिए।

प्रथम अहिंसा महाव्रत की ५ भावना

(१) ईर्यासमिति = उपयोग पूर्वक गमनागमन करे (२) आलोकित पान भोजन = देख भाल कर प्रकाशयुक्त स्थान में आहार करे (३) आदान निक्षेप समिति = विवेक पूर्वक पात्रादि उठाए तथा रखे (४) मनोगुप्ति = मन का संयम (५) वचनगुप्ति = वाणी का संयम।
द्वितीय सत्य महाव्रत की ५ भावना

(१) अनुविचिन्त्य भाषणता = विचार पूर्वक बोलना (२) क्रोध-विवेक = क्रोध का त्याग (३) लोभ-विवेक = लोभ का त्याग (४) भय-विवेक = भय का त्याग (५) हास्य-विवेक = हँसी मजाक का त्याग।

तृतीय अस्तेय महाव्रत की ५ भावना

(१) अवग्रहानुज्ञापना = अवग्रह अर्थात् वसति लेते समय उसके स्वामी को अच्छी तरह जानकर आज्ञा माँगना (२) अवग्रह सीमा-परिज्ञानता = अवग्रह के स्थान की सीमा का ज्ञान करना (३) अवग्रहानुग्रहणता = स्वयं अवग्रह की याचना करना अर्थात् वसतिस्थ तृण, पट्ट आदि अवग्रह-स्वामी की आज्ञा लेकर ग्रहण करना (४) गुरुजनों तथा अन्य साधमियों की आज्ञा लेकर ही सबके संयुक्त भोजन में से भोजन करना (५) उपाश्रय में रहे हुए पूर्व साधमियों की आज्ञा लेकर ही वहाँ रहना तथा अन्य प्रवृत्ति करना।

अज्ञान=बुद्धिहीनता का गुण (२२) दर्शन परीपद=सम्पन्न अर्थ करने वाले मिथ्या मर्ता का मोहक वातावरण ।

हारमद्र आदि कितने ही आचार्य वैशेषिकी के स्थान में निपटारा परीपद मानते हैं और उनका अर्थ वगति=स्थान करते हैं । इस स्थिति में उनका द्वारा अभिम शय्या परीपद का अर्थ—न स्तारक अर्थात् स थारो, निश्चीना अर्थ किया गया है । श्री सायन के लिए पुरा परीपद है ।

सुग आदि निमी भी कारण के द्वारा आपत्ति आने पर समय में स्थिर रहने के लिए तथा कर्मों की निर्जण के लिए जो शारीरिक तथा मानसिक कष्ट, साधु को सहन करने चाहिएँ, उन्हें परीपद कहते हैं । 'परीसहिन्ते इति परीसहा चाहियासिञ्जतिरि बुधं भवति ।'—जिनका सहन करने में परीपद को मन्त्री भौति शुद्ध भाव से सहन न करना, परीपद सम्बन्धी अनिचार होना है उसका प्रतिनिधत्वं प्रस्तुत सूत्र में किया गया है ।

सूत्रकृताङ्ग सूत्र के २३ अध्ययन

प्रथम भूतस्त्वन के सातह अध्ययन सातहव ज्ञेय में उल्ला आपत्ति है । द्वितीय भूतस्त्वन के अध्ययन के हैं—(१७) पौष्णिक (१८) क्रिया स्थान (१९) आहार परिजा (२०) प्रयात्मान क्रिया (२१) आचार भूत (२२) अर्द्धकीर (२३) नालन्दीय । उक्त तेईस अध्ययन के कथनानुसार सधमी जीवन न हाना अतिगार है ।

चोबीस देव

अमुकुमार आदि दश भजनपात्र, भूत यन्त्र आदि आठ चन्द्र, सूर्य चन्द्र आदि पाँच ज्योतिष, और वैमानिक देव—इस प्रकार कुल चौबीस जाति के देव हैं । समार में भोगजीवन के ये सत्त से बड़े प्रतिनिधि हैं । इनकी प्रशंसा करना भागजीवन की प्रशंसा करना है और निग करना दोष भाव है, अतः मुमुक्षु का तत्स्य मात्र ही रचना चाहिए । यदि कभी तत्स्यता का भग किया हा तो अतिचार है ।

उत्तराध्ययन सूत्र के सुप्रसिद्ध गीताकार आचार्य शान्तिगुप्ति यह

(१६) मन की शुभ प्रवृत्ति (१७) वचन की शुभ प्रवृत्ति (१८) काय की शुभ प्रवृत्ति (१९-२४) छह काय के जीवों की रक्षा (२५) संयमयोग-युक्तता (२६) वेदनाऽभिसहनता = तितित्वा अर्थात् शीतादि-कष्ट सहिष्णुता (२७) मारणान्तिक उदसर्ग को भी समभाव से सहता ।

उपर्युक्त सत्ताईस गुण, आचार्य हरिभद्र ने अपनी आवश्यकसूत्र की शिष्यहिता टीका में, संग्रहणीकार की एक प्राचीन गाथा के अनु-सार वर्णन किए हैं । परन्तु समवायांग-सूत्र में मुनि के सत्ताईस गुण कुछ भिन्न रूप में अंकित हैं—पाँच महाव्रत, पाँच इन्द्रियों का निरोध, चार कपायों का त्याग, भाव सत्य, करण सत्य, योग सत्य, क्षमा, विरागता, मनः समाहरणता, वचन समाहरणता, काय समाहरणता, ज्ञान-सम्पन्नता, दर्शन-सम्पन्नता, चारित्र सम्पन्नता, वेदनातिसहनता, मारणान्तिकातिसहनता ।

आचार्य हरिभद्र ने यहाँ 'सत्तावीसविहे अणगारचरित्ते', पाठ का उल्लेख किया है । इसका भावार्थ है—सत्ताईस प्रकार का अनगार-सम्बन्धी चारित्र । परन्तु आचार्य जिनदास आदि 'सत्तावीसाए अणगार गुणेहि' पाठ का ही उल्लेख करते हैं । समवायांग-सूत्र में भी अणगार-गुण ही है ।

उक्त सत्ताईस अनगार गुणों अर्थात् मुनिगुणों का शास्त्रानुसार भली भाँति पालन न करना, अतिचार है । उसकी शुद्धि के लिए मुनि गुणों का प्रतिक्रमण है, अर्थात् अतिचारों से वापस लौटकर मुनि-गुणों में आना ।

अट्ठाईस आचार-प्रकल्प

आचार-प्रकल्प की व्याख्या के सम्बन्ध में बहुत सी विभिन्न मान्यताएँ हैं । आचार्य हरिभद्र कहते हैं—आचार ही आचार-प्रकल्प कहलाना है 'आचार एव आचारप्रकल्पः ।'

आचार्य अभयदेव समवायांग-सूत्र की टीका में कहते हैं

चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत की १ भावना

(१) अतीव निग्ध पौष्टिक आहार नहीं करना (२) पूर्व युक्त भोगों का स्मरण नहीं करना अथवा शरीर की विभूषा नहीं करना (३) स्त्रियाँ के अंग उराग नहीं देखना (४) स्त्री, पशु और नपुंसक बालों स्थान में नहीं ठहरना (५) स्त्री विषयक चर्चा नहीं करना ।

पंचम अपरिमह महाव्रत की १ भावना

(१-५) पाँचों इन्द्रियों के विरम शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श के इन्द्रियगोचर होने पर मनोज पर रागभाव तथा श्रमनोत् पर द्वेषभाव न लाकर उदासीन भाव रखना । [समनायाम]

महाव्रत की भावनाओं पर विशेष लक्ष्य देने की आवश्यकता है । महाव्रतों की रक्षा उक्त भावनाओं के बिना हो ही नहीं सकती । यदि समय-समय में कहीं भावनाओं के प्रति उपेक्षा भाव रहता हो तो प्रतिचार होता है, तदर्थ यहाँ प्रतिवमण का उल्लेख है ।

दशाश्रुत आदि सूत्रत्रयी के २६ उद्देशनकाल

दशाश्रुत सूत्र सूत्र के दश उद्देश, बृहत्सूत्र के छह उद्देश, और व्यवहार सूत्र के दश उद्देश—इस प्रकार सूत्रत्रयी के छद्मीय उद्देश होते हैं । निम श्रुतगन्ध या अध्यसन के जितने उद्देश होते हैं उतने ही वहाँ उद्देशनकाल—अर्थात् श्रुतोपचार रूप उद्देशात्मक होते हैं । उक्त सूत्रत्रयी में साधुजीवन सम्बन्धी आचार की चर्चा है । अतः तदनुसार आचरण न करना अतिचार होता है ।

सत्ताईस अनगार के गुण

(१-५) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिमह रूप पाँच महाव्रतों का सम्यक्पालन करना । (६) शवि भोजन का त्याग करना । (७-११) पाँचों इन्द्रियों को बश में रखना (१२) भावमत्त्व = अन्तःकरण की शुद्धि (१३) करणसत्य = वस्त्र पात्र आदि की भली भाँति प्रतिनिवेदना करना (१४) दाना (१५) विद्यगता = लोभ विमर्श

१) एक मास का प्रायश्चित्त (२) एक मास पाँच दिन का त (३) एक मास दश दिन का प्रायश्चित्त । इसी प्रकार पाँच ढाते हुए पाँच मास तक कहना चाहिए । इस प्रकार २५ हुए । उपवातक-अनुपवातक (२७) आरोमण और (२८) कृत्स्न-सम्पूर्ण, न-असंपूर्ण ।”

पूज्यश्रीजी के उपर्युक्त लेख की समवायांग सूत्र के मूल पाठ में नहीं बैठती । वहाँ मासिक आरोपणा के छह भेद किए हैं । इसी द्विमासिकी, त्रिमासिकी एवं चतुर्मासिकी आरोपणा के भी क्रमशः ३ भेद होते हैं । सब मिलकर आरोपणा के अवतक २४ भेद हुए हैं । पूज्यश्रीजी २५ लिखते हैं । अब शेष चार भेद भी समवायांग के मूल पाठ में ही देख लीजिए ‘उपवाइया आरोवणा, अणुव ग आरोवणा, कसिणा आरोवणा, अकसिणा आरोवणा ।’ उक्त सूत्र के प्राकृत नामों का संस्कृत रूपान्तर है—उपवातिक आरोपणा, प्वातिक आरोपणा, कृत्स्न आरोपणा और अकृत्स्न आरोपणा ।

जो कुछ हमने ऊपर लिखा है, इसका समर्थन, समवायांग के मूल और अभयदेव-कृत वृत्ति से स्पष्ट हो जाता है । अस्तु, हमारे हैं कि आचार्य श्री जी ने प्रथम के २४ भेदों को २५ कैसे गिनया ? और बाद के चार भेदों के तीन ही भेद बना लिए । प्रथम के भेदों को मिलाकर एक भेद कर लिया । और आरोपणा, जो कि स्वयं भेद नहीं है, प्रत्युत सूत्र के साथ विशेष्य रूप से व्यवहृत हुआ है, को सत्ताईसवें भेद के रूप में स्वतन्त्र भेद मान लिया है । और अन्तम दो भेदों का फिर अष्टाईसवें भेद के रूप में एकीकरण करा गया है । इस सम्बन्ध में अधिक न लिखकर संक्षेप में केवल चार सामग्री उपस्थित की है, ताकि सत्यार्थ के निर्णय के लिए तत्त्वज्ञानसु कुछ विचार-विमर्श कर सकें ।

आचार-प्रकल्प के २८ अध्यायनों में वर्णित साध्वाचार का सम्यक् रूप से आचरण न करना, अतिचार है ।

आचार का अर्थ प्रथम अंग सूत्र है। उसका प्रकल्प अर्थात् अध्ययन विशेष निशीथ गूत्र आचार प्रकल्प कहलाता है। अथवा ज्ञानादि साधु-आचार का प्रकल्प अर्थात् व्यवस्थापन आचार प्रकल्प कहा जाता है। 'आचारः प्रथमाङ्गं तस्य प्रकल्पः अध्ययन विदेषो निशीथमिच्छपराभिधानम्। आचारस्य वा साध्याचारस्य ज्ञानादिरित्यस्य प्रकल्पो व्यवस्थापनमिति आचारप्रकल्पः।'।

उत्तराध्ययन-सूत्र के चरण निधि अध्ययन में केवल प्रकल्प शब्द ही आया है। अतः उक्त सूत्र के टीसकार आचार्य शान्तिसूरी प्रकल्प का अर्थ करते हैं कि 'प्रकृष्ट = उत्कृष्ट कल्प = मुनि जीवन का आचार वर्णित है जिस शास्त्र में वह आचाराग-सूत्र प्रकल्प कहा जाता है।'।

प्राचाराग-सूत्र के शम्भ परिभा आदि २५ अध्ययन हैं। और निशीथ गूत्र भी आचाराग-सूत्र की चूलिकास्वरूप माना जाता है, अतः उनके तीन अध्ययन मिलकर आचाराग-सूत्र के सब अष्टादश अध्ययन होते हैं—

(१) शम्भ परिभा (२) लोक विजय (३) शीतोष्णीर (४) सम्यक्त्व (५) लोकगार (६) धृताध्ययन (७) महारजि (८) विमोक्ष (९) उपाधानश्रुत (१०) निरुद्धैषणा (११) शम्भ (१२) ईर्ष्या (१३) माया (१४) वस्त्रैषणा (१५) पानैषणा (१६) अन्नप्रद-प्रतिभा (१६ + ७ = २३) मन स्थानादि कल्पैक्या (२४) भावना (२५) विमुक्ति (२६) उद्धात (२७) अनुद्धात (२८) और आरोहण ।

समनायाग-सूत्र में प्राचार प्रकल्प के अष्टादश भेद अन्यत्र में हैं।

पुन्य श्री आत्मारामजी महाराज, उत्तराध्ययन सूत्र हिंदी पृष्ठ १४०१ पर इस समग्र में लिखते हैं—

‘समनायाग सूत्र में २८ कार का आचारप्रकल्प इस प्रकार से वर्णन किया है। यथा—

महामोहनीय के ३० स्थान

- (१) तस जीवों को पानी में डुबा कर मारना ।
- (२) तस जीवों को श्वास आदि रोक कर मारना ।
- (३) तस जीवों को मकान आदि में बंद कर के धुएँ से घोट कर मारना ।
- (४) तस जीवों को मस्तक पर दण्ड आदि का घातक प्रहार करके मारना ।
- (५) तस जीवों को मस्तक पर गीला चमड़ा आदि बाँध कर मारना ।
- (६) पथिकों को धोखा देकर लूटना ।
- (७) गुप्तीति से अनाचार का सेवन करना ।
- (८) दूसरे पर मिथ्या कलंक लगाना ।
- (९) सभा में जान-बूझ कर मिश्रभाषा = सत्य जैसा प्रतीत होने वाला झूठ बोलना ।
- (१०) राजा के राज्य का ध्वंस करना ।
- (११) बाल ब्रह्मचारी न होते हुए भी बाल ब्रह्मचारी कहलाना ।
- (१२) ब्रह्मचारी न होते हुए भी ब्रह्मचारी होने का दाँग रचना ।
- (१३) आश्रयदाता का धन चुराना ।
- (१४) कृत उपकार को न मान कर कृतघ्नता करना ।
- (१५) गृहपति अथवा संघपति आदि की हत्या करना ।
- (१६) गण्डनेता की हत्या करना ।
- (१७) समाज के आधारभूत विशिष्ट परोपकारी पुरुष की हत्या करना ।
- (१८) दीक्षित साधु को संयम से भ्रष्ट करना ।
- (१९) केवल ज्ञानी की निन्दा करना ।
- (२०) अहिंसा आदि मोक्षमार्ग की बुराई करना ।
- (२१) आचार्य तथा उपाध्याय की निन्दा करना ।

पापशुभ के २१ भेद

- (१) भौम = भूमिपर आदि का फल उत्ताने वाला शास्त्र ।
 - (२) उत्तात = रुधिर वृष्टि, दिशाओं का लाल होना इत्यादि का शुभाशुभ फल बनाने वाला निर्मित शास्त्र ।
 - (३) स्वप्न शास्त्र ।
 - (४) अन्तरिक्ष = आकाश में होने वाले ग्रहबंध आदि का वर्णन करने वाला शास्त्र ।
 - (५) ग्रहशास्त्र = शरीर के रन्दन आदि का फल कहने वाला शास्त्र ।
 - (६) स्वर शास्त्र ।
 - (७) व्यञ्जन शास्त्र = निल, मय आदि का वर्णन करने वाला शास्त्र ।
 - (८) लक्षण शास्त्र = स्त्री पुरुष के लक्षणों का शुभाशुभ फल बनाने वाला शास्त्र ।
- ये आठ ही सूत्र, वृत्ति, और चार्तिक के भेद से चौदह शास्त्र हो जाते हैं ।
- (२५) निशानुयोग = अर्थ और काम के उपायों का बनाने वाले शास्त्र, जैसे वात्स्यायनकृत काम सूत्र आदि ।
 - (२६) निशानुयोग = रोहिणी आदि निशाओं की सिद्धि के उपाय बनाने वाले शास्त्र ।
 - (२७) मन्त्रानुयोग = मन्त्र आदि के द्वारा कार्यसिद्धि उत्ताने वाले शास्त्र ।
 - (२८) योगानुयोग = वशीकरण आदि योग उत्ताने वाले शास्त्र ।
 - (२९) अन्यतीर्थिकानुयोग = अन्यतीर्थिकों द्वारा प्रवर्तित एवं अभिमत दिशा प्रधान आचारशास्त्र ।

का ही प्रयोग करते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र, समवायांग सूत्र और दशाश्रुत-
स्कन्ध सूत्र में भी केवल मोहनीय स्थान कहा है। परन्तु भेदों का उल्लेख
करते हुए अवश्य महामोह शब्द का प्रयोग हुआ है। 'महामोहं पकुन्वह'।
सिद्धों के ३१ गुण

- (१) क्षीण-भूतिज्ञानावरण (२) क्षीणश्रुतज्ञानावरण
(३) क्षीणश्रवणज्ञानावरण (४) क्षीण मनःपर्ययज्ञानावरण
(५) क्षीण केवल ज्ञानावरण ।
(६) क्षीणचक्षुर्दर्शनावरण (७) क्षीणश्रवणचक्षुर्दर्शनावरण
(८) क्षीणश्रवणधिदर्शनावरण (९) क्षीणकेवलदर्शनावरण
(१०) क्षीणनिद्रा (११) क्षीणनिद्रानिद्रा (१२) क्षीणप्रचला
(१३) क्षीणप्रचला प्रचला (१४) क्षीणत्यागगृद्धि ।
(१५) क्षीण सातावेदनीय (१६) क्षीण असातावेदनीय ।
(१७) क्षीण दर्शन मोहनीय (१८) क्षीण चारित्र मोहनीय ।
(१९) क्षीण नैरयिकायु २० क्षीण तिर्यच्चायु (२१) क्षीण मनुष्यायु
(२२) क्षीण देवायु ।
(२३) क्षीण उच्च गोत्र (२४) क्षीण नीच गोत्र ।
(२५) क्षीण शुभ नाम (२६) क्षीण अशुभनाम ।
(२७) क्षीण दानान्तराय (२८) क्षीण लाभान्तराय । (२९) क्षीण
भोगान्तराय (३०) क्षीण उपभोगान्तराय (३१) क्षीण वीर्यान्तराय ।

[समवायांग]

सिद्धों के गुणों का एक प्रकार और भी है। पाँच संस्थान, पाँच
चरण, दो गन्ध, पाँच रस, आठ स्पर्श, तीन वेद, शरीर, आसक्ति और
पुनर्जन्म—इन सब इकत्तीस दोषों के क्षय से भी इकत्तीस गुण होते हैं ।

[आचारांग]

आदि गुण का अर्थ है—ये गुण सिद्धों में प्रारम्भ से ही होते
थह नहीं कि कालान्तर में होते हों। अन्य सिद्धों की भूमिका
विकास की नहीं है। आचार्य श्री शान्ति

- (१२) आचार्य तथा उपाध्याय की सेवा न करना ।
 (२३) बहुभुत न होते हुए भी बहुभुत = परिडित कहलाना ।
 (१४) तम्बी न होते हुए भी अपने को तपस्वी कहना ।
 (१५) शक्ति होते हुए भी अपने आश्रित शूद्र, सेवी आदि की सेवा न करना ।
 (२६) हिंसा तथा कामोत्तादक विरुधाचार्य का बार बार प्रयोग करना ।
 (२७) जादू टोना आदि करना ।
 (२८) कामभोग में अत्यधिक लित रहना, आसक्त रहना ।
 (२९) देवताओं की निन्दा करना ।
 (३०) देवदर्शन न होते हुए भी प्रतिष्ठा के मोह से देवदर्शन की बात कहना । [दशाश्रुत स्कन्ध]

जैन धर्म में आत्मा को आश्रित करने वाले आठ कर्म माने गए हैं । सामान्यतः आठों ही कर्मों को मोहनीय कर्म कहा जाता है । परन्तु विशेषतः चतुर्भेद कर्म के लिए मोहनीय शब्द रूढ है । प्रस्तुत सूत्र में इसी से तात्पर्य है । आचार्य हरिभद्र आवश्यक वृत्ति में लिखते हैं—
 “सामान्येन एकप्रकृति कर्म मोहनीयमुच्यते । उक्तं च, अट्टविहंपि य कम्भं, भणियं मोहो ति ज समासेणमित्यादि । विशेषेण चतुर्भेद प्रकृति-मोहनीयमुच्यते तस्य स्थानानि—निमित्तानि भेदाः पर्याया मोहनीय-स्थानानि ।”

मोहनीय कर्म ग्रन्थ के कारणों की कुछ इयत्ता नहीं है । तथापि शास्त्रकार ने विशेष रूप से मोहनीय कर्म-ग्रन्थ के हेतुभूत कारणों के तीस भेदों का उल्लेख किया है । उल्लिखित कारणों में दुरध्ययनाय की तीव्रता एवं कृता इतनी अधिक होती है कि कभी-कभी महामोहनीय कर्म का ग्रन्थ हो जाता है, जिससे अज्ञानी आत्मा सत्तर बोझ-बोझी नागर तक सत्तर में परिभ्रमण करता है, दुःख उठाता है ।

प्रस्तुत सूत्र के मूल पाठ में प्रचलित महामोहनीय शब्द का प्रयोग निम्न है । परन्तु आचार्य हरिभद्र और जिनदाम महत्तर केवल मोहनीय शब्द

प्रवृत्ति ही मंयम है । प्रस्तुत सूत्र में शुभ प्रवृत्ति रूप योग ही ग्राह्य है ।
उमी का संग्रह मंयमी जीवन की पवित्रता को अनुकरण बनाए रख
सकता है ।

—‘युज्यन्ते इति योगाः मनोवाक्कायव्यापाराः, ते चेह प्रशस्ता एव
विवक्षिताः ।’ आचार्य अभयदेव, समवायांग टीका ।

प्रश्न है, आलोचनादि को संग्रह क्यों कहा गया है ? ये तो संग्रह के
निमित्त हो सकते हैं, स्वयं संग्रह नहीं । आप ठीक कहते हैं । यहाँ
संग्रह शब्द की संग्रह निमित्त में ही लक्षणा है । ‘प्रशस्तयोग संग्रहनि-
मित्तत्वादालोचनादय एव तथोच्यन्ते ।’—अभयदेव, समवायांग टीका ।

योग संग्रह की साधना में जहाँ कहीं भूल हुई हो, उसका प्रतिक्रमण
यहाँ अभीष्ट है ।

तेतीस आशातना

अरिहन्त की आशातना से लेकर चौदह ज्ञान की आशातना तक
तेतीस आशातना, मूल सूत्र में वर्णन की गई हैं । कुछ टीकाकार यहाँ
पर भी आशातना से गुरुदेव की ही तेतीस आशातना लेते हैं । गुरुदेव
की तेतीस आशातनाओं का वर्णन परिशिष्ट में दिया गया है ।

जैनाचार्यों ने आशातना शब्द की निरुक्ति बड़ी ही सुन्दर की है ।
सम्यग्दर्शन आदि आध्यात्मिक गुणों की प्राप्ति को आय कहते हैं
और शातना का अर्थ—खण्डन करना है । गुरुदेव आदि पूज्य पुरुषों
का अभिमान करने से सम्यग्दर्शन आदि सद्गुणों की शातना = खण्डना
होती है । ‘आयः—सम्यग्दर्शनाद्यवासिलक्षणस्तस्य शातना—खण्डनं
निरुक्तादाशातना ।’—आचार्य अभयदेव, समवायांग टीका । ‘आसातणा
णामं नाणादि आयस्स सातणा । यकारल्लोपं कृत्वा आशातना भवति ।’

—आचार्य जिनदास, आवश्यकचूर्णि ।

अरिहन्तों की आशातना

सूत्रोक्त तेतीस आशातनाओं में पहली आशातना अरिहन्तों की है ।
जैन-शामन के केन्द्र अरिहन्त ही हैं, अतः सर्व

‘निष्ठाश्रमिगुण’ करते हैं। अतिगुण का भाव है—‘उद्धृष्ट, अर्था’ धारण गुण ।’

वृत्तीष योग-संग्रह

(१) गुह्यज्ञानों के पास दोनों की आलोचना करना (२) किसी के दायाँ की आलोचना सुनकर और के पास न कहना (३) संकट पड़ने पर भी धर्म में दृढ़ रहना (४) आसक्ति रहित तप करना (५) सुवार्थ ग्रहणरूप ग्रहण शिक्षा एवं प्रतिलेखना आदि रूप आसेमना आचारशिक्षा का अभ्यास करना (६) शोभा भूषण नहीं करना (७) पूजा प्रतिष्ठा का मोह त्याग कर अज्ञात तप करना (८) लोभ का त्याग (९) तपिन्द्रा (१०) आर्जय = सरलता (११) शुचि = सयम एवं सत्य की पवित्रता (१२) सम्यक्त्व शुद्धि (१३) समाधि = प्रसन्न चित्तता (१४) आचार पालन में माया न करना (१५) निव (१६) धैर्य (१७) स के = सामारिक भोगों से भय अप्रिया मोक्षा-मिलाया (१८) माया न करना (१९) सदगुह्य (२०) सर्वर = पानाश्रम को रक्षता (२१) दोनों की शुद्धि करना (२२) काम भोगों से विरक्ति (२३) मूलगुणों का शुद्ध पालन (२४) उत्तरगुणों का शुद्ध पालन (२५) व्युत्कर्ष करना (२६) प्रमाद न करना (२७) प्रतिगुण सयम याचा में सावधानी रखना (२८) शुभ ध्यान (२९) मारणमूर्तिक वेदना होने पर भी अधीर न होना (३०) संग का परित्याग करना (३१) प्रापञ्चित ग्रहण करना (३२) अन्तः समग्र म स लेखना करके आराधक बनना । [समाध्याग]

आचार्य विनयास वृत्तीष योग-संग्रह का एक दूसरा प्रकार भी लिखते हैं। उनके उल्लेखानुसार धर्म ध्यान के सोलह भेद और इसी प्रकार शुद्ध ध्यान के सोलह भेद, सब मिल कर वृत्तीष योगसंग्रह के भेद हो जाते हैं। ‘धर्मो सोलहसविः एवं मुक्कवि ।’

मन, वचन और काय के व्यापारों को योग कहते हैं। शुभ और अशुभ से योग के दो प्रकार हैं। अशुभ योग से निहासे और शुभ योग में

प्रति ज्ञात या अज्ञात रूप से की जाने वाली अवज्ञा के लिए, पश्चात्ताप करना होता है—मिच्छामि दुष्कणं देना होता है ।

अन्य धर्मों में प्रायः स्त्री का स्थान बहुत नीचा माना गया है । कुछ धर्मों में तो स्त्री साध्वी भी नहीं बन सकती । वह मोक्ष भी नहीं प्राप्त कर सकती । उसे स्वतन्त्र रूप से यज्ञ, पूजा आदि के अनुष्ठान का भी अधिकार नहीं है । कुछ लोग उसे शूद्र, और कुछ शूद्र से भी निम्न समझते हैं । उन्हें वेदादि पढ़ने का भी अधिकार नहीं है । परन्तु जैन-धर्म में स्त्री को पुरुष के बराबर ही धर्म-कार्य का अधिकार है, मोक्ष पाने का अधिकार है । जैन-धर्म किसी विशेष वेप-भेद और स्त्री पुरुष आदि के लिंग-भेद के कारण किसी को ऊँचा नीचा नहीं समझता, किसी की स्तुति-निंदा नहीं करता । जैन धर्म गुण पूजा का धर्म है । गुण हैं तो स्त्री भी पूज्य है, अन्यथा पुरुष भी नहीं । अतएव गृहस्थ-स्थिति में रहती हुई स्त्री, यदि धर्मारोधन करती है—श्रावक-धर्म का पालन करती है, तो वह स्तुति योग्य है, निन्दनीय नहीं ।

यही कारण है कि प्रस्तुत सूत्र में श्राविका की अवहेलना करने का भी प्रतिक्रमण है । श्राविका गृह कार्य में लगी रहती हैं, आरम्भ में ही जीवन गुज़ारती हैं, बाल-बच्चों के मोह में फँसी रहती हैं, उनकी सद्गति कैसे होगी ? 'आरंभं ताणं कतो सो गती ?' इत्यादि श्राविकाओं की अवहेलना है, जो त्याज्य है । साधक का 'दोष दृष्टिपरं मनः' नहीं होना चाहिए । देव और देवियों की आशातना ।

देवताओं की आशातना से यह अभिप्राय है कि देवताओं को काम-गर्दभ कहना, उन्हें आलसी और अकिञ्चित्कर कहना । देवता मांस खाते हैं, मद्य पीते हैं—इत्यादि निन्दास्पद सिद्धान्तों का प्रचार करना ।

साधु और श्रावकों के लिए देव-जगत के सम्बन्ध में तटस्थ मनोवृत्ति रखना ही श्रेयस्कर है । देवताओं का अपलाप एवं अवर्णवाद करने से साधारण जनता को, जो उनकी मानने वाली होती है, व्यर्थ ही कष्ट पहुँचना है, बुद्धि भेद होता है, और साम्प्रदायिक संघर्ष भी बढ़ता है ।

आना है। वे जगज्जीना के लिए धर्म का उपदेश करते हैं, सम्मार्ग का निरूपण करते हैं और अनन्तकाल से अन्धकार में मग्नते हुए जीवों को मत्प का प्रकाश दिखनाते हैं। अतः उनकी होने से सर्व-प्रथम उनकी ही महिमा का उल्लेख है।

आनन्द हमारे यहाँ भारत-धर्म में अस्तिहन्त विद्यमान नहीं हैं, अतः उनकी आशातना कैसे हो सकती है? समाधान है कि अस्तिहन्तों की कभी कोई सत्ता ही नहीं रही है, उन्होंने निर्दय होकर सर्वथा अव्यवहार्य कठोर निवृत्ति प्रधान धर्म का उपदेश दिया है, बीतराग होते हुए भी स्वर्ण-सिंहामन आदि का उपयोग क्यों करते हैं? इत्यादि दुर्गन्धित करना अस्तिहन्तों की आशातना है।

सिद्धों की आशातना

मिद्ध हैं ही नहीं। जब शरीर ही नहीं है तो फिर उनको सुप्त किस बात का? मसार से सर्वथा अलग निश्चेष्ट पड़े रहने में क्या आदर्श है? इत्यादि रूप में अज्ञान करना, सिद्धों की आशातना है।

साध्वियों की आशातना

स्त्री होने के कारण साध्वियों को नीच रताना। उनका कलह और संघर्ष की जड़ कहना। साधुओं के लिए साध्वियाँ उपद्रव रूप हैं। श्रृंगुल में निवृत्ति मलिनता होती होगी? इत्यादि रूप से अपदेनना करना, साध्वियों की आशातना है।

आविष्कारों की आशातना

जैन धर्म अतीव उदार और विरह धर्म है। यहाँ केवल अस्तिहन्त आदि महान् आत्माओं का ही गौरव नहीं है। अन्तिम साधारण गृहस्थ होने हुए भी जो स्त्री पुरुष आनन्द-धर्म का पालन करते हैं, उनका भी यहाँ गौरवपूर्ण स्थान है। आपक और आविष्कार की अज्ञानता भी एक पाप है। प्रत्येक आचार्य, उपाध्याय और साधु का भी, प्रति दिन प्रातः और मार्गकाल प्रतिक्रमण के समय, अथवा अन्य आविष्कारों के

प्रति ज्ञान या अज्ञात रूप से की जाने वाली अवज्ञा के लिए, पश्चात्ताप करना होता है—मिच्छामि दुष्कृतं देना होता है ।

अन्य धर्मों में प्रायः स्त्री का स्थान बहुत नीचा माना गया है । कुछ धर्मों में तो स्त्री साध्वी भी नहीं बन सकती । वह मोक्ष भी नहीं प्राप्त कर सकती । उसे स्वतन्त्र रूप से यज्ञ, पूजा आदि के अनुष्ठान का भी अधिकार नहीं है । कुछ लोग उसे शूद्र, और कुछ शूद्र से भी निन्द्य समझते हैं । उन्हें वेदादि पढ़ने का भी अधिकार नहीं है । परन्तु जैन-धर्म में स्त्री को पुरुष के बराबर ही धर्म-कार्य का अधिकार है, मोक्ष पाने का अधिकार है । जैन-धर्म किसी विशेष वेप-भेद और स्त्री पुरुष आदि के लिंग-भेद के कारण किसी को ऊँचा नीचा नहीं समझता, किसी की स्तुति-निन्दा नहीं करता । जैन धर्म गुण पूजा का धर्म है । गुण हैं तो स्त्री भी पूज्य है, अन्यथा पुरुष भी नहीं । अतएव गृहस्थ-स्थिति में रहती हुई स्त्री, यदि धर्माराम्यन करती है—श्रावक-धर्म का पालन करती है, तो वह स्तुति योग्य है, निन्दनीय नहीं ।

यही कारण है कि प्रस्तुत सूत्र में श्राविका की अवहेलना करने का भी प्रतिक्रमण है । श्राविका गृह कार्य में लगी रहती हैं, आरम्भ में ही जीवन गुजारती हैं, बाल-बच्चों के मोह में फँसी रहती हैं, उनकी सद्गति कैसे होगी ? 'आरंभं ताणं कतो सो गती ?' इत्यादि श्राविकाओं की अवहेलना है, जो त्याज्य है । साधक को 'दोष दृष्टिपरं मनः' नहीं होना चाहिए । देव और देवियों की आशातना ।

देवताओं की आशातना से यह अभिप्राय है कि देवताओं को काम-गर्दभ कहना, उन्हें आलसी और अकिञ्चित्कर कहना । देवता मांस खाते हैं, मद्य पीते हैं—इत्यादि निन्दास्पद सिद्धान्तों का प्रचार करना ।

साधु और श्रावकों के लिए देव-जगत के सम्बन्ध में तटस्थ मनोवृत्ति रखना ही श्रेयस्कर है । देवताओं का अपलाप एवं अर्चणावाद करने से साधारण जनता को, जो उनकी मानने वाली होती है, व्यर्थ ही कष्ट पहुँचता है, बुद्धि भेद होता है, और साम्प्रदायिक संघर्ष भी बढ़ता है ।

इहलोक और परलोक की आशातना

इहलोक और परलोक का अभिप्राय समझ लेना आवश्यक है । मनुष्य के लिए मनुष्य इह लोक है और नारक, तिर्येच तथा देव परलोक हैं । स्वजाति का प्राणी-युग इह लोक कहा जाता है और विजातीय प्राणी-युग परलोक । इहलोक और परलोक की श्रमण प्रवृत्तियाँ करना, पुनर्जन्म आदि न मानना, नरकादि चार गतिवों के सिद्धान्त पर विश्वास न रखना, इत्यादि इहलोक और परलोक की आशातना है ।

लोक की आशातना

लोक, संसार को कहते हैं । उनकी आशातना क्या ? लोक की आशातना से यह अभिप्राय है कि देवादि-सहित लोक के सम्बन्ध में मिथ्या प्रवृत्तियाँ करना, उसे ईश्वर आदि के द्वारा बना हुआ मानना, लोक सम्बन्धी पौराणिक कल्पनाओं पर विश्वास करना; लोक की उत्पत्ति, स्थिति एवं पल्लय सम्बन्धी भ्रान्त धारणाओं का प्रचार करना ।

प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों की आशातना

प्राण, भूत आदि शब्दों को एकार्थक माना गया है । सत्त्व का अर्थ जीव है । आचार्य जिनदास कहते हैं—‘एगट्टिना वा एते ।’ परन्तु आचार्य जिनदास महत्तर और हरिभद्र आदि ने उक्त शब्दों के कुछ विशेष अर्थ भी स्वीकार किए हैं । द्वीन्द्रिय आदि जीवों को प्राण और पृथ्वी आदि एरेन्द्रिय जीवों को भूत कहा जाता है । ममत्त्व मंसारी प्राणियों के लिये जीव और मंसारी तथा मुक्त सत्त्व अममत्त्व जीवों के लिए सत्त्व शब्द का व्यवहार होता है । “प्राणिनः द्वीन्द्रियादयः” । भूतानि पृथिव्यादयः” । जीवन्ति जीवा—प्राणुः कर्मानुभवपुत्राः सर्वे एव” । सत्त्वाः—सौसारिकसंसारलोतमेदाः ।”

—आवश्यक शिष्य दिना टीका ।

प्राण, भूत आदि शब्दों की व्याख्या का एक और प्रकार भी है, जो प्रायः आज भी सर्वमान्य रूप में प्रचलित है और आगम साहित्य में भी टीकाकारों को भी मान्य है । द्वीन्द्रिय आदि तीन त्रिकेन्द्रिय

जीवों को प्राण कहते हैं। वृक्षों को भूत, पञ्चेन्द्रिय प्राणियों को जीव तथा शेष नव जीवों को सत्त्व कहा गया है। “प्राणा द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिया, भूताश्च तरवो, जीवाश्च पञ्चेन्द्रियाः, सत्त्वाश्च शेषजीवाः।”

—भाव विजय कृत उत्तगध्ययन सूत्र टीका २६।१६।

विश्व के समस्त अनन्तानन्त जीवों की आशातना का यह सूत्र बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। जैन-धर्म की करुणा का अनन्त प्रवाह केवल परिचित और स्नेही जीवों तक ही सीमित नहीं है। अपितु समस्त जीवराशि से जमा मॉगने का महान् आदर्श है। प्राणी निकट हों या दूर हों स्थूल हों या सूक्ष्म हों, ज्ञात हों या अज्ञात हों, शत्रु हों या मित्र हों किसी भी रूप में हों, उनकी आशातना एवं अवहेलना करना साधक के लिए सर्वथा निषिद्ध है।

यहाँ आशातना का प्रकार यह है कि आत्मा की सत्ता ही स्वीकार न करना, पृथ्वी आदि को जड़ मानना, आत्मतत्त्व को जगिक कहना, एकेन्द्रिय तथा द्वीन्द्रिय आदि जीवों के जीवन को तुच्छ समझना, फलतः उन्हें पीड़ा पहुँचाना।

काल की आशातना

साधक को समय की गति का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। अब कौन काल है? क्या परिस्थिति है? इस समय कौन-सा कार्य कर्तव्य है और कौनसा अकर्तव्य? एक बार गया हुआ समय फिर लौट कर नहीं आता। समय की क्षति सबसे बड़ी क्षति है। इत्यादि विचार साधक जीवन के लिए बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। जो लोग आलसी हैं, समय का महत्त्व नहीं समझते, ‘काले कालं समायरे’ के स्वर्ण सिद्धान्त पर नहीं चलते, वे साधना-पथ से भ्रष्ट हुए बिना नहीं रह सकते।

इसी भावना को ध्यान में रखकर काल की आशातना न करने का विधान किया है। काल की अवहेलना बहुत बड़ा पाप है। संयम जीवन की अनिवार्यता ही काल की आशातना है।

आचार्य जिनदाम और हरिभद्र आदि का कहना है कि काल है ही

नहीं, काल ही निरय का वर्ता हर्ता है, काल देव या ईश्वर है, प्रतिलेखना आदि के अमुक निश्चित काल क्या माने गए हैं ? इत्यादि विचार काल की आशातना है ।

श्रुत को आशातना

जैन धर्म में श्रुत ज्ञान को भी धर्म कहा है । बिना श्रुत ज्ञान के चारित्र कैसा ? श्रुत तो माध्व के लिए तीसरा नेत्र है, जिसके बिना शिव बना ही नहीं जा सकता । इसीलिए आचार्य तुल्लुन्द करते हैं 'आगम-चक्षुः साहू ।

श्रुत की आशातना माध्व के लिए अतीव भयावह है । जो श्रुत की अवहेलना करता है, उर साधना की अवहेलना करता है—धर्म की अवहेलना करता है । श्रुत के लिए अत्यन्त भद्रा रगनी चाहिए । उसके लिए किसी प्रकार की भी अवहेलना का भाव रखना घातक है ।

आचार्य हरिमद्र श्रुत आशातना के सम्बन्ध में कहते हैं कि 'जैन श्रुत साधारण भाग प्राकृत में है पता नहीं उसका कौन निमाता है ? वह केवल कठार चारित्र धर्म पर ही उल देता है । श्रुत के अन्वयन के लिए काल मर्यादा का प्रश्न क्या है ? इत्यादि विपरीत विचार आर वर्तन श्रुत की आशातना है ।'

श्रुत-देवता की आशातना

श्रुत देवता कौन है ? आर उसका क्या स्वरूप है ? यह प्रश्न प्रश्न ही विनाशस्पद है । स्थानकगामी परम्परा में श्रुत देवता का अर्थ किया जाता है—'श्रुतनिमाता तीर्थंकर तथा गणधर ।' वह श्रुत का मूल अविद्यता है, रचयिता है अतः वह उसका देवता है । आचार्य श्री आ मारामजी, भीषाणी हरिलाल जीरयज भाई गुधराती, जीरुलाल छगनलाल स खवी श्रुति प्राय सभी लेखक ऐसा ही अर्थ करते हैं ।

परन्तु श्वताम्बर मूर्ति-पूजक परम्परा में 'श्रुत देवता' एक देवी मानी जाती है, जो श्रुत की अविद्यत्री व रूप में उनके यहाँ प्रसिद्ध है । यह माता भी काफी पुरानी है । आचार्य विनयान भी इसका उल्लेख

करते हैं—‘जीए सुतमधिष्ठितं, तीए आसातणा । नत्थि सा, अकिंचिकरी वा एवमादि ।’ आवश्यक चूर्णि ।

वाचनाचार्य की आशातना

आचार्य और उपाध्याय की आशातना का उल्लेख पहले आ चुका है । फिर यह वाचनाचार्य कौन है ? आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज आदि अव्यापक तथा उपाध्याय अर्थ करते हैं । परन्तु वह ठीक नहीं मालूम होता । सूत्रकार व्यर्थ ही पुनरुक्ति नहीं कर सकते ।

हाँ तो आइए, जरा विचार करें कि यह वाचनाचार्य कौन है ? किंस्वरूप है ? वाचनाचार्य, उपाध्याय के नीचे श्रुतोद्देश के रूप में एक छोटा पद है । उपाध्यायश्री की आज्ञा से यह पढ़नेवाले शिष्यों को पाठ-रूप में केवल श्रुत का उद्देश आदि करता है । आचार्य जिनदास और हरिभद्र यही अर्थ करते हैं । ‘वायणायरियो नाम जो उवज्झाय-संदिट्ठो ऊददेसादि करेति ।’ आवश्यक चूर्णि ।

व्यत्याम्रेडित

‘वचामेलियं’ का संस्कृत रूप ‘व्यत्याम्रेडित’ होता है । इसका अर्थ हमने शब्दार्थ में, दो-तीन बार बोलना किया है । शून्यचित्त होकर अनवधानता से शास्त्र-पाठों को दुहराते रहना, शास्त्र की अवहेलना है । कुछ आचार्य, व्यत्याम्रेडित का अर्थ भिन्न रूप से भी करते हैं । वह अर्थ भी महत्त्वपूर्ण है । ‘भिन्न-भिन्न सूत्रों में तथा स्थानों पर आए हुए एक जैसे समानार्थक पदों को एक साथ मिलाकर बोलना’ भी व्यत्याम्रेडित है ।

योग-हीन

योग-हीन का अर्थ मन, वचन और काय योग की चंचलता है । अथवा बिना उद्योग के बढ़ना भी योग-हीनता है ।

श्री हरिभद्र आदि कुछ प्राचीन आचार्य, योग का अर्थ उपधान-तप भी करते हैं । सूत्रों को पढ़ते हुए किया जानेवाला एक विशेष तपश्चरण

उत्थान कहलाता है। उमे योग भी कहते हैं। अतः योगोद्धारण के बिना सूत्र पढ़ना भी योग हीना है।

विनय हान

विनय हीन का अर्थ है, मनों का अन्वेषण करते समय वाग्वानमान आदि की तथा स्वयं सूत्र के प्रति अनादर बुद्धि रखना, उचित विनय न करना। ज्ञान विनय से ही प्राप्त होता है। विनय विनयात्मक का मूल है। जहाँ विनय नहीं, वहाँ कैसा ज्ञान और कैसा चारित्र्य ?

यहाँ कुछ पाठ में अन्तर है। किन्तु प्रतियोग में 'विषय-हीण', 'घोमहीण' यह नाम है। आत्मज्ञान प्रचलित पाठ भी यही है। परन्तु हरिमठ का नाम इससे भिन्न है। यह 'विषय हीण, घोमहीण, जोगहीण' ऐसा नाम मूलित करते हैं। अतः रहे आत्मरस चूर्णकर विनयाम महत्तर। उ होने कम रक्ता है—'वयहीण, घोमहीण, जोगहीण, विषय हीण।' हमें भी विनयाम महत्तर का नाम अधिक महान प्रतीत होता है, पर हीनता और घोर हीनता तो उच्चारण सम्बन्धी भूले हैं। योग हीनता और विनय हीनता भूत के प्रति आत्मरस रूप में करने योग्य कार्य की भूले हैं। अतः इन मन्त्रों पृथक् पृथक् रूप में उल्लेख करता ही अच्छा रहता है। वदहीनता के बाद विनय हीनता और योगहीनता, तथा उनके पश्चात् अन्त में घोर हीनता का होना, विद्वानों के विषय विचारणीय विषय है। हमारी अन्त बुद्धि में तो यह कमभोग ही प्रतीत होता है। क्या न हम आचार्य विनयाम के काम को अमान्यता का प्रयत्न करें।

घोष हीन

शब्द के दो शरीर माने जाते हैं शब्द शरीर और अर्थ शरीर। शब्द का पढ़ने वाला जिज्ञासु सर्वप्रथम शब्द शरीर की ही सर्श करता है। अतः उसे उच्चारण के प्रति अधिक लक्ष्य देना चाहिए। रसर के उच्चारण के साथ मनोभोगपूर्वक सूत्र पाठ पढ़ने से शीघ्र ही अर्थ प्राप्त होनी है और आत्मरस के वातावरण में मधुर चानि मूलने

संगती है। अतः उदात्त (ऊँचा स्वर), अनुदात्त (नीचा स्वर), और स्वरित (मध्यम स्वर) का ध्यान न रखते हुए स्वर हीन शास्त्र-पाठ करना, घोषहीन दोष माना गया है।

सुष्ठुदत्त

‘सुष्ठुदत्त’ के सम्बन्ध में बहुत-सी विवादास्पद व्याख्याएँ हैं। कुछ विद्वान् ‘सुदृढुदिन्नं दृढु पडिच्छियं’ को एक अतिचार मान कर ऐसा अर्थ करते हैं कि ‘गुरुदेव ने अच्छी तरह अध्ययन कराया हो परन्तु मैंने दुर्विनीत भाव से बुरी तरह ग्रहण किया हो तो।’ यह अर्थ संगत नहीं है। ऐसा मानने से ज्ञानातिचार के चौदह भेद न रह कर तेरह भेद ही रह जायँगे, जो कि प्राचीन परंपरा से सर्वथा विरुद्ध है। आशातना भी तेतीस से घट कर वत्तीस ही रह जायँगी, जो स्वयं आवश्यक के मूल पाठ से ही विरुद्ध है। अतः दोनों पद, दो भिन्न अतिचारों के सूचक हैं, एक के नहीं।

पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज आदि ऐसा अर्थ करते हैं कि ‘मूर्ख, अविनीत तथा कुपात्र शिष्य को अच्छा ज्ञान दिया हो तो।’ इस अर्थ में भी तर्क है कि मूर्ख तथा अविनीत शिष्य को अच्छा ज्ञान नहीं देना तो क्या बुरा ज्ञान देना? ज्ञान को अच्छा विशेषण लगाने की क्या आवश्यकता है? अविनीत तथा कुपात्र तो ज्ञान दान का अधिकारी पात्र ही नहीं है। रहा मूर्ख, सो उसे धीरे-धीरे ज्ञानदान के द्वारा ज्ञानी बनाना, गुरु का परम कर्तव्य है। अस्तु, यह अर्थ भी कुछ संगत प्रतीत नहीं होता।

आगमोद्धारक पूज्य श्री अमोलक ऋषिजी महाराज का अर्थ तो बहुत ही भ्रान्ति-पूर्ण है। आपने लिखा है—‘विनीत को ज्ञान दे।’ यह वाक्य क्या अभिप्राय रखता है, हम नहीं समझ सके। विनीत को ज्ञान देना, कोई दोष तो नहीं है? कहीं भूल से ‘न’ तो नहीं छुट गया है? दृढु पडिच्छियं का अर्थ अविनीत को ज्ञान देना किया है। यह भी ठीक नहीं; क्योंकि पडिच्छियं का अर्थ लेना है, देना नहीं।

किनने ही विद्वाना का एक मात्र अर्थ भी है। वह बहुत विलक्षण है। व 'सुद्धु दिन्न' में 'सुद्धुऽदिन्न' इस प्रकार दिन्न में पहले अकार का प्रत्येय मानते हैं और अर्थ करते हैं कि आलस्यवश या अन्य किसी इत्यादि के कारण से योग्य शिष्य को अच्छी तरह ज्ञानदान न दिया हो। पद अर्थ उद्भूत सु दर मानूम देता है।

अब अन्त में एक महत्वपूर्ण अर्थ की चर्चा की जा रही है। इस अर्थ के पीछे एक प्राचीन और विद्वान् आचार्यों की परंपरा है। आचार्य हरिभद्र कहते हैं—'सुद्धु दत्तं गुण्या दुद्धु प्रतीक्षित कलुषान्तरात्मनेति।' इस मन्त्रेति में दोनो पदों को मिलाकर एक अतिचार मानने का भ्रम होना है। इस भ्रान्ति को दूर करने हुए मलधार गच्छीय आचार्य-हेमचन्द्र, अपने हरिभद्रों आरम्भक टिप्पणक में लिखते हैं 'सुद्धु दत्त' में सुद्धु शब्द शोभन वाचक नहीं है, जिसका अर्थ अच्छा किया जाता है। क्योंकि अच्छी तरह जान देने में कोई अतिचार नहीं है। अतः यहाँ सुद्धु शब्द अतिरेकवाचक समझना चाहिए। अल्प धृत के योग्य अल्पबुद्धि शिष्य को अधिक अध्ययन करा देना, उनकी योग्यता का निवार न करना, ज्ञाननिवार है।

—“ननु तथाप्येतानि चतुर्दश पदानि तथा पूर्वन्ते यदा सुद्धु दत्तं दुद्धु प्रतीक्षितमिति पदद्वयं पृथगाशातना-स्वरूपतया भव्यते। नचैतद युज्यते, सुद्धु दत्तस्य तदरूपताऽयोगात्। नहि शोभनविधिना दत्तं काचिदाशातना संभवति ?

सर्व, स्वादत्तं यदि शोभनत्ववाचकोऽत्र सुद्धु शब्दः स्यात्। तत्र नास्ति, अतिरेक वाच्येन ह्यस्य विवक्षितत्वात्। एतदत्र हृदयम्—सुद्धु = अतिरेकेण विवक्षिताऽल्पधृतयोग्यस्य पात्रस्याऽऽधिक्येन यत् धृतं दत्तं तस्य मिथ्यादुष्कृतमिति विवक्षितत्वाच्च किञ्चिदसङ्गमिति।”

प्रत्येक कार्य में योग्यता का ध्यान रखना आवश्यक है। साधारण अल्पबुद्धि शिष्य को मोह या आग्रह के कारण शास्त्रों की निशाल वाचना दे दी जाय तो वह में भ्रम नहीं सकता। फलतः ज्ञान के प्रति अस्मि

होने के कारण वह थोड़ा सा अपने योग्य ज्ञानाभ्यास भी नहीं कर सकेगा। अतः गुरु का कर्तव्य है कि यथायोग्य थोड़ा-थोड़ा अध्ययन कराए, ताकि धीरे-धीरे शिष्य की ज्ञान के प्रति अभिरुचि एवं जिज्ञासा चलवती होती चली जाय।

अकाल में स्वाध्याय

कालिक और उत्कालिक रूप से शास्त्रों के दो विभाग किए हैं। कालिक श्रुत वे हैं जो प्रथम अन्तिम पहर में ही पढ़े जाते हैं, बीच के पहरों में नहीं। उत्कालिक वे हैं, जो चारों ही पहरों में पढ़े जा सकते हैं। अस्तु, जिस शास्त्र का जो काल नहीं है उसमें उस शास्त्र का स्वाध्याय करना ज्ञानातिचार है। इसी प्रकार नियत काल में स्वाध्याय न करना भी अतिचार है।

ज्ञानाभ्यास के लिए काल का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। चेमौके की रागिनी अच्छी नहीं होती। यदि शास्त्राध्ययन करता हुआ कालादि का ध्यान न रखेगा तो कब तो प्रतिलेखना करेगा? कब गोचर-चर्चा के लिए जायगा? कब गुरुजनों की सेवा का लाभ लेगा? कालातीत अध्ययन कुछ दिन ही चलेगा, फिर अन्त में वहाँ भी उत्साह उंडा पड़ जायगा। शक्ति से अधिक प्रयत्न करना भी दोष है। इसी प्रकार शक्ति के अनुकूल प्रयत्न न करना भी दोष है। स्वाध्याय का समय होते हुए भी आलस्यवश या किसी अन्य अनावश्यक कार्य में लगा रहकर जो साधक स्वाध्याय नहीं करता है, वह ज्ञान का अनादर करता है—अपमान करता है। वह दिव्य ज्ञान-प्रकाश के लिए द्वार बन्द कर अज्ञानान्धकार को निमन्त्रण देता है।

अस्वाध्यायिक में स्वाध्यायित

शीर्षक के शब्द कुछ नवीन से प्रतीत होते हैं। परन्तु नवीनता कुछ नहीं है। स्वाध्याय को ही स्वाध्यायिक कहते हैं और अस्वाध्याय को अस्वाध्यायिक। कारण में कार्य का उपचार हो जाता है। अतः स्वाध्याय और अस्वाध्याय के कारणों को भी क्रमशः स्वाध्यायिक तथा

‘पडिकमामि एगविहे असंजमे’ यह असंयम का समान प्रतिक्रमण है। और यही प्रतिक्रमण आगे ‘दोहिं बंधणेहिं’ आदि से लेकर तेत्तीसाए आसायणाहिं’ तक क्रमशः विराट होता गया है।

क्या यह प्रतिक्रमण तेत्तीस बोल तक का ही है? क्या प्रतिक्रमण का इतना ही विराटरूप है? नहीं, यह बात नहीं है। यह तो केवल सूचनामात्र है, उपलक्षण मात्र है। मलधार-गच्छीय आचार्य हेमचन्द्र के शब्दों में ‘दिङ् मात्रप्रदर्शनाय’ है।

हाँ, तो प्रतिक्रमण के तीन रूप हैं जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। ‘पडिकमामि एगविहे असंजमे’ यह अत्यन्त संहित रूप होने से जघन्य प्रतिक्रमण है। दो से लेकर तीन, चार, दश, शत, सहस्र, लक्ष, कोटि, अर्बुद, किं बहुना, संख्यात तथा असंख्यात तक मध्यम प्रतिक्रमण है। और पूर्ण अनन्त की स्थिति में उत्कृष्ट प्रतिक्रमण होता है। इस प्रकार प्रतिक्रमण के संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त स्थान हैं।

यह लोकालोक प्रमाण अनन्त विराट संसार है। इसमें अनन्त ही असंयमरूप हिंसा, असत्य, आदि हेय स्थान हैं, अनन्त ही संयमरूप अहिंसा, सत्य आदि उपादेय-स्थान हैं, तथा अनन्त ही जीव, पुद्गल आदि ज्ञेय-स्थान हैं। साधक को इन सबका प्रतिक्रमण करना होता है। अनन्त संयम स्थानों में से किसी भी संयम स्थान का आचरण न किया हो, तो उसका प्रतिक्रमण है। अनन्त असंयम स्थानों में से किसी भी असंयम स्थान का आचरण किया हो, तो उसका प्रतिक्रमण है। अनन्त ज्ञेय स्थानों में से किसी भी ज्ञेय स्थान की सम्यक् श्रद्धा तथा प्रत्युपेक्षा न की हो, तो उसका प्रतिक्रमण है। सूत्रकार ने एक से लेकर तेत्तीस तक के बोल सूत्रतः गिना दिए हैं। आखिर एक-एक बोल गिन-कर कहाँ तक गिनाते? कोटि-कोटि वर्षों का जीवन समाप्त हो जाय, तब भी इन सब की गणना नहीं की जा सकती। अतः तेत्तीस के समान

ही अन्य अनन्त जेन भी अर्थन. संकल्प में रखने चाहिए, भूल ही ने ज्ञान ही या अज्ञात हो। माधक को केवल ज्ञात का ही प्रतिक्मण नहीं करना है अन्तु अज्ञात का भी प्रतिक्मण करना है। तभी तो आगे के अन्तिम पाठ में कहा है 'जं संभरामि, जं च न संभरामि।' अर्थात् जो दोष स्मृति में आ रहे हैं उनका प्रतिक्मण करता हूँ। और जो दोष इस समय स्मृति में नहीं आ रहे हैं, परन्तु हुए हैं, उन सब का भी प्रतिक्मण करता हूँ।

यह है प्रतिक्मण का विराट रूप। यहाँ विन्दु में बिन्दु समान होना है, विण्ड म ब्रह्माण्ड का दर्शन करना होता है। एक सचित्त रत्नकण पर पैर आ गया, अमरुप जीर्ण की हिंसा हो गई। एक सचित्त जल-विन्दु का उद्वेग हो गया, अमरुप जीर्ण की हिंसा हो गई। कहीं भी निर्गोद का समर्थ हुआ तो अनन्त जीर्ण की निरापना हो गई। इस प्रकार अमरुप स्थान अनन्त रूप ले लेने है। एक रत्नकण का भी यथार्थ अज्ञान न हुआ तो तद्गत अनन्त परमाणुओं के कारण अश्रद्धा ने अनन्त रूप ले लिया। लोभालोक रूप अनन्त विश्व के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की मिथ्या प्ररूपणा हुई तो विपरीत प्ररूपणा अनन्तरूप प्ररूपण कर लेनी है। अथ माधक इन सब विपरीत भ्रमा, विपरीत प्ररूपणा एवं विपरीत आसेवना रूप अनन्त असंयम स्थानों से हटकर सम्यक् भ्रमा, सम्यक् प्ररूपणा एवं सम्यक् आसेवना रूप अनन्त संयम स्थानों में वापस लौट कर आता है, तब क्या प्रतिक्मण अनन्त रूप नहीं हो जाता है? अग्रश्य हो जाता है। तभी तो मल्लवारणकुलीय आचार्य हेमचन्द्र, आरश्यर टीप्पणक में प्रस्तुत प्रसंग को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—“अपर-स्थापि चतुर्विंशदादेरनंतपर्ययसानस्य प्रतिक्मण—स्थानस्यार्थतोऽत्र सूचितत्वात् ।”

आचार्य दिनशास महत्तर भी आवश्यक घृणि में लिखते हैं—“एवं ता सुत्तनिषयं, अत्थनो तेत्तीसाओ चोत्तीसा भवन्तीति, चोत्तीसाए बुद्धव्यथातिसेसेहि, पण्णीसाए सच्चवव्यावित्तेसेहि, छत्तीसाए उत्तरगम-

यणेहिं, एवं जहा समवाए जावं सतभिसयानक्खत्ते सतगतारे पणत्ते ।
 १. एव' संलेज्जेहिं, असखेज्जेहिं, अणंतेहिं य असंजमट्ठाणेहि य संजमट्ठाणे-
 हि य जं पडिसिद्ध-करणादिना अतियरितं तस्य मिच्छामि दुक्कडं ।
 सठवो वि य एसो दुगादीओ अतियारगणो एकविहस्स असंजमस्स
 पत्तारयसमूहो इति । एव' संवेगाद्यर्थं अणंगधा दुक्कडगरिहा कता ।

: २६ :

प्रतिज्ञा-सूत्र

नमो

चउवीसाए तित्थगराणं

उमभादि-महावीरपज्जवसाणाणं ।

इणमेव निग्गंथं पापयणं,—

सच्चं, अणुत्तरं, केवलियं, पडिपुण्णं, नेआउयं, संसुद्धं,
सल्लगत्तणं, सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं, निज्जाणमग्गं,
निव्वाणमग्गं, अयितहमविसंघं, सव्वदुन्सप्यहीणमग्गं ।

इत्थं ठिआ जीया, मिज्झंति बुज्झंति, मुच्चंति,
परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेति ।

तं धम्मं सदहामि, पत्तिआभि, रोएभि, फासंमि,
पालेभि, अणुपालेभि ।

तं धम्मं सदहंतो, पत्तिअंतो, रोअंतो, फामंतो, पालंतो^१
अणुपालंतो ।

१ आचार्य जिनदास महत्तर आर आचार्य दत्तिभद्र ने 'पालेभि'
'पालन्तो' का उल्लेख नहीं किया है ।

तस्स धम्मस्स

अव्वुद्धिओमि आराहणाए

विरओमि विराहणाए ।

असंजमं परिआणामि संजमं उवसंपज्जामि,

अवंमं परिआणामि वंमं उवसंपज्जामि,

अकप्पं परिआणामि कप्पं उवसंपज्जामि,

अन्नाणं परिआणामि नाणं उवसंपज्जामि,

अकिरियं^१ परिआणामि किरियं उवसंपज्जामि,

मिच्छत्तं परिआणामि सम्मत्तं उवसंपज्जामि^२

अवोहिं परिआणामि वोहिं उवसंपज्जामि,

अमग्गं परिआणामि, मग्गं उवसंपज्जामि ।

जं^३ संभरामि, जं च न संभरामि,

जं पडिक्कमामि, जं च न पडिक्कमामि,

तस्स सब्बस्स देवसियस्स अइआरस्स पडिक्कमामि ।

१—आचार्ये जिनदास महत्तर पहले 'मिच्छत्तं' परिआणामि सम्मत्तं 'उवसंपज्जामि' कहते हैं, और बाद में 'अकिरियं' परिआणामि किरियं उवसंपज्जामि ।

२—आचार्ये जिनदास की आवश्यक चूर्णि में 'अवोहिं परिआणामि, वोहिं उवसंपज्जामि । अमग्गं परिआणामि मग्गं उवसंपज्जामि' यह अंश नहीं है ।

३—आवश्यक चूर्णि में 'जं पडिक्कमामि जं च न पडिक्कमामि' पहले है और बाद में 'जं संभरामि जं च न संभरामि' है ।

समणोऽहं संजय-विरय-पडिहय-पञ्चमसाय-पायकम्मो,
अनियाणो, दिट्ठिसंपन्नो, माया-मोस-भिमज्जिओ ।

(१)

अड्ढाड्ज्जेसु दीद-

समुहेसु पन्नरमतु कम्मभूमीसु ।

जायंत के वि साहू,

रयहरण-गुच्छ-पडिग्गह-पारा ॥

(२)

पंचमहव्यय-धारा

अड्ढार-सहस्म-मीलंगधारा ।

अनपयापारचरित्ता,

ते मज्जे सिरसा मणसा मत्थएण बंढामि ॥

शब्दाध

नमो = नमस्कार हो

चउमीणाए = चौबीस

तिथगराण = तीर्थस्थलों को

उसभादि = आपस आदि

महावीर = महावीर

पञ्चवसाणाण = पंचवस्त्रों को

इण्णमेव = यह ही

निग्गमं = निग्रहों का

पाययण = प्रवचन

ज्ज = संघ है

अणुत्तर = सर्वोत्तम है

केवलस्य = सर्वज्ञ-प्ररूपित अपव

अद्वितीय है

पत्तिपुग्गण = प्रतिपूरण है

नेआडय = न्यायावाधित है, मो

ले जाने वाला

ममुद = पूर्ण शुद्ध है

सल्ल = शक्तियों को

गतं = बाटने वाला है

मिद्धि मगं = मिद्धि का मार्ग है

मुत्ति मगं = मुत्ति का मार्ग है

निजाणमगं = संसार से निकलने
का मार्ग है, मोक्ष
स्थान का मार्ग है

निव्वाण मगं = निर्वाण का मार्ग
है, परम शान्ति
का कारण है

अविहं = तथ्य है, यथार्थ है

अविसंधि = अव्यवच्छिन्न है, सदा
शाश्वत है

सव्व = सब

दुक्ख = दुःखों के

पहीण = क्षय का

मगं = मार्ग है

इत्थं = इसमें

ठिआ = स्थित हुए

जीवा = जीव

सिज्झंति = सिद्ध होते हैं

बुज्झंति = बुद्ध होते हैं

मुच्चंति = मुक्त होते हैं

परिनिव्वायंति = निर्वाण को प्राप्त होते हैं

सव्वदुक्खाणं = सब दुःखों का

अन्तं = अन्त, क्षय

करेन्ति = करते हैं

तं = उस

धम्मं = धर्म की

सद्दामि = धृष्टा करता हूँ

पत्तिआमि = प्रतीति करता हूँ

रोणमि = रुचि करता हूँ

फासेमि = स्पर्शना करता हूँ

पालेमि = पालना करता हूँ

अणु = विशेष रूप से

पालेमि = पालना करता हूँ

तं = उस

धम्मं = धर्म की

सद्दहंतो = धृष्टा करता हुआ

पत्तिअंतो = प्रतीति करता हुआ

रोअंतो = रुचि करता हुआ

फासंतो = स्पर्शना करता हुआ

पालंतो = पालना करता हुआ

अणु = विशेष रूप से

पालंतो = पालना करता हुआ

तस्म = उस

धम्मस्स = धर्म की

आराहणाए = आराधना में

अवमुट्ठिअमि = उपस्थित हुआ हूँ

विराहणाए = विराधना से

विरअमि = निवृत्त हुआ हूँ

असंजमं = असंयम को

परिआणामि = जानता हूँ एवं

त्यागता हूँ

संजमं = संयम को

उवसंपजामि = स्वीकार करता हूँ

अरम = अरमचर्य को

य आणामि = जानता हूँ और
त्यागता हूँ

रम = रमचर्य को

उरम पज्जामि = स्वीकार करता हूँ

अरुण्य = अरुण्य = अरु प को

पारआणामि = जानता हूँ, त्यागता
हूँ

कण = कण्य = कृत्य को

उरम पज्जामि = स्वीकार करता हूँ

अज्ञाण = अज्ञान को

परिआणामि = जानता हूँ और
त्यागता हूँ

नाण = नान को

उरम पज्जामि = स्वीकार करता हूँ

अनिरिय - अक्रिया को

परिआणामि = जानता हूँ एवं
त्यागता हूँ

रिरिय = रिया को

उरम पज्जामि = स्वीकार करता हूँ

निन्दुत्त = निन्द्यात्त को

परआणामि = जानता हूँ तथा
त्यागता हूँ

सम्पत्त = सम्पत्त को

उरम पज्जामि = स्वीकार करता हूँ

अबोहि = अबोहि को

परिआणामि = जानता हूँ और
त्यागता हूँ

बोहि = बोहि को

उरम पज्जामि = स्वीकार करता हूँ

अमग = अमग को

परिआणामि = जानता हूँ, त्यागता हूँ

मग = मग को

उरम पज्जामि = स्वीकार करता हूँ

ज = जो

म मगमि = स्मरण करना हूँ

च = और

प = जो

न = नहीं

म मरामि = स्मरण करता हूँ

जं = जिसका

पङ्कमामि = प्रतिफल करता

च = और

ज जिसका

न = नहीं

पङ्कमामि = प्रतिफल करता

तस्म = उस

सम्बन्ध = सब

देवमिस्स = दिवस सम्बन्धी

अइयारस्म = अतिचार का

पङ्कमामि = प्रतिफल का

समणोह = मैं धम्मण हूँ

म जय संवमो हूँ

विग्न = विरत हैं

पटिहय = नाश करने वाला हूँ

पञ्चकन्वाच = त्याग करने वाला हूँ

पावकम्पो = पापकर्मों का

अनियान्णो = निदान रहित

टिट्टि = सम्यग् दृष्टि से

मंपन्नो = युक्त हूँ

माया = माया सहित

मोघ = नृपावाद से

विवज्जिआं = मन्त्रार्था रहित हूँ

अट्टादज्जेसु = अट्टाई

दीव = द्वीप

समुद्देसु = समुद्रों में

पन्नरमसु = पन्द्रह

कम्मभूमीसु = कर्म भूमियों में

ज्जार्हत = जितने भी

केवि = कोई

साहू = साधु हैं

रयहरण = रजोहरण

गुच्छ = गोच्छक

पटिमाह = पात्र के

आग = धारक हैं

पंच = पाँच

महव्यय = महावत के

धारा = धारक हैं

अट्टदार = अट्टारह

महस्स = हजार

सीलंग = शीलाङ्ग के

धारा = धारक हैं

अक्खय = अक्षत-परिपूर्ण

आयार = आचार रूप

चरित्ता = चारित्र के धारक हैं

ते = उन

मच्चं = सबको

मिरमा = शिर से

मणसा = मन से

मत्थएण = मस्तक से

वंडामि = वन्दना करता हूँ

भावार्थे

भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर पर्यन्त-चौबीस तीर्थंकर देवों को नमस्कार करता हूँ ।

यह निग्रन्थ-प्रवचन अथवा प्रावचन ही सत्य है, अनुत्तर = सर्वोत्तम है, केवल = अद्वितीय है अथवा कैवलिक = केवल-ज्ञानियों से प्ररूपित है, प्रतिपूर्ण = मोक्षप्राप्त गुणों से परिपूर्ण है, नैयायिक-मोक्ष पहुँचाने वाला है अथवा न्याय से अबाधित है, पूर्ण शुद्ध अर्थात् सर्वार्था निष्कलंक है, शल्यकर्त्तन = माया आदि शल्यों को नष्ट करने वाला है, सिद्धि-

गै-पूर्ण दिताये रूप सिद्धि की प्राप्ति का उपाय है, मुक्ति-मार्ग=अद्वि-
त-वन्धन से मुक्ति का साधन है, निर्याण-मार्ग=मोक्ष स्थान का मार्ग
निर्याण-मार्ग = पूर्ण शान्ति रूप निवारण का मार्ग है। अविशेष=
मध्यान् रहित है, अविशेष = विच्छेद रहित अर्थात् सनातन नियम
है तथा पूरा पर विरोध रहित है, सब दुःखों का पूर्णतया दाय करने का
मार्ग है।

इस निरर्थक प्राप्ति में स्थित रहने वाले अर्थात् तदनुसार आच-
रण करने वाले भव्य जीव सिद्ध होते हैं, बुद्ध = सर्वज्ञ होते हैं, मुक्त
होते हैं, परिनिर्वाण = पूर्ण आत्म शान्ति को प्राप्ति करते हैं, समस्त
दुःखों का सदा काल के लिए अन्त करते हैं।

मैं निरर्थक प्राप्तिरूप धर्म की भक्षा करता हूँ, प्रतीति करता
हूँ = सम्मति स्वीकार करता हूँ, रक्षि करता हूँ, स्पर्शना करता हूँ,
पालना अर्थात् रक्षा करता हूँ, विशेष रूप से पालना करता हूँ —

मैं प्रस्तुत त्रिधर्म की भक्षा करता हुआ, प्रतीति करता हुआ,
रक्षि करता हुआ, स्पर्शना = आचरण करता हुआ, पालना = रक्षण
करता हुआ, विशेषरूपेण पुनः-पुनः पालना करता हुआ —

धर्म की आराधना करने में पूरा रूप से अभ्युत्थित अर्थात् सज्ज
हूँ, और धर्म की विरोधना = खण्डना से पूरा तथा निरुत होता हूँ —

असमय को जानता और त्यागता हूँ, समय को स्वीकार करता
हूँ, अव्यक्त को जानता और त्यागता हूँ, व्यक्त को स्वीकार करता
हूँ, अकल्प = अकृत्य को जानता और त्यागता हूँ, कल्प = कृत्य
स्वीकार करता हूँ, अज्ञान को जानता और त्यागता हूँ, ज्ञान
स्वीकार करता हूँ, अक्रिया = नास्तिवाद को जानता तथा त्यागता
हूँ, क्रिया = सम्प्रवाद को स्वीकार करता हूँ, मिथ्यात्व = असदाग्रह को ज-

— तथा त्यागता हूँ, सम्यक्त्व = सदाग्रह को स्वीकार करता हूँ, अवि-
मिथ्या उपाय को जानता हूँ, एव त्यागता हूँ, बोधि = सम्यक्त्व का

स्वीकार करता हूँ, अमार्ग = हिंसा आदि अमार्ग को जानता तथा त्यागता हूँ, मार्ग = अहिंसा आदि मार्ग को स्वीकार करता हूँ:—

[दोष-शुद्धि] जो दोष स्मृतिस्थ हैं—याद हैं और जो स्मृतिस्थ नहीं हैं, जिनका प्रतिक्रमण कर चुका हूँ और जिन का प्रतिक्रमण नहीं कर पाया हूँ, उन सब दिवस-सम्बन्धी अतिचारों = दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ—

मैं श्रमण हूँ, संयत=संयमी हूँ, विरत = साद्य व्यापारों से एवं संसार से निवृत्त हूँ, पाप कर्मों को प्रतिहत करने वाला हूँ एवं पाप-कर्मों का प्रत्याख्यान—त्याग करने वाला हूँ, निदान रहित शत्रु से रहित अर्थात् आसक्ति से रहित हूँ, दृष्टि सम्पन्न = सम्यग्दर्शन से युक्त हूँ, माया सहित मृगवाद = असत्य का परिहार करने वाला हूँ—

ढाई द्वीप और दो समुद्र के परिमाण वाले मानव क्षेत्र में अर्थात् पंद्रह कर्म भूमियों में जो भी रजोहरण, गुच्छक एवं पात्र के धारण करने वाले—

तथा पाँच महाव्रत, अठारह हजार शील = सदाचार के श्रंगों के धारण करने वाले एवं अज्ञत आचार के पालक त्यागी साधु हैं, उन सबको शिर से, मन से, मस्तक से वन्दना करता हूँ ।

विवेचन

यह अन्तिम प्रतिज्ञा का सूत्र है । प्रतिक्रमण आवश्यक के उपमंहार में साधक बड़ी ही उदात्त, गंभीर एवं भावनापूर्ण प्रतिज्ञा करता है । प्रतिज्ञा का एक-एक शब्द साधना को स्मृति एवं प्रगति की दिव्य ज्योति से आलोकित करने वाला है । असंयम को त्यागता हूँ और संयम को स्वीकार करता हूँ, अद्रक्षचर्य को त्यागता हूँ और द्रक्षचर्य को स्वीकार करता हूँ, अज्ञान को त्यागता हूँ और ज्ञान को स्वीकार करता हूँ, कुमार्ग को त्यागता हूँ, और समार्ग को स्वीकार करता हूँ, इत्यादि कितनी मधुर एवं उत्थान के संकल्पों से परिपूर्ण प्रतिज्ञा है ?

जैन साधक निवृत्ति-मार्ग का अधिक है । उनका गुण कैवल्य पद

ओर है एवं गीट सखा की ओर। वाचना से उमे भगा है, अत्यन्त
 है। उसका आदर्श एक मात्र उच्च जीवन, उच्च विचार और उच्च
 चार ही है। वह असंयम से संयम की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर, अशुद्धि से शुद्धि
 मार्ग की ओर गतिशील रहना चाहता है। यही कारण है कि यदि
 भी मूल से कोई गिर हो गया हो, आत्मा संयम से असंयम की ओर
 भ्रमण गया हो तो उसकी प्रतिक्रिया द्वारा शुद्धि की जाती है, पश्चात्ताप
 व द्वारा पाप क्षमा माफ की जाती है। असंयम की जरा सी भी रेंग
 जीवन पर नहीं रहने दी जाती। प्रतिक्रिया के द्वारा आलोचना कर लेना
 ही गलत नहीं है, परन्तु पुनः कभी भी यह दोष नहीं किया जायगा—
 यह दृष्टि सफल भी दुःखदायी जाना है। प्रत्युत प्रतिज्ञापूर्वक में यही शिव
 सफल है। प्रतिक्रिया आवश्यक की समाप्ति पर, साधक, फिर असंयम
 पर पर कदम न रखने की अपनी धर्म बोधना करता है।

जैन धर्म का प्रतिक्रिया करने तक ही केन्द्रित है। वह किसी भी
 ईश्वर अथवा परमात्मा के आगे पापों के प्रति क्षमा याचना नहीं है।
 ईश्वर हमारे पापों को क्षमा कर देगा, फल स्वरूप फिर हम कुछ भी
 पाप फल नहीं भोगना पड़ेगा, इस सिद्धान्त में जैनों का अग्रगण्य भी
 विश्वास नहीं है। जो लोग इस सिद्धान्त में विश्वास करते हैं, वे एक
 ओर पाप करते हैं एवं दूसरी ओर ईश्वर से प्रतिदिन क्षमा माँगते रहते
 हैं। उनका लक्ष्य पापों से उचलना नहीं है, किन्तु पापों व फल से बचने
 है। जब कि जैन धर्म मूलतः पापों से बचने का ही आदर्श रखता है।
 अतएव वह कृत्रिम पापों के लिए पश्चात्ताप कर लेना ही पर्याप्त नहीं स
 भूता, प्रत्युत फिर कभी पाप न होने पाएँ—इस बात की भी मान्यता
 रखता है।

पूर्व नमस्कार

प्रतिज्ञा करने से पहले संयम पथ के मद्द्न यात्री श्री आचार्य
 महाशय पर्यन्त चौरीम तीर्थकर देवी को नमस्कार किया गया है। यह

है कि जैसी साधना करनी हो उसी साधना के उपायकों का स्मरण किया जाता है। युद्धवीर युद्धवीरों का तो अर्थवीर अर्थवीरों का स्मरण करते हैं। यह धर्म युद्ध है, अतः यहाँ धर्मवीरों का ही स्मरण किया गया है। जैन धर्म के चौबीस तीर्थंकर धर्म साधना के लिए अनेकानेक भयंकर परीपह सहते रहे हैं एवं अन्त में साधक से सिद्ध पद पर पहुँच कर अजर अमर परमात्मा हो गए हैं। अतः उनका पवित्र स्मरण हम साधकों के दुर्बल मन में उत्साह, बल एवं स्वाभिमान की भावना प्रदीप्त करने वाली है। उनकी स्मृति हमारी आत्मशुद्धि को स्थिर करने वाली है। तीर्थंकर हमारे लिए अन्धकार में प्रकाश स्तंभ हैं।

भगवान् ऋषि मंदेंव

वर्तमान कालचक्र में चौबीस तीर्थंकर हुए हैं, उनमें भगवान् ऋषभदेव सर्व प्रथम हैं। आपके द्वारा ही मानव सभ्यता का आविर्भाव हुआ है। आपसे पहले मानव जंगलों में रहता, वन फल खाता एवं सामाजिक जीवन से शून्य अकेला घूमा करता था। न उसे धर्म का पता था और न कर्म का ही। भगवान् ऋषभ के प्रवचन ही उसे सामाजिक प्राणी बनाने वाले हैं, एक दूसरे के सुख दुःख की अनुभूति में सम्मिलित करने वाले हैं। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि उस युग में मानव के पास शरीर तो मानव का था, परन्तु आत्मा मानव की नहीं। मानव-आत्मा का स्वरूप-दर्शन, सर्व प्रथम, भगवान् ऋषभदेव ने ही कराया।

भगवान् ऋषभदेव जैन धर्म के आदि प्रवर्तक हैं। जो लोग जैन धर्म को सर्वथा आधुनिक माने बैठे हैं, उन्हें इस ओर लक्ष्य देना चाहिए। भगवान् ऋषभदेव के गुण गान वेदों और पुराणों तक में गाए गए हैं। वे मानव-संस्कृति के आदि उद्धारक थे, अतः वे मानव मात्र के पूज्य रहे हैं। आज भले ही वैदिक समाज ने, उनका वह ऋण, भुला दिया हो, परन्तु प्राचीन वैदिक ऋषि उनके महान् उपकारों को

तहीं भूले थे, अतएव उन्होंने पुनः हृदय से भगवान् श्रीरामदेव का स्तुति गान किया है।

अनराणं वृषभं मन्त्रजिह्वं,

बृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्के ।

—श्रुग० मं० १ ग० १६० मं० १

अथान् मित्रभागी, शानी, स्तुतियोग्य श्रुपम को पूजा गंधक मन्त्रों द्वारा वर्धन करो।

अंहोमुचै वृषभं यज्ञियानां,

मिराजन्तं प्रथममध्वराणाम् ।

अशां न पातमयिना हुवे धियः,

इन्द्रियेण इन्द्रियं दत्तमोजः ॥

—अथर्ववेद का० १६।४२।४

अथान् समूहों पापा से मुक्त तथा अहिंसक वृत्तियों के प्रथम राजा, आदित्यस्वरूप, श्रीश्रुपमदेव का मैं आवाहन करता हूँ। वे मुझे बुद्धि एवं इन्द्रिया के साथ बल प्रदान करें।

नाभेरमावृषभ आम सुदेवमस्तु—

यो वै चचार ममदृग् जडयोगचर्याम् ।

यत्पारहंस्यमृषयः पदमामनन्ति,

म्वस्थः प्रशान्तकरणः परिमुक्त-संगः ॥

—श्रीमद्भागवत २।७।१

वेद और भागवत क्या, अन्य भी वायु पुराण, पद्म पुराण आदि में भगवान् श्रीरामदेव की स्तुति की गई है। इन प्रमाणों से जा जाता है कि—भगवान् श्रीरामदेव ममस्त भारतवर्ष के एक मात्र पु

धनता रहे हैं। यह तो वैदिक साहित्य का नमूना है। जैनधर्म का साहित्य तो भगवान् ऋषभदेव के सुगुणान में सर्वथा ओतप्रोत है ही। प्रत्येक पाठक इस बात से परिचित है, अतः जैन ग्रन्थों से उद्धरण लेकर व्यर्थ ही लेख का कलेंबर क्यों बढ़ाया जाय ?

भगवान् महावीर

आज भगवान् महावीर को कौन नहीं जानता ? आज से अर्द्धशताब्दी पहले भारतवर्ष में कितना भयंकर अज्ञान था, कितना तीम पाखण्ड था, कितना धर्म के नाम पर अत्याचार था ? इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी उस समय के यज्ञादि में होने वाले भयंकर हिंसा काण्डों से परिचित है। भगवान् महावीर ने ही उस समय अहिंसा धर्म की तुन्दुभि बजाई थी। कितने कष्ट सहें, कितनी आपत्तियाँ भेलीं; किन्तु भारत की काया-पलट कर ही दी। आध्यात्मिक क्रान्ति का सिंहराज भारत के कोने-कोने में गूँज उठा। भगवान् महावीर का ऋण भारतवर्ष पर अनन्त है, असीम है ! आज हम किसी भी प्रकार से उनका ऋण अदा नहीं कर सकते। प्रभु की सेवा के लिए हमारे पास क्या है ? और वे हम से चाहते भी तो कुछ नहीं। उनके सेवक किंवा अनुयायी होने के नाते हमारा इतना ही कर्तव्य है कि हम उनके बताए हुए सदाचार के पथ पर चले और श्रद्धा भक्ति के साथ मस्तक झुकाकर उनके श्रीचरणों में वन्दन करें।

भगवान् महावीर का नाम पूर्णतया अर्थव्यक्त है। साधक जीवन के लिए आपके नाम से ही बड़ी भारी आध्यात्मिक प्रेरणा मिलती है। एक प्राचीन आचार्य भगवान् के 'वीर' नाम की व्युत्पत्ति करते हुए बड़ी ही भव्य-कल्पना करते हैं—

विदारयति यत्कर्म,

तपसा च विराजते ।

ग्रन्थ अर्थात् परिग्रह से रहित पूर्ण त्यागी एवं संयमी साधु ।^१ 'वाह्याभ्यन्तरग्रन्थनिर्गताः साधवः ।'

—आचार्य हरिभद्र ।

आचार्य हरिभद्र की उपर्युक्त व्युत्पत्ति के समान ही अन्य जैनाचार्यों ने भी निर्ग्रन्थ की यही व्युत्पत्ति की है । परन्तु जहाँ तक विचार की गति है, यह शब्द साधारण साधुओं के लिए उच्चार से प्रयुक्त होता है, क्योंकि मुख्य रूप से वाह्याभ्यन्तर परिग्रह के त्यागी पूर्ण निर्ग्रन्थ तो आरिहन्त भगवान ही होते हैं । साधारण निर्ग्रन्थ्यदवाच्य साधु तो ब्राह्म परिग्रह का त्यागी होता है, और आन्तर परिग्रह के कुछ अंश को त्याग देता है एवं शेष अंश को त्यागने के लिए साधना करता है । यदि साधारण साधु भी क्रोवादि आभ्यन्तर परिग्रह का पूर्ण त्यागी हो जाय तो फिर वह साधक कैसा ? पूर्ण न हो जाय, कृतकृत्य न हो जाय ? निर्ग्रन्थत्व की विशुद्ध दशा उमशान्तमोह एवं क्षीण मोह गुण स्थानों पर ही प्राप्त होती है, नीचे नहीं । अतएव जो राग द्वेष की गाँठ को सर्वथा अलग कर देता है, तोड़ देता है, वह तत्त्वतः निश्चयनय सिद्ध निर्ग्रन्थ है । और जो अभी अपूर्ण है, किन्तु नैर्ग्रन्थ्य अर्थात् निर्ग्रन्थत्व के प्रति यात्रा कर रहा है, भविष्य में निर्ग्रन्थत्व की पूर्ण स्थिति प्राप्त करना चाहता है, वह व्यवहारतः सम्प्रदाय-सिद्ध निर्ग्रन्थ है । देखिए, तत्त्वार्थभाष्य अध्याय ६, सू० ४८ ।

^१ निर्ग्रन्थोऽरिहन्तो का प्रवचन, नैर्ग्रन्थ्य प्रावचन है । 'निर्ग्रन्थानामिदं नैर्ग्रन्थ्यं प्रावचनमिति ।'—आचार्य हरिभद्र । मूल में जो 'निर्गन्थ' शब्द है, वह निर्ग्रन्थ-वाचक न होकर नैर्ग्रन्थ्य-वाचक है । अब रहा 'पावयण' शब्द, उसके दो संस्कृत रूपान्तर हैं प्रवचन और प्रावचन । आचार्य जिनदास प्रवचन कहते हैं और हरिभद्र प्रावचन । शब्दभेद होते हुए भी, दोनों आचार्य एक ही अर्थ करते हैं—'जिसमें जीवादि पदार्थों का तथा

१—आचार्य हरिभद्र भी सामायिकाध्ययन की ७८६ गाथा की टीका में कहते हैं—'निर्ग्रन्थानामिदं नैर्ग्रन्थ्यम्—आर्हतमिति भावना ।'

चानाति रत्नत्रय की स्तुति का यथार्थ रूप से निरूपण किया गया है, वह सामानिक से लेकर निदुस्तर पूर्व तक का आगम साहित्य ।' आचार्य निमभद्र, आवश्यक चूणि' न लिखते हैं—'पञ्चयणी समाख्यादि विष्णुसारपञ्चवसाश, जय्य नाय दसगुणचरित्त-साद्वर्णवावारा अणुगथा वणिगुणवति ।' आचार्य हरिभद्र लिखते हैं—'प्रकर्षेण अभिविदिता वक्ष्यते नीवादयो यस्मिन् स मावचनम् ।'

ऊपर के बयान से प्रावचन अथवा प्रवचन का अर्थ 'श्रुत रूप शान्ध' ध्वनि होता है । परन्तु हमने 'जिन शासन' अर्थ किया है, और जिन शासन का फलितार्थ 'जिन धर्म' । इसका लिए एक तो आगे की बयान शैली ही प्रमाण है । मात्र का मार्ग ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य रूप जैन धर्म है, कवल शान्ध ता नहीं । भगवान् महावीर ने निरूपण किया है—

नारणं च दंसरां चैव,

चरित्तं च तयो तदा ।

एव मग्गोत्ति पणुत्तो,

जिणेहि वर - दसिहि ॥

—उत्तराध्यायन २८ । १ ।

—ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप ही मान का मार्ग है ।

आचार्य उमास्वामी भी कहते हैं —

मम्यग्दर्शन ज्ञान-चारिणाणि मोक्षमार्गः ।

—तत्त्वार्थ सूत्र १ । १ ।

एक स्थान पर नहीं, सैकड़ों स्थान पर हमी प्रकृत ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य को मोक्ष मार्ग कहा है । प्रबुद्ध सूत्र के 'इत्थं जिघा जीवा सिम्भति, बुज्झति, मुच्चति' आदि पाठ व द्वारा भी यही सिद्ध होता है । धर्म म स्थित होने पर ही तो जीव सिद्ध बुद्ध, मुक्त होने है अथवा नहीं । आगे चल कर 'त धम्मं सरद्धामि, पत्तिघामि' म स्थान ही धर्म

का उल्लेख किया है। 'तत्' शब्द भी पूर्व-परामर्शक होने के कारण पूर्व उल्लेख की ओर संकेत करता है। अर्थात् पूर्वोक्त-विशेषण-विशिष्ट प्रावचन को ही धर्म बताता है। आचार्य हरिभद्र भी यहाँ ऐसा ही उल्लेख करते हैं—'य एष नैर्ग्रन्थ्य-प्रावचनलक्षणो धर्म उक्तः, तं धर्मं श्रद्धध्महे'।

यापनीय संघ के महान् आचार्य श्री अमराजित तो निर्ग्रन्थ का अर्थ ही मिथ्यात्व, अज्ञान एवं अविरति रूप ग्रन्थ से निर्गत होने के कारण सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान, सम्यक् चारित्र आदि धर्म करते हैं। और जिनागम रूप प्रवचन का अभिधेय अर्थात् प्रतिपाद्य विषय होने से धर्म को ही प्रावचन भी कहते हैं। 'प्रावचन' शब्द को देखते हुए, उसका अर्थ, प्रवचन (शास्त्र) की अपेक्षा प्रावचन अर्थात् प्रवचन-प्रतिपाद्य ही भाषा शास्त्र की दृष्टि से कुछ अधिक संगत प्रतीत होता है।

—“ग्रथन्ति रचयन्ति दीर्घाकुर्वन्ति संसारमिति ग्रन्थाः—
मिथ्यादर्शनं, मिथ्याज्ञानं, असंयमः, कपायाः, अशुभयोगत्रयं चेत्यमी
परिणामाः। मिथ्यादर्शनान्निष्क्रान्तं किम्? सम्यग् दर्शनम्। मिथ्या-
ज्ञानान्निष्क्रान्तं सम्यग् ज्ञानं, असंयमात् कषायेभ्योऽशुभयोगत्रयाच्च
निष्क्रान्तं सुचारित्रं। तेन तत्त्रयमिह निर्ग्रन्थशब्देन भण्यते।

प्रावचनं = प्रवचनस्य जिनागमस्य अभिधेयम्।”

(मूलाराधना-विजयोदया १-४३)

सत्य

धर्म के लिए सबसे पहला विशेषण सत्य है। सत्य ही तो धर्म हो सकता है। जो असत्य है, अविश्वसनीय है, वह धर्म नहीं, अधर्म है। जब भी कोई व्यक्ति किसी से किसी सिद्धान्त के सम्बन्ध में बात करता है तो पूछने वाला सर्वे प्रथम यही पूछता है—क्या यह बात सच है? इस प्रश्न का उत्तर देना ही होगा। तभी कोई सिद्धान्त आगे प्रगति कर सकता है। अतएव सूत्रकार ने सर्वे प्रथम इसी प्रश्न का उत्तर दिया है और कहा है कि खलत्रय रूप जैन धर्म सत्य है।

आचार्य जिनदाम सत्य की व्युत्पत्ति करते हुए कहते हैं—(१)

मध्यात्माओं के लिए दिनकर हो तथा मद्भूत हो, यह सत्य होता है।
'सद्भूमो हितं सच्चं, सद्भूतं वा सच्चं।'

जैन धर्म वैज्ञानिक धर्म है। उसका सिद्धान्त पदार्थ विज्ञान की जमीनी पर सरा उतरता है। जड़ और चैतन्य तत्त्व का निरूपण, जिन शासन में हम प्रकार किया गया है कि जो आज भी विद्वानों के लिए चमत्कार की वस्तु है। अहिंसावाद, अनेकान्तवाद और कम'वाद आदि इनने ऊँचे और प्रामाणिक सिद्धान्त हैं कि आज तक के इतिहास में कभी झुठलाए नहीं जा सके। झुठलाए जाएँ भी कैसे? जो सिद्धान्त तत्त्व की मुट्ट नींव पर खड़े किए गए हैं, वे त्रिकालावधित सत्य होने हैं, तीन काल में भी मिथ्या नहीं हो सकते। देखिए, विदेशी विद्वान भी जैन धर्म की सत्यता और महत्ता को किस प्रकार आदर की दृष्टि से स्वीकार करते हैं :—

पौराण्य दर्शनशास्त्र के सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान् डाक्टर ए० गिरनार्ड लिखते हैं—“मनुष्यों की उन्नति के लिए जैन धर्म में चारित्र्य सम्बन्ध मूल्य बहुत बड़ा है। जैनधर्म एक बहुत प्रामाणिक, स्वतंत्र और नियमरूप धर्म है।”

पूर्व और पश्चिम के दर्शन शास्त्रों के तुलनात्मक अध्यासी इतालियन विद्वान् डाक्टर एल० पी० टेसीटरी भी जैनधर्म की श्रेष्ठता स्वीकार करते हैं—“जैन धर्म बहुत ही उच्च कोटि का धर्म है। इसके मुख्य तत्त्व विज्ञान शास्त्र के आधार पर रचे हुए हैं। यह मेरा अनुमान ही नहीं, बल्कि अनुभव मूलक पूर्ण दृढ़ विश्वास है कि ज्यों-ज्यों पदार्थ विज्ञान उन्नति करता जायगा, त्यों-त्यों जैन धर्म के सिद्धान्त सत्य सिद्ध होते जायेंगे।”

राष्ट्र पिता महात्मा गाँधी, लॉर्डमान्य निलर, भारत के सर्वप्रथम भारतीय गवर्नर जनरल चन्द्रवता राजगोपालाचार्य, सरदार पटेल आदि ने भी जैन धर्म की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है और उसके सिद्धांतों की सत्यता के लिए अपनी स्पष्ट सम्मति प्रकट की है। सबके लोखों का

यहाँ उद्धृत कर सकें, इतना हमें न अवकाश है और न वह लेख मामूली ही पास है।

केवलियं

मूल में 'केवलियं' शब्द है, जिसके संस्कृत रूपान्तर दो किए जा सकते हैं—केवल और कैवलिक। केवल का अर्थ अद्वितीय है। सम्यग् दर्शन आदि तत्त्व अद्वितीय हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं। कौन है वह सिद्धान्त, जो इनके समक्ष खड़ा हो सके? मानवजाति का हित एकमात्र इन्हीं सिद्धान्तों पर चलने में है। पवित्र विचार और पवित्र आचार ही आध्यात्मिक सुख समृद्धि एवं शान्ति का मूल मन्त्र है।

कैवलिक का अर्थ है—'केवल ज्ञानियों द्वारा प्ररूपित अर्थात् प्रतिपादित। छद्मस्थ मनुष्य भूल कर सकता है। अतः उसके बताए हुए सिद्धान्तों पर पूर्ण विश्वास नहीं किया जा सकता। परन्तु जो केवल ज्ञानी हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वद्रष्टा हैं,—त्रिकालदर्शी हैं; उनका कथन किसी प्रकार भी असत्य नहीं हो सकता। इसी लिए मंगल सूत्र में कहा गया है कि—'केवलि-पन्नत्तो धम्मो मंगलं।' सम्यग् दर्शन आदि धर्म तत्त्व का निरूपण केवल ज्ञानियों द्वारा हुआ है; अतः वह पूर्ण सत्य है, त्रिकालाबाधित है।

उक्त दोनों ही अर्थों के लिए आचार्य जिनदास-कृत आवश्यक चूर्णि का प्रामाणिक आधार है—“केवलियं-केवलं अद्वितीयं एतदेवैकहितं, नान्यद् द्वितीयं प्रवचन मस्ति। केवलिया वा पणत्तं केवलियां”

प्रतिपूर्ण

जैनधर्म एक प्रतिपूर्ण धर्म है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ही तो जैनधर्म है। और वह अपने आप में सब ओर से 'प्रतिपूर्ण' है, किसी प्रकार भी खण्डित नहीं है।

आचार्य हरिभद्र प्रतिपूर्ण का अर्थ करते हैं—मोक्ष को प्राप्त कराने वाले सद्गुणों से पूर्ण, भरा हुआ। 'अपवर्ग-आपकर्णैर्भूतमिति।'

नैयायिक

‘नैयायिक’ का सस्कृत रूप नैयायिक होता है। आचार्य हरिमद्र, नैयायिक का अर्थ करते हैं — जो नयनशील है, ले जाने वाला है, यह नैयायिक है। सम्मत् दर्शन आदि मोक्ष में ले जाने वाले हैं, अतः नैयायिक कहलाते हैं। ‘नयनशीलं नैयायिकं मोक्षगमनमित्यर्थः।’

श्री भावविजयजी न्याय का अर्थ ‘मोक्ष’ करते हैं। क्योंकि निश्चित आग = लाभ ही न्याय है, और ऐसा न्याय एक मात्र मोक्ष ही है। मात्रक के लिए मोक्ष से बढ़कर और कौन सा लाभ है ? यह न्याय = मोक्ष ही प्रयोजन है जिनका, वे सम्मत् दर्शन आदि नैयायिक कहलाते हैं। “निश्चित आद्यो लाभो न्यायो मुक्तिरित्यर्थः, स प्रयोजनमस्येति नैयायिकः।” — उत्तराध्यायनवृत्ति, अध्या० ४। पा० ५।

आचार्य जिनदास नैयायिक का अर्थ न्यायाधीश करते हैं। ‘न्यायेन चरति नैयायिकं, न्यायाधीशमित्यर्थः’ सम्मत् दर्शन आदि जैनधर्म सर्वथा न्यायसंगत हैं। केवल आगमोक्त होने से ही मान्य हैं, यह जान नहीं। यह पूर्ण तर्कसिद्ध धर्म है। यही कारण है कि जैनधर्म तर्क से डरता नहीं है। अतः तर्क का स्वागत करता है। शुद्ध-बुद्धि से धर्मतत्त्वा की परीक्षा करनी चाहिए। परीक्षा की कसौटी पर, यदि धर्म सत्य है, तो वह और अधिक बलवान् होगा प्रकाशमान होगा। वह सत्य ही क्या, जो परीक्षा की आग में पड़कर म्लान हो जाय ? ‘सत्ये नास्ति भयं कश्चित्।’ सत्य को कहीं भी भय नहीं है। सत्य सोना क्या कभी परीक्षा से घबराता है ? अतएव जैनधर्म की परीक्षा के लिए, उत्तराध्यायन सूत्र ने केशी गौतम-संवाद में गणधर गौतम ने स्पष्टतः कहा है — ‘पश्चा समिकयपु धम्म।’ ‘तर्कशील बुद्धि ही धर्म की परीक्षा करती है।’

शक्य वर्तन

आगम की भाषा में शक्य का अर्थ है ‘माया, निदान और मिथ्यात्व।’

बाहर के शल्य कुछ काल के लिए ही पीड़ा देते हैं, अधिक से अधिक वर्तमान जीवन का संहार कर सकते हैं। परन्तु ये अंदर के शल्य तो बड़े ही भयंकर हैं। अनन्तकाल से अनन्त आत्माएँ, इन शल्यों के द्वारा पीड़ित रही हैं। स्वर्ग में पहुँच कर भी इनसे मुक्ति नहीं मिली। संसार भर का विराट ऐश्वर्य एवं सुख-समृद्धि पाकर भी आत्मा अन्दर में स्वस्थ नहीं हो सकती, जब तक कि शल्य से मुक्ति न मिले। शल्यों का विस्तृत निरूपण, शल्य सूत्र में कर आया है, अतः पाठक वहाँ देख सकते हैं।

उक्त शल्यों को काटने की शक्ति एकमात्र धर्म में ही है। सम्यग्दर्शन मिथ्यात्व शल्य को काटता है, सरलता माया-शल्य को और निर्लोभता निदान शल्य को। अतएव धर्म को शल्य-कर्तन ठीक ही कहा गया है—“कृन्तीति कर्तनं शल्यानि-मायादीनि, तेषां कर्तनं भव-निबन्धन-मायादि शल्यच्छेदकमित्यर्थः।”—आचार्य हरिभद्र।

सिद्धि-मार्ग

आचार्य हरिभद्र सिद्धि का अर्थ ‘हितार्थ-प्राप्ति’ करते हैं। ‘सेधनं सिद्धिः हितार्थ-प्राप्तिः।’ आचार्यकल्प पं० आशाधरजी मूलाराधना की टीका में ‘अपने आत्म-स्वरूप की उपलब्धि को ही सिद्धि’ कहते हैं। ‘सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः।’ आत्मस्वरूप की प्राप्ति के अतिरिक्त और कोई सिद्धि नहीं है। आत्मस्वरूपोपलब्धि ही सबसे महान् हितार्थ है।

मार्ग का अर्थ उपाय है। आत्मस्वरूपोपलब्धि का मार्ग = उपाय सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय है। यदि साधक सिद्धत्व प्राप्त करना चाहता है, आत्मस्वरूप का दर्शन करना चाहता है, कर्मों के आवरण को हटा कर शुद्ध आत्मज्योति का प्रकाश पाना चाहता है, तो इसके लिए शुद्ध भाव से सम्यग्दर्शनादि धर्म की साधना ही एकमात्र अमोघ उपाय है।

मुक्ति-मार्ग

आचार्य जिनदास मुक्ति का अर्थ निर्मुक्तता अर्थात् निःसंगता करते हैं। आचार्य हरिभद्र कर्मों की विन्युति को मुक्ति कहते हैं। ‘मुक्तिः, श्री-

तार्थं कर्मविर्युतिः ।' जब आत्मा कर्म मन्थन से मुक्त होना है, तभी वह पूर्ण शुद्ध आत्म स्वरूप की प्राप्ति करता है ।

निर्याण मार्ग

आचार्य हरिभद्र निर्याण का अर्थ मोक्षपद करते हैं । जहाँ जाता जाता है वह यान होता है । निर्याण यान निर्याण कहलाता है । मोक्ष ही ऐसा पद है, जो सर्व भ्रष्ट यान = स्थान है, अतः वह जैन आगम साहित्य में निर्याणपदवाच्य भी है । "यान्ति सद्दिति यानं 'हृत्पलुटो बहुलं' (पा० २-३-११३) इति वचनात्कर्मणि ल्युट् । निर्याणं यानं निर्याणं, ईषत्प्राम्भारात् यं मोक्षपदमित्यर्थः ।"

आचार्य जिनदास निर्याण का अर्थ 'संसार से निर्गमन' करते हैं । 'निर्याण' संसारात्पलायणं ।' सम्यग् दर्शनादि धर्म ही अनन्तकाल से भटकते हुए भव्य जीवों को संसार से बाहर निकालते हैं । अतः संसार से बाहर निकलने का मार्ग होने से सम्यग् दर्शनादि धर्म निर्याण मार्ग कहलाता है ।

निर्याण मार्ग

सब कर्मों के क्षय होने पर आत्मा को जो कभी नष्ट न होने वाला आत्यन्तिक आध्यात्मिक सुख प्राप्त होता है, वह निर्याण कहलाता है । आचार्य हरिभद्र कहते हैं—'निर्मुक्ति निर्याण'—सकल कर्मक्षयजमात्यन्तिकं सुखमित्यर्थः ।'

आचार्य जिनदास आत्म-स्वास्थ्य को निर्याण कहते हैं । आत्मा कर्मरोग से मुक्त होकर जब अपने स्वस्वरूप में स्थित होता है, पर परिणति से हटकर सदा के लिए स्वपरिणति में स्थिर होता है, तब वह यस्थ कहलाता है । इस आत्मिक स्वास्थ्य को ही निर्याण कहते हैं ।

देखिए, आवश्यक चूँकि प्रतिनमशाध्याय—“निर्वाणं निवर्त्तसी आत्म-स्वास्थ्यमित्यर्थः ।"

बौद्ध दर्शन में भी जैन परंपरा के समान ही निर्याण शब्द का प्रचुर प्रयोग हुआ है । जैन दर्शन की साधना के समान बौद्ध दर्शन की

साधना का भी चरम लक्ष्य निर्वाण है। परन्तु जैन धर्म सम्मत निर्वाण और बौद्धाभिमत निर्वाण में आकाश पाताल का अन्तर है। जैन धर्म का निर्वाण उपर्युक्त वर्णन के आधार पर भाववाचक है, आत्मा की अत्यन्त शुद्ध पवित्र अवस्था का सूचक है। हमारे यहाँ निर्वाण अभाव नहीं, परन्तु निजानन्द की सर्वोत्कृष्ट भूमिका है। निर्वाणपद प्राप्त कर साधक, आचार्य जिनदास के शब्दों में 'परम सुहिणो भव'ति' अर्थात् परम सुखी हो जाते हैं, सब दुःखों से मुक्त होकर सदा एक रस रहने वाले आत्मानन्द में लीन हो जाते हैं। परन्तु बौद्ध दर्शन की यह मान्यता नहीं है। वह निर्वाण को अभाववाचक मानता है। उसके यहाँ निर्वाण का अर्थ है बुझ जाना। जिस प्रकार दीपक जलता-जलता बुझ जाए तो वह कहाँ जाता है? ऊपर आकाश में जाता है या नीचे भूमि में? पूर्व को जाता है या पश्चिम को? दक्षिण को जाता है या उत्तर को? किस दिशा एवं विदिशा में जाता है? आप कहेंगे—वह तो बुझ गया, नष्ट हो गया। कहीं भी नहीं गया। इसी प्रकार बौद्ध दर्शन भी कहता है कि “निर्वाण का अर्थ आत्म-दीपक का बुझ जाना, नष्ट हो जाना है। निर्वाण होने पर आत्मा कहीं नहीं जाता। जाता क्या, वह रहता ही नहीं। उसकी सत्ता ही सदा के लिए नष्ट हो गयी।” उक्त कथन के प्रमाणस्वरूप सुप्रसिद्ध बौद्ध महाकवि अश्वघोष की निर्वाण-सम्बन्धी व्याख्या देखिए। वह कहता है:—

दीपो यथा निवृत्तिमभ्युपेतो,
 नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
 दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित्,
 स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥
 तथा कृती निवृत्तिमभ्युपेतो,
 नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् !

दिशं न काञ्चिद् भिदिशं न काञ्चित्, क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥

(तौन्दरानन्द १६, २८-२९)

पाठक भित्तार कर सकते हैं—र क्या निर्वाण हुआ ? क्या अपनी सत्ता को समाप्त करने के लिए ही यह साधना का मार्ग है । क्या अपने स हार के लिए ही इतने विशाल उग्र तपश्चरण किए जाते हैं ? महा-कवि प्रबन्धोप क शब्दा में क्या शान्ति का यही स्वर है ? बौद्ध धर्म का क्षणिकवाद साधना की मूल भावना को दर्शा नहीं कर सकता । साधक के मन का समाधान जैन निर्वाण के द्वारा ही हो सकता है, अन्यत्र नहीं ।

अवितथ

आवितथ का अर्थ सत्य है । वितथ झूठ को कहते हैं, जो वितथ न हो वह आवितथ अर्थात् सत्य होता है । इसीलिए आचार्य हरिभद्र ने सीधा ही अर्थ कर दिया है—‘अवितथ = सत्यम् ।’

परन्तु प्रश्न है कि जब आवितथ का अर्थ भी सत्य ही है तो फिर पुनरुक्ति क्यों की गयी ? सत्य का उल्लेख तो पहले भी हो चुका है । प्रश्न प्रश्न सोचित है । परन्तु जरा गंभीरता से मनन करे गे तो प्रश्न के लिए अवकाश न रहेगा ।

प्रथम सत्य शब्द, सत्य का विधानात्मक उल्लेख करता है । जब कि दूसरा वितथ शब्द, निषेधात्मक पद्धति से सत्य की ओर संकेत करता है । सत्य है, इनका अर्थ यह भी हो सकता है कि स भय है, कुछ बेश सत्य हो । परन्तु जब यह कहते हैं कि वह अवितथ है, असत्य नश है तो असत्य का सर्वथा परिहार हो जाता है, पूर्ण यथार्थ सत्य का स्वीकृति हो जाता है । इस स्थिति में दोनों शब्दों का यदि संयुक्त अर्थ करे तो यह हाता है कि ‘जिन शासन सत्य है, असत्य नहीं है ।’ उत्तर अश के द्वारा पूर्ण अश का समर्थन होता है, दृढत्व होता है ।

हम तो अभी इतना ही समझे हैं । वास्तविक इत्य क्या है,

यह तो केवलिंगम्य है। हाँ, अभी तक और कोई समाधान हमारे देखने में नहीं आया है।

अविसन्धि

अविसन्धि का अर्थ है—सन्धि से रहित। सन्धि, बीच के अन्तर को कहते हैं। अतः फलितार्थ यह हुआ कि जिन शामन अनन्तकाल से निरन्तर अव्यवच्छिन्न चला आ रहा है। भरतादि क्षेत्र में, किसी काल विशेष में नहीं भी होता है, परन्तु महा विदेह क्षेत्र में तो सदा सर्वदा अव्यवच्छिन्न बना रहता है। काल की सीमाएँ जैनधर्म की प्रगति को अवरुद्ध नहीं कर सकतीं। वह धर्म ही क्या, जो काल के घेरे में आ जाय ! जिन धर्म, निज धर्म है—आत्मा का धर्म है। अतः वह तीन काल और तीन लोक में कहीं न कहीं सदा सर्वदा मिलेगा ही। जैनधर्म ने देवलोक में भी सम्यक्त्व का होना स्वीकार किया है और नरक में भी। पशु-पक्षी तथा पृथ्वी, जल आदि में भी सम्यग् दर्शन का प्रकाश मिल जाता है। अतः किसी क्षेत्रविशेष एवं काल विशेष में जैनधर्म के न होने का जो उल्लेख किया है, वह चारित्र्यरूप धर्म का है, सम्यक्त्व धर्म का नहीं। सम्यक्त्व धर्म तो प्रायः सर्वत्र ही अव्यवच्छिन्न रहता है। हाँ चारित्र्य धर्म की अव्यवच्छिन्नता भी महाविदेह की दृष्टि से सिद्ध हो जाती है।

सर्वदुःख प्रहीण-मार्ग

धर्म का अन्तिम विशेषण सर्वदुःख प्रहीणमार्ग है। उक्त विशेषण में धर्म की महिमा का विराट सागर लुभा हुआ है। संसार का प्रत्येक प्राणी दुःख से व्याकुल है, क्लेश से संतप्त है। वह अपने लिए सुख चाहता है, आनन्द चाहता है। आनन्द भी वह, जो कभी दुःख से सम्भिन्न = स्पृष्ट न हो। दुःखासम्भिन्नत्व ही सुख की विशेषता है। परन्तु संसार का कोई भी ऐसा सुख नहीं है, जो दुःख से असम्भिन्न हो। यहाँ सुख से पहले दुःख है, सुख के बाद दुःख है, और सुख की विद्यमानता में भी दुःख है। एक दुःख का अन्त होता नहीं है।

दूसरा दुःख सामने आ उपस्थित होता है। एक इच्छा की पूर्ति होती नहीं है, और दूसरी अनेक इच्छाएँ मन में उछल-कूद मचाने लगती हैं। तानाबिना सुख इच्छा की पूर्ति में होता है, और सबकी सब इच्छाएँ पूर्ण कहीं होती हैं? अतः संसार में एक-दो इच्छाओं की पूर्ति के सुख की अपेक्षा अनेकानेक इच्छाओं की अपूर्ति का दुःख ही अधिक होता है। दुःखों का सर्वथा अभाव तो तब हो, जब कोई इच्छा ही मन में न हो। और यह इच्छाओं का सर्वथा अभाव, फलतः दुःखों का सर्वथा अभाव मोक्ष में ही हो सकता है, अन्यत्र नहीं। और वह मोक्ष, सम्पद्गदर्शनादि रत्नवयस्वरूप धर्म की साधना से ही प्राप्त हो सकता है। इसीलिए आचार्य हरिभद्र लिखते हैं—“सर्वदुःख प्रहीणमार्ग—सर्वदुःख प्रहीणो मोक्षस्तत्कारणमित्यर्थः ।”

सिद्धमिति

धर्म की आराधना करने वाले ही सिद्ध होते हैं। निदि है भी क्या वस्तु? आराधना अर्थात् साधना की पूर्णावृत्ति का नाम ही सिद्धि है। जैन धर्म में आत्मा के अनन्त गुणों का पूर्ण विकास हो जाना ही निदित्व माना गया है। ‘सिद्धमिति-सिद्धा भवन्ति, परिनिष्ठितार्था भवन्ति ।’

—आचार्य जिनदास महत्तर ।

जैन धर्म में मोक्षके लिए निद शब्द का प्रयोग अत्यन्त युक्तिसंगत किया है। बौद्ध दार्शनिक, जहाँ मोक्षका अर्थ दीर्घ निर्माण के समान सर्वथा अमानात्मक स्थिति करते हैं, वहाँ जैन धर्म निद शब्द के द्वारा अनन्त-अनन्त आत्मगुणों की प्राप्ति को मोक्ष कहता है। हमारे यहाँ सिद्ध का अर्थ ही पूर्ण है। अतः अनात्मवादी बौद्ध दर्शन की मुक्ति का यह निद शब्द परिहार करता है, और उन दार्शनिकों की मुक्ति का भी परिहार करता है, जो अपूर्ण दशा में ही मोक्ष होना स्वीकार करते हैं। ईश्वर या अन्य किसी महा शक्ति के द्वारा अपूर्ण व्यक्तियों को मोक्ष देने की कथाएँ वैदिक पुराणों में बहुल्येन वर्णित हैं। परन्तु जैन धर्म इन बातों पर विश्वास नहीं करता। वह तो अपूर्ण अवस्था को संसार ही कहता है,

मोक्ष नहीं। जब तक ज्ञान अनन्त न हो, दर्शन अनन्त न हो, चारित्र्य अनन्त न हो, वीर्य अनन्त न हो, सत्य अनन्त न हो, करुणा अनन्त न हो, किं बहुना, प्रत्येक गुण अनन्त न हो, तब तक मोक्ष होना स्वीकार नहीं करता। 'अनन्त' आत्म-गुणों के विकास की पूर्ति अनन्तता में ही है, पहले नहीं। और यह पूर्णता अपनी साधना के द्वारा ही प्राप्त होती है। किसी की कृपा से नहीं। अतः 'इत्थं ठिआ जीवा सिज्झंति' सर्वथा युक्त ही कहा है।

बुज्झंति

'सिज्झंति' के बाद 'बुज्झंति' कहा है। बुज्झंति का अर्थ बुद्ध होता है, पूर्ण ज्ञानी होता है। प्रश्न है कि बुद्धत्व तो सिद्ध होने से पहले ही प्राप्त हो जाता है। आध्यात्मिक विकास क्रमस्वरूप चौदह गुण स्थानों में; अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन आदि गुण तेरहवें गुण स्थान में ही प्राप्त हो जाते हैं, और मोक्ष, चौदहवें गुण स्थान के बाद होती है। अतः 'सिज्झंति' के बाद 'बुज्झंति' कहने का क्या अर्थ है? विकासक्रम के अनुसार तो बुज्झंति का प्रयोग सिज्झंति से पहले होना चाहिए था।

यह सत्य है कि केवल ज्ञान तेरहवें गुणस्थान में प्राप्त हो जाता है, अतः विकास क्रम के अनुसार बुद्धत्व का नम्बर पहला है। और सिद्धत्व का दूसरा। परन्तु यहाँ सिद्धत्व के बाद जो बुद्धत्व कहा है उसका अभिप्रायः यह है कि सिद्ध हो जाने के बाद भी बुद्धत्व बना रहता है, नष्ट नहीं होता है।

वैशेषिक दर्शन की मान्यता है कि मोक्ष में आत्मा का अस्तित्व तो रहता है, किन्तु ज्ञान का सर्वथा अभाव हो जाता है। ज्ञान आत्मा का एक विशेष गुण है। और मुक्त अवस्था में कोई भी विशेष गुण रहता नहीं है, नष्ट हो जाता है। अतः मोक्ष में जब आत्मा चैतन्य भी नहीं रहता तब उसके अनन्त ज्ञानी बुद्ध होने का तो कुछ प्रश्न ही नहीं।

यह सिद्धान्त है वैशेषिक दर्शनकार महर्षि कणाद का। जैनदर्शन इनका सर्वथा विरोधी दर्शन है। जैनधर्म कहता है—“यद्भीक्षा

नर ? यह तो आत्मा का सर्वथा वर्णन हो जाता हुआ ! सर्वथा शून्य-
हीन जब पत्थर के रूप में हो जाता, कौन से महत्त्व की बात है ? इससे
तो ससार ही अच्छा जहाँ थोड़ा बहुत भान तो बना रहता है । अतः
आत्मा अनन्त ज्ञानी होने पर ही निदानन्द की अनुभूति कर सकता
है । बुद्धत्व के बिना सिद्धत्व का कुछ मूल्य ही नहीं रहता । अतः
मिद्ध हो जाने के बाद भी बुद्धत्व का रहना अत्यन्त सम्भव है ।
ज्ञान, आत्मा का निष्कृण है, भला यह नष्ट कैसे हो सकता है ?
ज्ञानस्वरूप ही तो आत्मा है, अतः जब ज्ञान नहीं तो आत्मा का ही क्या
अस्तित्व ? हाँ, मोक्ष में भी मिद्ध भगवान् सदाशिव होने अनन्त ज्ञान
प्रकाश से जगमगाते रहते हैं, वहाँ एक क्षण के लिए भी कभी अज्ञान
अन्तर्कार प्रवेश नहीं पा सकता ।

अब उस प्रश्न का समाधान हो जाता है कि सिद्धत्व में पहले होने
वाले बुद्धत्व को पहले न कहकर बाद में क्यों कहा ? बुद्धत्व को बाद में
इसलिए कहा कि कहा वैशेषिकदर्शन की धारणा के अनुसार जिज्ञासुओं
को यह भ्रम न हो जाय कि 'सिद्ध होने से पहले तो बुद्धत्व भले हो,
परन्तु सिद्ध होने के बाद बुद्धत्व रहता है या नहीं ?' अब पहले सिद्ध और
बाद में बुद्ध कहने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सिद्ध होने के बाद भी
आत्मा पहले के समान ही बुद्ध बना रहता है, सिद्धत्व की प्राप्ति होने
पर बुद्धत्व नष्ट नहीं होता ।

मुच्चति

'मुच्चति' का अर्थ कर्मों से मुक्त होना है । अब तक एक भी कर्म
परमात्मा आत्मा से सम्बन्धित रहता है, तब तक मोक्ष नहीं हो सकती ।
जैनदर्शन में 'हरस्वस्मैवमे मोक्षः' ही मोक्ष का स्वरूप है । मोक्ष में
न शान्तिरक्षादि कर्म रहते हैं और न कर्म के कारण राग द्वेष आदि ।
अर्थात् किसी भी प्रकार का अतिरिक्त भान मोक्ष में नहीं रहता ।

अब प्रश्न करेंगे कि जब कर्मों का दण्ड होने पर ही तो सिद्धत्व भाव

प्राप्त होता है, मोक्ष होती है। फिर वह 'मुच्चन्ति' के रूप में कर्मों से मुक्ति होने का स्वतंत्र उल्लेख क्यों किया गया ?

समाधान है कि कुछ दार्शनिक मोक्ष अवस्था में भी कर्म की सत्ता मानते हैं। उनके विचार में मोक्ष का अर्थ कर्मों से मुक्ति नहीं, अपितु कृत कर्मों के फल को भोगना मुक्ति है। जब तक शुभ कर्मों का सुख तब फल का भोग पूर्ण नहीं होता, तबतक आत्मा मोक्ष में रहता है। और ज्यों ही फल-भोग पूर्ण हुआ त्यों ही फिर संसार में लौट आता है।

जैन दर्शन का कहना है कि यह तो संसारस्थ स्वर्ग का रूपक है, मोक्ष का नहीं। मोक्ष का अर्थ छूट जाना है। यदि मोक्ष में भी कर्म और कर्म-फल रहे तो फिर छूटा क्या ? मुक्त क्या हुआ ? संसार और मोक्ष में कुछ अन्तर ही न रहा ? मोक्ष भी कहना और वहाँ कर्म भी मानना, यह तो वदतोव्याघात है। जिस प्रकार 'मैं गूँगा हूँ, बोलूँ कैसे ?' यह कहना अपने आप में असत्य है, उसी प्रकार मोक्ष में भी कर्म बन्धन रहता है, यह कथन भी अपने आप में भ्रान्त एवं असत्य है। मोक्ष में यदि शुभ कर्मों का अस्तित्व माना जाय तो वह कर्मजन्य सुख दुःखासंभिन्न नहीं हो सकेगा। और यदि मोक्ष में सुख के साथ दुःख भी रहा तो फिर वह मोक्ष ही क्या और मोक्ष का सुख ही क्या ? कर्म होंगे तो कर्मों से होने वाले जन्म, जरा, मरण भी होंगे ? इस प्रकार एक क्या, अनेकानेक दुःखों की परम्परा चल पड़ती है। अतः जैन धर्म का यह सिद्धान्त सर्वथा सत्य है कि सिद्ध होने पर आत्मा सब प्रकार के शुभाशुभ कर्मों से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। सिद्धत्व का अर्थ ही मुक्तत्व है।

परिनिर्वायन्ति

यह पहले कहा जा चुका है कि जैन दर्शन का निर्वाण बौद्ध निर्वाण के समान अभावात्मक नहीं है। वहाँ आत्मा की सत्ता के नष्ट होने पर दुःखों का नाश नहीं माना है। बौद्ध दर्शन रोगी का अस्तित्व समाप्त होने पर कहता है कि देखो, रोग नहीं रहा। परन्तु जैन दर्शन रोगी का रोग

नष्ट करता है, स्वयं रोमी को नहीं। रोग के साथ यदि रोमी भी ममान हो गया तो रोमी के लिए क्या आनन्द ? कर्म एक रोग है, अतः उसे नष्ट करना चाहिए। स्वयं आत्मा का नष्ट होना मानना, वहाँ का दर्शन है ?

वैशेषिक दर्शन आत्मा का अस्तित्व तो स्वीकार करता है, परन्तु वह मोक्ष में सुख का होना नहीं मानता। वैशेषिक दर्शन कहता है कि 'मोक्ष होने पर आत्मा में न शान होता है, न सुख होता है, न दुःख होता है। 'नवानामात्म-विशेषगुणानामुच्छेदो मोक्षः।'

जैन दर्शन मोक्ष में दुःखाभाव को मानता है, परन्तु सुखभावन नहीं मानता। सुख तो मोक्ष में समीम से असीम हो जाता है—अनन्त हो जाता है। हाँ पुद्गल सम्बन्धी कर्मजन्य सात्त्विक सुख वहाँ नहीं होता, परन्तु आत्मसापेक्ष अनन्त आध्यात्मिक सुख का अभाव तो किसी प्रकार भी घटित नहीं होता। वह तो मोक्ष का वैशिष्ट्य है, महत्त्व है। 'परिनिष्ठावन्ति' के द्वारा यही स्पष्टीकरण किया गया है कि जैन धर्म का निर्गुण न आत्मा का शुद्ध जाना है और न केवल दुःखाभाव का होना है। वह तो अनन्त सुख स्वरूप है। और वह सुख भी, वह सुख है, जो कभी दुःख से संपृक्त नहीं होता। आचार्य जिनदाम परिनिष्ठावन्ति की व्याख्या करते हुए कहते हैं 'परिनिष्ठावन्ति भवन्ति, परमसुखिणो भवन्तीत्यर्थः।'

सर्वदुःखाणामन्तं करोति

मोक्ष की विशेषताओं को उताते हुए उनके ग्रन्थ में कहा गया है कि 'धर्मासथक साधक मोक्ष प्राप्त कर शारीरिक तथा मानसिक सब प्रकार के दुःखों का ग्रन्थ कर देता है। आचार्य जिनदास कहते हैं, 'सर्वेसि सारीर-मायसार्थं दुःखाण्यं अंतकरा भवन्ति, बोद्धिण्य-सर्वदुःखा भवन्ति।'

अस्तु विशेषण का सारांश पहले के विशेषणों में भी आ चुका है। वहाँ स्वतंत्र रूप में इसका उल्लेख, सामान्यतः मोक्षस्वरूप का दिग्दर्शन करने के लिए है। दर्शन शास्त्र में मोक्ष का स्वरूप सामान्यतः सर्व दुःखों का प्रहाण अर्थात् आत्यन्तिक नाश ही बताया गया है।

उक्त विशेषण का एक और भी अभिप्राय हो सकता है। वह यह कि सांख्य दर्शन आदि कुछ दर्शन आत्मा को सर्वथा बन्धनरहित होना मानते हैं। उनके वहाँ न कभी आत्मा को कर्म बन्ध होता है और न तत्कलस्वरूप दुःख आदि ही। दुःख आदि सब प्रकृति के धर्म हैं, पुरुष अर्थात् आत्मा के नहीं। जैन दर्शन इस मान्यता का विरोध करता है। वह कहता है कि कर्म बन्ध आत्मा को होता है, प्रकृति को नहीं। प्रकृति तो जड़ है, उसको बन्ध क्या और मोक्ष क्या? यदि कर्म और तत्जन्य दुःख-आदि आत्मा को लगते ही नहीं हैं तो फिर यह संसार की स्थिति किस बात पर है? आत्माएँ दुःख से हैरान क्यों हैं? अतः कर्म और उसका फल जब तक आत्मा से लगा रहता है, तब तक संसार है। और ज्यों ही कर्म तथा तत्जन्य दुःखादि का अन्त हुआ, आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेती है, मुक्त हो जाती है। जैन साहित्य में दुःख शब्द स्वयं दुःख के लिए भी आता है, और शुभाशुभ कर्मों के लिए भी। इसके लिए भगवती सूत्र देखना चाहिए। अतः 'सर्व दुःखाणामन्तं करोति' का जहाँ यह अर्थ होता है कि 'सर्व दुःखों का अन्त करता है', वहाँ यह अर्थ भी होता है कि 'सर्व शुभाशुभ कर्मों का अन्त करता है।' जब कर्म ही न रहे तो फिर सांसारिक सुख, दुःख, जन्म, मरण आदि का द्वन्द्व कैसे रह सकता है? जब बीज ही नहीं तो वृक्ष कैसा? जब मूल ही नहीं तो शाखा-प्रशाखा कैसी? मोक्ष, आत्मा की वह निर्वन्द अवस्था है, जिसकी उपमा विश्व की किसी वस्तु से नहीं दी जा सकती।

प्रीति और रुचि

धर्म के लिए अग्नी हादिके श्रद्धा अभिव्यक्त करते हुए साधक ने कहा है कि 'मैं धर्म की श्रद्धा करता हूँ, प्रीति करता हूँ, और रुचि करता हूँ।' वहाँ प्रीति और रुचि में क्या अन्तर है? यह प्रश्न अन्तः समाधान चाहता है।

समाधान यह है कि ऊपर से कोई अन्तर नहीं मालूम देता, परन्तु अन्तरंग में विशेष अन्तर है। प्रीति का अर्थ प्रेम मत आदर्श

है और रुचि का अर्थ है अभिरुचि अर्थात् उत्सुका । आचार्य जिनदान क शब्दों में कह तो रुचि के लिए 'अभिलाषानिरेकेण आसेवनामि बुद्ध्या' कह सकते हैं ।

‘एक मनुष्य को रुचि आदि वस्तु प्रिय तो होती है, परन्तु कभी किसी विशेष ज्वरादि स्थिति में रुचिकर नहीं होती । अतः सामान्य प्रेमा कर्षण को प्रीति कहते हैं, और विशेष प्रेमाकर्षण को अभिरुचि । अन्तु, साधक कहता है ‘मं धर्म’ की भद्रा करता हूँ ।’ भद्रा ऊपर मन से भी की जा सकती है अतः कहता है कि ‘मं धर्म’ की प्रीति करता हूँ । प्रीति होने हुए भी कभी विशेष नियति में रुचि नहीं रहती, अतः कहता है कि ‘मं धर्म’ क प्रति सदाकाल रुचि रहता हूँ ।’ कितने ही सकट हाँ, आपत्तिहाँ हाँ, परन्तु सच्चे साधक की धर्म के प्रति कभी भी अरुचि नहीं होती । वह जितना ही धर्मापाधन करता है, उतनी ही उस आर रुचि बढ़ती जाती है । धर्मापाधन के मार्ग में न सुख शोधक बन सकता है और न दुःख ! दिन रात अविराम गति से हृदय में भद्रा प्रीति और रुचि की ज्योति प्रदीन करता हुआ, साधक, अपने धर्म पथ पर अग्रसर होता रहता है । बीच मञ्जिल में कहीं टहरना, उसका काम नहीं है । उसकी आँखें यात्रा के अन्तिम लक्ष्य पर लगी रहती हैं । वह वहाँ पहुँच कर ही विश्राम लेगा, पहले नहीं । यह है साधक के मन की अमर भद्रान्योति, जो कभी बुझती नहीं ।

फासेमि, पालेमि, अणुपालेमि

जैनधर्म केवल भद्रा, प्रीति और रुचि पर ही शान्त नहीं होता । उसका वास्तविक लीलाक्षेत्र कर्तव्य भूमि है । वह कटनी के साथ नरनी की रागनी भी गाता है । विश्वास के साथ सदानुकूल आचरण भी होना चाहिए । मन, वाणी और शरीर की एकता ही साधना का प्राण है ।

१—‘प्रीतो रुचिश्च भिन्ने एव, यतः क्वचिद् दृष्ट्वाद्दौ प्रीतिसद-
भावोऽपि न सर्वदा रुचिः ।’—आचार्य हरिभद्र ।

यही कारण है कि साधक श्रद्धा, प्रीति और सचि से आगे बढ़कर कहता है—“मैं धर्म का स्पर्श करता हूँ, उसे आचरण के रूप में स्वीकार करता हूँ।” “केवल स्पर्श ही नहीं, मैं प्रत्येक स्थिति में धर्म का पालन करता हूँ—स्वीकृत आचार की रक्षा करता हूँ।” “एक-दो बार ही पालन करता हूँ, यह बात नहीं। मैं धर्म का नित्य निरन्तर पालन करता हूँ, बार-बार पालन करता हूँ, जीवन के हर क्षण में पालन करता हूँ।”

आचार्य जिनदास ‘अणुपालेमि’ का एक और अर्थ भी करते हैं कि “पूर्वकाल के सत्पुरुषों द्वारा पालित धर्म का मैं भी उसी प्रकार अनुपालन करता हूँ।” इस अर्थ में परम्परा के अनुसार चलने के लिए पूर्ण दृढ़ता अभिव्यक्त होती है। ‘अहवा पुठव पुरिसेहिं पालितं अहं पि अणुपालेमिति।’—आवश्यक चूर्णि

अभ्युद्विओमि^१

यह उभयुक्त शब्द कितना महत्व पूर्ण है ! साधक प्रतिज्ञा करता है कि “मैं धर्म की श्रद्धा, प्रीति, स्पर्शना, पालना तथा अनुपालना करता हुआ धर्म की आराधना में पूर्ण रूप से अभ्युत्थित होता हूँ और धर्म की विराधना से निवृत्त होता हूँ।” वाणी में कितना गंभीर, अटल, अचल स्वर गूँज रहा है ! एक-एक अक्षर में धर्मांराधन के लिए अखंड सत्साहस की ज्वालाएँ जग रही हैं ! ‘अभ्युत्थिओऽस्मि, सन्नद्धोऽस्मि’ यह कितना साहस भरा प्रश्न है !

क्या आप धर्म के प्रति श्रद्धा रखते हैं ? क्या आपकी धर्म के प्रति अभिरुचि है ? क्या आप धर्म का पालन करना चाहते हैं ? यदि हाँ, तो फिर निष्क्रिय क्यों बैठते हैं ? कर्तव्य के क्षेत्र में चुप बैठना, आलसी जीवन कर पड़े रहना, पाप है। कोई भी साधक निष्क्रिय रह कर जीवन का

^१ प्रस्तुत पाठ को ‘अभ्युद्विओमि’ से खड़े होकर पढ़ने की परम्परा भी है।

विचारक सम्मत नहीं हो सकता। यहाँ प्रतिप्रमण किया जा रहा है। प्रयोग्य आचरण की आलोचना के बाद समय पालन के लिए प्रण किया जा रहा है, फलतः कहा जा रहा है कि मैं असम आदि की पर परिणति से दृढ़ कर समय आदि की स्वपरिणति में आता हूँ, और फिर भाव को त्याग कर ज्ञानेश्वर आदि आत्मभाव अपनाता हूँ। भला यहाँ अलक्षणीक वस्तु को छोड़ता हूँ और कर्मणीक वस्तु को ग्रहण करता हूँ—इस प्रतिज्ञा की क्या संगति ?

आचार्य तिरुत्तल सामान्यतः बड़े हुए एक विषय असम के ही विशेष उपजाभेद से दो भेद करते हैं 'मूल गुण असम और उत्तर गुण असम।' और फिर प्रबल शब्द से मूल गुण असम का तथा अल्प शब्द से उत्तर गुण असम का ग्रहण करते हैं। आचार्य श्री न कथनानुसार प्रतिज्ञा का रूप यह होना है—“मैं मूल गुण असम का निषेध पूर्वक परित्राग करता हूँ और मूल गुण समय को स्वीकार करता हूँ। इसी प्रकार उत्तर गुण असम को त्यागता हूँ और उत्तर गुण समय को स्वीकार करता हूँ।” “सो य असज्जमो विसैसतो दुविहो—मूलगुण असज्जमो उत्तरगुण असज्जमो य। अतो सामख्येण भणिकण सवेगाद्यं विसैसतो चेव भणति—अवभं० अवभग्गहणेण मूलगुणा भवणति ति एवं अकण्णगहणेण उत्तरगुणति।”—आरयन चूर्णि। अक्रिया और क्रिया।

आचार्य दारभट्ट, अक्रिया को अज्ञान का ही विशेष भेद मानते हैं और क्रिया का सम्पूर्ण ज्ञान का। अतः अज्ञानी दार्शनिक भाषा में आप अक्रिया का नास्तिकवाद करते हैं और क्रिया को सम्पूर्णवाद। “अक्रिया नास्तिकवाद क्रिया सम्पूर्णवाद।” नास्तिकवाद का अर्थ लोक, परलोक, धर्म, अधर्म आदि पर विभाव न रखने वाला नास्तिकवाद है। और सम्पूर्णवाद का अर्थ उक्त सब बातों पर विचार रखने वाला आस्तिकवाद है।

आचार्य जिनदास अप्रशस्त = अयोग्य क्रिया को अत्रिया कहते हैं और प्रशस्त = योग्य क्रिया को क्रिया । “अप्पसत्था किरिया अकिरिया, इतरा किरिया इति ।”

अवोधि और बोधि

जैन साहित्य में अवोधि और बोधि शब्द बड़े ही गंभीर एवं महत्त्वपूर्ण हैं । अवोधि और बोधि का उपरिष्ठ शब्दत्पशां अर्थ होता है— ‘अज्ञान और ज्ञान ।’ परन्तु यहाँ यह अर्थ अभीष्ट नहीं है । यहाँ अवोधि से तात्पर्य है मिथ्यात्व का कार्य, और बोधि से तात्पर्य है सम्यक्त्व का कार्य । आचार्य हरिभद्र, अवोधि एवं बोधि को क्रमशः मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व का अग मानते हुए कहते हैं—“अवोधिः—मिथ्यात्वकार्यं बोधिस्तु सम्यक्त्वस्येति ।”

असत्य का दुराग्रह रखना, संसार के कामभोगों में आसक्ति रखना धर्म की निन्दा करना, प्राणिशों के प्रति निर्दय भाव रखना, वीतराग अरिहन्त भगवान् का अवर्णावाद बोलना, इत्यादि मिथ्यात्व के कार्य हैं । सत्य का अग्रह रखना, संसार के काम भोगों में उदासीन रहना, धर्म के प्रति दृढ़ आस्था रखना, प्राणिमात्र पर प्रेम तथा कृपा का भाव रखना, वीतराग देव के प्रति शुद्ध निष्कपट भक्ति रखना, इत्यादि सम्यक्त्व के कार्य हैं । अवोधि को जानना, त्यागना और बोधि को स्वीकार करना साधक के लिए परमावश्यक है ।

आगमरत्नाकर पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज बोधि का अनुसन्धान करते हैं । पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज अवोधि का अनुसन्धान करते हैं और बोधि का अर्थ ‘बोधिबीज’ ।

अमाने और माने

प्रथम असेवम के रूप में सामान्यतः विपरीत आचरण का उल्लेख किया गया था । पश्चात् अव्रत आदि में उसी का विशेष रूप से निरूपण होता रहा है । अब अन्त में पुनः सामान्य-रूपेण कहा जा रहा है ।

कि "मैं मिथ्यामय, अनिरति प्रमाद और कषायभाव आदि अमार्गों को भिन्नक पूर्णक त्यागता हूँ और सम्पत्त्व, निरति अप्रमाद और अकषाय भाव अदि मार्गों को ग्रहण करता हूँ ।"

न समरामि ज च न समरामि

भवादि सूत्र की व्याख्या में हमने प्रतिक्रमण के निरात्मक रूप का परिदर्शन कराया है । उसका आशय यह है कि यह मानव जीमन चारा और से दोषाच्छुद्ध है । साधवानी से चलता हुआ साधक भी कहा न कहा भ्रान्त हो ही जाता है । अब तक साधक छद्मस्थ है, 'धातिकर्मोदय से युक्त है, तब तक प्रनाभोगता किसी न किसी रूप में बनी ही रहती है । अतः एक, दो आदि के रूप में दोषों की क्या गणना ? असत्य तथा अनन्त असत्य स्थानों में से, पता नहीं, क्या कौन सा अमृतमय का दोष लग जाय ? कभी उन दोषों की स्मृति रहती है, कभी नहीं भी रहती है । जिन दोषों की स्मृति रहती है, उनका तो नामोच्छेद पूर्ण प्रतिक्रमण किया जाता है । परन्तु जिनकी स्मृति नहीं है उनका भी प्रतिक्रमण कर्तव्य है । इन्हीं भावनाओं को ध्यान में रखकर प्रतिक्रमण सूत्र की समाप्ति पर अमृत साधक कहता है कि "जिन दोषों की स्मृति है, उनका प्रतिक्रमण करता हूँ, और जिन दोषों की स्मृति नहीं रहनी है, उनका भी प्रतिक्रमण करता हूँ ।"

ज पडिक्कमामि, ज च न पडिक्कमामि

ज समरामि' प्राप्ति से लेकर 'ज च न पडिक्कमामि' तक के सूत्रांश का सम्बन्ध 'तत्तत्त सट्ठरसस दवमियत्त अद्वयारस्य पडिक्कमामि' से है । अतः सप्तम मिलकर अर्थ होता है जिनका स्मरण करता हूँ, जिनका स्मरण नहीं करता हूँ, जिनका प्रतिक्रमण करता हूँ, जिनका प्रतिक्रमण नहीं करता हूँ, उन सब दैवसिद्ध अतिचारांका प्रतिक्रमण करता हूँ ।

१ 'धातिकर्मोदयत खलिनमामेवित पडिक्कमामि मिच्छा दुक्ख-
हादिषा ।'—आनन्दस्य चूणि'

प्रश्न है कि भिनका प्रतिक्रमण करता हूँ, फिर भी उनका प्रतिक्रमण करता हूँ—इसका क्या अर्थ ? प्रतिक्रमण का भी प्रतिक्रमण करना कुछ समझ में नहीं आता ?

आचार्य जिनदान ऊपर की शंका का बहुत सुन्दर समाधान करते हैं। आप पडिक्रमामि का अर्थ परिहरामि करते हैं और कहते हैं—‘शारीरिक दुर्बलता आदि किमी विशेष परिस्थितिबश यदि मैंने करने योग्य सत्कार्य छोड़ दिया हो—न किया हो, और न करने योग्य कार्य किया हो तो उस सब अतिचार का प्रतिक्रमण करता हूँ।’ देखिए, आवश्यक चूरीं ‘संघयणादि दौर्बल्यादिना जं पडिक्रमामि—परिहरामि करणिञ्जं, जं च न पडिक्रमामि अकरणिञ्जं।’

आत्म-समुत्कीर्तन

‘समणोऽहं संजय-विरथ.....मायामोसच्चिज्जिओ’ यह सूत्रांश आत्म-समुत्कीर्तनपरक है। ‘मैं ध्रमण हूँ, संयत-विरत-प्रतिदत्त-प्रत्याख्यात पापकर्मा हूँ, अनिदान हूँ, दृष्टिममत्र हूँ, और मायामृपा-विवर्जित हूँ”—यह कितना उदात्त, आंजस्वी अन्ननाद है ! अपने सदाचार के प्रति कितनी स्वाभिमान पूर्ण गम्भीर वाणी है। सम्भव है किसी को इसमें अहंकार की गन्ध आए ! परन्तु वह अहंकार अप्रशस्त नहीं, प्रशस्त है। आत्मिक दुर्बलता का निराकरण करने के लिए साधक को ऐसा स्वाभिमान सदा सर्वदा प्राप्त है, आदरणीय है। इतनी उच्च संकल्प भूमि पर पहुँचा हुआ साधक ही यह विचार कर सकता है कि ‘मैं इतना ऊँचा एवं महान् साधक हूँ, फिर भला अकुशल पापकर्म का आचरण कैसे कर सकता हूँ ?’ यह है वह आत्माभिमान, जो साधक को पापाचरण से बचाता है, अवश्य बचाता है ! यह है वह आत्मसमुत्कीर्तन, जो

१ ‘परिसो यं हो तो कहां पुण अकुशलमायरिस्सं ?’ आचार्य जिनदास

साधक को धर्माचरण के निम्न प्रकार स्मृति देता है, और देता है प्रवचन ज्ञान चेचना ।

आइए अब कुछ विशेष शब्दों पर विचार कर लें । 'अमण' शब्द में साधना व प्रति निरन्तर जागरूकता, सावधानता एवं प्रयत्नशीलता का भाव रहा हुआ है । 'म अमण हू' अर्थात् साधना के लिए कठोर अभिमान करने वाला हूँ । मुझे जो कुछ पाना है, अपने भ्रम अर्थात् पुरुषार्थ व द्वारा ही पाना है । अतः मैं समय के लिए अतीत में प्रतिक्षण अभिमान करता रहा हूँ । वर्तमान में अभिमान कर रहा हूँ और भविष्य में भी अभिमान कर रहा हूँ । यह है वह निराद आध्यात्मिक अभिमान—साधना, जो अमण शब्द से ध्वनि होती है ।

समय का अर्थ है—'समय में सम्यक् यत्न करने वाला ।' अहिंसा, सत्य आदि कर्तव्यों में साधक को मटेव सम्यक् प्रयत्न करते रहना चाहिए । यह समय की साधना का भावात्मक रूप है । "संयतो—समं ज्ञो, करणीयेसु जोतेसु सम्यक् प्रयत्नपर इत्यर्थः ।"—आश्वक चूषि

विरति का अर्थ है—सब प्रकार के साव्य योगों से विरति=निवृत्ति करने वाला । जो समय की साधना करना चाहता है, उसे अगदाचरण रूप समस्त साव्य प्रयत्नों से निवृत्त होना ही चाहिए । यह नहीं हो सकता कि एक ओर समय की साधना करते रहें और दूसरी ओर सामाजिक मारण पाप कर्मों में भी मलग्न रहें । समय और असमय में परस्पर विरोध है । इतना विरोध है कि दोनों तीन काल में भी कभी एकत्र नहीं रह सकते । यह साधना का निषेधात्मक रूप है । 'एगघो विरहं कुम्भा, एगघो य पवतण'—उत्तराध्ययन सूत्र के उक्त वचन के अनुसार असमय में निवृत्ति और समय में प्रवृत्ति करने से ही साधना का वास्तविक रूप स्पष्ट होता है ।

प्रतिहत प्रत्यारपात पापकर्मों का अर्थ है—'भूतकाल में किए गए पाप कर्मों की निन्दा एवं गर्हा के द्वारा प्रतिहत करने वाला और वर्तमान

तथा भविष्य में होने वाले पाप कर्मों को अकरणतारूप प्रत्याख्यान के द्वारा प्रत्याख्यात करने वाला ।' यह विशेषण साधक की त्रैकालिक जीवन शुद्धि का प्रतीक है । मच्चा साधक वही साधक है, जो अपने जीवन के तीनों कालों में से अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्तमान में से, पाप कालिमा को धोकर साफ कर देता है । वह न वर्तमान में पाप करता है, न भविष्यत में करेगा और न भूतकाल के पापों को ही जीवन के किसी अंग में लगा रहने देगा । उसे पाप कर्मों से लड़ना है । केवल वर्तमान में ही नहीं, अपितु भूत और भविष्यत् में भी लड़ना है । साधना का अर्थ ही पाप कर्मों पर त्रिकालविजयी होना है ।

प्रतिहत-प्रत्याख्यातपापकर्मा की व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य जिनदास लिखते हैं—'पडिहतं अतीतं सिद्धं-गरहणादीहिं, पञ्चखातं सेसं अकरणतया पावकम्मं पावाचारं येण स तथा ।'

अनिदान का अर्थ होता है—निदान से रहित अर्थात् निदान का परिहार करने वाला । निदान का अर्थ आसक्ति है । साधना के लिए किसी प्रकार की भी भोगासक्ति जहरीला कीड़ा है । कितनी ही बड़ी ऊँची साधना हो, यदि भोगासक्ति है तो वह उसे अन्दर ही अन्दर खोखला कर देती है सड़ा-गला देती है । अतः साधक घोषणा करता है कि "मैं श्रमण हूँ, अनिदान हूँ । न मुझे इस लोक की आसक्ति है, और न परलोक की । न मुझे देवताओं का वैभव ललचा सकता है और न किसी चक्रवर्ती सम्राट का विशाल साम्राज्य ही । इस विराट संसार में मेरी कहीं भी कामना नहीं है । न मुझे दुःख से भय है और न सुख से मोह । अतः मेरा मन न काँटों में उलझ सकता है और न फूलों में । मैं साधक हूँ । अस्तु, मेरा एकमात्र लक्ष्य मेरी अपनी साधना है, अन्य कुछ नहीं । मेरा ध्येय व्रन्वन नहीं, प्रत्युत व्रन्वन से मुक्ति है ।"

जैन संस्कृति का यह आदर्श कितना महत्त्वपूर्ण है ! आनिदान शब्द के द्वारा जैन साधना का ध्येय स्पष्ट हो जाता है । जो साधक अपने लिए कोई सांसारिक निदान सम्बन्धी ध्येय निश्चित करते हैं, वे पथ भ्रष्ट हुए

बिना नहीं रह सकते। अनिदान साधक ही पथ भ्रष्ट होने से बचने है और स्वीकृत साधना पर दृढ़ रहकर कर्म बन्धनों में आने को भक्त कर्म है।

दृष्टिमम्यत्र का अर्थ है—'सम्पद्दर्शन रूप शुद्ध दृष्टि वांछा।' साधक के लिए शुद्ध दृष्टि होना आवश्यक है। यदि सम्पद् दर्शन न हो, शुद्ध दृष्टि न हो, तो दितादित का विवेक कैसे होगा? धर्म धर्म का स्वरूप-दर्शन कैसे होगा? सम्पद् दर्शन ही वह निर्मल दृष्टि है, जिसके द्वारा ममार को ममार के रूप में, मोक्ष को मोक्ष के रूप में, ममार के कारणों को ममार के कारणों के रूप में, मोक्ष के कारणों को मोक्ष के कारणों के रूप में, अर्थात् धर्म को धर्म के रूप में और अधर्म को अधर्म के रूप में देखा जा सकता है। आचार्य जिनदास इसी लिए 'द्विद्वि सम्पद्' का अर्थ 'सत्त्वगुणमूल भूतगुण युक्त' करते हैं। 'सम्पद्दर्शन' धन्युतः सत्त्व गुणों का मूलभूत गुण है।

जब तक सम्पद् दर्शन का प्रकाश विद्यमान है, तब तक साधक को इधर-उधर भटकने एवं पथ भ्रष्ट होने का कोई भय नहीं है। मिथ्यादर्शन ही साधक को नीचे गिराता है, इधर-उधर के प्रलोभनों में उलझता है। सम्पद्दर्शन का लक्ष्य जहाँ बन्धन से मुक्ति है, वहाँ मिथ्यादर्शन का लक्ष्य स्वयं बन्धन है। भोगासक्ति है, ससार है। अतएव धम्मण जब यह कहता है कि मैं दृष्टिमम्यत्र हूँ, तब उसका अभिप्राय यह होता है कि "मैं मिथ्यादृष्टि नहीं हूँ, सम्पद् दृष्टि हूँ। मैं सत्त्व को सत्त्व और असत्त्व को असत्त्व समझता हूँ मेरे समक्ष ससार एवं मोक्ष का रूप लेकर नहीं आ सकता, बन्धन मोक्ष नहीं हो सकता। मेरी विवेक दृष्टि इतनी पैनी है कि मुझे अक्षयम, सधम का बाना पहन कर, अधर्म, धर्म का रूप बनाकर, धोया नहीं दे सकता। मैं प्रकाश में विचरण करने के लिए हूँ। मैं अन्धकार में क्यों भटक्ूँ और दीवारों से क्यों टकराऊँ? क्या मेरे आँख नहीं हैं? अनन्त काल से भटकते हुए इस अंधे ने आँख पा ली है। अतः

अब वह नहीं भटकेगा। स्वयं तो क्या भटकेगा, दूसरे अंधों को भी भटकने से बचाएगा। सम्यग्दर्शन का प्रकाश ही ऐसा है।”

माया-मृग-विवर्जित का अर्थ है—मायामृग से रहित। मायामृग साधक के लिए बड़ा ही भयंकर पाप है। जैन धर्म में इसे शत्रु कहा है। वह साधक के जीवन में यदि एक बार भी प्रवेश कर लेता है तो फिर वह कहीं का नहीं रहता। भूल को छुपाने की वृत्ति, पिछले पापों को भी साफ नहीं होने देती और आगे के लिए अधिकाधिक पापों को निमंत्रण देती है। जो साधक भूठ बोल सकता है, भूठ भी वह, जिसके गर्भ में माया रही हुई हो, भला वह क्या साधना करेगा? माया मृग-वादी, साधक नहीं होता, ठग होता है। वह धर्म के नाम पर अधर्म करता है, धर्म का ढोंग रचता है।

यह प्रतिक्रमण-सूत्र है। अतः प्रतिक्रमणकर्ता साधक कहता है कि “मैं श्रमण हूँ। मैंने माया और मृगवाद का मार्ग छोड़ दिया है। मेरे मन में छुपाने जैसी कोई बात नहीं है। मेरी जीवन-पुस्तक का हर एक पृष्ठ खुला है, कोई भी उसे पढ़ सकता है। मैंने साधना पथ पर चलते हुए जो भूलों की हैं, गलतियों की हैं, मैंने उनको छुपाया नहीं है। जो कुछ दोष थे, साफ-साफ कह दिए हैं। भविष्य में भी मैं ऐसा ही रहूँगा। पाप छुपना चाहता है, मैं उसे छुपाने नहीं दूँगा। पाप सत्य से चुँधियात है, अतः असत्य का आश्रय लेता है, माया के अन्वकार में छुपता है, परन्तु मैं इस सम्बन्ध में बड़ा कठोर हूँ, निर्दय हूँ। न मैं पिछले पापों को छुपाने दूँगा, और न भविष्य के पापों को। पाप आते हैं माया के द्वार से, मृगवाद के द्वार से। और मैंने इन द्वारों को बंद कर दिया है। अब भविष्य में पाप आएँ तो किधर से आएँ? पिछले पाप भी माया-मृग के आश्रय में ही रहते हैं। अस्तु ज्यों ही मैं भगवान् सत्य के आगे खड़ा होकर पापों की आलोचना करता हूँ, त्यों ही वस पापों में भगदड़ मचजाती है। क्या मजाल, जो एक भी खड़ा रह जाय!” यह है वह उदात्त भावना, जो मायामृग-विवर्जित की पृष्ठ-भूमि में रही हुई है।

महयात्रियों को नमस्कार

प्रस्तुत प्रविष्टा गुप्त के प्रारंभ में मोक्षमार्ग के उद्देश्य धर्म तीर्थकों को नमस्कार किया गया था। उक्त नमस्कार में गुप्तों के प्रति बहुमान था, इतना ही अभिनय था, परिणामशुद्धि का स्थितिकारण था, और था सम्पूर्ण दर्शन की शुद्धि का भाव, नमोत्तम आस्थात्मक स्मृति एवं चेतना का भाव। अब प्रस्तुत नमस्कार में, उन महयात्रियों को नमस्कार किया गया है, जो मातृ और मातृ के रूप में मातृभाव पर चल रहे हैं, समय की आराधना कर रहे हैं, जब नमस्कार के लिए प्रयत्नशील हैं। यह नमस्कार मुक्तानुमोदन रूप है, साधकों के प्रति बहुमान का प्रदर्शन है। पूर्व नमस्कार साधक से निद्रा पर पहुँचे हुएों को था, अतः वह सहज भाव से किया जा सकता है। परन्तु अपने जैसे ही साथी यात्रियों को नमस्कार करना सहज नहीं है। यहाँ अभिमान से मुक्ति प्राप्त हुए बिना नमस्कार नहीं हो सकता।

जैन धर्म विनय का धर्म है, गुणरक्षण का धर्म है। यहाँ और कुछ नहीं पूछा जाता, केवल गुण पूछा जाता है। निद्रा हो अथवा साधक ही, कोई भी ही। गुप्तों ने सामने मुक्त जाओ, बहुमान करो—यह है हमारा चिरन्तन आदर्श। समयक्षेत्र के सभी छोटे बड़े साधक, फिर वे भले ही पूर्य हो—श्री ही, सब नमस्करणीय हैं आदरणीय हैं, यह भाव है प्रस्तुत नमस्कार का। अपने महधर्मियों के प्रति कितना अधिक विनम्र रहना चाहिए, यह आज के संप्रदायवादी साधुओं को सीखने जैसी चीज है। आज की साधुता अपने संप्रदाय में है, अपनी गंगावदी में है। अब साधुता को क्या जाने वाला निराट नमस्कार भी संप्रदायवाद के छुद्र घेरे में अवरुद्ध हो जाता है। समस्त मानवक्षेत्र के साधकों को नमस्कार का विधान करने वाला निराट धर्म, इतना छुद्र हृदय भी बन सकता है ? आश्चर्य है।

जम्बू द्वीप, भारत की सरहद और अर्ध पुष्कर द्वीप तथा लवण एवं कालोदधि समुद्र—यह अर्ध द्वीपसमुद्र—परिमित मानव क्षेत्र है। अमर

धर्म की साधना का यही क्षेत्र माना जाता है। आगे के क्षेत्रों में न मनुष्य है और न श्रमणधर्म की साधना है। अस्तु, अन्तिम दो गाथाओं में अर्द्ध द्वीप के मानव क्षेत्र में जो भी साधु-साध्वी हैं, सबको मस्तक झुकाकर वन्दन किया गया है।

प्रथम गाथा में रजोहरण, गोच्छृङ्ख एवं प्रतिग्रह = पात्र आदि द्रव्य साधु के चिह्न बताए हैं। और आगे की गाथा में पाँच महाव्रत आदि भाव साधु के गुण कहे गए हैं। जो द्रव्य और भाव दोनों दृष्टियों से साधुता की मर्यादा से युक्त हों, वे सब वन्दनीय मुनि हैं। द्रव्य के वाद भाव का उल्लेख, भाव साधुता का महत्त्व बताने के लिए है। द्रव्य साधुता न हो और केवल भावसाधुता हो, तब भी वह वन्दनीय है; परन्तु भाव के बिना केवल द्रव्य-साधुता कथमपि वन्दनीय नहीं हो सकती। अटारह हजार शील अंगों की व्याख्या के लिए अवतरणिका उठाते हुए आचार्य हरिभद्र यही सूचना करते हैं कि—“एकाङ्ग विकल्प-प्रत्येक बुद्धादिसंग्रहाय अष्टादशशीलसहस्रधारिणः, तथाहि—केचिद् मगवन्तो रजोहरणादिधारिणो न भवन्त्यपि।”

अटारह हजार-शील

‘शील’ का अर्थ ‘आचार’ है। भेदानुभेद की दृष्टि से आचार के अटारह हजार प्रकार होते हैं। क्षमा, निलोभता, सरलता, मृदुता, लाघव, सत्य, संयम, तप, त्याग और ब्रह्मचर्य—यह दश प्रकार का श्रमण-धर्म है। दशविध श्रमण धर्म के धर्ता मुनि, पाँच स्थावर, चार वस और एक अजीव—इस प्रकार दश की विराधना नहीं करते।

अस्तु, दशविध श्रमण धर्म को पृथ्वी काय आदि दश की अविराधना से गुणन करने पर १०० भेद हो जाते हैं। पाँच इन्द्रियों के वश में पड़कर ही मानव पृथिवी काय आदि दश की विराधना करता है; अतः सो को पाँच इन्द्रियों के विजय से गुणन करने पर ५०० भेद होते हैं। पुनः आहार, भय, मैथुन और परिग्रह—उक्त चार संज्ञाओं के निरोध से पूर्वोक्त पाँच सौ भेदों को गुणन करने से दो हजार भेद होते हैं। दो हजार

को 'मन, वचन और काय उक्त तीन दण्डों के नियंत्र में तीनों गुण धरने पर छत्र हजार भेद होने हैं। पुनः छत्र हजार को करना, कर्मान और अनुमादन उक्त तीनों से गुणन होने पर कुल अठारह हजार शीघ्र के भेद होने हैं। आचार्य हरिभद्र इस सम्बन्ध में एक प्राचीन गाथा उद्धृत करते हैं—

जो ए करण सन्ना,
इंदिय भोमाइ नमण धम्मे य ।
मीलंग-महस्माण,
अड्डार सगस्म निष्फत्ती ॥

शिरसा, मनसा, मन्तकेन

प्रस्तुत सूत्र में 'शिरसा मणसा मत्थएण वंदामि' पाठ आता है, इसका अर्थ है 'शिर से, मन से और मन्तक से वन्दना करता हूँ।' प्रश्न होता है कि शिर और मन्तक तो एक ही हैं, फिर यह पुनरुक्ति क्यों ? उत्तर में निवेदन है कि-शिर, समस्त शरीर में मुख्य है। अतः शिर से वन्दन करने का अभिप्राय है—शरीर से वन्दन करना। मन अन्त करण है, अतः यह मानसिक वन्दना का सूचक है। 'म मत्थए' वंदामि का अर्थ है—'मन्तक मुझसे वन्दना करता हूँ, यह वाचिक वन्दना का रूप है। अस्तु मानसिक वाचिक और वायिक त्रिविध वन्दना का स्वरूप निर्देश होने से पुनरुक्ति दोष नहीं है।

प्रस्तुत पाठ के उक्त अंश की अर्थात् 'तेसठ्ठे शिरसा मणसा मत्थएण वंदामि' की व्याख्या करते हुए आचार्य जिनदास भी यही स्पष्टीकरण करते हैं—“ते इडि साधव”, सठ्ठेत्ति गच्छन्निगगत गच्छवासी

१—आचार्य हरिभद्र कृत, कारितादि करण से पहले गुणन करते हैं, और मन वचन आदि योग से वन्द में।

पत्तेय बुद्धादयो । सिरसा इति कायजोगेण, मत्थएण वंदामिति एस
एव वड्ढजोगो ।”

पाठान्तर

प्रस्तुत पाठ का अन्तिम अंश ‘अट्ठाइजेसु’ आदि को कुछ
आचार्य गाथा के रूप में लिखते हैं और कुछ गद्यरूप में । कुछ
जावन्त कहते हैं और कुछ जावन्ति । ‘पडिग्गह धारा’ आदि में आचार्य
जिनदास सर्वत्र ‘धरा’ का प्रयोग करते हैं और आचार्य हरिभद्र आदि
‘धारा’ का । आचार्य हरिभद्र ‘अट्ठार सहस्स सीलंग धारा’ लिखते हैं
और आचार्य जिनदास ‘अट्ठारस सीलंग-सहस्सधरा ।’ कुछ प्रतियों में
रथवाचक रहें शब्द बढ़ाकर ‘अट्ठार सहस्स सीलंग रह धारा’ भी
लिखा मिलता है । आचार्य जिनदास ने ‘आवश्यकचूर्णि’ में अपने
समय के कुछ और भी पाठान्तरों का उल्लेख किया है—“केइ पुण
सुसुद्धपदं गोच्छं पडिग्गहपदं च न पठंति, अएणे पुण अट्ठाइजेसु
दीसु दीवससुदेसु पठंति, एत्थ विभासा कातव्वा ।”

: ३० :

छामणा-सूत्र

(१)

आयरिय - उवज्झाए,
सीसे साहम्मिए कुलगरणे अ ।
जे मे केइ कमाया,
सव्वे तिबिहेण खामेमि ॥

(२)

सव्वस्स समणसंघस्स,
भगवत्थो अञ्जलिं करिअ सीसे ।
सुअं समावइत्ता,
समामि सव्वस्स अहयं पि ॥

(३)

सामेमि सव्वजीवे,
सव्वे जीवा समंतु मे ।
मेत्ती मे सुव्वभूएसु,^१
वेरं मज्झं न केणइ ॥

१ सव्व जीवेसु, इति जिनदास महत्तयः ।

शब्दार्थ

(१)

आचार्य = आचार्य पर
उपज्झाए = उपाध्याय पर
मीसे = शिष्य पर
साहम्मिए = साधर्मिक पर

कुल = कुल पर

गणे = गण पर

मे = मैंने

जे = जो

केइ = कोई

कसाया = कपाय किए हों

सव्वे = उन सबको

तिविहेए = त्रिविध रूप से

खामेमि = खिमाता हूँ ।

(२)

सीसे = शिर पर

अंजलिं = अञ्जलि

करिअ = करके

भगवत्तो = पूज्य

सव्वस्स = सब

समण संघस्स = श्रमण संघ से

(अपने)

सव्वं = सब अपराध को

खमावइत्ता = क्षमा कराकर

अहयंपि = मैं भी

सव्वस्स = (उनके) सब अपराध को

खमामि = क्षमा करता हूँ ।

(३)

सव्व = सब

जीवे = जीवों को

खामेमि = क्षमा करता हूँ

सव्वे = सब

जीवा = जीव

मे = मुझे

खमंतु = क्षमा करें

सव्वभूएसु = सब जीवों पर

मे = मेरी

मेत्ती = मित्रता है

केणइ = किसी के साथ

मज्झं = मेरा

वेरं = वैरभाव

न = नहीं है ।

भावार्थ

आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मिक-कुल और गण; इनके ऊपर मैंने जो कुछ भी कपाय भाव किए हों, उन सब दुराचरणों की मैं मन, चचन और काय से क्षमा चाहता हूँ ॥ १ ॥

अज्ञजिघृक्ष दोनों हाथ जोड़कर समस्त पुण्य मुनिसंघ से मैं अपने
सब अपराधों की क्षमा चाहता हूँ और मैं भी उनका प्रति क्षमाभाव
करता हूँ ॥ २ ॥

मैं सब जीवों की क्षमा करता हूँ और ये सब जीव भी मुझे क्षमा
करें। मेरी सब जीवों के साथ पूर्ण मैत्री = मित्रता है; किसी के साथ
भी मेरा वैर-विरोध नहीं है ॥ ३ ॥

विवेचन

क्षमा, मनुष्य की सब से बड़ी शक्ति है। मनुष्य की मनुष्यता के
पूर्ण दर्शन भगवती क्षमा में ही होती है। वह मनुष्य क्या, जो जग जगसी
जात पर उन्नत पड़ता हो, लड़ाई भगड़ा टानता हो, वैर-विरोध करता
हो ? उसमें और पशु में एक आदृति के सिवा और कान-सा अंतर रह
जाता है ? वैर-विरोध की, क्रोध-द्वेष की वद भयंकर अग्नि है, जो अपने
और दूसरों के सभी सदगुणों को भस्म कर डालती है। क्षमाहीन मनुष्य
का शरीर एड़ी से चोरी तक प्रचण्ड क्रोधाग्नि से जल उठता है, नेत्र
आग्नेय बन जाते हैं, रक्त गर्म पानी की तरह खलने लगता है।

क्षमा का अर्थ है—‘सहनशीलता रखना’। किसी के किए अपराध
को अन्तर्हृदय में भी भूल जाना, दूसरों के अनुचित व्यवहार की ओर
कुछ भी लक्ष्य न देना, प्रत्युत अपराधी पर अनुराग और धैर्य की
मधुर भाव रखना, क्षमा धर्म की उत्कृष्ट विशेषता है। क्षमा के बिना
मानवता बन ही नहीं सकती।

अहिंसा मूर्त क्षमावीर न स्वयं किसी का शत्रु है और न कोई
उसका शत्रु है, न उससे किसी को भय है और न उससे किसी से भय
है “यस्माच्चोद्भिज्जते लोको लोकोद्भिज्जते च यः ।” वह जहाँ कहीं भी
रहेगा, प्रेम और स्नेह की साक्षी मूर्ति बन कर रहेगा। उसके मधुर हास्य
में विलक्षण शक्ति का प्रामास मिलेगा। श्रीयुग शिष्यनेलाच वर्मन के
शब्दों में—“जैसे सूर्य मरुजल से चारों ओर शुभ्र ज्योतिष की किरणें छोड़ती

है, वैसे ही उससे, उसके स्वरूप से, उसकी छाया से और उसकी साँस-सॉम से दशो दिशाओं में आनन्द, मंगल और सुख शान्ति की अमृत धाराएँ हर समय प्रवाहित होती रहती हैं एवं संसार को स्वर्ग-मदश बनाती रहती हैं ।”

जैन-धर्म, आज के धार्मिक जगत में ज्ञान का सबसे बड़ा पक्षपाती है। जैन-धर्म को यदि ज्ञान-धर्म कहा जाय तो यह सत्य का अधिक स्पष्टीकरण होगा। जैनो का प्रत्येक पर्व = उत्सव ज्ञान धर्म से ओत प्रोत है। जैन धर्म का कहना है कि तुम अपने विरोधी के प्रति भी उदार, सहृदय, शान्त बनो। भूल हो जाना मनुष्य का प्रमाद-जन्य स्वभाव है; अतः किसी के अपराध को गौंठ बाँध कर हृदय में रखना, धार्मिक मनोवृत्ति, नहीं है। जैन-धर्म की साधना में अहोरात्र में दो बार सायंकाल और प्रातः काल—प्रत्येक प्राणी से ज्ञान माँगनी होती है। चाहे किसी ने तुम्हारा अपराध किया हो, अथवा तुमने किसी का अपराध किया हो; विशुद्ध हृदय से स्वयं ज्ञान करो और दूसरों से ज्ञान कराओ। न तुम्हारे हृदय में द्वेष की ज्वाला रहे और न दूसरे के हृदय में, यह कितना सुन्दर स्नेह पूर्ण जीवन होगा !

ज्ञान के बिना कोई भी साधना सफल नहीं हो सकती। उग्र-से उग्र-क्रिया काण्ड, दीर्घ से दीर्घ तपश्चरण, ज्ञान के अभाव में केवल देहदण्ड ही होता है; उससे आत्मकल्याण तनिक भी नहीं हो सकता। ईसामसीह ने भी एक बार कहा था—“तुम अपनी आहुति चढ़ाने देव मन्दिर में जाते हो और वहाँ द्वार पर पहुँच कर यदि तुम्हें याद आ जाय कि तुम्हारा अमुक पड़ोसी से मन मुटाव है तो तुम आहुति वहीं देवमन्दिर के द्वार पर छोड़ो और वापस जाकर अपने पड़ोसी से ज्ञान माँगो। पड़ोसी से मैत्री करने के बाद ही देवता को भेंट चढ़ानी चाहिए ।” कितना ऊँचा एवं भव्य आदर्श है ? जब तक हृदय ज्ञान-भाव से कोमल न हो जाय, तब तक उसमें धर्मकल्याण का मृदु अंकुर किस प्रकार अंकुरित हो सकता है ?

प्रतिफल की समाप्ति पर प्रभु ज्ञानसागर परते समय अर्थात् दो तीराथ छोड़कर समा याचना करने के लिए मड़ा होता है, तब बिना कुछ शक्ति का ह्रास होता है। अपने चारों ओर अग्रिम संसार के समान छोटे बड़े प्राणियों से गर्द गर्द होकर समा माँगना हुआ माधक, प्रभु मानवता की गर्वोत्कृष्ट भूमि पर पहुँच जाता है। जिनी नद्या है। गुरुत्वों में तो समा माँगना ही है, किन्तु अपने में छोटे शिष्य आदि से भी जमायाचना करता है। उस समय उसके हृदय में छोटे बड़े का भेद मिलन हो जाता है और अग्नितम मित्र के रूप में आँवों के समान उगमन हो जाता है। इस प्रकार समायाचना की माधक से अग्राधी के संसार जाने रहते हैं, और मन पानों के भार में महसा हलसा हो जाता है। समा से हमारे अदभ्य का नाश होता है और हृदय में उदार मानवता का आध्यात्मिक पुनः गिन उठता है। अपने हृदय को निर्वैर बना लेना ही समायाचना का उद्देश्य है। हमारी समा में विश्वमैत्री का आदर्श रहा हुआ है। और यह विश्वमैत्री ही 'जैनधर्म' का प्राण है।

कल्याणमूर्ति भगवान् महावीर, समा पर अत्यधिक बल देते हैं। भगवान् की समा का आदर्श है कि तुमने दूसरे के हृदय को किसी भी प्रकार की चोट पहुँचाई हो, दूसरे के हृदय में किसी भी प्रकार की कलुषता उत्पन्न की हो, अबका दूसरे की आर में अपने हृदय में वैर-विरोध एवं कलुषता के भाव पैदा किए हों, तो उक्त वैरविरोध तथा कलुषता को समा के आशीर्वाद प्रदान द्वारा नुस्त भोकर साफ कर दो। वैर-विरोध की कालिमा को जग-सी देर के लिए भी हृदय में न रहने दो। कृष्णसागर में भगवान् महावीर का अमणस्य के प्रति गर्भीर एवं मर्मस्पर्शी सन्देश है कि—'यदि अमणस्य में किसी से किसी प्रकार का कलह हो जाय तो जब तक परस्पर समा न माँग ले तब तक आहार पानी लेने नहीं जा सकते, शाँच नहीं जा सकते, स्वाध्याय भी नहीं कर सकते।' समा के लिए बिना कटोर अनुशासन है। आज के कलहप्रिय साधु,

जरा इस ओर लक्ष्य दें तो श्रमण-संघ का कितना अधिक अभ्युदय एवं आत्म-कल्याण हो ।

जमा प्रार्थना करते समय अपने आपको इस प्रकार उदात्त एवं मधुर भावना में रखना चाहिए कि—हे विश्व के समस्त त्रस स्थावर जीवों ! हम तुम सब आत्म-दृष्टि से एक ही हैं, समान ही हैं । यह जो कुछ भी बाह्य विरोधता है, विपमता है, वह सब कर्म जन्य है, स्वरूपतः नहीं । बाह्य भेदों को लेकर क्यों हम परस्पर एक दूसरे के प्रति द्वेष घृणा, अपमान तथा वैर-विरोध करें । हम सब को तो सदा सर्वदा आत्म-भाव एवं स्नेहभाव ही रखना चाहिए । अनादिकाल से परिश्रमण करते हुए मैं तुम्हारे संसर्ग में अनन्त बार आया हूँ और उस संसर्ग में स्वाश्रय से, क्रोध से, अविचार से, अहंकार से, द्वेष से, किसी भी प्रकार से किसी भी प्रकार की मानसिक, वाचिक तथा कायिक पीड़ा पहुँचाई हो तो उचित रूप से क्षमा करण से क्षमायाचना करता हूँ । मेरी हृदय से यह भावना है—

शिवमस्तु सर्व - जगतः,

पर-हित-निरता भवन्तु भूतगणाः ।

दोषाः प्रयान्तु नाशं,

सर्वत्र सुखी भवतु लोकः ॥

प्रश्न है कि 'सन्वे जीवा स्वमंतु' क्यों कहा जाता है ? सब जीवों को मुझे क्षमा करें, इसका क्या अभिप्राय है ? वे क्षमा करें या न करें, हम इससे क्या ? हमें तो अपनी ओर से क्षमा माँग लेनी चाहिए ।

समाधान है कि प्रस्तुत पाठ में करुणा का अपार सागर तरंगित हो रहा है । कौन जीव कहाँ है ? कौन क्षमा कर रहा है कौन नहीं ? कुछ पता नहीं । फिर भी अपने हृदय की करुणा भावना है कि मुझे सब जीव क्षमा करा दें । क्षमा करा दें तो उनकी आत्मा भी तो बलिष्ठ होगी ।

: ३१ :

उपसंहार-सूत्र

एवमहं आलोइअ,
निंदिय गरहिअ दुगुंछिउं सम्मं ।
तिविहेण पडिक्कंतो,
पंदामि जिणे चउव्वीसं ॥

शब्दार्थ

एवं = इस प्रकार

अहं = मैं

सम्मं = अच्छी तरह

आलोइअ = आलोचना करके

निंदिय = निन्दा करके

गरहिअ = गर्हा करके

दुगुंछिउं = जुगुप्सा करके

तिविहेण = तीन प्रकार से

पडिक्कंतो = पाप कर्म से निवृत्त
होकर

चउव्वीसं = चौबीस

जिणे = जिन देवों को

वंदामि = वन्दना करता हूँ

भावार्थ

इस प्रकार मैं सम्यक् आलोचना, निन्दा, गर्हा और जुगुप्सा के द्वारा तीन प्रकार से अर्थात् मन, वचन और काय से प्रतिक्रमण कर पापों से निवृत्त होकर चौबीस तीर्थंकर देवों को वन्दन करता हूँ।

विश्लेषण

यह उपसंहार-पुनः है। प्रतिक्रमण के द्वारा जीवन शुद्धि का मार्ग प्रशस्त हो जाने से आत्मा आध्यात्मिक अभ्युदय के शिखर पर आरुढ़ हो जाता है। जब तक हम अपने जीवन का सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण नहीं करेंगे, अपनी भूलों के प्रति पश्चात्ताप नहीं करेंगे, भविष्य के लिए सदाचार के प्रति अचल सक्ल नहीं करेंगे; तब तक हम मानव जीवन में कदापि आध्यात्मिक उत्थान नहीं कर सकेगे। हमारे पतन के बीज, भूलों के प्रति उपेक्षाभाव रखने में रहे हुए हैं।

भूलों के प्रति पश्चात्ताप का नाम जैा परिभाषा में प्रतिक्रमण है। यह प्रतिक्रमण मन, वचन और शरीर तीनों के द्वारा किया जाता है। मानव के पास तीन ही शक्तियाँ ऐसी हैं जो उसे बन्धन में डालती हैं और बन्धन से मुक्त भी करती हैं। मन वचन और शरीर से बाँधे गए पा। मन, वचन और शरीर के द्वारा ही क्षीण एवं नष्ट भी होते हैं। रग-द्वेष से दूषित मन, वचन और शरीर बन्धन के लिए होते हैं, और ये ही धीतराग परिणति के द्वारा कर्म बन्धनों से सदा के लिए मुक्ति भी प्रदान करते हैं।

आलोचना का भाव अजीब गंभीर है। निशीथ चूर्णेकार बिनदास गणेश कहते हैं कि—“जिस प्रकार अपनी भूलों को, अपनी बुराइयों को तुम स्वयं स्मृति के साथ जानते हो, उसी प्रकार स्मृतिपूर्वक कुछ भी न छुगते हुए गुह्य के समस्त ज्ञान का त्यों प्रकट कर देना आलोचना है।” यह आलोचना करना, मानागमान की दुनिया में घूमने वाले माधारण मानव का काम नहीं है। जो सधक दड होगा, आत्मार्थी होगा, जीवन शुद्धि की ही चिन्ता रखता होगा, यही आलोचना के इस दुर्गम पथ पर अग्रसर हो सकता है।

निन्दा का अर्थ है—आत्म मात्मी से अपने मन में अपने पापों की निन्दा करना। गर्हा का अर्थ है—पर की मात्मी से अपने पापों की बुराई करना। जुगुप्सा का अर्थ है—पापों के प्रति पूर्ण वृथा भाव व्यक्त करना।

जब तक पापाचार के प्रति घृणा न हो, तब तक मनुष्य उससे बच नहीं सकता । पापाचार के प्रति उत्कट घृणा रखना ही पापों से बचने का एक मात्र अस्खलित मार्ग है । अतः आलोचना, निन्दा, गर्हा और जुगुप्सा के द्वारा किया जाने वाला प्रतिक्रमण ही सच्चा प्रतिक्रमण है ।

आचार्य जिनदास प्रस्तुत उपसंहार सूत्र में एवं के बाद 'अहं' का उल्लेख नहीं करते । और आलोड्य, निन्द्य आदि में क्त्वा प्रत्यय भी नहीं मानते, जिसका अर्थ 'करके' किया जाता है । जैसे आलोचना करके, निन्दा करके इत्यादि । आचार्य श्री इन सब पदों को निष्ठान्त मानते हैं, फलतः उनके उल्लेखानुसार अर्थ होता है—मैंने आलोचना की है, निन्दा की है, गर्हा की है इत्यादि । दुगुंछा का अर्थ भी स्वतंत्र नहीं करते । अपितु आलोचना, निन्दा और गर्हा को ही दुगुंछा कहते हैं । देखिए आवश्यक चूर्णा प्रतिक्रमणाधिकार :—

“एवमिति अनेन प्रकारेण आलोड्यं पयासितूणं गुरुणं कहितं,
'निन्द्यं मण्णेण पच्छातावो । गरहितं वड्ढोणेण । एवं आलोड्यनिन्द्य-
गरहियमेव दुगुंछितं । एवं तिवहेण जोणेण पडिक्कंतो वंदामि
चउब्बीसं ति ।”

अन्त में चौबीस तीर्थंकरों को नमस्कार मंगलार्थक है । प्रतिक्रमण के द्वारा शुद्ध हुआ साधक अन्त में अपने को तीर्थंकरों की शरण में अर्पण करता है और अन्तर्जल के रूप में मानो करता है कि—“भगवन् ! मैंने आपकी आज्ञानुसार प्रतिक्रमण कर लिया है । आपकी सान्दी से बिना कुछ छुपाए पूर्ण निष्कपट भाव से आलोचना, निन्दा, गर्हा कर के शुद्ध हो गया हूँ । अब मैं आपके पवित्र चरणों में वन्दन करने का अधिकारी हूँ । आप अन्तर्यामी हैं । घट-घट की जानते हैं । आपसे मेरा कुछ छुपा हुआ नहीं है । अब मैं आपकी देख-रेख में भविष्य के लिए पवित्र संयम पथ पर चलने का दृढ़ प्रयत्न करूँगा ।”



प रि शि ष्ट

: १ :

द्वादशावर्त गुरुवन्दन-सूत्र

इच्छामि समासमणो ! वंदितं,
जवणिज्जाए निसीहियाए ।
अणुजाणह मे भिउगह ।
निसीहि,
अहोकायं काय-संकासं ।
समणिज्जो मे किलामो ।
अप्यकिलंतारणं बहुसुभेण मे दिवसो वदस्संतो ?
जत्ता मे ?
जवणिज्जं च मे ?
सामेमि समासमणो ! देवसिर्यं वड्ढकमं ।
आवस्सियाए पडिक्कमामि-
समासमणाणं देवसियाए आसायणाए,
तित्तीसन्नयराए, जं किंचि मिच्छाए,
मणहुक्कडाए, वयहुक्कडाए, कायहुक्कडाए,

कोंहाए, माणाए, मायाए, लोभाए,
सब्वकालियाए, सब्वमिच्छोवयाराए,
सब्वधम्ममाइक्कमणाए, आसायणाए—

जो मे अइयारो कओ,

तस्स

खमासमणो !

पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि,

अप्पाणं वोसिरामि !

शब्दार्थ

[वन्दना की आज्ञा]
खमासमणो = हे [समाश्रमण !
जावणिजाए = यथा शक्रियुक्क
निसीहियाए = पाप क्रिया से निवृत्त

हुए शरीर से
वंदित = (आपको) वन्दना करना
इच्छामि = चाहता हूँ

[अवग्रह प्रवेश की आज्ञा]

मे = (अतः) मुझको
मिडग्गहं = परिमित अवग्रह की,

अर्थात् अवग्रह में कुछ
सोमा तक प्रवेश करने की

अणुजाणह = आज्ञा दीजिए

[गुरु की ओर से आज्ञा होने पर
गुरु के समीप बैठकर]

निसीहि = अशुभ क्रिया को रोककर

अहोकायं = (आपके) चरणों का
कायसंपासं = अपनी काय से
मस्तक से या हाथ
से स्पर्श [करता हूँ]

मे = (मेरे होने से) आपको
किलामो = जो बाधा हुई, वह
खमणिजो = चन्तठय = क्षमा के योग्य ।

[कायिक कुशल की पृच्छा]
अण्णकिलंताणं = अल्प ग्लान वाले
मे = आपकी का

बहुसुभेण = बहुत आनन्द से
दिवसो = आज का दिन
वइक्कंतो = धीता ?

[संयमयात्रा की पृच्छा]

मे = आपकी
जत्ता = संयमयात्रा (निर्वाध है ?)

[यागनीय की गृह्य]

च = और

मे = आपका शरीर

अग्निर्ज = मन तथा इन्द्रियों
की पीड़ा से रहित है?

[गुरु की श्रोर से एवं कहने पर
स्वापराध की क्षमायाचना]

समासमणो = हे समाधमण !

देवस्य = (मैं) दिवस सम्बन्धी

वदन्म = अपने अपराध को

खामेमि = क्षमाता हूँ

आवेस्मिन्नाए = चरण-करण रूप
आवश्यक क्रिया
करने में जो भीषण
रीति अनुष्ठान हुआ
हो उससे

पटिकमामि = निरुत्त होता हूँ

[विशेष स्वीकरण]

समासमाणाए = आप समा धमण
की

देवमियाए = दिवस सम्बन्धी

नितीकनपराएन्तेतीस में से किसी
भी

आसायणाए = आशातना के द्वारा

[आशातना के प्रसार]

उ किंचि = जिस किसी भी

निन्द्याए = मिथ्या भाव से की हुई

मण्डुड्डाए = दुष्ट मन से की हुई
वदुक्कडाए = दुष्ट वचन से की हुई
कायदुषडाए = शरीर की दुष्टोपाधों
से की हुई

कोडाए = क्रोध से की हुई

माणाए = मान से की हुई

मायाए = भावा से की हुई

लोमाए = लोभ से की हुई

सर्वकालियाए = सब काल में की
हुई

सव्यमिच्छोवयाणाए = सब प्रकार के
मिथ्या भावों से पूर्ण

सव्यधम्माइक्कसाणाए = सब धर्मों
को उल्लंघन करने वाली

आसायणाए = आशातना से

जे = जो भी

मे = मैंने

अइयारो = अतिचार

कथो = किया हो

तस्स = उसका

पटिकमामि = प्रतिक्रमण करता हूँ

निन्दामि = इसकी निन्दा करता हूँ

गरिहामि = विशेष निन्दा करता हूँ

अप्पार्य = आशातनाकारी अतीत
आत्मा का

वोमियामि = पूर्ण रूप से परित्याग
करता हूँ

भावार्थ

[१. इच्छा निवेदन स्थान]

हे क्षमाश्रमण गुरुदेव ! मैं पाप प्रवृत्ति से अलग हटाए हुए अपने शरीर के द्वारा यथाशक्ति आपको वन्दन करना चाहता हूँ ।

[२. अनुज्ञापना स्थान]

अतएव मुझको अवग्रह में = आपके चारों ओर के शरीर-प्रमाण क्षेत्र में कुछ परिमित सीमा तक प्रवेश करने की आज्ञा दीजिए ।

मैं अशुभ व्यापारों को हटाकर अपने मस्तक तथा हाथ से आपके चरण कमलों का सम्यग रूप से स्पर्श करता हूँ ।

चरण स्पर्श करते समय मेरे द्वारा आपको जो कुछ भी बाधा = पीड़ा हुई हो, उसके लिए क्षमा कीजिए ।

[३. शरीरयात्रा पृच्छा स्थान]

क्या ग्लानि रहित आपका आज का दिन बहुत आनन्द से व्यतीत हुआ ?

[४. संयमयात्रा पृच्छा स्थान]

क्या आपकी तप एव' संयम रूप यात्रा निर्बाध है ?

[५. संयम मार्ग में आपत्तीयता = मन, वचन, काय के सामर्थ्य की पृच्छा का स्थान]

क्या आपका शरीर मन तथा इन्द्रियों की बाधा से रहित सकुशल एव' स्वस्थ है ?

[६. अपराध-क्षमापना स्थान]

हे क्षमाश्रमण गुरुदेव ! मुझसे दिन में जो व्यतिक्रम = अपराध हुआ हो, उसके लिए क्षमा करने की कृपा करें ।

भगवन् ! आवश्यक क्रिया करते समय मुझसे जो भी विपरीत आचरण हुआ हो, उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ ।

हे क्षमाश्रमण गुरुदेव ! जिस किसी भी मिथ्याभाव से, द्वेष से,

दुर्माय से, शरीर की दुष्ट चेष्टाओं से, क्रोध से, मान से, माया से, लोभ से, सार्वकालिकी = सर्वकाल से सम्बन्धित, सब प्रकार के मिथ्या अर्थात् मायिक व्यवहारों वाली, सब प्रकार के धर्मों की अतिक्रमण करनेवाली तेरीस आशातनायों में से दिवस-सम्बन्धी किसी भी आशातना के द्वारा मैंने जो भी अतिचार = दोष किया हो; उसका प्रतिक्रमण करता हूँ, मन से उसकी निन्दा करता हूँ, आपके समस्त वचन से उसकी गद्दी करता हूँ; और पाप कर्म करने वाली बहिरात्मभाव रूप अनीत आत्मा का परित्याग करता हूँ, अर्थात् इस प्रकार के पाप-उपा-पारों से आत्मा को अलग हटावा हूँ ।

विवेचन

आनन्द्यकट्टिया में तीसरे बन्दन आनन्द्यक का महत्त्वपूर्ण स्थान है । हितोन्देशी गुरुदेव को निमग्न हृदय से अभिवन्दन करना और उनकी दिन तथा रात्रि सम्पन्धी सुखशान्ति पूजना, शिष्य का परम कर्तव्य है । भारतीय संस्कृति में, विशेषतः जैन संस्कृति में अध्यात्मवाद की महती महिमा है; और आध्यात्मिकता के जीवित चित्र गुरुदेव की महिमा के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या ? ग्रन्थकार में भटकते हुए, टोकरे खाते हुए मनुष्य के लिए दीप्ति की जो स्थिति है, टीक वही स्थिति अज्ञानान्धकार में भटकते हुए शिष्य के प्रति गुरुदेव की है । अतएव जैन संस्कृति में कृतज्ञता प्रदर्शन के नाते पद-पद पर गुरुदेव को बन्दन करने की परंपरा प्रचलित है । अतिहन्तों के नीचे गुरुदेव ही आध्यात्मिक मामान्य के अधिपति हैं । उनको बन्दन करना भगवान् को बन्दन करना है । अतः, इस महिमावाली गुरुबन्दन के उद्देश्य को एवं इसकी सुन्दर पद्धति को प्रस्तुत पाठ में बड़े ही मार्मिक ढंग से प्रदर्शित किया गया है ।

आज का मानव धर्म परंपराओं से शून्य होना का रहा है, चारों ओर स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति बढ़ रही है, नियम और नम्रता के स्थान में अहंकार जाग्रत हो रहा है । आज यह पुण्यी आदर्श पद्धति क्यों है कि गुरुदेव के आगे ही खड़ा हो जाना, खामने जाना, आसन अर्पण करना

और कुशल क्षेम पूछना । गुरुदेव की आज्ञा में रहकर अपने जीवन का निर्माण करना, आज के युग में बड़ा कष्टप्रद प्रतीत होता है । वन्दन करते हुए आज के शिष्य की गर्दन में पीड़ा होती है । वह नहीं जानता कि भारतीय शिष्य का जीवन ही वन्दनमय है । गुरु चरणों का स्पर्श मस्तक पर लगाने से ही भारतीय शिष्यों को ज्ञान की विभूति मिली है । गुरुदेव के प्रति विनय, भक्ति ही हमारी कलाण-परंपराओं का मूल स्रोत है । आचार्य उमास्वाति की वाणी सुनिए, वह क्या कहते हैं :—

विनयफलं शुश्रूषा, गुरुशुश्रूषाफलं श्रुतज्ञानम् ;
ज्ञानस्य फलं विरति विरतिफलं चाश्रवनिरोधः ।
संवरफलं तपोबलमथ तपसो निर्जराफलं दृष्टम् ;
तस्मात् क्रियानिवृत्तिः, क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम् ।
योगनिरोधाद् भवसंततिक्षयः संततिक्षयान्मोक्षः ;
तस्मात्कल्याणानां, सर्वेषां भाजनं विनयः ।

—‘गुरुदेव के प्रति विनय का भाव रखने से सेवाभाव की जागृति होती है, गुरुदेव की सेवा से शास्त्रों के गम्भीर ज्ञान की प्राप्ति होती है, ज्ञान का फल पापाचार से निवृत्ति है, और पापाचार की निवृत्ति का फल आश्रवनिरोध है ।’

—‘आश्रवनिरोध = संवर का फल तपश्चरण है, तपश्चरण से कर्म-मल की निर्जरा होती है; निर्जरा के द्वारा क्रिया की निवृत्ति और क्रिया निवृत्ति से मन वचन तथा काययोग पर विजय प्राप्त होती है ।’

—‘मन, वचन और शरीर पर विजय पा लेने से जन्ममरण की लम्बी परंपरा का क्षय होता है, जन्ममरण की परम्परा के क्षय से आत्मा को मोक्षपद की प्राप्ति होती है । यह कार्यकारणभाव की निश्चित शृंखला हमें सूचित करती है कि समग्र कल्याणों का एकमात्र मूल कारण विनय है ।’

प्राचीन भारत में प्रस्तुत विनय के भिन्नान्त पर अत्यधिक बल दिया गया है। आनन्दे समस्त गुरुदेव का पाठ है, देखिए, कितना भावपूर्ण है ? 'विष्णो जिह्वासप्तमूर्त्ति' की भावना का कितना सुन्दर प्रतिबिम्ब है ? शिष्य के मुख से एक एक शब्द प्रेम और श्रद्धा के अमृतसर में डूबा निकल रहा है !

वन्दना करने के लिए पास में आने की भी ज़रूरी माँगना, चरण छूने से पहले आने सम्बन्ध में 'निशीदिष्यात्' पद के द्वारा सदाचार से परिचित रहने का गुरुदेव को विश्वास दिलाना, चरण छूने तक के कष्ट का भी ज़रूरी याचना करना, सायंकाल में दिन सम्बन्धी और प्रातःकाल में रात्रि सम्बन्धी कुशल-स्नेह पूछना, सयम यात्रा की व्यवस्था भी पूछना, आने से आग्रहपूर्वक क्रिया करते हुए जो कुछ भी आशानना हुई हो तदर्थ ज़रूरी माँगना, पापाचारमय पूर्वजीवन का परित्याग कर भविष्य में नये सिरे से सयम जीवन के ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करना, कितना भावभरा एवं हृदय के अन्तर्गत भाग को छूने वाला वन्दना का क्रम है ! स्थान-स्थान पर गुरुदेव के लिए 'समाधिमण्डप' सम्बोधन का प्रयोग, ज़रूरी के लिए, शिष्य की कितनी अधिक आतुरता प्रकट करता है, तथाच गुरुदेव को किस ऊँचे दर्जे का ज़रूरी मूर्त्ति संत प्रमाणित करता है !

अब आइए, मूल सूत्र के कुछ विशेष शब्दों पर विचार करें। यद्यपि शब्दार्थ और भावार्थ में काफी स्पष्टीकरण हो चुका है, फिर भी गहराई में उतरे बिना पूर्ण स्पष्टता नहीं हो सकती।

इच्छामि

जैनधर्म 'इच्छाप्रधान धर्म' है। यहाँ किसी आत्मा या देवान से कोई काम करना और मन में स्वयं किसी प्रकार का उल्लास न रखना, अभिमत अथवा अभिहित नहीं है। बिना प्रसन्न मनोभावना के ही जाने-बूझी धर्म क्रिया, कितनी ही कर्षा न महनीय हो, अन्ततः वह मृत है, निष्प्राण है। इस प्रकार भय के भार से लदी हुई मृत धर्म क्रियाएँ

तो साधक के जीवन को कुचल देती हैं, हीन बना देती हैं। विकासोन्मुख धर्म साधना स्वतन्त्र इच्छा चाहती है, मन की स्वयं कार्य के प्रति होने वाली अभिरुचि चाहती है। यही कारण है कि जैन धर्म की साधना में सर्वत्र 'इच्छामि पडिक्कमामि, इच्छामि खमासमणो' आदि के रूप में सर्वप्रथम 'इच्छामि' का प्रयोग होता है। 'इच्छामि' का अर्थ है मैं स्वयं चाहता हूँ, अर्थात् यह मेरी स्वयं अपने हृदय की स्वतन्त्र भावना है।

'इच्छामि' का एक ओर भी अभिप्राय है। शिष्य गुरुदेव के चरणों में विनम्र भाव से प्रार्थना करता है कि 'भगवन् ! मैं आपको वन्दन करने की इच्छा रखता हूँ। अतः आप उचित समझे तो आज्ञा दीजिए। आपकी आज्ञा का आशीर्वाद पाकर मैं धन्य-धन्य हो जाऊँगा।'

ऊपर की वाक्यावली में शिष्य वन्दन के लिए केवल अपनी ओर से इच्छा निवेदन करता है, सदाग्रह करता है, दुराग्रह नहीं। नमस्कार भी नमस्करणीय की इच्छा के अनुसार होना चाहिए, यह है जैन संस्कृति के शिष्टाचार का अन्तर्हृदय। यहाँ नमस्कार में भी इच्छा मुख्य है, उद्दण्डतापूर्ण बलाभियोग एवं दुराग्रह नहीं। आचार्य जिनदास कहते हैं—'एथ वंदितुमित्थावेदनेन अप्पच्छंदता परिहरिता।'

क्षमाश्रमण

'असु' धातु तप और खेद अर्थ में व्यवहृत होती है। अतः जो तपश्चरण करता है, एवं संसार से सर्वथा निर्विगुण रहता है, वह श्रमण कहलाता है। क्षमाप्रधान श्रमण क्षमाश्रमण होता है। क्षमाश्रमण में क्षमा से 'मार्दव' आदि दशविध श्रमण धर्म का ग्रहण हो जाता है। अस्तु, जो श्रमण क्षमा, मार्दव आदि महान् आत्मगुणों से सम्पन्न है, अपने धर्म-पथ पर दृढ़ता के साथ अग्रसर है, वे ही वन्दनीय हैं। यह क्षमाश्रमण शब्द, किसको वन्दन करना चाहिए—इस पर बहुत सुन्दर प्रकाश डालता है।

१ 'क्षमाग्रहणे च मद्दवादयो नूढता'—आचार्य जिनदाम।

शिष्य, गुरुदेव को वन्दन करने एवं अपने अपराधों की क्षमा याचना करने के लिए आता है, अतः क्षमाश्रमण सम्बोधन के द्वारा प्रथम ही क्षमादान प्राप्त करने की भावना अभिव्यक्त करता है। आशय यह है कि 'हे गुरुदेव ! आन क्षमाश्रमण हैं, क्षमामूर्ति हैं। अस्तु, मुझ पर कृपाभाव रखिए। मुझसे जो भी भूलें हुई हों, उन सब के लिए क्षमा प्रदान कीजिए।'।

यापनीया

'या' प्रापणे धातु से एवन्त में कर्तरि अनीयच् प्रत्यय होने से यापनीया शब्द बनता है। आचार्य हरिमद्र कहते हैं—'यापयतीति यापनीया तया।' यापनीया का भावार्थ हरिमद्रजी यथाशक्तियुक्त तनु अर्थात् शरीर करते हैं। आचार्य जिनदास भी कार्यसमर्थ शरीर को यापनीय कहते हैं और असमर्थ शरीर को अयापनीय। 'यावणीया नाम जा वेषति पयोनेण फज्जसमत्था, जा पुण पयोनेण वि न समत्था सा अजावणीया।'।

'यापनीय' कहने का अभिप्राय यह है कि 'मैं अपने पवित्र भाव से वन्दन करता हूँ। मेरा शरीर वन्दन करने की सामर्थ्य रखता है, अतः किसी दगाव से लाचार होकर गिरी पड़ी हालत में वन्दन करने नहीं आया हूँ, अर्थात् वन्दना की भावना से उत्कृष्ट एवं रोमाञ्चित हुए सशक्त शरीर से वन्दना के लिए तैयार हुआ हूँ।'।

सशक्त एवं समर्थ शरीर ही निधिपूर्वक धर्म क्रिया का आराधन कर सकता है। दुर्बल शरीर प्रथम तो धर्म क्रिया कर नहीं सकता। और यदि किसी के मन से या स्वयं हठाग्रह से करता भी है तो वह अधिधि से करता है, जो लाभ की अपेक्षा हानिप्रद अधिक है। धर्म साधना का रंग स्वस्थ एवं सकल शरीर होने पर ही जमता है। यापनीय शब्द की यही ध्वनि है, यदि कोई मुन और समझ सके तो ? 'जावणिजाप निसी-दिदाप ति अपोण शत्रत्वं विधी य दरिस्सिता।'—आचार्य जिनदास।

नैपेधिकी^१

मूल शब्द 'निसीहिया' है। इसका संस्कृत रूप 'नैपेधिकी' होता है। प्राणातिपातादि पापों से निवृत्त हुए शरीर को नैपेधिकी कहते हैं। देखिए, आचार्य हरिभद्र क्या कहते हैं? 'निषेधनं निषेधः, निषेधेन निवृत्ता नैपेधिकी, प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाद् वा नैपेधिकेत्युच्यते ।'***
 ***नैपेधिक्या—प्राणातिपातादिनिवृत्त्या तन्वा शरीरेणेत्यर्थः ।'

आचार्य जिनदास नैपेधिकी के शरीर, वसति = स्थान और स्थण्डिल भूमि—इस प्रकार तीन अर्थ करते हैं। मूलतः नैपेधिकी शब्द आलय = स्थान का वाचक है। शरीर भी जीव का आलय है, अतः वह भी नैपेधिकी कहलाता है। इतना ही नहीं, निषिद्ध आचरण से निवृत्त शरीर की क्रिया भी नैपेधिकी कहलाती है।

जैन धर्म की पवित्रता स्नान आदि में नहीं है। वह है पापाचार से निवृत्ति में, हिंसादि से विरति में। अतः शिष्य गुरुदेव से कहता है कि "भगवन् ! मैं अविचित्र नहीं हूँ, जो आपको चन्दन न कर सकूँ। मैंने हिंसा, असत्य आदि पापों का त्याग किया हुआ है, अहिंसा एवं सत्य

१ निषेध का अर्थ त्याग है। मानव शरीर त्याग के लिए ही है, यह जैन धर्म का अन्तर्हृदय है और इसीलिए वह शरीर को भी नैपेधिकी कहता है। नैपेधिकी का अर्थ है जीवहिंसादि पापाचरणों का निषेध अर्थात् निवृत्ति करना ही प्रयोजन है जिसका वह शरीर।

नैपेधिकी का जो यापनीया विशेषण है, उसका अर्थ है जिससे कालक्षेप किया जाय, समय बिताया जाय, वह शारीरिक शक्ति यापनीया कहलाती है।

दोनों का मिल कर अर्थ होता है कि "मैं अपनी शक्ति से सहित त्याग प्रधान नैपेधिकी शरीर से चन्दन करना चाहता हूँ।"

नैपेधिकी और यापनीया का कुछ आचार्यों द्वारा किया जाने वाला यह विश्लेषण भी ध्यान में रखना चाहिए।

का भन्नी भौंति आचरण विज्ञ है; अतः विश्वास रखिए, मैं पवित्र हूँ और पवित्र होने के नाते आरक्षे पवित्र चरख कमलों को सार्स करने का अधिकारी हूँ ।”

—“निसीहि नाम सरीरं पसही धंडिलं च मण्डनि । उतो निसीहिता नाम आजयो वसही धंडिलं च । सरीरं जीवस्स आद्धयोति । तथा पडिसिद्धनितेवत्तुनियत्तन्स छिरिया निसीहिता ताए ।.....” तिसत्रया तन्वा, कइं ? विपडिसिद्धनितेहछिरियाए य, अप्परोमं मम सरीरं, पडिसिद्धपावक्कम्मो य होत्तप्पो सुमं धंदितुं इच्छामिति यावत् ।” —

—आचार्य जिनदाग कृत आग्रयण चूर्ण

अवग्रह

जहाँ गुरुदेव निरावमान होते हैं, वहाँ गुरुदेव के चारों ओर चारों दिशाओं में आत्म प्रमाण अर्थात् ‘शरीर-प्रमाण’ साढ़े तीन हाथ का क्षेत्रावग्रह होता है । इस अवग्रह में गुरुदेव की आज्ञा लिए गिना प्रवेश करना निषिद्ध है । गुरुदेव की गौरव मर्यादा के लिए शिष्य को गुरुदेव से साढ़े तीन हाथ दूर अवग्रह से बाहर खड़ा रहना चाहिए । यदि कभी वन्दना एवं वाचना आदि आग्रयण कार्य के लिए गुरुदेव के समीप तक जाना हो तो प्रथम आज्ञा लेकर पुनः अवग्रह में प्रवेश करना चाहिए ।

अवग्रह की व्याख्या करते हुए आचार्य हरिमद्र आवश्यक वृत्ति में लिखते हैं—‘चतुर्दिग्गमिदाचार्यस्य आत्म-प्रमाणं क्षेत्रमवग्रहः । तमनुज्ञां विहाय प्रवेन्दुं न कल्पते ।’

प्रवचनसारोदार के दन्दनक द्वार में आचार्य नेमिचन्द्र भी यही कहते हैं :—

१ साढ़े तीन हाथ परिमाण अवग्रह इसलिए है कि गुरुदेव अपने इच्छानुसार उठ-बैठ सकें, स्वाध्याय ध्यान कर सकें, आवश्यकता हो तो शयन भी कर सकें ।

आय-प्पमाणमित्तो,

चउदिसिं होइ उगहो गुरुणो ।

अणणुन्नायस्स सया,

न कप्पए तत्थ पविसेउ' ॥१२६॥

प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति में अवग्रह के छः भेद कहे गए हैं :—
नामावग्रह = नाम का ग्रहण, स्थापनावग्रह = स्थापना के रूपमें किसी वस्तु का अवग्रह कर लेना, द्रव्यावग्रह = वस्त्र पात्र आदि किसी वस्तु विशेष का ग्रहण, क्षेत्रावग्रह = अपने आस-पास के क्षेत्र विशेष एवं स्थान का ग्रहण, कालावग्रह = वर्षा काल में चार मास का अवग्रह और शेष काल में एक मास आदि का, भावावग्रह = ज्ञानादि प्रशस्त और क्रोधादि अप्रशस्त भाव का ग्रहण ।

वृत्तिकार ने वंदन प्रसंग में आये अवग्रह के लिये क्षेत्रावग्रह और प्रशस्त भावावग्रह माना है ।

भगवती सूत्र आदि आगमों में देवेन्द्रावग्रह, राजावग्रह, गृहपति-अवग्रह, सागारी (शय्यादाता) का अवग्रह, और साधर्मिक का अवग्रह—इस प्रकार जो आज्ञा ग्रहण करने रूप पाँच अवग्रह कहे गए हैं, वे प्रस्तुत प्रसंग में ग्राह्य नहीं हैं ।

अहोकायं काय-संफासं

‘अहोकाय’ का संस्कृत रूपान्तर अधःकाय है, जिसका अर्थ ‘चरण’ होता है । अधःकाय का मूलार्थ है काय अर्थात् शरीर का सबसे नीचे का भाग । शरीर का सबसे नीचे का भाग चरण ही है, अतः अधःकाय का भावार्थ चरण होता है । ‘अधःकायः पादलक्षणस्तमधः कायं प्रति ।’

—आचार्य हरिभद्र ।

‘काय संफासं’ का संस्कृत रूपान्तर कायसंस्पर्श होता है । इसका अर्थ है ‘काय से सम्यक्तया स्पर्श करना ।’ यहाँ काय से

क्या अभिप्राय है ? यह निवारणीय है । आचार्य जिनदास काय से हाथ ग्रहण करते हैं । 'अप्यणो कापण हरयेहि पुसिस्सामि ।' आचार्य श्री का अभिप्राय यह है कि यावर्तन करते समय शिष्य अपने हाथ से गुरु के चरणकमलों को स्पर्श करता है अतः यहाँ काय से हाथ ही अभीष्ट है । कुछ आचार्य काय से मस्तक लेते हैं । वंदन करते समय शिष्य गुरुदेव के चरणकमलों में अपना मस्तक लगाकर वंदना करता है, अतः उनकी दृष्टि में काय संस्पर्श से मस्तक संस्पर्श ग्राह्य है । आचार्य हरिभद्र काय का अर्थ सामान्यतः निज देह ही करते हैं—'कायेन निजदेहेन संस्पर्श कायसंस्पर्शस्तं करोमि ।'

परन्तु शरीर से स्पर्श करने का क्या अभिप्राय हो सकता है ? यह निवारणीय है । सम्पूर्ण शरीर से तो स्पर्श हो नहीं सकता, यह हागा मात्र हस्तद्वारेण या मस्तकद्वारेण । अतः प्रश्न है कि सूत्रकार ने विशेषोत्प्लेप के रूप में हाथ या मस्तक न कह कर सामान्यतः शरीर ही क्यों कहा ? जहाँ तक निवारण की गति है, इसका यह समाधान है कि शिष्य गुरुदेव के चरणों में अपना सर्वस्व अर्पण करना चाहता है, सर्वस्व के रूप में शरीर के कण-कण से चरणकमलों का स्पर्श करके धन्य धन्य होना चाहता है । प्रत्यक्ष में हाथ या मस्तक का स्पर्श भले हो, परन्तु उसके पीछे शरीर के कण-कण से स्पर्श करने की भावना है । अतः सामान्यतः कायसंस्पर्श कहने में अज्ञा के विराट् रूप को अभिव्यक्ति रही हुई है । जब शिष्य गुरुदेव के चरणकमलों में मस्तक झुकाता है तो उसका अर्थ होता है गुरुचरणों में अपने मस्तक की भेंट अर्पण करना । शरीर में मस्तक ही तो मुख्य है । अतः जब मस्तक अर्पण कर दिया गया तो उसका अर्थ है अपना समस्त शरीर ही गुरुदेव के चरणकमलों में अर्पण कर देना । समस्त शरीर को गुरुदेव के चरणकमलों में अर्पण करने का भाव यह है कि—अब मैं अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ अपनी आशा में खलूँगा, आपके चरणों का अनुसरण करूँगा । शिष्य का अज्ञा कुछ नहीं है । जो कुछ भी है, सब गुरुदेव

का है। अतः काय के उपलक्षण से मन और वचन का अर्पण भी समझ लेना चाहिए।

अल्पकलान्त

प्रस्तुत सूत्र में 'अप्पकिलंताणं बहुसुमेण....' अंशगत जो अल्प-कलान्त शब्द है। आचार्य हरिभद्र और नमि ने इसका अर्थ 'अल्प = स्तोके कलान्तं = क्रमो येषां ते अल्प कलान्ताः' कहकर 'अल्प पीड़ा वाला' किया है। वर्तमान कालीन कुछ विद्वान् भी इसी पथ के अनुयायी हैं। परन्तु मुझे यह अर्थ ठीक नहीं जँचता। यहाँ अल्प पीड़ा का, थोड़ी-सी तकलीफ का क्या भाव है? क्या गुरुदेव को थोड़ी-सी पीड़ा का रहना आवश्यक है? नहीं, यह अर्थ उचित नहीं मालूम होता। अल्प शब्द स्तोके वाचक ही नहीं, अभाव वाचक भी है^१। उत्तराध्ययन सूत्र के प्रथम विलयाध्ययन में एक गाथा आती है—'अप्पप्राणं ऽप्पवीयमि'.... ३५। इसका अर्थ है—अल्पप्राण और अल्पवीज वाले स्थान में साधु को भोजन करना चाहिए। क्या आप यहाँ भी अल्प-प्राण और अल्प-वीज का अर्थ थोड़े प्राणी और थोड़े बीज वाले स्थान में भोजन करना ही करेंगे? तब तो अर्थ का अनर्थ ही होगा? अतः यहाँ अल्प का अभाव अर्थ मान कर यह अर्थ किया जाता है कि साधु को प्राणी और बीजों से रहित स्थान में भोजन करना चाहिए। तभी वास्तविक अर्थ-संगति हो सकती है, अन्यथा नहीं। अस्तु, प्रस्तुत पाठ में भी 'अप्पकिलंताणं' का 'ग्लानि रहित'—'बाधारहित' अर्थ ही संगत प्रतीत होता है।

बहुसुमेण

मूल में 'अप्पकिलंताणं बहुसुमेण मे दिवसो वड्ढकंतो' पाठ है। इसका अर्थ है—'भगवन्! आपका यह दिन विघ्न-बाधाओं से रहित प्रभूत सुख में अर्थात् अत्यन्त आनन्द में व्यतीत हुआ?' यह सर्व प्रथम शरीर सम्बन्धी कुशल प्रश्न है? जैन धर्म के सम्बन्ध में यह व्यर्थ ही

१ 'अल्प इति अभावे, स्तोके च'—आवश्यक चूणि।

ज्ञान्त धारणा है कि वह कठोर समय धर्म का अनुयायी है, ज्ञातः शरीर के प्रति लापरवाह होकर शीघ्र ही मृत्यु का आह्वान करता है । यह ठीक है कि वह उस समय का आग्रही है । परन्तु समय के आग्रह में वह शरीर के प्रति व्यर्थ ही उपेक्षा नहीं रखता है । आप यहाँ देख सकते हैं कि पहले शरीर सम्बन्धी कुशल पूछा गया है और बाद में समय यात्रा सम्बन्धी । 'अठवाचाहपुच्छा गता, एवं ता शरीरं पुच्छितं, इदंणि तवसंजम नियम जोगेसु पुच्छति ।'—आवश्यक चूणि ।

यात्रा ।

शिष्य, गुरुदेव से यात्रा के सम्बन्ध में कुशल चेष्टा पूछता है । आप यात्रा शब्द देखकर चौंकिए नहीं । जैन संस्कृति में यात्रा के लिए स्थूल कल्मसा न होकर एक मधुर आध्यात्मिक सत्य है । यात्रा क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर के लिए आइए, प्रभु महावीर के चरणों में चले । सोमिल ब्राह्मण भगवान् से प्रश्न करता है कि—'भगवन् ! क्या आप यात्रा भी करते हैं ?' भगवान् ने उत्तर दिया—'हाँ, सोमिल ! मैं यात्रा करता हूँ ।' सोमिल ने तुरन्त पूछा—'कौनसी यात्रा ?' सोमिल बाह्य जगत में विचर रहा था, भगवान् अन्तर्जगत में विचरण कर रहे थे । भगवान् ने उत्तर दिया—'सोमिल ! जो मेरी अग्ने तप, नियम, संयम, समाध्याय, ध्यान और आवश्यक आदि योग की साधना में यतना है—प्रवृत्ति है, वही मेरी यात्रा है ।' कितनी सुन्दर यात्रा है ? इस यात्रा के द्वारा जीवन निहाल हो सकता है ?

—“सोमिला ! जं मे तव-नियम-संजम-सज्झाय-ज्झाणायसग्गमा-दिपसु जोएसु जयणा सेवं जत्ता ।” —भगवती सूत्र १८ । १० ।

यह जैन धर्म की यात्रा है, आत्म-यात्रा । जैन धर्म की यात्रा का पथ जीवन के अंदर में से है, बाहर नहीं । अनन्त अनन्त साधक इसी

१ 'यात्रा तपोनियमादिलक्षणा सायिकमिधौपशमिकभाव लक्षणा वा ।'—आचार्य हरिभद्र, आवश्यक वृत्ति ।

यात्रा के द्वारा मोक्ष में पहुँचे हैं और पहुँचेंगे । संयमी साधक के लिए जीवन की प्रत्येक शुभ प्रवृत्ति यात्रा है, मोक्ष का मार्ग है ।

यापनीय

‘यात्रा’ के समान ‘यापनीय’ शब्द भी बहुत महत्त्वपूर्ण है । यापनीय का अर्थ है मन और इन्द्रिय आदि पर अधिकार रखना, अर्थात् उनको अपने वश में—नियंत्रण में रखना । मन और इन्द्रियों का अनुपशान्त रहना, अनियंत्रित रहना अकुशलता है, अयापनीयता है । और इनका उपशान्त हो जाना, नियंत्रित हो जाना ही कुशलता है, यापनीयता है ।

कुछ हिन्दी टीकाकारों ने, जिनमें पं० सुखलालजी भी हैं, ‘जवणिज्जं च मे ?’ की व्याख्या करते हुए लिखा है कि ‘आपका शरीर मन तथा इन्द्रियों की पीड़ा से रहित है ।’ हमने भी यही अर्थ लिखा है । आचार्य हरेभद्र ने भी इस सम्बन्ध में कहा है—‘यापनीयं चेन्द्रियनोइन्द्रियोपशमादिना प्रकारेण भवतां ? शरीरमिति गम्यते ।’ यहाँ इन्द्रिय से इन्द्रिय और नोइन्द्रिय से मन समझा गया है और ऊपर के अर्थ की कल्पना की गई है ।

परन्तु भगवती सूत्र में यापनीय का निरूपण करते हुए कहा है कि—यापनीय के दो प्रकार हैं इन्द्रिय यापनीय और नोइन्द्रिय यापनीय । पाँचों इन्द्रियों का निरुपहत रूप से अपने वश में होना, इन्द्रिय-यापनीयता है । और क्रोधादि कषायों का उच्छिन्न होना, उदय न होना, उपशान्त हो जाना, नोइन्द्रिय-यापनीयता है !

—जवणिज्जे इविहे पञ्चत्ते, तंजहा—इंदियजवणिज्जे य नो-इन्दियजवणिज्जे य ।

से किं तं इंदियजवणिज्जे ? जं मे सोइंदिय—चर्विखदिय—घाणिदिय—जिर्विदिय—फासिंदियाइं निरुवहयाइं वसे वटंति, सेत्तं इंदियजवणिज्जं ।

से किं न नोऽन्दिष्यजवर्णिजो ? जं मे कोहमाणुमायाबोमा
दोऽन्दिषा नो उदीर्येति सेतं नोऽन्दिष्य जवर्णिजो ।

—भगवती गू १८ । १० ।

आचार्य अमरदेव, भगवती गू १८ के उक्त पाठ का विवरण करते हुए लिखते हैं—“यापनीयं = मोक्षार्थं नि गच्छतां प्रयोजक इन्द्रिया-
दिष्ययत्तारूपो धर्मः । - इन्द्रियविषयं यापनीयं = परमब्रह्मिन्द्रिययाप-
नीयं, एवं मो इन्द्रिययापनीयं, परं नो शब्दस्य मिथश्चक्षुरेवादिन्द्रियै-
र्मिथ्याः सद्गर्थात्वाद या इन्द्रियाणां सहचरिता नोऽन्दिष्या = कर्माणाः ।”

भगवती गू १८ में नोऽन्दिष्य से मन नहीं, किन्तु कर्मा का प्रहण किया गया है । कर्माचूँकि इन्द्रिय सहचरित होने हैं, अतः नोऽन्दिष्य पड़े जाते हैं ।

आचार्य जिनदास भी भगवती गू १८ का ही अनुगमन करते हैं—
‘इन्द्रियजवर्णिजं निरवहताणि धसे य मे वट्टंति इन्द्रियाणि, मो खलु
कजस्य बाधाप् वट्टंतीत्यर्थः । एवं नोऽन्दिष्यजवर्णिजं, कोपादीन् वि-
रुो मे बाहेति ।—आवश्यक चूर्ति ।

उक्त विचारों के अनुसार यारनोय प्रभ का यह भावार्थ है कि
‘भगवन् ! आपकी इन्द्रिय विजय की साधना ठीक-ठीक चल रही है ?
इन्द्रियाँ आपकी धर्म साधना में बाधक तो नहीं होती ? अनुत्तर ही रहती
हैं न ? और नोऽन्दिष्य विषय भी ठीक-ठीक चल रही हैं न ? मोषादि
कर्मा शान्त हैं ? आपकी धर्म यात्रा में कभी बाधा तो नहीं पहुँचाते ?’

प्रवचनसरोदार की वृत्ति में आचार्य सिद्धसेन यात्रा और यापना
के द्रव्य तथा मान के रूप में दो-दो भेद करते हैं । मिथ्यादृष्टि तापस आदि
की अपनी क्रिया में प्रवृत्ति द्रव्ययात्रा है, और भेद साधुओं की अपना
महाव्रतादि रूप साधना में प्रवृत्ति मान यात्रा है । इसी प्रकार ब्राह्मण
आदि से शरीर को समाहित करना, द्रव्य यापना है, और इन्द्रिय तथा
नोऽन्दिष्य की उच्छान्ति से शरीर का समाहित होना भावयापना है ।

—‘यात्रा द्विविधा द्रव्यतो भावतः । द्रव्यतस्तापसादीनां मिथ्यादृशां स्वक्रियोत्सर्पणं, भावतः साधूनामिति ।... यापनापि द्विधा—द्रव्यतो भावतश्च । द्रव्यतः शर्कराद्राक्षादिसदोपधैः कायस्य समाहितत्वं, भावतस्तु इन्द्रियनोऽन्द्रियोपशान्तत्वेन शरीरस्य समाहितत्वम् ।’

—प्रवचनमार्गोद्धार वंदनक द्वार ।

आवश्यक

अवश्य करने योग्य चरण-करणरूप श्रमण योग ‘आवश्यक’ कहे जाते हैं । आवश्यक क्रिया करते समय प्रमादवश जो खलवच की विराधना हो जाती है वह आवश्यक कहलाती है^१ । अतः ‘आवस्सियाए’ का अभिप्राय यह है कि ‘मुझसे आवश्यक योग की साधना करते समय जो भूल हो गई हो, उस आवश्यक भूल का प्रतिक्रमण करता हूँ ।’

‘आवस्सियाए’ कहते हुए जो अवग्रह से बाहर निकला जाता है, वह इसलिए कि गुरुदेव के चरणों में से कहीं अन्यत्र आवश्यक कार्य के लिए जाना होता है तो गुरुदेव को सूचना देने के लिए ‘आवस्सिया’ कहा जाता है, यह आवश्यक समचारी है । अतः यहाँ भी ‘आवस्सियाए’ को आवश्यक का प्रतीक मानकर शिष्य अवग्रह से बाहर होता है । यही कारण है कि दूसरे खमासमणों में ‘आवस्सियाए’ नहीं कहा जाता और न अवग्रह से बाहर ही आया जाता है ।

आशातना

‘आशातना’ शब्द जैन आगम-साहित्य का एक प्राचीन पारिभाषिक शब्द है । जैन धर्म अनुशासन-प्रधान धर्म है । अतः यहाँ पद-पद पर अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, और गुरुदेव का, किंवदुना, ज्ञान, दर्शन, चरित्र रूप धर्म साधना तक का भी सम्मान रखा जाता

१ अवश्यकर्तव्यैश्चरण-करणयोगैर्निवृत्ता आवश्यकता तथा ऽऽसेवना-द्वारेण हेतुभूतया यदसाध्वनुष्ठितं तस्य प्रतिष्ठामामि विनिवर्तयामीत्यर्थः ।’—आचार्य हरिमद्र ।

है। सदाचारी गुरुदेव और अपने सदाचार के प्रति किसी भी प्रकार अवस्था एवं अवहेलना, जैनधर्म में स्वयं एक बहुत बड़ा पाप माना है, अनुशासन जैनधर्म का प्राण है।

अइए, अब आशातना के व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ पर विचार करें। 'ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य ही वास्तविक आय = लाभ है, आशातना = खरडना, आशातना है।' गुरुदेव आदि का मिनय दर्शन एवं चारित्र्य रूप ग्रामगुणों के लाभ का नाश करने वाला देविष्ट, प्रतिस्मरण सूत्र के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य तिलक का मत है। 'आयस्य ज्ञानादिरूपस्य शातना = खरडना आशातना। निरुपयलोपः।'।

आशातना के भेदों की कोई इयत्ता नहीं है। आशातना के स्वार्थपरिचय के लिए दशाश्रुतस्कन्ध-सूत्र में तेतीस आशातनाएँ वर्णित हुई हैं। परिशिष्ट में उन सब का उल्लेख किया गया है, यहाँ सूत्रों में द्रव्यादि चार आशातनाओं का निरूपण किया जाता है, अइए हरिभद्र के उल्लेखानुसार त्रिनमें तेतीस का ही समावेश हो जाता है। 'विचोर्ध्वं पि चउसु दब्बाइसु समोपरंति'

द्रव्य आशातना का अर्थ है—गुरु आदि सन्निक के साथ भक्ति करते समय स्वयं अन्ध-अन्ध प्रदण कर लेना और बुरा-बुरा सन्निक देना। यही बात बल्ल, पात्र आदि के सम्बन्ध में भी है।

क्षेत्र-आशातना का अर्थ है—अइकर चलना, अइकर इत्यादि।

काल आशातना का अर्थ है—यदि या विनाल के समय रात्रि के द्वारा नेलने पर भी उत्तर न देना, चुप रहना।

भाष आशातना का अर्थ है—आचार्य आदि सन्निकों को 'तू' बोलना, उनके प्रति दुर्भाव रखना, इत्यादि।

मनोदुष्कृता

मनोदुष्कृता का अर्थ है (मन से दुष्कृत। मन में किसी प्रकार

द्वेष, दुर्भाव, वृणा तथा अवज्ञा का होना, मनोदुःकृता आशातना है । इसी प्रकार अभद्र वचन आदि से वाग्दुःकृता तथा अमञ्ज गमनादि के निमित्त से कायदुःकृता आशातना होती है ।

क्रोधा

मूल में 'क्रोहा' शब्द है, जिसका तृतीया विभक्ति के रूप में 'क्रोहाप्' प्रयोग किया गया है । 'क्रोहा' का संस्कृत रूपान्तर 'क्रोध' होता है । क्रोधा का अर्थ क्रोध नहीं, अपितु क्रोधानुगता अर्थात् क्रोधवती आशातना से है । क्रोध के निमित्त से होने वाली आशातना क्रोधा अर्थात् क्रोधवती कहलाती है ।

'क्रोधा' का 'क्रोधवती' अर्थ कैसे होता है ? समाधान है कि अर्शादिगण आकृति गण माना जाता है, अतः क्रोधादि को अर्शादिगण में मान कर अच् प्रत्यय होने से क्रोधयुक्त का भी क्रोध रूप ही रहता है । आशातना स्त्रीलिंग शब्द है, अतः 'क्रोधा' रूप का प्रयोग किया गया है ।

—'क्रोधयेति क्रोधवयेति प्राप्ते अर्शादिराकृतिगणत्वात् अच् प्रत्ययान्तत्वात् 'क्रोधया' क्रोधानुगतया ।'—आचार्य हरिमद्र ।

'क्रोधया' के 'समान' ही मानया, मायया और लोभया का मर्म भी समझ लेना चाहिए । सब में अर्शादि अच् प्रत्यय है, अतः मानवत्या, मायावत्या और लोभवत्या अर्थ ही ग्राह्य है ।

सार्वकालिणी ।

आशातना के लिए यह विशेषण बड़ा ही महत्त्वपूर्ण अर्थ रखता है । शिष्य गुरुदेव के चरणों में आशातना का प्रतिक्रमण करता हुआ निवेदन करता है कि 'भगवन् !' मैं दैविक, रात्रिक, पार्थिव, चातुर्मासिक तथा सांवेत्तरिक आशातनों के लिए क्षमा चाहता हूँ और उसका प्रतिक्रमण करता हूँ । इतना ही नहीं, अवतार के इस जीवन में जो अपराध हुआ हो, उसके लिए भी क्षमा याचना है । प्रस्तुत जीवन ही नहीं, पूर्व जीवन और उससे भी पूर्व जीवन, इस प्रकार अनन्तानन्ति

अतीत जन्मों में' जो भूल हुई हो, अवहेलना का भाव रहा हो, उस सबकी क्षमा याचना करता हूँ ।'

मूल में 'सव्वकालिया' शब्द है, जिसका अर्थ है सब काल में होने वाली आशातना । आचार्य विनदास सर्वकाल से समस्त भूतकाल प्रदण करते हैं—'सव्वकाले भवा सव्वकालिणी, पविस्सका, चातुम्मा सिया, संवत्सरिया, इह भवे अण्णेषु वा अतीतेषु भवग्गाइणेषु सव्वमसीतदाकाले ।'

आचार्य हरिभद्र 'सर्वकाल' से अतीत, अनागत और वर्तमान इस प्रकार त्रिकाल का प्रदण करते हैं—'अधुनेहमवान्यभवगताअतीता नागतकाजसमग्रायमेमाह, सर्वकालेन अतीतादिना निवृत्ता सारं काजिकी तया ।'

यह विनय धर्म का किनना महान् विराट् रूप है । जैन संस्कृति की प्रत्येक साधना क्षुद्र से महान् होती हुई अन्त में अनन्त का रूप ले लेती है । आप देख सकते हैं, गुरुदेव के चरणों में की जानेवाली अग्र्याध क्षामणा भी दैवसिक एवं रात्रिक से महान् होती हुई अन्त में सार्व कालिकी हो जाती है । केवल वर्तमान ही नहीं, किन्तु अनन्त भूत और अनन्त भविष्य काल के लिए भी अग्र्याध क्षामणा करना, साधक का नित्यप्रति किया जाने वाला आवश्यक कर्तव्य है ।

अनागत-आशातना के सम्बन्ध में प्रश्न है कि भविष्यकाल तो अभी आगे आने वाला है, अतः तत्सम्बन्धी आशातना कैसे हो सकती है ? समाधान है कि गुरुदेव के लिए एव गुरुदेव की आज्ञा के लिए भविष्य में किसी प्रकार की भी अवहेलना का भाव रखना, संकल्प करना, अनागत आशातना है । भूतकाल की भूलों का पश्चात्तान करो और भविष्य में भूले न होने देने के लिए सदा कृतसंकल्प रहो, यह है साधक जीवन के लिए अमर सन्देश, जो सार्वकालिकी पद के द्वारा अभिव्यंजित है ।

चारह आवर्त^१

प्रस्तुत पाठ में आवर्त-क्रिया विशेष ध्यान देने योग्य है। जिस प्रकार वैदिक मंत्रों में स्वर तथा हस्त-सञ्चालन का ध्यान रक्खा जाता है, उसी प्रकार इस पाठ में भी आवर्त के रूप में स्वर तथा चरण स्पर्श के लिए होने वाली हस्त-सञ्चालन क्रिया के सम्बन्ध में लक्ष्य दिया गया है। स्वर के द्वारा वाणी में एक विशेष प्रकार का ओज एवं माधुर्य पैदा हो जाता है, जो अन्तःकरण पर अपना विशेष प्रभाव डालता है।

आवर्त के सम्बन्ध में एक बात और है। जिस प्रकार वर और कन्या अग्नि की प्रदक्षिणा करने के बाद पारस्परिक कर्तव्य-निर्वाह के लिए आवद्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार आवर्त-क्रिया गुरु और शिष्य को एक-दूसरे के प्रति कर्तव्य बन्धन में बाँध देती है। आवर्तन करते समय शिष्य गुरुदेव के चरणकमलों का स्पर्श करने के बाद दोनों अञ्जलिवद्ध हाथों को अपने मस्तक पर लगाता है; इसका हार्द है कि—वह गुरुदेव की आज्ञाओं को सदैव मस्तक पर वहन करने के लिए कृत-प्रतिज्ञ है।

प्रथम के तीन आवर्त—‘अहो’—‘काय’—‘काय’—इस प्रकार दो-दो अक्षरों से पूरे होते हैं। कमलमुद्रा से अञ्जलिवद्ध दोनों हाथों से गुरु-चरणों को स्पर्श करते हुए मन्द स्वर से ‘अ’ अक्षर कहना, तत्पश्चात् अञ्जलिवद्ध हाथों को मस्तक पर लगाते हुए उच्च स्वर से ‘हो’ अक्षर कहना, यह पहला आवर्तन है। इसी प्रकार ‘का...यं’ और ‘का...यं’ के शेष दो आवर्तन भी किए जाते हैं।

अगले तीन आवर्त—‘जत्तामे’—‘जवणि’—‘ज्जंच मे’—इस प्रकार

१ ‘सूत्राभिधानगर्भाः काय-व्यापारविशेषाः’—आचार्य हरिभद्र, आवश्यक वृत्ति।

‘सूत्र-गर्भा गुरुचरणकमलन्यस्तहस्तशिरः स्थापनरूपाः।’—प्रवचनसरोद्धार वृत्ति, वन्दनक द्वार।

तीन-तीन अक्षरों के होते हैं। कमलमुद्रा से अञ्जलि गोंधे हुए दोनों हाथों से गुरु चरणों को स्पर्श करते हुए अनुदात्त = मन्द स्वर से—‘ज’—अक्षर कहना, पुनः हृदय के पास अञ्जलि लाते हुए स्वरित = मध्यम स्वर से—‘चा’—अक्षर कहना, पुनः अपने मस्तक को छूते हुए उदात्त स्वर से—‘मे’—अक्षर कहना, प्रथम आर्त है। इसी पद्धति से—‘ज . व . शि’—और—‘ज . व . मे’—ये शेष दो आर्त भी करने चाहिएँ। प्रथम ‘रामात्मणो’ के छह और इसी भाँति दूसरे ‘रामात्मणो’ के छह; कुल बाह्य आर्त होते हैं।

वन्दन-विधि

वन्दन आवश्यक उहा ही गभीर एवं भावपूर्ण है। आज परंपरा की अज्ञानता के कारण हम आर. लक्ष्य नहीं दिया जा रहा है और केवल येन-केन प्रकारेण मुख से पाठ का पढ़ लेना ही वन्दन समझ लिया गया है। परन्तु ध्यान में रखना चाहिए कि त्रिना त्रिभि के म्रिया फलवती नहीं होती। अतः पाठकों की जानकारी के लिए स्पष्ट रूप से विधि का वर्णन किया जाता है :—

गुरुदेव के आत्मप्रमाण क्षेत्र-रूप अवग्रह के बाहर आचार्य तिलक ने कमरा दो स्थानों की कल्पना की है,—एक ‘इच्छा निवेदन स्थान’ और दूसरा ‘अवग्रह प्रवेशाज्ञावाचना स्थान।’ प्रथम स्थान में वन्दन करने की इच्छा का निवेदन किया जाता है, फिर जय आगे अवग्रह के पास बाहर अवग्रह में प्रवेश करने की आज्ञा माँगी जाती है।

वन्दनकर्ता शिष्य, अवग्रह के बाहर प्रथम इच्छानिवेदन स्थान में यथा जान मुद्रा से दोनों हाथों में रजोहरण लिए हुए अर्द्धवन्दन होकर अर्थात् आधा शरीर मुझ कर नमन करता है और ‘इच्छामि समात्मणो से होकर मितीहिषाए’ तक का पाठ पढ़ कर वन्दन करने की इच्छा निवेदन करता है। शिष्य के इस प्रकार निवेदन करने के पश्चात्

गुरुदेव यदि अस्वस्थ या किसी कार्य विशेष में व्याप्ति होते हैं तो^१ 'त्रिविधेण'—'त्रिविधेन' ऐसा शब्द कहते हैं, जिसका अर्थ होता है—'अवग्रह' से बाहर रह कर ही संक्षिप्त वन्दन करना। अतः अवग्रह में बाहर रह कर ही त्रिखुत्तो के पाठ के द्वारा संक्षिप्त वन्दन कर लेना चाहिए। यदि गुरुदेव स्वस्थ एवं अव्याप्ति होते हैं तो 'छन्दसा'—'छन्दसा' ऐसा शब्द कहते हैं; जिसका अर्थ होता है—'इच्छानुसार वन्दन करने की सम्मति देना।'

गुरुदेव की ओर से उपर्युक्त पद्धति के द्वारा वन्दन करने की आज्ञा मिल जाने पर, शिष्य, आगे बढ़ कर, अवग्रह क्षेत्र के बाहर, किन्तु पास ही 'अवग्रह प्रवेशाज्ञा याचना' नामक दूसरे स्थान में पुनः अर्द्धावनत होकर नमन करता है और गुरुदेव से 'अणुजाणह मे मिउगह'—इस पाठ के द्वारा अवग्रह में प्रवेश करने की आज्ञा माँगता है। आज्ञा माँगने पर गुरुदेव अपनी ओर से 'अणुजाणामि' पद के द्वारा आज्ञा प्रदान करते हैं।

आज्ञा मिलने के बाद यथाजात मुद्रा = जनमते समय बालक की अथवा दीक्षा लेने के समय शिष्य की जैमी मुद्रा होती है वैसी दोनों हाथ अञ्जलिबद्ध कपाल पर रखने की मुद्रा से 'निसीहि'^२ पद कहते हुए

१ 'त्रिविधेन' का अभिप्राय है कि वह समय अवग्रह में प्रवेश कर द्वादशावर्त वन्दन करने का नहीं है। अतः तीन बार त्रिखुत्तो के पाठ के द्वारा, अवग्रह से बाहर रह कर ही संक्षिप्त वन्दन कर लेना चाहिए। 'त्रिविधेन' शब्द मन, वचन, काय योग की एकाग्रता पर भी प्रकाश डालता है। तीन बार वन्दन, अर्थात् मन, वचन एवं काय योग से वन्दन।

२ 'निसीहि' बाहर के कार्यों से निवृत्त होकर गुरु चरणों में उपस्थित होने रूप नैवेधिकी समाचारी का प्रतीक है। इसीलिए आचार्य हरिभद्र प्रस्तुत प्रसंग पर कहते हैं—'ततः शिष्यो नैवेधिवया प्रविश्य।' अर्थात् शिष्य, अवग्रह में 'निसीहि' कहता हुआ प्रवेश करे।

अवग्रह में प्रवेश करना चाहिए। बाद में रजोहरण से भूमि प्रमार्जन कर, गुरुदेव के पास गोशेदिफा (उकड़) आसन से बैठकर, प्रथम के तीन आद्यवर्त 'अहो, कार्य, काय' पूर्वोक्त विधि के अनुसार करके 'संतासं' कहते हुए गुरु चरणों में मलक लगाना चाहिए।

तदनन्तर 'समणिसो मे किलामो' के द्वारा चरण स्पर्श करते समय गुरुदेव को जो गाथा होती है, उसकी क्षमा माँगी जाती है। पश्चात् 'श्रिय किलंतार्यं बहु सुमेष मे दिवसो षड्ककंतो' कहकर दिन-सम्बन्धी कुशल-क्षेम पूछा जाता है। अनन्तर गुरुदेव भी 'तथा' कह कर अपने कुशल-क्षेम की सूचना देते हैं और फिर उचित शब्दों में शिष्य का कुशल-क्षेम भी पूछते हैं।

तदनन्तर शिष्य 'ज सा मे' 'ज व णि' 'ज च मे'—इन तीन आद्यवर्तों की क्रिया करे एवं संयम यात्रा तथा इन्द्रिय सम्बन्धी और मनः सम्बन्धी शान्ति पूछे। उत्तर में गुरुदेव भी 'तुब्बं पि षड्ढ' कहकर शिष्य से उसको यात्रा और यापनीय सम्बन्धी सुख शान्ति पूछे।

तत्पश्चात् मलक से गुरु चरणों का स्पर्श करके 'सामेमि समासमणो देवसियं षड्कमं' कह कर शिष्य विनम्र भाव से दिन-सम्बन्धी अपने अपराधों की क्षमा माँगता है। उत्तर में गुरु भी 'अहमपि समयामि' कह कर शिष्य से स्वकृत भूलों की क्षमा माँगते हैं। क्षामणा करते समय शिष्य और गुरु के साम्य प्रधान सम्मेलन में क्षमा के कारण विनम्र हुए दोनों मलक कितने भव्य प्रतीत होते हैं? अरा भावुकता को सक्रिय कीजिए। वन्दन प्रक्रिया में प्रस्तुत शिरोनमन आवश्यक का भद्रबाहु धृत केवली बहुत सुन्दर वर्णन करते हैं।

इसके बाद 'आवस्सियाप्' कहते हुए अवग्रह से गहर आना चाहिए।

अवग्रह से गहर लौट कर—'पडिकमामि' से लेकर 'अप्पायं वोत्तिरामि' तक का सम्पूर्ण पाठ पढ़ कर प्रथम समासमणो पूर्ण करना चाहिए।

दूसरा खमासमणो भी इसी प्रकार पढ़ना चाहिए। केवल इतना अन्तर है कि दूसरी बार 'आवस्सियाए' पद नहीं कहा जाता है, और अवग्रह से बाहर न आकर वहीं संपूर्ण खमासमणो पढ़ा जाता है। तथा अतिचार-चिन्तन एवं श्रमण सूत्र नमो चउवीसाए-गाठान्तर्गत 'तस्स धम्मस्स' तक गुरु चरणों में ही पढ़ने के बाद 'अठ्ठुट्ठियोमि' कहते हुए, उठ कर बाहर आना चाहिए।

प्रस्तुत पाठ में जो 'बहुसुमेण मे दिवसो बह्वक्कंतो' के अंश में 'दिवसो बह्वक्कंतो' पाठ है, उसके स्थान में रात्रिक प्रतिक्रमण में 'राहं बह्वक्कंता' पाक्षिक प्रतिक्रमण में 'पक्खो बह्वक्कंतो' चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में 'चउमासी बह्वक्कंता' तथा सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में 'संवच्छरो बह्वक्कंतो' ऐसा पाठ पढ़ना चाहिए।

वन्दन के २५ आवश्यक

श्री समवायांग सूत्र के १२ वें समवाय में वन्दन-स्वरूप का निर्णय देते हुए भगवान् महावीर ने वन्दन के २५ आवश्यक बतलाए हैं :—

दुओ गायं जहाजायं,

किति-कम्मं वारसावयं ।

चउसिरं तिगुत्तं च,

दुपवेसं एग-निक्खमणं ॥

—'दो अवनत, एक यथाजात, बारह आवर्त, चार शिर, तीन गुप्ति, दो प्रवेश और एक निष्क्रमण—इस प्रकार कुल पच्चीस आवश्यक हैं।'

स्पष्टीकरण के लिए नीचे देखिए :—

दो अवनत

अवग्रह से बाहर रहा हुआ शिष्य सर्व प्रथम पनच चढ़ाए हुए धनुष के समान अर्धावनत होकर 'इच्छामि खमासमणो व'दितं जाव णिजाए निसीहियाए' कहकर गुरुदेव को वन्दन करने की इच्छा का

निवेदन करता है। गुरुदेव की ओर से आज्ञा मिल जाने के बाद पुनः अर्घासनन कक्ष से 'अणुजाणह मे मिदग्गाहं' कह कर अवग्रह में प्रवेश करने की आज्ञा माँगता है। यह प्रथम, अवनत आवश्यक है।

अवग्रह से बाहर आकर प्रथम समासमण्यो पूर्ण कर लेने के बाद जब दूसरा समासमण्यो पड़ा जाता है, तब पुनः इसी प्रकार अर्धविनत हाथ वंदन करने के लिए इच्छा निवेदन करना एवं अवग्रह में प्रवेश करने की आज्ञा माँगना, यह दूसरा अवनत आवश्यक है।

दो प्रवेश

गुरुदेव की आज्ञा से अवग्रह में प्रवेश करने की आज्ञा मिल जाने के बाद मुख से नितीहि कहता हुआ एव रजोहरण से आगे की 'भूमि' को प्रमाजैन करता हुआ जब शिष्य अवग्रह में प्रवेश करता है, तब प्रथम प्रवेश आवश्यक होता है।

इसी प्रकार एक बार अवग्रह से बाहर आकर दूसरा समासमण्यो पड़ते समय जब पुनः दूसरी बार अवग्रह में प्रवेश करता है, तब दूसरा प्रवेश आवश्यक होता है।

बारह आचर्त

गुरुदेव के चरणों के पास ऊकड़ या मोदुह आसन से बैठे, रजोहरण एक ओर गगार में रख छोड़े। पश्चात् दोनों घुटने टेककर दोनों हाथों को लग्ना करके गुरु चरणों की 'हाथ की दशां अंगुलियाँ से स्पर्श करता हुआ 'अ' अक्षर बदे और फिर दशां अंगुलियों से अपने मस्तक का स्पर्श करता हुआ 'हं' अक्षर बदे, यह प्रथम आचर्त है। इसी प्रकार 'का' और 'का' के भी दो आचर्त समझ लेने चाहियें।

इसके बाद कमल मुद्रा में दोनों हाथों को जोड़कर मस्तक पर लगाए और समासमण्यो में से लेकर दिवसा वदकनो तब पाठ बोले। अनन्तर दोनों हाथों को लग्ना करके दशां अंगुलियों से गुरुचरणों को

१ बुद्ध आचार्य कमल-मुद्रा से करने हैं।

स्पर्श करता हुआ 'ज' अक्षर कहे, फिर हाथों को हटाकर हृदय के पास लाता हुआ 'ता' अक्षर कहे, और अन्त में दशों अँगुलियों से अपने मस्तक को स्पर्श करता हुआ 'मे' अक्षर कहे। इस प्रकार चौथा आवर्त होता है। इसी प्रकार शेष दो आवर्त भी 'ज व रि' और 'ज्जं च में' के समझ लेने चाहिए।

ये छह आवर्त-आवश्यक प्रथम खमासण के हैं। इसी प्रकार दूसरे खमासण के भी छह आवर्त-आवश्यक होते हैं।

एक निष्क्रमण

बारह आवर्त करने के बाद प्रथम दोनों हाथों से और पश्चात् मस्तक से गुरु-चरणों का स्पर्श करे तथा 'खामेमि खमासमणो देवसियं वइक्कम' का पाठ कहे। इसके अनन्तर रुड़े होकर रजोहरण से अपने पीछे की भूमि का प्रमार्जन करता हुआ, 'गुरुदेव के मुखकमल पर दृष्टि लगाए, मुख से 'आवस्सियाए' कहता हुआ, उल्टे पैरों वापस लौट कर अवग्रह से बाहर निकले। यह निष्क्रमण आवश्यक है।

अवग्रह से बाहर गुरुदेव की ओर मुख कर-के पैरों से जिन-मुद्रा का और हाथों से योग-मुद्रा का अभिनय कर के खड़ा होना चाहिए। पश्चात् पडिक्कमामि से लेकर संपूर्ण खमासमणो पढ़ना चाहिए।

तीन गुप्ति

जब शिष्य वन्दन करने के लिए अवग्रह में प्रवेश करता है, तब 'निसीहि' कहता है। उसका भाव यह है कि अब मैं मन, वचन और काय की अन्य सब प्रवृत्तियों का निषेध करता हूँ एवं तीनों योगों को एक मात्र वन्दन-क्रिया में ही नियुक्त करता हूँ। यह एकाग्र भाव की सूचना है, जो तीन गुप्तियों के आवश्यक का निदर्शन है।

मनोगुप्ति आवश्यक; यह है कि मन में से अन्य सब संकल्पों को निकाल कर उसमें एकमात्र वन्दना का मधुर भाव ही रहना चाहिए। चित्तरे मन से वन्दन करने पर कर्म निर्जरा नहीं होती।

वचन गुप्ति आवश्यक यह है कि वन्दन करते समय घीन में शीर कुछ नहीं शेचना। वचन का व्यापार एकमात्र वन्दन निया के पाठ में ही लगा रहना चाहिए। शीर उच्चारण अस्पष्ट, स्पष्ट एवं सस्वर होना चाहिए।

काय गुप्ति आवश्यक यह है कि शरीर को इधर उधर आगे-पीछे न हिलाकर पूर्ण रूप से नियंत्रित रखना चाहिए। शरीर का व्यापार वन्दन निया के लिए ही हो, अन्य किसी कार्य के लिए नहीं। वन्दन करते समय शरीर से वन्दनातिरिक्त क्रिया करना निषिद्ध है।

चार शिर

अवग्रह में प्रवेश कर क्षामणा करते हुए शिष्य एवं गुरु के दो शिर परस्पर एक दूसरे के सम्मुख होते हैं, यह प्रथम खमासमणो के दो शिरः सम्बन्धी आवश्यक है। इसी प्रकार दूसरे खमासमणो के दो शिरः सम्बन्धी आवश्यक भी समझ लेने चाहिएँ। इस सम्बन्ध में आचार्य हरिभद्र आवश्यक नियुक्ति १२०२ की गाथा की व्याख्या में स्पष्ट लिखते हैं—प्रथम प्रविष्टस्य क्षामणाकाले शिष्याचार्यशिरोद्वय, पुनरपि निष्क्रम्य प्रविष्टस्य द्वयमेवेति भावना।' आचार्य अभयदेव भी समवा याग सूत्र की वृत्ति में ऐसा ही उल्लेख करते हैं।

प्रवचन सारोद्धार की टीका में श्री सिद्धसेनजी शिर का शिरोवनमन में लक्षणा मानते हैं और कहते हैं कि जहाँ क्षामणाकाल में 'खामेति खमासमणो देवसित्यं वद्वक्त्रम्' कहता हुआ शिष्य अपना मस्तक गुरु चरणों में झुकाता है, वहाँ गुरुदेव भी 'अहमवि खामेमि तुमे' कहकर अपना शिरोवनमन करते हैं।

श्री सिद्धसेनजी एक और मान्यता उद्धृत करते हैं, जो नेत्रल शिष्य के ही चार शिरोवनमन की है। एक शिरोवनमन 'संकास' कहते हुए। और दूसरा क्षामणा काल में 'खामेमि खमासमणो' कहते हुए। 'अन्यत्र पुनरेव' दृश्यते—संकासनमणो पुनं, क्षामणानमणो सीसरस बीजं। एवं बीजपदेसे वि दोत्रि।'

यथाजात-मुद्रा

गुरुदेव के चरणों में वन्दन क्रिया करने के लिए शिष्य को यथा-जात मुद्रा का अभिनय करना चाहिए। दोनों ही 'खमासमण सूत्र' यथा-जात मुद्रा में पढ़ने का विधान है। यथा जात का अर्थ है यथा जन्म अर्थात् जिस मुद्रा में बालक का जन्म होता है, उस जन्मकालीन मुद्रा के समान मुद्रा।

जब बालक माता के गर्भ से जन्म लेता है, तब वह नम्र होता है। उसके दोनों हाथ मस्तक पर लगे हुए होते हैं। संसार का कोई भी बाह्य वासनामय प्रभाव उस पर नहीं पड़ा होता है। वह सरलता, मृदुता, विनम्रता और सहृदयता का जीवित प्रतीक होता है। अस्तु, शिष्य को भी वन्दन के लिए इसी प्रकार सरलता, मृदुता, विनम्रता एवं सहृदयता का जीवित प्रतीक होना चाहिए। बालक अज्ञान में है, अतः वह कोई साधना नहीं है। परन्तु साधक तो ज्ञानी है। वह सरलता आदि गुणों को साधना की दृष्टि से विवेक पूर्वक अपनाता है, जीवन के कण-कण में नम्रता का रस बरसाता है, गुरुदेव के समक्ष एक सद्यःसंजात बालक के समान दयापात्र स्थिति में प्रवेश करता है और इस प्रकार अपने को क्षमा-भिक्षा का योग्य अधिकारी प्रमाणित करता है।

यथाजात-मुद्रा में वन्दनार्थी शिष्य सर्वथा नम्र तो नहीं होता, परन्तु रजोहरण, मुख वस्त्रिका और चोलगट्ट के अतिरिक्त और कोई वस्तु अपने पास नहीं रखता है और इस प्रकार बालक के समान नम्रता का रूपक अपनाता है। भयंकर शीतकाल में भी यह नम्र-मुद्रा अपनाई जाती है। प्राचीनकाल में यह पद्धति रही है। परन्तु आजकल तो कपाल पर दोनों हाथों को लगाकर प्रणाम-मुद्रा करने में ही यथाजात-मुद्रा की पूर्ति मान ली जाती है।

यथाजात का अर्थ 'श्रमण वृत्ति धारण करते समय की मुद्रा' भी किया जाता है। श्रमण होना भी, संसार-गर्भ से निकल कर एक विशुद्ध आध्यात्मिक जन्म ग्रहण करना है। जब साधक श्रमण बनता है, तब

रजोहरण, मुखनञ्जना और चोलपट्ट के अतिरिक्त और कुछ भी अपने पास नहीं रखता है एवं दोनों हाथों को मस्तक से लगाकर-वन्दन करने की मुद्रा में गुरुदेव के समक्ष खड़ा होता है।^१ अतः मुनिदीक्षा ग्रहण करने के काल की मुद्रा भी यथाज्ञात मुद्रा कहलाती है।

यथाज्ञात मुद्रा के उभययुक्त स्वरूप के लिए, आवश्यक सूत्र की वृत्ति और प्रवचन सारोद्धार की वृत्ति हज्जव्य है। आवश्यक सूत्र की अपनी शिक्षादिता वृत्ति में आचार्य हरिमद्र लिखते हैं—‘यथाज्ञातं भमण त्वमाश्रित्य योनिनिष्क्रमणं च, तत्र रजोहरण-मुखवस्त्रिणा-चोलपट्टम् अथवा भमणो जातः, रचितकरपुस्तु योग्या भिगतः, पूर्वभूत एव वन्दते

यह पच्चीस आवश्यकों का वर्णन हरिमद्रीय आवश्यक वृत्ति और प्रवचन सारोद्धार वृत्ति के आधार पर किया गया है। इस सम्बन्ध में जैन जगत के महान् ज्योतिषीर २२० जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलाल महाराज के हस्तलिखित पत्र से भी बहुत कुछ जानकारी प्राप्त की गई है इसके लिए लेखक भद्रेय जैनाचार्य पूज्य श्री गणेशीलाल जी महाराज का कृतज्ञ है।

छ. स्थानक

प्रस्तुत ‘स्वमासमणो’ सूत्र में छः स्थानक माने जाते हैं। “इच्छामि स्वमासमणोः २ वंदिषु ३ जावधिज्ज ५४ निसीदियाण्” के द्वार वन्दन करने की इच्छा निवेदन की जाती है, अ : यह शिष्य की ओर का पचपद रूप प्रथम ‘इच्छा निवेदन’ स्थानक है।

इच्छानिवेदन के उत्तर में गुरुदेव भी ‘त्रिविधेन’ अथवा ‘तुदसा’ कहते हैं, यह गुरुदेव की ओर का उत्तर रूप प्रथम स्थानक है।

इसके बाद शिष्य ‘अणुजाणुह १ मे २ मिडग्गहं ३’ कह कर अवस्था में प्रवेश करने की आज्ञा माँगता है, यह शिष्य की ओर का त्रिपदात्मक आज्ञा याचना रूप दूसरा स्थानक है।

१ प्राचीनकाल में इसी मुद्रा में ‘मुनिदीक्षा दी जाती थी।

इसके उत्तर में गुरुदेव भी 'अणुजाणामि' कह कर आज्ञा देते हैं, यह गुरुदेव की ओर का आज्ञाप्रदान-रूप दूसरा स्थानक है।

“निसीहि३ ग्रहो२ कायं३ कायसंकासं४ । खमणिजो५ भे६ किला-
मो७ । अप्पकिलंताणं बहुसुमेण८ मे१० दिवसो११ वड्ढकंतो१२ ?”
—यह शिष्य की ओर का द्वादशमद रूप शरीरकुशलपृच्छा नामक तीसरा स्थानक है।

इसके उत्तर में गुरुदेव 'तथा' कहते हैं। तथा का अर्थ है जैसा तुम कहते हो वैसा ही है, अर्थात् कुशल है। यह गुरुदेव की ओर का तीसरा स्थानक है।

इसके अनन्तर “जत्ता १ भे २” कहा जाता है। यह शिष्य की ओर का द्विपदात्मक संयम यात्रा पृच्छा नामक चौथा स्थानक है। उत्तर में गुरुदेव भी ‘तुव्वं पि वट्ठ-गुप्पाकमपि वर्तते?’ कहते हैं, जिसका अर्थ है—तुम्हारी संयम यात्रा भी निर्बाध चल रही है? यह गुरुदेव की ओर का संयम यात्रा पृच्छा नामक चौथा स्थानक है।

इसके बाद “जवणिजं १ च २ भे ३” कहा जाता है। यह शिष्य की ओर का त्रिपदात्मक व्यापनीय पृच्छा नामक पाँचवाँ स्थानक है।

उत्तर में गुरुदेव भी 'एव' कहते हैं, जिसका अर्थ है इन्द्रिय-विजय रूप व्यापना-ठीक तरह चल रही है। यह गुरुदेव की ओर का पाँचवाँ स्थानक है।

इसके अनन्तर “त्तामेमि१ खमासमणो२ देवसियं३ वड्ढकमं४” कहा जाता है। यह शिष्य की ओर का षट्चतुष्टयात्मक अपराधक्षामणा-रूप छठा स्थानक है।

उत्तर में गुरुदेव भी 'क्षमयामि' कहते हैं, जिसका अर्थ है मैं भी क्षमा वारणा करते समय जो भूलें हुई हों, उसकी क्षमा चाहता हूँ। यह गुरुदेव की ओर का अपराध क्षामणा रूप छठा स्थानक है।

: २ :

प्रत्याख्यान-सूत्र

(१)

नमस्कार सहित सूत्र

उग्राद गुरे^१ नमोस्कारसहितं पञ्चस्वामि चउच्चिहं
वि आहारं—असर्णं, पार्णं, खाइम, साइम ।

अन्नत्य-अणामोगेणं, सहसागारेणं, वोसिरामि ।

भाषार्थ

सूर्य उदय होने पर—दो घड़ी दिन चढ़े तक—नमस्कार सहित
प्रत्याख्यान प्रदण करता हूँ, और अन्न, पान, खाइम, स्वाइम चारों
ही प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ ।

प्रस्तुत प्रत्याख्यान में दो आहार = आकार अर्थात् अपवाद है—
अनाभोग = अत्यन्त विस्मृति और सहसाकार = शीघ्रता (अचानक) ।
इन दो आकारों के सिवा चारों आहार वोसिराता हूँ = त्याग करता हूँ ।

१ 'सूरे उग्राय'—इति हरिभद्राः ।

'नमोस्कारं पञ्चस्वामि सूरे उग्राय'—इति त्रिनदासाः ।

दिवेचन

यह 'नमस्कार सहित' प्रत्याख्यान का सूत्र है। नमस्कार सहित का अर्थ है—'सूर्योदय से लेकर दो बड़ी दिन चढ़े तक अर्थात् मुहूर्त भर के लिए, बिना नमस्कार मंत्र पढ़े आहार ग्रहण नहीं करना। इसका दूसरा नाम नमस्कारिका भी है। आजकल साधारण बोलचाल में नवकारिणी कहते हैं।

चार आहार इस प्रकार हैं—

(१) अशन—इसमें रोटी, चावल आदि सभी प्रकार का भोजन आ जाता है।

(२) पान—दूध, द्राक्षारस पानी आदि पीने योग्य सभी प्रकार की चीजें पान में आ जाती हैं। परन्तु आजकल परंपरा के नाते पान से केवल जल ही ग्रहण किया जाता है।

(३) खादिम—आदाम, किसमिस आदि मेवा और फल खादिम

१ "नमस्कारेण—पञ्चपरमेष्ठिस्तवेन सहितं प्रत्याख्याति। 'सर्वे धातवः करोत्यर्थेन व्याप्ता' इति भाष्यकारवचनाच्चमस्कारसहितं प्रत्याख्यानं करोति।" यह आचार्य सिद्धसेन का कथन है। इसका भावार्थ है कि मुहूर्त पूरा होने पर भी नवकार मंत्र पढ़ने के बाद ही नमस्कारिका का प्रत्याख्यान पूर्ण होता है, पहले नहीं। यदि मुहूर्त से पहले ही नवकार मंत्र पढ़ लिया जाय, तब भी नमस्कारिका पूर्ण नहीं होती है। नमस्कारिका के लिए यह आवश्यक है कि सूर्योदय के बाद एक मुहूर्त का काल भी पूर्ण हो जाय और प्रत्याख्यान-पूर्तिस्वरूप नवकार मंत्र का जप भी कर लिया जाय ! इसी विषय को प्रवचन सारोद्धार की वृत्ति में आचार्य सिद्धसेन ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—“स च नमस्कारसहितः पूर्णोऽपि काले नमस्कारपाठमन्तरेण प्रत्याख्यानस्यापूर्वमाणात्वात्, सत्यपि च नमस्कारपाठे मुहूर्ताभ्यन्तरे प्रत्याख्यानमङ्गात्; ततः सिद्धमेतत् मुहूर्तमानकाल-नमस्कारसहितं प्रत्याख्यानमिति।”—प्रत्याख्यानद्वार।

म अन्तर्भूत है। कुछ अन्तर्गत विद्याओं अन्तर्गत में प्रवृत्त करते हैं और कुछ ग्राहिम में, यह स्थान में रहे।

(४) स्वादिम—मुगरी, लींग, इत्यादि अर्थात् गुणगुण स्वादिम माना जाता है। इन आधार में उद्गमपूर्ण की दृष्टि न होकर मुख्यतः गुण के आधार की ही दृष्टि होती है। तीसरी भाषक प्रस्तुत आधार का प्रवृत्त आधार के लिए नहीं, प्रस्तुत गुण की स्वच्छता के लिए करना है।

संस्तुत का आधार ही प्रास्तुत भाषा में आधार है। आधार का अर्थ—अस्याद माना जाता है। अस्याद का अर्थ है कि—यदि किसी विशेष स्थिति में त्याग की हुई वस्तु सेवन भी करली जाय तो भी प्रत्याग्यान का भंग नहीं होगा। अतएव आचार्य हेमचन्द्र योगशास्त्र के तीसरे प्रकाश की वृत्ति में लिखते हैं—‘आक्रियते विधीयते प्रत्याग्यान-भंगपरिहारार्थमित्याकारः’—‘प्रत्याग्यानं च अपवादरूपाकाररहितं कर्तव्यम्, अन्यथा तु भंगः स्यात् ।’^१

१ आ—मर्षादया मर्षादाऽप्यपनार्थमित्यर्थः क्रियन्ते विधीयन्ते इत्याकाराः—प्रवचन शरीरद्वारा वृत्ति।—प्रत्याग्यानद्वारा।

‘आक्रियते हिः नाम प्रत्याग्यानापवादहेतुः’—हरिभट्टीय आचार्यक सूत्र वृत्ति, प्रत्याग्यान आचार्यक।

जैन धर्म विवेक का धर्म है। अतः यहाँ प्रत्याग्यान यदि करते समय भी विवेक का पूरा ध्यान रखा जाता है। साधक दुर्बल एवं अल्पज्ञ प्राणी है। अतः उसके समस्त अज्ञानता एवं अशक्तता आदि के कारण कभी वह विवेक प्रसंग प्राप्त सकता है, जो उसकी कल्पना से बाहर हो। यदि पहले से ही उस स्थिति का अन्वय न रखा जाय तो मत भंग होने की सम्भावना रहती है। यही कारण है कि प्रस्तुत प्रत्याग्यान सूत्र में पहले से ही उस विशेष स्थिति में छूट ‘प्रतिष्ठा-पाठ में रखी गई है, ताकि साधक का मत भंग न होने पाए। यह है पहले से ही मरिच्य को ध्यान में रख कर चलने की दूरदर्शिताका विवेक वृत्ति।

नमस्कारिका में केवल दो ही आकार हैं—अनाभोग, और सहसाकार ।

(१) अनाभोग का अर्थ है—अत्यन्त विस्मृति । प्रत्याख्यान लेने की बात सर्वथा भूल जाय और उस समय अनवधानता वश कुछ खा पी लिया जाय तो वह अनाभोग आगार की मर्यादा में रहता है ।

(२) दूसरा आगार सहसाकार है । इसका अर्थ है—मेघ वरसने पर अथवा दही आदि मथते समय अचानक ही जल या छाछ आदि का छीटा मुख में चला जाय ।

अनाभोग और सहसाकार दोनों ही आगारों के सम्बन्ध में यह बात है कि जब तक पता न चले, तबतक तो व्रत भंग नहीं होता । परन्तु पता चल जाने पर भी यदि कोई मुल का ग्रास थूके नहीं, आगे खाना वंद नहीं करे तो व्रत भंग हो जाता है । अस्तु, साधक का कर्तव्य है कि ज्यों ही पता चले, त्यों ही भोजन वंद कर दे और जो कुछ मुख में हो वह सब भी बतना के साथ थूक दे ।

एक प्रश्न है ! मूल पाठ में तो केवल नमस्कार-सहित ही शब्द है, काल का कुछ भी उल्लेख नहीं है । फिर यह दो चड़ी की कालमर्यादा किस आधार पर प्रचलित है ?

प्रश्न बहुत सुन्दर है । आचार्य सिद्धसेन ने इसका अच्छा उत्तर दिया है । प्रवचन सारोद्धार की वृत्ति में उन्होंने नमस्कारसहित को मुहूर्त का विशेषण मानते हुए कहा है—‘सहित शब्देन मुहूर्तस्य विशेषितत्वात्’ । इसका भावार्थ यह है कि नमस्कार से सहित जो मुहूर्त, वह नमस्कार सहित कहलाता है । अर्थात् जिसके अन्त में नमस्कार का उच्चारण किया जाता है, वह मुहूर्त । आप कहेंगे—मूल पाठ में तो कहीं इधर उधर मुहूर्त शब्द है नहीं; फिर विशेष्य के बिना विशेषण कैसा ? उत्तर में निवेदन है कि—नमस्कारिका का पाठ अद्धा प्रत्याख्यान में है । अतः काल की मर्यादा अवश्य होनी चाहिए । यदि काल की मर्यादा ही न हो तो फिर यह अद्धा प्रत्याख्यान कैसा ? नमस्कारसहित का पाठ पौरुषी के पाठ से पहले है; अतः यह स्पष्ट ही है कि उसका काल-मान

पौष्णी से कम ही होना चाहिए । आप कहेंगे कि पौष्णी के बालमान से कम तो दो मुहूर्त भी हो सकते हैं ? फिर एक मुहूर्त ही क्या ? उत्तर है कि नमस्कारिका म पौष्णी आदि अन्य प्रत्याख्यानों की अपेक्षा सब से कम, अर्थात् दो ही आकार है अतः अल्पाकार होने से इसका बालमान बहुत थोड़ा माना गया है और वह परंपरा से एक मुहूर्त है । अर्द्धा प्रत्याख्यान का काल कम से कम एक मुहूर्त माना जाता है ।

नमस्कारिका, रात्रिभाजन-दोष की निवृत्ति के लिए है । अर्थात् प्रातः काल दिनोदय होते ही मनुष्य यदि शीघ्रता म भोजन करने लगे और वस्तुतः सूर्योदय न हुआ हो तो रात्रि भोजन का दोष लग सकता है । यदि दो बड़ी दिन चढ़े तक के लिए आहार का त्याग नमस्कारिका के द्वारा कर लिया जाय तो फिर रात्रि भोजन की संभावना नहीं रहती । दूसरी बात यह है कि साधक के लिए तप की साधना करना आवश्यक है, प्रतिदिन कम से कम दो बड़ी का तप तो होना ही चाहिए । नमस्कारिका म यह नित्य प्रति के तपश्चरण का भाव भी अन्तर्निहित है ।

दूसरा को प्रत्याख्यान करना हो तो मूल पाठ म 'पञ्चस्त्राह' और 'बोसिरह' कहना चाहिए । यदि स्मरण करना हो, तो उल्लिखित पाठा नुसार 'पञ्चस्त्राभि' और 'बोसिराभि' कहना चाहिए । आगे के पाठों म भी यह परिवर्तन स्थान म रखना चाहिए ।

यही पाठ सांकेतिक अर्थात् संकेत पूर्वक किए जाने वाले प्रत्याख्यान का भी है । वहाँ केवल 'गठिसहिय' या 'मुट्टिसहिय' आदि पाठ नमुकार सहिय के आगे अधिक बोलना चाहिए । गठिसहिय और मुट्टि सहिय का यह भाव है कि जब तक बँधी हुई गाँठ अथवा मुट्ठी आदि न खोलूँ तब तक चारों आहार का त्याग करता हूँ ।

१—'गठिसहिय, मुट्टिसहिय' आदि सांकेतिक प्रत्याख्यान पाठ म 'महत्तरागारेण सठवसमाहिवत्तियागारेण' ये दो आगार अधिक बोलने चाहिए । यह सांकेतिक प्रत्याख्यान अन्य समय म भी किया जा सकता

नमस्कारिका चतुर्विधाहार-त्यागरूप होती है या त्रिविधाहार-त्यागरूप ? इस प्रश्न के सम्बन्ध में यह वक्तव्य है कि नमस्कारिका चतुर्विधाहार त्यागरूप ही होती है । नमस्कारिका का कालमान एक मुहूर्तभर ही होता है, अतः वह अल्पकालिक होने से चतुर्विधाहार त्यागरूप ही है । प्राचीन परंपरा भी ऐसी ही है । 'चतुर्विधाहारस्यैव भवतीति वृद्ध-सम्प्रदायः।'—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति ।

नमस्कारिका में दो आगार माने गए हैं—अनाभोग और सहसाकार । आजकल के कुछ विद्वान, अपने प्रतिक्रमण सूत्र में, नौकारसी के चार या पाँच आगार भी लिखते हैं; परन्तु यह लेख परंपरा-विरुद्ध है । प्राचीन आचार्य हेमचन्द्र आदि, दो ही आगार बतलाते हैं—'नमस्कार-सहिते' प्रत्याख्यान दो आकारौ भवतः—योग शास्त्र, तृतीय प्रकाश वृत्ति ।

आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने भी नमस्कारिका के दो ही आगार माने हैं—'दो चेव नमोकारे ।'—आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १५६६ ।

है, अतः जब कभी अन्य समय में किया जाय, तब 'उगणं सूरै' यह श्रेष्ठ नहीं बोलना चाहिए ।

(२)

पौरुषी-सूत्र

उगर् मूरे पोरिसिं पचक्खाभि; चउब्बिहं पि आहारं—
असणं, पाणं, खाइमं, साइमं ।

अन्तर्था—ऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं,
दिसामोहेणं, साहुवयसेणं, सच्चसमाहिवत्तियागारेणं,
वोसिरामि ।

भाषा

पौरुषी का प्रत्याख्यान करता हूँ । सूर्योदय से लेकर अशन, पान,
खादिम और स्वादिम चारों ही आहार का प्रहर दिन चढ़े तक
त्याग करता हूँ ।

अनाभोग, सहसाकार, पच्छन्नकाल, दिसामोह, साधु वचन,
सर्वसमाधिप्रत्ययाकार—उक्त छहों आकारों के सिवा पूर्णतया चारों
आहार का त्याग करता हूँ ।

विवेचन

सूर्योदय से लेकर एक पहर दिन चढ़े तक चारों प्रकार के आहार
का त्याग करना, पौरुषी प्रत्याख्यान है । पौरुषी का शाब्दिक अर्थ है—
'पुरुष प्रमाण ह्याया ।' एक पहर दिन चढ़ने पर मनुष्य की ह्याया

घटते-घटते अपने शरीर प्रमाण लंबी रह जाती है। इसी भाव को लेकर पौरुषी शब्द प्रहर परिमित कालविशेष के अर्थ में लक्षणा के द्वारा रूढ़ हो गया है।

साधक कितना ही सावधान हो; परन्तु आखिर वह एक साधारण छद्मस्थ व्यक्ति है। अतः सावधान होते हुए भी बहुत बार व्रत-पालन में भूल हो जाया करती है। प्रत्याख्यान की स्मृति न रहने से अथवा अन्य किसी विशेष कारण से व्रतपालन में बाधा होने की संभावना है। ऐसी स्थिति में व्रत खण्डित न हो, इस बात को ध्यान में रखकर प्रत्येक प्रत्याख्यान में पहले से ही संभावित दोषों का आगार, प्रतिज्ञा लेते समय ही रख लिया जाता है। पोरिसी में इस प्रकार के छह आगार हैं :—

(१) अनाभोग—प्रत्याख्यान की विस्मृति हो जाने से भोजन कर लेना।

(२) सहसाकार—अकस्मात् जल आदि का मुख में चले जाना।

(३) प्रच्छन्नकाल—बादल अथवा आँधी आदि के कारण सूर्य के ढँक जाने से पोरिसी पूर्ण हो जाने की भ्रान्ति हो जाना।

(४) दिशामोह—पूर्व को पश्चिम समझ कर पोरिसी न आने पर भी सूर्य के ऊँचा चढ़ आने की भ्रान्ति से अशनादि सेवन कर लेना।

(५) साधुवचन—‘पोरिसी आ गई’ इस प्रकार किसी आत्मा पुरुष के कहने पर बिना पोरिसी आए ही पोरिसी पार लेना।

(६) सर्वसमाधिप्रत्ययाकार—किसी आकस्मिक शूल आदि तीव्र रोग की उपशान्ति के लिए औषधि आदि ग्रहण कर लेना।

‘सर्वसमाधि प्रत्ययाकार’ एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आगार है। जै संस्कृति का प्राण त्यादवाद है और वह प्रस्तुत आगार पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है। तप बड़ा है या जीवन ? यह प्रश्न है, जो दार्शनिक क्षेत्र में गंभीर विचार-चर्चा का क्षेत्र रहा है। कुछ दार्शनिक तप व महत्त्व देते हैं तो कुछ जीवन को ? परन्तु जैन दर्शन तप को भी-महत्त्व

देना है और जीवन को भी ! कभी ऐसी स्थिति होती है कि जीवन की अपेक्षा तप महत्त्वपूर्ण होना है । कभी कथा, तप सदा ही महत्त्वपूर्ण है ! जीवन किमके लिए है ? तप के लिए ही तो जीवन है । परन्तु कभी ऐसी भी स्थिति हो सकती है कि तप को अपेक्षा जीवनरक्षा अधिक आवश्यक हो जाती है । तप जीवन पर ही तो आश्रित है । जीवन रहेगा तो कभी फिर भी तप साधना की जा सकेगी । यदि जीवन ही न रहेगा तो, फिर तप कब और कैसे किया जा सकेगा ? 'जीवन्नरो भद्रकथानि परयेत् ।'

सर्वममाधिप्रत्यय नामक प्रमुन आगार, इसी उक्त भावना को लेकर अग्रसर होता है । तपश्चरण करते हुए यदि कभी आकस्मिक विपुलिका या शूल आदि का भयकर रोग हो जाय, फलतः जीवन सकट में मालूम पड़े तो यीन ही औषधि आदि का सेवन किया जा सकता है । जीवन सृति के विशेष प्रसंग पर प्रत्याख्यान होते हुए भी औषधि आदि सेवन कर लेने से जैन धर्म प्रत्याख्यान का मंग होना स्वीकार नहीं करना । इस प्रकार के विकट प्रसंगों के लिए पहले से ही छूट रखनी जाती है, किमके लिए जैन धर्म में आगार शब्द व्यवहृत है । जैन धर्म में तप के लिए अत्यन्त आदर का स्थान है, परन्तु उसके लिए व्यर्थ का मोह नहीं है । जैन धर्म के क्षेत्र में विवेक का बहुत बड़ा महत्त्व है । तप के दृष्ट में अड़े रहकर औषधि सेवन न करना और व्यर्थ ही अनमीन मानव जीवन का संहार कर देना, जैन धर्म की दृष्टि में कथमपि उचित नहीं है । व्यर्थ का दुःखग्रह रखने से आर्त और रौद्र दुर्ध्यान की संभावना है, जिनके कारण कभी कभी साधना का मूल ही नष्ट हो जाता है । अतः आचार्य सिद्धसेन की गभीर वाणी में कहें तो औषधि का सेवन जीवन के लिए नहीं, अपितु आर्त रौद्र दुर्ध्यान की निवृत्ति के लिए आवश्यक है ।

अपने को भयकर रोग होने पर ही औषधि सेवन करना, यह बात नहीं है । अपितु किसी अन्य के रोगी होने पर यदि कभी वैद्य आदि को सेवाकार्य एवं सान्त्वना देने के लिए मोहन करना पड़े तो उसका भी प्रत्याख्यान में आगार होता है । जैन धर्म अपने समान ही दूसरे की

समाधि का भी विशेष ध्यान रखता है। इस सम्बन्ध में आचार्य सिद्धसेन का अभिप्राय मनन करने योग्य है :—

—“कृतपौरुषीप्रत्याख्यानस्य सहसा सञ्जाततीव्रशूलादिद्रुःखतया समुत्पन्नयोरातरीद्रभ्यानयोः सर्वथा निरासः सर्वसमाधिः, स एव आकारः—प्रत्याख्यानपवादः सर्वसमाधिप्रत्यय कारः। पौरुष्यामपूर्ण-गमप्यकस्मात् शूलादिव्यथायां समुत्पन्नायां तदुपशमनायौषधपथ्यादिकं भुञ्जानस्य न प्रत्याख्यानभङ्ग इति भावः। वैद्यादिर्वा कृतपौरुषी-प्रत्याख्यानोऽन्यस्यातुरस्य समाधिनिमित्तं यदाऽपूर्णायामपि पौरुष्यां भुङ्क्ते तदा न भङ्गः। अर्धभुङ्क्ते त्वातुरस्य समाधौ मरणे वोत्पन्ने सति तथैव भोजनत्यागः।”—प्रवचनसारोद्धार वृत्ति।

आचार्य जिनदास ने भी आवश्यक चूणि में ऐसा ही कहा है—
'समाधी णाम तेण थ पोरुसी पच्चवखाता, आसुक्कारियं च दुक्खं
उप्पन्नं तस्स अन्नस्स वा, तेण किञ्चि कायव्वं तस्स, ताहे परो विज्जे
(हवे) ज्ञा तस्स वा पसमण्णिमित्तं पाराविज्जति ओसहं वा
दिज्जति ।'

यही पाठ अपनी आवश्यक वृत्ति में आचार्य हरिभद्र ने उद्धृत किया है।

आचार्य तिलक लिखते हैं—‘तीव्रशूलादिना विह्वलस्य समाधि-निमित्तमौषधपथ्यादिप्रत्ययः कारणं स एव आकारः।’

आचार्य नमि भी कहते हैं—‘समाधिः स्वास्थ्यं तत्प्रत्ययाकारेण, यथा कस्यचित् प्रत्याख्यातुरन्यस्य वा किमप्यातुरं दुःखसुत्पन्नं तदुपशमहेतोः पार्यते।—

प्रच्छन्नकाल, दिशामोह और साधुवचन उक्त तीनों आगारों का यह अभिप्राय है कि—भ्रान्ति के कारण पौरुषी पूर्ण न होने पर भी पूर्ण समझ कर भोजन कर लिया जाय तो कोई दोष नहीं होता। यदि भोजन करते समय यह मालूम हो जाय कि अभी पौरुषी पूर्ण नहीं हुई है तो

उसी समय भोजन करना छोड़ देना चाहिए । पौरणी अपूर्ण जानकर म भोजन करता रहे तो प्रत्याख्यान भग का दोष लगता है ।

पौरणी के समान ही सार्ध पौरणी का प्रत्याख्यान भी होता है । इसमें डेढ़ पहर दिन चढ़े तक आहार का त्याग करना होता है । अस्तु, जब उक्त सार्ध पौरणी का प्रत्याख्यान करना हो तब 'पोरिसि' के स्थान पर 'साढ पोरिसि' पाठ कहना चाहिए ।

आज्ञ मल के कुछ लेखक पौरणी के पाठ में 'महत्तसगारेण' का पाठ भोलकर छद्म की जगह सात आगार का उल्लेख करते हैं, यह भ्रान्ति पर अवलम्बित है । हरिपद आदि आचार्यों की प्राचीन परंपरा, पौरणी में केवल छद्म ही आगार मानने की है ।

साधु सशक्त हो तो उसे पौरणी आदि चउविहार ही करने चाहिये । यदि शक्ति न हो तो त्रिविहार भी कर सकता है । परन्तु दुविहार पौरणी कदापि नहीं कर सकता । हाँ, आवक दुविहार भी कर सकता है । इसने लिए आचार्य देवेन्द्र कृत आद्व प्रतिक्रमण वृत्ति देखनी चाहिए ।

यदि पौरणी त्रिविहार करनी हो तो 'त्रिवि ह वि आहार असर्ण, खाइम, साइम' पाठ बोलना चाहिए । यदि आवक दुविहार पौरणी करे तो 'दुविहंवि आहार असर्ण खाइम' ऐसा पाठ बोलना चाहिए ।



(३)

पूर्वार्ध-सूत्र

उग्गए सूरे, पुरिमड्ढं पच्चन्नखामि; चउव्विहं पि
आहारं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं ।

अन्नत्थ-इणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं,
दिसामोहेणं, साहुवयणेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहि-
वत्तियागारेणं, वोसिरामि ।

भावार्थ

सूर्योदय से लेकर दिन के पूर्वार्ध तक अर्थात् दो प्रहर तक चारों
आहार अशन, पान, खादिम, स्वादिम का प्रत्याख्यान करता हूँ ।

अनाभोग, सहसाकार, प्रच्छन्नकाल, दिशामोह, साधुवचन,
महत्तराकार और सर्वसमाधिप्रत्ययाकार—उक्त सात आगारों के सिवा
पूर्णतया आहार का त्याग करता हूँ ।

विवेचन

यह पूर्वार्ध प्रत्याख्यान का सूत्र है । इसमें सूर्योदय से लेकर दिनके
पूर्व भाग तक अर्थात् दो प्रहर दिन चढ़े तक चारों आहार का त्याग
किया जाता है ।

प्रस्तुत प्रत्याख्यान में सात आगार माने गए हैं । छह तो पूर्वोक्त

—“महत्तरा गारेहिं—महत्तल पयोयणेहिं, तेण अभत्तट्टो पचक्खातो, ताथे आयरिण्हिं भरण्ति—अमुगं गामं गंतव्वं । तेण निवेदितं—जथा मम अज्ज अभट्टोत्त । जति ताव समथो करेतु जातु य । न तरति अरण्णो भचट्टितो अभत्ताट्टितो वा जो तरति सो वच्चतु । नत्थि अरण्णो तस्म वा कज्जस्स समथो ताथे चेव अभत्ताट्टियस्स गुरु विसज्जयन्ति । एरिस्स तं जेमंतस्स अण्णभिलासस्स अभत्ताट्टितणिज्जरा जा सा से भवति गुरुणिओण्ण ।”

आचार्य जिनदास आवश्यक चूर्णि के प्रत्याख्यानाधिकार में प्रस्तुत महत्तरागार पर लिखते हैं—‘एवं किर तस्स तं जेमंतस्स वि अण्णभिलासस्स अभत्ताट्टियस्स णिज्जरा जा सच्चेव पत्ता भवति गुरुणिओण्ण ।’

दोनों ही आचार्यों का यह कथन है कि यदि तपस्वी साधक को किसी विशेष सेवा कार्य के लिए उपवास आदि अभक्तार्थ में भी भोजन कर लेना पड़े तो कोई दोष नहीं होता है । अपितु भोजन करते हुए भी उपवास जैसी ही निर्जरा होती है । क्योंकि भोजन करते हुए भी उसकी भोजन में अभिलाषा नहीं है !

महत्तराकार, नमस्कारिका और पौरुषी में नहीं होता है । क्योंकि उनका काल अल्प है, अतः वह पूर्ण करने के बाद भी निर्दिष्ट सेवा कार्य किया जा सकता है । ‘यच्चात्रैव महत्तराऽऽकारस्याभिधानं न नमस्कारसहितादौ तत्र कालस्याल्पत्वं, अन्यत्र तु महत्त्वं कारणमिति वृद्धा व्याचक्षते ।’ —प्रवचन सारोद्धार वृत्ति ।

पूर्वार्ध प्रत्याख्यान के समान ही अर्धार्ध प्रत्याख्यान भी होता है । अपार्द्ध प्रत्याख्यान का अर्थ है—तीन पहर दिन चढ़े तक आहार ग्रहण न करना । अपार्द्ध प्रत्याख्यान ग्रहण करने समय ‘पुरिमड्ढुं’ के स्थान में ‘अवड्ढुं’ पाठ बोलना चाहिए । शेष पाठ दोनों प्रत्याख्यानो का समान है ।

(४)

एकाशन-सूत्र

एणात्तरं पच्चत्तामि तिविहं पि आहारं असत्तं,
खादमं, सादमं ।

अन्नत्थ—ऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, सागारियागारेणं,
आउंटण पसारणेणं, गुरु अन्धुट्टाणेणं, पारिट्ठावणिया-
गारेणं, महत्तरागारेणं, सज्वसमादिवत्तियागारेणं वोसि-
रामि ।

भाव.थं

एकाशन तप स्वीकार करता हैं; फलतः अशन, खादिम, स्वादिम
तीनों आहारों का प्रत्याख्यान करता हैं ।

अनाभोग, सहसाकार, सागारिकाकार, आकुक्षनप्रसारण, गुर्वन्धुत्थान,
पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार, सज्व-समाधिप्रत्ययाकार-उक्त आठ
आहारों के सिवा पूर्णतया आहार का त्याग करता हैं ।

विवेचन

पौरुषी या पूर्वार्द्ध के बाद दिन में एक बार भोजन करना, एकाशन तप होता है। एकाशन का अर्थ है—'एक + अशन, अर्थात् दिन में एकबार भोजन करना।' यद्यपि मूल पाठ में यह उल्लेख नहीं है कि—'दिन में किस समय भोजन करना।' फिर भी प्राचीन परंपरा है कि कम से कम एक पहर के बाद ही भोजन करना चाहिए। क्योंकि एकाशन में पौरुषीतप अन्तर्निहित है।

प्रत्याख्यान, गृहस्थ तथा श्रावक दोनों के लिए समान ही हैं। अतः एव गृहस्थ तथा साधु दोनों के लिए एकाशन तप में कोई अन्तर नहीं माना जाता है। हाँ गृहस्थ के लिए यह ध्यान में रखने की बात है कि—'वह एकाशन में अचित्त अर्थात् प्रासुक आहार पानी ही ग्रहण करे।' साधु को तो यावज्जीवन के लिए अप्रासुक आहार का त्याग ही है।

१—'एगासण' प्राकृत-शब्द है, जिसके संस्कृत रूपान्तर दो होते हैं 'एकाशन' और 'एकासन।' एकाशन का अर्थ है—एक बार भोजन करना, और एकासन का अर्थ है—एक आसन से भोजन करना। 'एगासण' में दोनों ही अर्थ ग्राह्य हैं। 'एकं सकृत् अशनं—भोजनं एकं वा आसनं—पुताचलनतो यत्र प्रत्याख्याने तदेकाशनमेकासनं वा, प्राकृते द्वयोरपि एगासणमिति रूपम्।—प्रवचनसारांश्चर वृत्ति।

आचार्य हरिभद्र एकासन की व्याख्या करते हैं कि एक बार बैठकर फिर न उठते हुए भोजन करना। 'एकाशनं' नाम सकृदुपविष्ट पुता चालनेन भोजनम्।'—आवश्यक वृत्ति।

आचार्य जिनदास कहते हैं—एगासण में पुत = नितंब भूमि पर लगे रहने चाहिए, अर्थात् एक बार बैठकर फिर नहीं उठना चाहिए। हाँ, हाथ और पैर आदि आवश्यकतानुसार आकुञ्चन प्रसारण के रूप में हिलाए-डुलाए जा सकते हैं। 'एगासणं नाम पुता भूमीतो न चालिञ्जति, सेसाणि हस्त्ये पायाणि चालेजावि।'—आवश्यक चूर्ण

श्रामण अर्थात् गृहस्थ के लिए 'पारिट्यागणियामार' नहीं होता, अतः उसे मूल पाठ बोलते समय 'पारिट्यागणियामारेण' नहीं बोलना चाहिए ।^१

एकाशन के समान ही द्विकाशन का भी प्रत्याख्यान होता है । द्विकाशन में दो बार भोजन किया जा सकता है । द्विकाशन करते समय मूल पाठ में 'एमासर्ण' के स्थान में 'विद्यासर्ण' बोलना चाहिए ।

एकाशन और द्विकाशन में भोजन करते समय तो यथेच्छ चारे आहार लिए जा सकते हैं, परन्तु भोजन के बाद शेष काल में भोजन का त्याग होता है । यदि एकाशन तिग्निहार करना हो तो शेष काल में पानी पिया जा सकता है । यदि चउविहार करना हो तो पानी भी नहीं पिया जा सकता । यदि दुविहार करना हो तो भोजन के बाद पानी तथा रसादिम = मुखनाम लिया जा सकता है । आज्ञकन तिग्निहार एकाशन की गथा ही अधिक प्रचलित है, अतः हमने मूल पाठ में 'तिग्निहं' पाठ दिया है । यदि चउविहार करना हो तो 'चउविहं' पि आहारं अस्य

१ गृहस्थ के प्रत्याख्यान में 'पारिट्यागणियामार' का विधान इस लिए नहीं है कि गृहस्थ के घर में तो बहुत अधिक मनुष्यों के लिए भोजन तैयार होता है । इस स्थिति में प्रायः कुछ न कुछ भोजन के बचने की संभावना रहती ही है । अतः, गृहस्थ यदि पारिट्यागणियामार करे तो कहीं तप करेगा ? और क्या वह उचित भी होगा ?

दूसरी बात यह है कि गृहस्थ के यहाँ भोजन बच जाता है तो वह रण लिया जाता है, परछा नहीं जाता है । और उसका अन्य समय पर उचित उपयोग कर लिया जाता है ।

साधु की स्थिति इससे भिन्न है । वह अनश्वित भोजन को, यदि आते शक्ति आ रही हो तो रण नहीं मारता है, परछा ही है । अतः उस समय तपस्वी मुनि, यदि परिष्कृत भोजन का उपयोग कर ले तो कोई दोष नहीं है ।

पाणं खाइमं साइमं' बोलना चाहिए। यदि दुविहार करना हो तं 'दुविहंपि आहारं असणं खाइमं' बोलना चाहिए।

दुविहार एकाशन की परंपरा प्राचीन काल में थी, परन्तु आज के युग में नहीं है।

एकासनमें आठ आगार होते हैं। चार आगार तो पहले आ ही चुके हैं, शेष चार आगार नये हैं। उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है:—

(१) सागारिकाकार—आगम की भाषा में सागारिक गृहस्थ को कहते हैं। गृहस्थ के आ जाने पर उसके सम्मुख भोजन करना निषिद्ध है। अतः 'सागारिक के आने पर साधु को भोजन करना छोड़कर यदि बीच में ही उठकर, एकान्त में जाकर पुनः दूसरी बार भोजन करना पड़े तो व्रत-भङ्ग का दोष नहीं लगता।

गृहस्थ के लिए सागारिक का अर्थ है—वह लोभी एवं क्रूर व्यक्ति, जिसके आने पर भोजन करना उचित न हो। अस्तु^२ क्रूर दृष्टि वाले

१ आचार्य जिहदास ने आवश्यक चूर्णि में लिखा है कि आगन्तुक गृहस्थ यदि शीघ्र ही चला जाने वाला हो तो कुछ प्रतीक्षा करनी चाहिए, सहसा उठकर नहीं जाना चाहिए। यदि गृहस्थ बैठने वाला है, शीघ्र ही नहीं जाने वाला है, तब अलग एकान्त में जाकर भोजन से निवृत्त हो लेना चाहिए। व्यर्थ में लम्बी प्रतीक्षा करते रहने में स्वाध्याय आदि की हानि होती है। 'सागारियं अद्भुतमुद्विष्टं आगतं जदि बोलेति पडिच्छति, अहं धिरं ताहे सज्जायवाधातो त्ति उट्टेत्ता अन्नत्थ गंतूणं समुद्दिस्सति।'।

सर्प और अग्नि आदि का उपद्रव होने पर भी अन्यत्र जाकर भोजन किया जा सकता है। सागारिक शब्द से सर्पादि का भी ग्रहण है।

२ जैन धर्म छुआछूत के चक्कर में नहीं है। अतएव 'सागारिका कार' का यह अर्थ नहीं है कि कोई अछूत या नीची जाति का व्यक्ति आ जाय तो भोजन छोड़कर भाग खड़ा होना चाहिए। साधु के लिए

धृति के आ जाने पर प्रभु भोजन को रीज में ही छोड़कर पन्न में जाकर पुन भोजन करना हो तो कोई दोष नहीं होगा । 'गृहस्थस्यापि येन ह्य भोजनं न जीर्यति तदप्रभुन सामारिको ज्ञातव्यः ।'—प्रवचन सरोद्धर वृत्ति ।

(२) आकुञ्चनप्रसारण—भोजन करते समय मुँह पक जाने आदि के कारण से हाथ, पैर आदि अंगों का गिन्नेटना या फैलाना । उन लक्षण में आकुञ्चन प्रसारण में शरीर का आगे पीछे हिलाना डुलाना भी आ जाता है ।

(३) गुरुभ्युत्थान—गुरुत्वन एवं किमी ४ तेषु विशेष के आने पर उनका विनय सत्कार करने के लिए उठना, खड़े होना ।

प्रस्तुत आचार का यह भाव है कि गुरुत्वन एवं अतिथिन्व के आने पर अस्थि ही उठ कर खड़ा हो जाना चाहिए । उस समय यह आन्ति नहीं रानी चाहिए कि 'प्रासन में उठकर खड़े होने का विधान नहीं है । अतः उठने और खड़े होने से प्रतर्पण के कारण मुँह दोष लगेगा ।' गुरुजनों के लिए उठने में कोई दोष नहीं है, हम से प्रतर्पण नहीं होता, प्रस्तुत विनय तपसी आराधना होनी है । आचार्य मित्रसेन लिखते हैं गुरुणामभ्युत्थानाहंत्वादयश्च मुञ्जानेनाभ्युत्थान कर्तव्यमिति न तत्र प्रत्याख्यान—भद्र ।'—प्रवचन सरोद्धर वृत्ति ।

जैनधर्म विनय का धर्म है । जैनधर्म का मूल ही विनय है । विष्णुचो 'त्रिणसामणमूख' की भावना जैन धर्म की प्रत्येक छोटी बड़ी साधना में रही हुई है । जैन धर्म की सम्प्रदाय एवं शिष्टाचार सम्बन्धी महत्ता के

तो ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सभी गृहस्थ एक जैसे हैं, उसे तो किसी के सामने भी भोजन नहीं करना है । अब रहा गृहस्थ, वह भी मूर्ख दृष्टि वाले व्यक्ति के आने पर भोजन छोड़कर अन्यत्र जा सकता है, फिर भले वह मूर्ख दृष्टि ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, कोई भी हो । एकाशन में जान-पौत के नाम पर उठकर जाने का विधान नहीं है ।

लिए प्रस्तुत आहार ही पर्याप्त है। मुनि और गृहस्थ दोनों के लिए ही यह गुरुभक्ति एवं अतिथिभक्ति का उच्च आदर्श अनुकरणीय है।

(४) पारिष्ठापनिकाकार—जैन मुनि के लिए विधान है कि वह अपनी आवश्यक क्षुधापूर्त्यर्थ परिमित मात्रा में ही आहार लाए, अधिक नहीं। तथापि कभी भ्रान्तिवश यदि किसी मुनि के पास आहार अधिक आ जाय और वह परठना = डालना पड़े तो उस आहार को गुरुदेव की आज्ञा से तपस्वी मुनि को ग्रहण कर लेना चाहिए। गृहस्थ के यहाँ से आहार लाना और उसे डालना, यह भोजन का अपव्यय है। भोजन समाज और राष्ट्र का जीवन है, अतः भोजन का अपव्यय सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन का अपव्यय है।

आचार्य सिद्धसेन परिष्ठापन में दोष मानते हैं और उसके ग्रहण कर लेने में गुण। “परिस्थापनं-सर्वथा त्यजनं प्रयोजनमस्य पारिष्ठापनिकं, तदेवाकारस्तस्मादन्यत्र, तत्र हि त्यज्यमाने बहुदोषसम्भवाश्रीयमाणे चाग्निकन्यायेन गुणसम्भवाद् गुर्वाज्ञया पुनर्भुजानस्याऽपि न भङ्गः।” —प्रवचन सारोद्धार वृत्ति।

(५)

एकस्थान-सूत्र

एकासणं एगङ्गाणं पञ्चकखामि, तिविहं पि आहारं-
असणं, खाइमं, साइमं।

अन्नतथ-ऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, सागारियागारेणं,
गुरुअब्भुङ्गाणेणं, पारिङ्गावणियागारेणं, महत्तरागारेणं,
सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

भाषार्थ

एकाशनरूप एकस्थान का प्रथम ग्रहण करता है। फलतः अशन, स्वादिम और स्वादिम तीनों आहार का प्रत्याख्यान करता है।

अनाभोग, सहसाकार, सागारिकाकार, गुर्वभ्युत्थान, पारिष्ठापिकाकार, महत्तराकार और संग्रसमाधि प्रत्ययोकार—इन सात आहारों के सिवा पूर्णतया आहार का त्याग करता है।

विवेचन

यह एकस्थान प्रत्याख्यान का सूत्र है। एकस्थानान्तर्गत 'स्थान' शब्द 'स्थिति' का वाचक है। अतः एक स्थान का फलितार्थ है—'दाहिने हाथ एव मुख के अतिरिक्त शेष सब अंगों को हिलाए बिना दिन में एक ही आसन से और एक ही बार भोजन करना।' अर्थात् भोजन प्रारम्भ करते समय जो स्थिति हो, जो अंगविन्यास हो, जो आसन हो, उसी स्थिति अंगविन्यास एव आसन से बैठे रहना चाहिए।

आचार्य जिनदास ने आवश्यक चूर्णि में एक स्थान की यही परिभाषा की है—'एकद्वारं ज जया अंगुर्वंग ठविष तद्देव समुद्दिशितत्वं, आगारे से आडंठणपसारणं नत्थि, सेसा सत्त तद्देव।'।

आचार्य सिद्धसेन भी प्रवचन सारोद्धार की वृत्ति में ऐसा ही लिखते हैं—'एकं—अद्वितीय स्थान—अङ्गविन्यासरूपं यत्र तदेकस्थानप्रत्याख्यानं तद् यथा भोजनकालेऽङ्गोपाङ्गं स्थापितं तस्मिंस्तथास्थित एव भोजनम्।' —प्रवचन सारोद्धार वृत्ति।

एक स्थान की अन्य सब विधि 'एगासण' के समान है। केवल हाथ, पैर आदि के आकुचन प्रसारण का आगार नहीं रहता। इसी लिए प्रस्तुत पाठ में 'आडंठण पसारणेवा' का उच्चारण नहीं किया जाता। 'आडंठणपसारणा नत्थि, सेस जहा एकासणाप।' —इतिमद्रीव आवश्यक वृत्ति।

आगार नहीं है, तब हाथ और मुख का चलन भी कैसे हो सकता है ? समाधान है कि एक स्थान में एक बार भोजन करने का विधान है । और भोजन हाथ तथा मुख की चलन-क्रिया के बिना अशक्य है । अतः अशक्य-परिहार होने से दाहिने हाथ और मुख की चलन क्रिया अप्रतिपिद्ध है । 'मुखस्य हस्तस्य च अशक्यपरिहारत्वाच्चलनमप्रतिपिद्धमिति ।'

—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति ।

एक स्थान भी चतुर्विधाहार, त्रिविधाहार, एवं द्विविधाहार रूप से अनेक प्रकार का है । वर्तमान परंपरा के अनुसार हमने केवल त्रिविधा-हार ही मूल पाठ में रक्खा है । यदि चतुर्विधाहार आदि करने हों तो एकाशन के विवेचन में कथित पद्धति के अनुसार पाठ-भेद करके किए जा सकते हैं ।

एक स्थान का महत्त्व तपश्चरस्य की दृष्टि से तो है ही; पण्डु शरीर की चंचलता हटा कर एकाग्र मनोवृत्ति से भोजन करने का और अधिक महत्त्व है । शरीर को निःस्पन्द-मा बना कर और तो क्या खाज भी न खुजला कर काय गुप्ति के साथ भोजन करना सहज नहीं है । ऐसी स्थिति में भोजन भी कम ही किया जाता है ।

'एक स्थान' के प्रत्याख्यान पर से फलित होता है कि साधक को प्रत्येक क्रिया सावधानी के साथ संयम पूर्वक करनी चाहिए । संयम पूर्वक भुजिक्रिया करते हुए भी जीवन शुद्धि का मार्ग प्रशस्त बन सकता है और तप की आराधना हो सकती है ।

(६)

आचाम्ल-सूत्र

आयं विलं पञ्चक्खामि,^१ अन्नत्थज्जाभोगेणं, सहसा-
गारेणं, लेपालेवेणं, उक्खित्तविवेगेणं, गिहि-संसङ्गेणं,
पारिद्धावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सच्चसमाहिवत्तिया-
गारेणं वोसिरामि ।

भावार्थ

अन्न के दिन आयं विल अर्थात् आचाम्ल तप ग्रहण करता हूँ ।
अनाभोग, सहसाकर, लेपालेप, उक्खित्त विवेक, गृहस्थसमुष्ट, पारिद्ध-प-
निककर, महत्तराकर, सर्वसमाधिप्रत्ययकार—उक्त आठ आकार
अर्थात् श्रवणों के अतिरिक्त आनाचाम्ल आहार का त्याग करता हूँ ।

विवेचन

यह आचाम्ल प्रत्याख्यान का सूत्र है । आचाम्ल मत में दिन में
एक बार सत्त, नीरस एवं विकृतिरहित एक आहार ही ग्रहण किया
जाता है । दूध, दही, घी, सेल, गुड़, शकर, मीठा और पक्वान्न आदि
किसी भी प्रकार का स्वादु भोजन, आचाम्ल मत में ग्रहण नहीं किया जा
सकता । अतएव प्राचीन आचार ग्रन्थों में चावल, उड़द अथवा सत्तू
आदि में से किसी एक के द्वारा ही आचाम्ल करने का विधान है ।

१—आचार्य हरिभद्र एवं प्रवचनशरोद्वार के वृत्तिकार आचार्य सिद्ध-
सेन आदि उग्रनिर्दिष्ट पाठ का ही उल्लेख करते हैं । परन्तु कुछ हस्त-
लिखित एवं मुद्रित प्रतियों में पञ्चक्खामि के आगे चौविहार के रूप में
अमणं, पणं, वादमं, सादमं तथा निविहार के रूप में असणं, सादमं,
सादमं पाठ भी लिखा मिलता है ।

आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने आवश्यक नियुक्ति में लिखा है—
“गोश्यां नामं त्रिविहं, ओअण कुम्मास सत्तुआ चेव ।” — गाथा १६०३ ।

आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत गाथा पर व्याख्या करते हुए आवश्यक वृत्ति में लिखा है—‘आयामाम्लमिति गोश्यां नाम । आयामः—अवशायनं आम्लं चतुर्थरसः, ताभ्यां निवृत्तं आयामाम्लम् । इदं चोपधिभेदात् त्रिविधं भवति, ओदनः, कुल्माषः, सक्तवश्चैव ।’

आयंघिल प्राकृत भाषा का शब्द है । आचार्य हरिभद्र इसके संस्कृत रूपान्तर आयामाम्ल, आचामाम्ल और आचाम्ल करते हैं ।

आचार्य सिद्धसेन आचाम्ल और आचामाम्ल रूपों का उल्लेख करते हैं । आचामाम्ल की व्याख्या करते हुए आप लिखते हैं—‘आचामः—‘अवश्रमणं अम्लं चतुर्थो रसः, ताभ्यां निवृत्तमित्यण् । एतच्च त्रिविधं उपधिभेदात्, तद्यथा—ओदनं कुल्माषः, सक्तवश्च अधिकृत्य भवति ।’—प्रवचनसारेद्वार वृत्ति ।

आचार्य देवेन्द्र श्राद्धप्रतिक्रमण वृत्ति में लिखते हैं—‘आयामोऽवश्रावणं अम्लं चतुर्थो रसः, एते व्यञ्जने प्रायो यन्न भोजने ओदन-कुल्माष-सक्तुप्रभृतिके तदाचाम्लं समयभाषयोच्यते ।’

एकाशन और एक स्थान की अपेक्षा आयंघिल का महत्त्व अधिक है । एकाशन और एक स्थान में तो एक बार के भोजन में यथेच्छ सरस आहार ग्रहण किया जा सकता है; परन्तु आयंघिल के एक बार भोजन में तो केवल उबले हुए उड़द के चाकले आदि लवणरहित नीरस आहार ही ग्रहण किया जाता है । आजकल भुने हुए चने आदि एक नीरस अन्न को पानी में भिगोकर खाने का भी आयंघिल प्रचलित है । किं बहुना, भावार्थ यह है कि आचाम्ल तप में रसलोलुपता पर विजय प्राप्त करने का महान् आदर्श है । जिह्वेन्द्रिय का संयम, एक बहुत बड़ा संयम है ।

१ अवश्रमण, अवशायन या अवश्रावण—‘ओसःपण’ को कहते हैं ।

अपने मन को मारना सहज नहीं है । खाने के लिए बैठना और मित्र भी मनोऽनुकूल नहीं खाना, कुछ साधारण बात नहीं है ।

आर्यविल भी साधक की इच्छानुसार चतुर्विधाहार एवं त्रिविधाहार किया जा सकता है । चतुर्विधाहार करना हो तो 'चडडिवहं पि आहारं, असर्णं पाणं, खाइमं, साइमं, बोलना चाहिए । यदि त्रिविधाहार करना हो तो 'तिविहं पि आहारं असर्णं खाइमं साइमं' पाठ कहना चाहिए । आर्यविल द्विविधाहार नहीं होता ।

आर्यविल में आठ आगार माने गए हैं । आठ में से पाँच आगार तो पूर्व प्रत्याख्यानो के समान ही हैं । केवल तीन आगार ही ऐसे हैं, जो नवीन हैं । उनका भावार्थ इस प्रकार है:—

(१) लोपालेप—आचाम्ल व्रत में ग्रहण न करने योग्य शाक तथा घृत आदि विकृति से यदि पात्र अथवा हाथ आदि लिप्त हो, और दातार गृहस्थ यदि उसे पोंछकर उसके द्वारा आचाम्ल-योग्य भोजन बहराए, तो ग्रहण कर लेने पर व्रत भंग नहीं होता है ।

'लोपालेप' शब्द लेप और अलेप से समस्त होकर बना है । लेप का अर्थ घृतादिसे पहले लिप्त होना है । और अलेप का अर्थ है बाद में उसको पोंछकर अलिप्तकर देना । पोंछ देने पर भी विकृति का कुछ न कुछ अंश लिप्त रहता ही है । अतः आचाम्ल में लोपालेप का आगार रक्खा जाता है । 'लेपश्च अलेपश्च लोपालेपं तस्मादन्यत्र, भातने विकृत्याद्य-वयवसद्भावेऽपि न भङ्ग इत्यर्थः ।' —प्रवचन सारोद्धार वृत्ति ।

(२) उत्तिस-विवेक—शुष्क ओदन एवं रोटी आदि पर गुड़ तथा शकर आदि अद्रव = सूखी विकृति पहले से रक्खी हो । आचाम्लव्रतपारी मुनि को यदि कोई वह विकृति उठाकर रोटी आदि देना चाहे तो ग्रहण की जा सकती है । उत्तिस का अर्थ उठाना है और विवेक का अर्थ है उठाने के बाद उसका न लगा रहना । भावार्थ यह है कि आचाम्ल में प्राण द्रव्य के साथ यदि गुड़ादि विकृति रूप अप्राण द्रव्य का स्पर्श भी हो और कुछ नाम मात्र का अंश लगा हुआ भी हो तो व्रत भंग

नहीं होता । परन्तु यदि विकृति द्रव हो, उठाने की स्थिति में न हो तो वह वस्तु ग्राह्य नहीं है । ऐसी वस्तु का भोजन करने से आचाम्ल व्रत का भंग माना जाता है । 'शुक्लौदनादिभक्ते पतितपूर्वस्याचाम्ल-प्रत्याख्यानवतामयोग्यस्य अद्रवविकृत्यादिद्रव्यस्य उत्तिष्ठस्य—उद्धृतस्य विधेको—निःशेषतया त्यागः उत्तिष्ठविवेकस्तस्मादन्यत्र, भोक्तव्यद्रव्यस्याभोक्तव्यद्रव्यस्पर्शेनाऽपि न भङ्ग इत्यर्थः । यत्तूत्तेषु न शक्यते तस्य भोजने भङ्ग एव ।'—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति ।

(३) गृहस्थसंसृष्ट—घृत अथवा तैल आदि विकृति से छोंके हुए कुल्माष आदि लेना, गृहस्थसंसृष्ट आगार है । अथवा गृहस्थ ने अपने लिए जिस रोटी आदि खाद्य वस्तु पर घृतादि लगा रक्खा हो, वह ग्रहण करना भी गृहस्थसंसृष्ट आगार है । उक्त आगार में यह ध्यान में रखने की बात है कि यदि विकृति का अंश स्वल्प हो, तब तो व्रत भंग नहीं होता । परन्तु विकृति यदि अधिक मात्रा में हो तो वह ग्रहण करलेने से व्रत भंग का निमित्त बनती है ।

प्रवचन सारोद्धार वृत्ति के रचयिता आचार्य सिद्धमेन, घृतादि विकृति से लिप्त पात्र के द्वारा आचाम्लयोग्य वस्तु के ग्रहण करने को गृहस्थसंसृष्ट कहते हैं । 'विकृत्यो संसृष्टभाजनेन हि दीयमानं भक्ष्यमकल्पनीयद्रव्यमिश्रं भवति तद् भुञ्जानस्यापि न भङ्ग इत्यर्थः, यदि अकल्प्यद्रव्यरसो बहु न जायते ।'—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति, प्रत्याख्यान द्वार ।

कुछ आचार्यों की मान्यता है कि लेपालेप, उत्तिष्ठविवेक, गृहस्थ-संसृष्ट और पारिष्ठापनिकागार—ये चार आगार सधु के लिए ही हैं, गृहस्थ के लिए नहीं ।

(७)

अभक्तार्थ=उपवास-सूत्र

उग्राए सूरै, अभक्तहु' पञ्चस्तमामि, चउब्धिहं पि
आहारं—असूर्य, पाण्य, खाइमं, साइमं ।

अन्नत्यणामोरोख्यं, सहसागारेण्यं, पारिद्धावणियागारेण्यं,
महत्तरागारेण्यं, मध्यममाह्वितियागारेण्यं, योसिरामि ।

भाषार्थ

सूर्योदय से लेकर अभक्तार्थ—उपवास ग्रहण करता हूँ; पञ्चत-
अशन, पान, खादिम और स्वादिम चारों ही आहार का त्याग
करता हूँ ।

अनाभोग, सहसाकार, पारिष्टापनिकाकार, महत्तराकार, रात्रि-
समाधि प्रत्ययाकार—उक्त पाँच आहारों के सिवा सब प्रकार के आहार
का त्याग करता हूँ ।

विवेचन

अभक्तार्थ, उपवास का ही पर्यायान्तर है । 'महत्' का अर्थ
'भोजन' है । 'अर्थ' का अर्थ 'प्रयोजन' है । 'अ' का अर्थ 'नहीं' है ।
तीनों का मिलकर अर्थ होता है—भक्त का प्रयोजन नहीं है जिस व्रत में
यह उपवास । 'न विद्यते भक्तार्थो यस्मिन् प्रत्याख्यानं सोऽभक्तार्थः स
उपवासः'—देवेन्द्र कृत भास्व प्रतिनमश्च वृत्ति ।

उपवास के पहले तथा पिछले दिन एकाशन हो तो उपवास के पाठ
में 'चउत्थमसं अभक्तहु' दो उपवास में 'द्वद्वमसं अभक्तहु' तीन

१ 'भक्तेन—भोजनेन अर्थ—प्रयोजनं भक्तार्थं, न भक्तार्थोऽभक्तार्थः ।
अथवा न विद्यते भक्तार्थो यस्मिन् प्रत्याख्यानविशेषे सोऽभक्तार्थः
उपवास इत्यर्थः ।'—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति ।

उपवास में 'अद्वयभक्तं भक्तद्वय' पढ़ना चाहिए। इस प्रकार उपवासकी संख्या को दूना करके उसमें दो और मिलाने से जो संख्या आए उतने 'भक्त' कहना चाहिए। जैसे चार उपवास के प्रत्याख्यान में 'द्वयभक्त' और पाँच उपवास के प्रत्याख्यान में 'चारभक्त' इत्यादि।

अन्तकृद् दशांग आदि सूत्रों में तीस दिन के व्रत को 'सद्विभक्त' कहा है। इस पर से कुछ विद्वानों को आशंका है कि ये संज्ञाएँ उपयुक्त कण्डिका के अर्थ को व्योक्त नहीं करती? ये केवल प्राचीन रुढ़ संज्ञाएँ ही हैं। इस लिए श्री गुरुविनयगणी धर्मसागरीय उत्सूत्र खण्डन में लिखते हैं—'प्रथमदिने चतुर्थमिति संज्ञा, द्वितीयेऽह्नि पष्ठं, तृतीयेऽह्नि अष्टममित्यादि।'।

चउविहाहार और तिविहाहार के रूप में उपवास दो प्रकार का होता है। चउविहाहार का पाठ ऊपर मूलसूत्र में दिया है। सूर्योदय से लेकर दूसरे दिन सूर्योदय तक चारों आहारों का त्याग करना, चउविहाहार अभक्तद्व कहलाता है। तिविहाहार उपवास करना हो तो पानी का आगार रखकर शेष तीन आहारों का त्याग करना चाहिए। तिविहाहार उपवास करने समय 'तिविहं पि आहारं-असणं, खाहमं, साहमं।' पाठ कहना चाहिए।

कितने ही आचार्यों का मत है कि—'पारिष्ठावणियागारेणं' का आगार तिविहाहार उपवास में ही होता है, चउविहाहार उपवास में नहीं। अतः चउविहाहार उपवास में 'पारिष्ठावणियागारेणं' नहीं बोलना चाहिए।

अचार्य जिनदास लिखते हैं—'जति तिविहस्स पञ्चक्खाति विगि-
चणियं कप्पति, जदि चउविहस्स पाणणं च नत्थि न वट्ठति।'।

—आवश्यक चूर्णि।

आचार्य नमि लिखते हैं—'चतुर्विहाहार प्रत्याख्याने पारिष्ठापनिका न कल्पते।'—प्रतिक्रमण सूत्र विवृत्ति।

परिद्धत प्रवर सुखलालजी ने अपने पञ्चप्रतिक्रमण सूत्र में पारिष्ठा पनिकागार के विषय में लिखा है—‘चडत्विहाहार उपवास में पानी, त्रिविधाहार उपवास में अन्न और पानी, तथा आयधिल में विगार, अन्न एवं पानी लिया जा सकता है।’

त्रिविधाहार अर्थात् त्रिविधाहार उपवास में पानी लिया जाता है। अतः जल सम्बन्धी छद्म आगार मूल पाठ में ‘सध्वसमादिवत्तियागारेण’ के आगे इस प्रकार वडा कर बोलने चाहिएँ—‘पाणस्स लेवाडेण वा, अलेवाडेण वा, अच्छेण वा, बहुलेण वा, ससित्येण वा, असित्येण वा बोत्तिरामि।’

उक्त छद्म आगारों का उल्लेख जिनदास महत्तर, हरिभद्र और सिद्ध सेन आदि प्रायः सभी प्राचीन आचार्यों ने किया है। केवल उपवास में ही नहीं अन्य प्रत्याख्यानो में भी जहाँ त्रिविधाहार करना हो, सर्वत्र उक्त पाठ बोलने का विधान है। यद्यपि आचार्य जिनदास आदि ने इसका उल्लेख अभिज्ञान के प्रसंग पर ही किया है।

उक्त जल सम्बन्धी आगारों का भाग्यार्थ इस प्रकार है —

(१) लेपकृत—दाल आदि का मॉँक तथा इमली, राजूर, दाल आदि का पानी। यह सब पानी जो पात्र में उल्लेखकारक हो, लेपकृत कहलाता है। त्रिविधाहार में इस प्रकार का पानी ग्रहण किया जा सकता है।

(२) अलेपकृत—झाड़ू आदि का निभण हुआ और काँजी आदि का पानी अलेपकृत कहलाता है। अलेपकृत पानी से वह धोवन लेना चाहिए, जिसका पात्र में लोह न लगता हो।

(३) अशुद्ध—अशुद्ध का अर्थ स्वच्छ है। गर्म किया हुआ स्वच्छ पानी ही अशुद्ध शब्द से ग्राह्य है। हाँ, प्रवरचन सारोद्धार की वृत्ति ने रचविता आचार्य सिद्धसेन उष्णोदकादि कथन करत है। ‘अविच्छिन्नान् उष्णोदकादे।’ परन्तु आचार्यजी ने स्वीकृति नहीं किया कि आदि से उष्णजल के अतिरिक्त और कौन सा जल ग्राह्य है? संभव है फल

आदि का स्वच्छ धोवन ग्राह्य हो। एक गुजराती अर्थकार ने ऐसा लिखा भी है।

(४) बहल—तिल, चावल और जौ आदि का चिकना मांड बहल कहलाता है। बहल के स्थान पर कुछ आचार्य बहुलेप शब्द का भी प्रयोग करते हैं।

(५) ससिक्थ—आटा आदि से लिप्त हाथ तथा पात्र आदि का वह धोवन, जिस में सिक्थ अर्थात् आटा आदि के कण भी हों। इस प्रकार का जल त्रिविधाहार उपास में लेने से व्रत भंग नहीं होता।

(६) असिक्थ—आटा आदि से लिप्त हाथ तथा पात्र आदि का वह धोवन, जो छुना हुआ हो, फलतः जिस में आटा आदि के कण न हों।

परिणत सुखलाल जी एक विशेष बात लिखते हैं। उनका कहना है—प्रारंभ से ही चउव्विहाहार उपास करना हो तो 'पारिद्धावणियागारेणं' बोलना। यदि प्रारंभ में त्रिविधाहार किया हो, परन्तु पानी न लेने के कारण सायंकाल के समय त्रिविहार से चउव्विहाहार उपास करना हो तो 'पारिद्धावणियागारेणं' नहीं बोलना चाहिए।

(८)

दिवसचरिम-सूत्र

दिवसचरिमं पञ्चकखामि, चउव्विहं पि आहारं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, ।

अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्व समाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि ।

भार्य

दिवस चरम का मन ग्रहण करता है, फलतः अन्न, पान, राशि और स्वादिष्ट चारों आहार का त्याग करता है ।

अनाभोग, सदसाकार, महसराकार और सर्वसमाधिप्रत्यवाकार-उक्त चार आहारों के सिवा आहार का त्याग करता है ।

विवेचन

यह चरम प्रत्याख्यान सूत्र है । 'चरम' का अर्थ 'अन्तिम भाग' है । यह दो प्रकार का है—दिवस का अन्तिम भाग और मन अर्थात् आयु का अन्तिम भाग । सूर्य के अस्त होने से पहले ही दूसरे दिन सूर्योदय तक के लिए चारों अथवा तीनों आहारों का त्याग करना, दिवस चरम प्रत्याख्यान है । अर्थात् उक्त प्रत्याख्यान में शेष दिवस और सम्पूर्ण रात्रि-भर के लिए चार अथवा तीन आहार का त्याग किया जाता है । साधक के लिए आवश्यक है कि वह कम से कम दो पक्षी दिन रहते ही आहार पानी से निवृत्त हो जाय और सार्वकालीन प्रतिव्रमण के लिए तैयारी करे ।

भवचरम प्रत्याख्यान का अर्थ है जब साधक को यह निश्चय हो जाय कि आयु थोड़ी ही शेष है तो यावज्जीवन के लिए चारों या तीनों आहारों का त्याग करदे और मंथारा ग्रहण करने सवम की आराधना करे । भवचरम का प्रत्याख्यान, जीवन भर की मयम माधना सम्पत्ती सफलता का उज्ज्वल प्रतीक है ।

भवचरम का प्रत्याख्यान करना हो तो 'दिवस चरम' के स्थान में 'भव चरम' जोचना चाहिए । शेष पाठ दिवस चरम के समान ही है ।

दिवस चरम और भवचरम चउविहाहार और त्रिविहाहार दोनों प्रकार से होते हैं । त्रिविहाहार में पानी ग्रहण किया जा सकता है । माधु के लिए 'दिवसचरम' चउविहाहार ही माना गया है ।

दिवसचरम और भवचरम में केवल चार आगार ही मान्य हैं। पारिष्ठापनिक आदि आगार यहाँ, अभीष्ट नहीं हैं। कुछ लेखकों ने पारिष्ठानिका आदि आगारों का उल्लेख किया है, वह अप्रमाण्य समझना चाहिए।

यह चरमद्वय का प्रत्याख्यान, यदि त्रिविहाहार करना हो तो 'त्रिविहं पि आहारं-असणं खादमं सादमं' पाठ बोलना चाहिए। चउ-विहाहार का पाठ, ऊपर मूल सूत्र में लिखे अनुसार है।

पं० मुखलाल जी ने दिवस चरम में गृहस्थों के लिए दुविहाहार प्रत्याख्यान का भी उल्लेख किया है।

दिवस-चरम एकाशन आदि में भी ग्रहण किया जाता है, अतः प्रश्न है कि एकाशन आदि में दिवस चरम ग्रहण करने का क्या लाभ है? भोजन आदि का त्याग तो एकाशन प्रत्याख्यान के द्वारा ही हो जाता है? समाधान के लिए कहना है कि एकाशन आदि में आठ आगार होते हैं और इसमें चार। अस्तु, आगारों का संक्षेप होने से एकाशन आदि में भी दिवस चरम का प्रयोजन स्वतः सिद्ध है।

मुनि के लिए जीवनपर्यन्त त्रिविधं त्रिविधेन रात्रि-भोजन का त्याग होता है। अतः उनको दिवस चरम के द्वारा शेष दिन के भोजन का त्याग होता है, और रात्रि भोजन त्याग का अनुवादकत्वेन स्मरण हो जाता है। रात्रि भोजन त्यागी गृहस्थों के लिए भी यही बात है। जिनको रात्रि भोजन का त्याग नहीं है, उनको दिवस चरम के द्वारा शेष दिन और रात्रि के लिए भोजन का त्याग हो जाता है।

: ६ :

अभिग्रह-सूत्र

अभिग्रहं पञ्चक्वामि चउच्चिहं पि आहारं असणं,
पाणं, खाइमं, साइमं ।

अन्नत्थऽणा भोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं,
सज्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि ।

भावार्थ

अभिग्रह का मत ग्रहण करता हूँ, फलतः भोजन, पान खादिम और
स्वादिम चारों ही आहार का (संकल्पित समय तक) त्याग करता हूँ ।

अनाभोग, सहसाकार, महाराकार और सर्वसमाभिग्रत्यपाकार—
उक्त चार आहारों के सिवा अभिग्रहपूर्ति तक चार आहार का त्याग
करता हूँ ।

विवेचन

- उपवास आदि तप के बाद अथवा बिना उपवास आदि के भी अपने
मनमें निश्चित प्रतिज्ञा कर लेना कि अबुक बातों के मिलने पर ही पारणा
अर्थात् आहार ग्रहण करूँगा, अन्यथा मत, बेला, तेला आदि
संकल्पित दिनों की अवधि तक आहार ग्रहण नहीं करूँगा—इस
प्रकार की प्रतिज्ञा को अभिग्रह कहते हैं ।

अभिग्रह में जो बातें धारण करनी हों, उन्हें मन में निश्चय कर लेने
के बाद ही उपयुक्त पाठ के द्वारा प्रत्याख्यान करना चाहिए । यह न हो
कि पहले अभिग्रह का पाठ पढ़ लिया जाय और बाद में धारण किया
जाय । यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि अभिग्रह-पूर्ति से पहले
अभिग्रह को किसी के आगे प्रकट न किया जाय ।

अभिग्रह की प्रतिज्ञा रूढ़ी कठिन होनी है । अत्यन्त धीर एवं वीर साधक

ही अभिग्रह का पालन कर सकते हैं। अतएव साधारण साधकों को अतिसाहस के फेर में पड़ने से बचना चाहिए। जैन इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं कि एक साधु ने सिंहकेरुरिया मोदकों का अभिग्रह कर लिया था और जब वह अभिग्रह पूर्ण न हुआ तो पागल होकर दिन-रात का कुछ भी विचार न रखकर पात्र लिए घूमने लगा। कल्पसूत्र की टीकाओं में उक्त उदाहरण आता है। अतः अभिग्रह करते समय अपनी शक्ति और अशक्ति का विचार अवश्य कर लेना चाहिए।

(१०)

‘निर्विकृतिक-सूत्र

विगङ्गोऽपञ्चम्वामि, अन्नत्थणाभोगेणं, सहसा-
गारेणं, लेवालेवेणं, गिहत्थसंसिद्धेणं, उद्विखत्तविधेगेणं,
पडुच्चमक्खिण्णं, पारिद्धावणियागारेणं, महत्तरागारेणं,
सव्वसमाहिवत्तियागारेणं, वोसिरामि ।

१ प्राकृत भाषा का मूल शब्द ‘निव्विगङ्गयं’ है। आचार्य सिद्धसेन ने इसके दो संस्कृतरूपान्तर किए हैं—निर्विकृतिक और निर्विगतिक। आचार्य श्री घृतादि को विकृतिहेतुक होने से विकृति और विगतिहेतुक होने से विगति भी कहते हैं। जो प्रत्याख्यान विकृति से रहित हो वह निर्विकृतिक एवं निर्विगतिक कहलाता है। ‘तत्र मनसो विकृतिहेतुत्वाद् विगतिहेतुत्वाद् वा विकृतयो विगतयो वा, निर्गता विकृतयो विगतयो वा यत्र तन्निर्विकृतिकं निर्विगतिकं वा प्रत्याख्याति ।’—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति प्रत्याख्यान द्वार।

२ प्रवचन सारोद्धार में ‘विगङ्गो’ के स्थान में ‘निव्विगङ्गयं’ पाठ है।

भावार्थ

विकृतियों का प्रत्याख्यान करना है । अनाभोग, सद्वसाकार, लेपालेप, गृहस्थसंघट्ट, उत्तिष्ठविवेक, प्रसीत्यस्रक्षित, पारिद्यापनिक, महवराकार, सर्वसमाधिप्रत्ययाकार-उक्त भी आगारों के सिवा विकृति का परित्याग करता है ।

विषयचन

मन में विकार उत्पन्न करने वाले भोज्य पदार्थों को विकृति कहते हैं । मनसो विकृति हेतुवाद् विकृतयः' आचार्य हेमचन्द्र-कृत योगशास्त्र तृतीय प्रकाश वृत्ति । विकृति म 'दूध, दही, मक्खन, घी, तेल, गुड़, मधु आदि भोज्य पदार्थ सम्मिलित हैं ।

भोजन, मानव जीवन में एक अतीव महत्वपूर्ण वस्तु है । शरीरत्याना के लिए भोजन तो ग्रहण करना ही होता है । ऊँचे से ऊँचा साधक भी सर्वथा सदाकाल निराहार नहीं रह सकता । अतएव शास्त्रकारों ने अवलोकित है कि—भोजन में सात्विकता रखनी चाहिए । ऐसा भोजन न हो, जो अत्यन्त पौष्टिक होने के कारण मन में दूषित वासनाओं की उत्पत्ति करे । निहारजनक भोजन भयम को दूषित किए बिना नहीं रह सकता ।

१ विकृतियों के भक्ष्य और अभक्ष्यरूप से दो भेद किए गए हैं । भक्ष्य और मांस तो सर्वथा अभक्ष्य विकृतियों हैं । अतः साधक को इनका त्याग जीवन मर्यादा के लिए होगा है । मधु और नवनीत = मक्खन भी विशेष स्थिति में ही लिए जा सकते हैं, अन्यथा नहीं । दूध, दही, घी, तेल, गुड़ आदि और अन्नगादिम अर्थान् पक्वान्न—ये छः भक्ष्य विकृतियों हैं । भक्ष्य विकृतियों का भी यथाशक्ति एक या एक से अधिक के रूप में प्रति दिन त्याग करते रहना चाहिए । यथावसर सभी विकृतियों का त्याग भी किया जाता है ।

आवश्यक चूर्ण, प्रवचन सारोद्धार आदि प्राचीन ग्रन्थों में विकृतियों का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया है ।

शरीर के लिए पौष्टिक आहार सर्वथा वर्जित नहीं है। सर्वथा शुष्क आहार, कभी-कभी शरीर को क्षीण बना देता है। अतः यदा कदा पौष्टिक आहार लिया जाय तो कोई हानि नहीं है। परन्तु नित्य-प्रति विकृति का सेवन करना, निषिद्ध है। जो साधु नित्य प्रति विकृति का सेवन करता है, उसे शास्त्रकार पापश्रमण बतलाते हैं।

निर्विकृति के नौ आगार हैं। आठ आगारों का वर्णन तो पहले के पाठों में यथास्थान आचुका है। प्रतीत्यम्रक्षित नामक आगार नया है। भोजन बनाते समय जिन रोटी आदि पर सिर्फ उँगली से घी आदि चुपड़ा गया हो ऐसी वस्तुओं को ग्रहण करना, प्रतीत्यम्रक्षित आगार कहलाता है। इस आगार का यह भाव है कि—घृत आदि विकृति का त्याग करने वाला साधक धारा के रूप में घृत आदि नहीं खा सकता। हाँ घी से साधारण तौर पर चुपड़ी हुई रोटियाँ खा सकता है। “प्रतीत्य सर्वथा रुक्षमण्डकादि, ईषत्सौकुमार्यं प्रतिपादनाय यदंगुल्या ईषद् घृतं गृहीत्वा म्रक्षितं तदा कल्पते, न तु धारया”

—तिलकाचार्य-कृत, देवेन्द्र प्रतिक्रमण वृत्ति

विकृति द्रव और अद्रव के भेद से दो प्रकार की होती हैं। जो घृत, तैल आदि विकृति-द्रव हों, तरल हों, उनके प्रत्याख्यान में उत्क्षिप्त-विवेक का आगार नहीं रक्खा जाता। गुड़ और पक्वान्न आदि अद्रव अर्थात् शुष्क विकृतियों के प्रत्याख्यान में ही उक्त आगार होता है।

किसी एक विकृति-विशेष का त्याग करना हो तो उसका नाम लेकर पाठ बोलना चाहिए। जैसे ‘दुग्धविगइयं पचक्खामि’ ‘दधिविगइयं पचक्खामि’ इत्यादि।

१ ‘म्रक्षित’ चुपड़े हुए को कहते हैं। और प्रतीत्यम्रक्षित कहते हैं—जो अच्छी तरह चुपड़ा हुआ न हो, किन्तु चुपड़ा हुआ जैसा हो, अर्थात् म्रक्षिताभास हो। ‘म्रक्षितमिव यद् वर्तते तत्प्रतीत्यम्रक्षितं म्रक्षिताभासमित्यर्थः।’ —प्रवचन सारोद्धार वृत्ति

जितने काल के लिए त्याग करना हो, उतना काल त्याग करने समय अपने मन में निश्चित कर लेना चाहिए ।

(११)

प्रत्याख्यान पारणा सूत्र

उग्गाए सूरं नमुक्कार सहियं^१ पच्चक्खाणं कयं । तं
पच्चक्खाणं सम्मं काएण कासियं, पालियं, तीरियं, किट्ठियं,
सोहियं, आराहियं । जं च न आराहियं, तस्म मिच्छा
मि दुक्कडं ।

भावार्थ

सूर्योदय होने पर जो नमस्कार सहित प्रत्याख्यान किया था, वह प्रत्याख्यान (मन वचन) शरीर के द्वारा सम्यक् रूप से स्पष्ट, पालित, शोधित, तीरित, कीर्तित एवं आराधित किया । और जो सम्यक् रूप से आराधित न किया हो, उसका दुष्कृत मेरे लिए मिथ्या हो ।

विवेचन

यह प्रत्याख्यानवृत्ति का सूत्र है । कोई भी प्रत्याख्यान किया हो उसकी समाप्ति प्रस्तुत सूत्र के द्वारा करनी चाहिए । ऊपर मूल पाठ में 'नमुक्कारसहियं' नमस्कारिका का सूचक सामान्य शब्द है । इसके स्थान में जो प्रत्याख्यान ग्रहण कर रक्ता हो उसका नाम लेना चाहिए । जैसे कि पौरुषी ले रक्ती हो तो 'पौरुसी पच्चक्खाण कय' ऐसा कहना चाहिए ।

प्रत्याख्यान पालने के लिये श्रद्धा उत्पन्न होनी चाहिए । अस्तु मूल पाठ के अनुसार निम्नोक्त श्रुति श्रुति से प्रत्याख्यान की आराधना करनी चाहिए ।

(१) फासियं (स्पृष्ट अथवा स्पर्शित) गुरुदेव से या स्वयं विधिपूर्वक प्रत्याख्यान लेना ।^१

(२) पालियं (पालित) प्रत्याख्यान को बार-बार उपयोग में लाकर सावधानी के साथ उसकी सतत रक्षा करना ।

(३) सोहियं (शोभित) कोई दूषण लग जाय तो सहसा उसकी शुद्धि करना । अथवा 'सोहियं' का संस्कृत रूप शोभित भी होता है । इस दशा में अर्थ होगा—'गुरुजनों को, साधियों को अथवा अतिथिजनों को भोजन देकर स्वयं भोजन करना ।

(४) तीरियं (तीरित) लिए हुए प्रत्याख्यान का समय पूरा हो जाने पर भी कुछ समय ठहर कर भोजन करना ।

(५) किट्टियं (कीर्तित) भोजन प्रारंभ करने से पहले लिए हुए प्रत्याख्यान को विचार कर उत्कीर्तन-पूर्वक कहना कि मैंने अमुक प्रत्याख्यान अमुक रूप से ग्रहण किया था, वह भली भाँति पूर्ण होगया है ।

(६) आराहियं (आराधित) सब दोषों से सर्वथा दूर रहते हुए ऊपर कही हुई विधि के अनुसार प्रत्याख्यान की आराधना करना ।^२
साधारण मनुष्य सर्वथा भ्रान्ति रहित नहीं हो सकता । वह साधना

१—'प्रत्याख्यान ग्रहणकाले विधिना प्राप्तम् ।'

—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति ।

आचार्य हरिभद्र फासियं का अर्थ 'स्वीकृत प्रत्याख्यान को बीच में खण्डित न करते हुए शुद्ध भावना से पालन करना' करते हैं । 'फासियं नाम जं अंतरा न खंडेति ।' आवश्यक चूर्णि

२—'शोभितं-गुवांदि प्रदत्तशेषभोजनाऽऽसेवनेन राजितम् ।'

—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति ।

'शोभितं' नाम जो भक्त्याणं आणेत्या पुट्ठं दाऊण सेसं भुंजति दायव्यपरिणामेण वा, जदि पुण एकतो भुंजति ताहे ए सोहियं भवति ।' —आचार्य जिनदामकन शास्त्रक जति

जगता हुआ भी कभी कभी साधना पथ में इधर उधर भटक जाता है।
अनुत रूप के द्वारा स्वीकृत मा की शुद्धि की जाती है, भ्रान्ति जनित
दार्श की आलोचना की जाती है, और अन्त में मिच्छाभि दुर्कट देकर
प्रत्याग्यान में हुए अतिचारी का प्रतिक्रमण किया जाता है। आलोचना
एवं प्रतिक्रमण करने से मा शुद्ध हो जाता है।



३—आचार्य जिनदान ने 'आराधित' के स्थान में 'अनुपालित'
कहा है। अनुपालित का अर्थ किया है—तीर्थंकर देव के वचनों का
बार बार स्मरण करते हुए प्रत्याग्यान का पालन करना। 'अनुपालित'
नाम अनुसृत्य अनुसृत्य तीर्थंकरपथेन प्रत्याग्यानं पाद्विषयम्।'
—आवश्यक चर्चा।

: ३ :

संस्तार-पौरुषी-सूत्र

[जैनधर्म की निवृत्तिप्रधान साधना में 'संधारा'—'संस्तारक' का बहुत बड़ा महत्त्व है। जीवनभर की अच्छी-बुरी हलचलों का लेखा लगाकर अन्तिम समय समस्त दुष्प्रवृत्तियों का त्याग करना; मन, वाणी और शरीर को संयम में रखना; ममता से मन को हटाकर उसे प्रभुस्मरण एवं आत्मचिन्तन में लगाना; आहार पानी तथा अन्य सब उपाधियों का त्याग कर आत्मा को निर्द्वन्द्व एवं निस्पृह बनाना; संधारा का आदर्श है। यहाँ मृत्यु के आगे गिड़गिड़ाते रहना, रोते पीटते रहना, बचने के प्रयत्न में अंट-मंट पापकारी क्रियाएँ करना, अभिमत नहीं है। जैनधर्म का आदर्श है—जब तक जीवो, विवेक पूर्वक आनन्द से जीवो। और जब मृत्यु आ जाए तो विवेकपूर्वक आनन्द से ही मरो। मृत्यु तुम्हें रोते हुएों को घसीट कर ले जाय, यह मानवजीवन का आदर्श नहीं है। मानवजीवन का आदर्श है—संयम की साधना के लिए अधिक से अधिक जीने का यथासाध्य प्रयत्न करो। और जब देखो कि अब जीवन की लालसा में हमें अपने धर्म से ही च्युत होना पड़ रहा है, संयम की साधना से ही लक्ष्य भ्रष्ट होना पड़ रहा है, तो अपने धर्म पर, अपने संयम पर दृढ़ रहो और समाधिस्मरण के स्वागतार्थ हँसते-हँसते तैयार हो जाओ। जीवन ही कोई बड़ी चीज नहीं है। जीवन के बाद मृत्यु भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। मृत्यु को किसी तरह डाला तो

न नहीं सकता, हाँ, उसे संयोग की साधना के द्वारा मर्त्य शरीर बनाया जा सकता है।

रात्रि में सोचना भी एक छोटो भी अला—कालिदास मृत्यु है। मोने समय मनुष्य की चेतना शक्ति पहुँचली पड़ जाती है, शरीर निश्चेष्ट या एव साधारणता में रहता हो जाता है। और तो क्या, आत्मरत्न का भी उस समय कुछ प्रभाव नहीं हो पाता। अतः वैराग्यकार प्रतिदिन रात्रि में मोने समय साधारण सभारा करने का विधान करते हैं, यही संध्या पौष्टी है। मोने के बाद क्या नहीं कहा होगा? प्रातः काल सुषुप्तक शब्दा से उठभी सकेंगे अथवा नहीं? आदमी लोगोंने कहागत है—“जिल्लके बीच में रात, कमकी क्या बात? अतएव शम्भुकार प्रतिदिन साधारण रहने की प्रेरणा करते हैं और कहते हैं कि जीवन के मोने में मृत्यु की न भूल जाओ, उसे प्रतिदिन याद रखो। फलस्वरूप सोने समय भी अपने आपको समनामान एव राग द्वेष से हटकर समभाव में संलग्न करो, बाह्यवर्णन से मुँह मोड़कर अन्तर्द्वार में प्रवेश करो। मोने समय जो भावना बनाई जाती है प्रायः वही स्वप्न में भी रह जाती है। अतः संध्या के रूप में मोने समय यदि विशुद्ध भावना है तो वह स्वप्न में भी गतिशील रहेगी, और तुम्हारे जीवन को अविशुद्ध न होने देगी।]

अणुनायह परमगुरु !

गुरुगुण-नयरोहिं मंडियमरीरा ।

बहु पडिपुत्रा पोरिसि,

राइयमंधारए ठामि ॥ १ ॥

[संध्या के लिए आज्ञा] हे भोऽ गुणरत्नों से अलङ्कृत परम-गुरु ! आप मुझसे संधारा करने की आज्ञा दीजिए । एक प्रकार परिपूर्ण बीज चुका है, इस लिए मैं रात्रि संधारा करना चाहता हूँ ।

अणुजाणह संथारं,
बाहुवहाणेण वामपासेणं ।

कुक्कुडि-पायपसारण

अतरंत पमज्जए भूमिं ॥ २ ॥

संकोइय संडासा,
उच्चट्ठंते अ काय-पडिलेहा ।

दब्बाई-उक्कओगं,

ऊत्तासनिरुंभणालोए ॥ ३ ॥

भावार्थ

[संथारा करने की विधि] मुझको संथारा की आज्ञा दीजिए ।
[संथारा की आज्ञा देते हुए गुरु उसकी विधि का उपदेश देते हैं]
मुनि बाईं भुजा को तकिया बनाकर बाईं करवट से सोवे । और मुर्गी
की तरह ऊँचे पाँव करके सोने में यदि असमर्थ हो तो भूमि का
प्रमार्जन कर उस पर पाँव रखे ।

दोनों घुटनों को सिकोड़ कर सोवे । करवट बदलते समय शरीर
की प्रतिलेखना करे । जागने के लिए ^१ द्रव्यादि के द्वारा आत्मा का

१—मैं वस्तुतः कौन हूँ और कैसा हूँ ? इस प्रश्न का चिन्तन करना
द्रव्य चिन्तन है । तत्त्वतः मेरा क्षेत्र कौनसा है ? यह विचार करना क्षेत्र-
चिन्तन है । मैं प्रमाद रूप रात्रि में सोया पड़ा हूँ अथवा अप्रमत्त भावरूप
दिन में जाग्रत हूँ ? यह चिन्तन कालचिन्तन है । मुझे इस समय लघु-
शंका आदि द्रव्य बाधा और रागद्वेष आदि भावबाधा कितनी है ? यह
विचार करना भावचिन्तन है ।

चिन्तन करे। इसने पर भी यदि अच्छी तरह निद्रा दूर न हो तो क्षात्र को रोक्कर उसे दूर करे और द्वार का अवलोकन करे—अर्थात् दरवाजे की ओर देखे।

चत्तारि मंगलं—

अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं,
साहू मंगलं, केवलपन्नतो धम्मो मंगलं ॥४॥

भावार्थ

चार मंगल हैं, अरिहन्त भगवान् मंगल हैं, सिद्ध भगवान् मंगल हैं, पाँच महाव्रतधारी साधु मंगल हैं, केवल ज्ञानी का कदा दुष्प्रार्थिता आदि धर्म मंगल है।

चत्तारि लोगुत्तमा—

अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा; १
साहू लोगुत्तमा, केवलपन्नतो धम्मो लोगुत्तमो ॥५॥

भावार्थ

चार सत्तार में उत्तम हैं—अरिहन्त भगवान् उत्तम हैं, सिद्ध भगवान् उत्तम हैं, साधु मुनिराज उत्तम हैं, केवलज्ञी का कदा दुष्प्रार्थित धर्म उत्तम है।

चत्तारि सरणं पयज्जामि—

अरिहंते सरणं पयज्जामि, सिद्धे सरणं पयज्जामि;
साहू मरणं पयज्जामि, केवलपन्नत्तं धम्मं सरणं पयज्जामि ॥६॥

भावार्थ

चारों की शरण भंगीकार करता हूँ—अरिहंतों की शरण भंगीकार करता हूँ, सिद्धों की शरण भंगीकार करता हूँ, साधुओं की शरण भंगीकार करता हूँ, केवलज्ञी-द्वारा प्रेरित धर्म की शरण स्वीकार करता हूँ।

जइ मे हुज्ज पमाओ,

इमस्स देहस्सिमाइ रयणीए ।

'आहार सुवहिदेहं,

सव्वं तिविहेण वोसिरिअं ॥७॥

भावाथे

[नियमसूत्र] यदि इस रात्रि में मेरे इस शरीर का प्रमाद हो
अर्थात् मेरी मृत्यु हो तो आहार, उपधि=उपकरण और देह को मन,
वचन और काय से त्याग करता हूँ ।

पाणाइवायमलिअं,

चोरिककं मेहुणं दविणमुच्छं ।

कोहं, माणं, मायं,

लोहं, पिज्जं तहा दीसं ॥८॥

कलहं अब्भक्खाणं,

पेसुन्नं रह-अरइ-समाउत्तं ।

परपरिवायं माया-

मोसं सिच्छत्तसज्जं च ॥९॥

'वोसिरिअ' इमाइं,

मुखमग्गसंसग्गविग्गभूआइं ।

दुग्गइ-निवंधणाइं,

अट्ठारस पावठाणाइं ॥१०॥

भाषार्थ

[पाप स्थान का त्याग] हिंसा, अमाय, चोरी, मैथुन, परिग्रह, मोघ मान, भाषा, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्यास्यान = मिथ्या दोषारोपण, पैशुन्य = चुगली, रतिभरति, पर परिवाद, मायामृषावाद, मिथ्यात्रयशब्द ।

ये अट्ठारह पाप स्थान मोक्ष के मार्ग में विघ्नरूप हैं, बाधक हैं । इतनी ही नहीं, दुर्गति के कारण भी हैं । अतएव सभी पापस्थानों का मन बचन और शरीर से त्याग करता है ।

एगोई नत्थि मे कोड,

नाहमन्नस्य कस्मइ ।

एवं अदीणमणमो,

अप्पाणमणुमासइ ॥११॥

एगो मे सामथो अप्पा,

नाणदंनण-संजुओ ।

सेसा मे दाहिरा भाया,

सब्बे संजोगलक्खणा ॥१२॥

संजोगमूला जीरेणा,

पत्ता दुक्ख-परंपरा ।

तम्हा मंजोग-मंबंधं,

सर्वं तिविहेणा योसिरिअं ॥१३॥

भाषार्थ

[एकत्व और अनित्य भावना] मुनि प्रदत्त चित्त से आपने आपको समझाता है कि मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है और मैं भी किसी दूसरे का नहीं हूँ ।

—सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन, उपलक्षण से सम्यक् चारित्र्य से परिपूर्ण मेरा आत्मा ही शाश्वत है, सन्य सनातन है; आत्मा के सिवा अन्य सब पदार्थ संयोगमात्र से मिले हैं ।

—जीवात्मा ने आज तक जो भी दुःखपरंपरा प्राप्त की है, वह सब पर पदार्थों के संयोग से ही प्राप्त हुई है । अतएव मैं संयोग-सम्बन्ध का सर्वथा परित्याग करता हूँ ।

खमिअ खमाविअ मह खमह,

सच्चह जीव-निकाय ।

सिद्धह साख आलोयणह,

मुज्झह वह्र न भाव ॥१४॥

सच्चे जीवा कम्मवत्त,

चउदह-राज भमंत ।

ते मे सच्च खमाविआ,

मुज्झ वि तेह खमंत ॥१५॥

भाषार्थ

[चमापना] हे जीवगण ! तुम सब खमण खामणा करके मुझ पर चमाभाव करो । सिद्धों को साखी रख कर आलोचना करता हूँ कि—मेरा किसी से भी वैरभाव नहीं है ।

—सभी जीव कर्मवश चौदह राहुप्रमाण लोक में परिभ्रमण करते हैं, उन सब को मैंने समाया है, अतएव वे सब मुझे भी समा करें ।

जं जं मणेरु वद्धं,

जं जं वाणुण भासियं पाणं ।

जं जं काणु कयं,

तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ॥१६॥

भावार्थ

[मिच्छा मि दुक्कडं] मैंने जो जो पाप मन से संकल्प द्वारा बाँधे हों, वाली से पापमूलक वचन बोले हों, और शरीर से पापाचरण किया हो, वह सब पाप मेरे लिए मिथ्या हो ।

नमो अरिहंताणं,

नमो सिद्धाणं,

नमो आयरियाणं,

नमो उवज्झापाणं

नमो लोए सव्व-साहूणं !

एमो पंच - नमुत्तकारो,

सव्व- पाव- परामणो ।

मंगलाणं च सव्वेसिं

पदमं हवइ मंगलं ॥

भावार्थ

धी अरिहंतों को नमस्कार हो,

धी भिदों को नमस्कार हो,

श्री आचार्यों को नमस्कार हो,

श्री उपाध्यायों को नमस्कार हो,

लोक में के सब साधुओं को नमस्कार हो ।

यह पाँच पदों को किया हुआ नमस्कार, सब पापों का सर्वथा नाश करने वाला है । और संसार के सभी मंगलों में प्रथम अर्थात् भावरूप मुख्य मंगल है ।



: ४ :

शेष सूत्र

(१)

सम्यक्त्व सूत्र

अरिहंतो मह देवो,
जावज्जीवं दुसाहुणो गुरुणो ।
जिण-पणत्तं तत्तं,
इअ सम्मत्तं मए गहियं ॥ १ ॥

शब्दार्थ

अरिहंतो = अहंस्त भगवान्

मह = मेरे

देवो = देव हैं

जावज्जीवं = जावज्जीवन,

जीवन पर्यन्त

दुसाहुणो = श्रेष्ठ साधु

गुरुणो = गुरु हैं

जिणपणत्तं = श्री जिनराज का

कहा हुआ

त्तं = तत्त्व है, धर्म है

इअ = यह

सम्मत्तं = सम्यक्त्व

मए = मैंने

गहियं = ग्रहण किया है

भाषार्थ

शरीर-द्वेष के जीतने वाले श्री अरिहंत भगवान मेरे देव हैं, जीवन-पर्यन्त संयम की साधना करने वाले सच्चे साधू मेरे गुरु हैं, श्री जिनेश्वर देव का बताया हुआ अहिंसा सत्य आदि ही मेरा धर्म है—यह देव, गुरु धर्म पर श्रद्धा स्वरूप सम्यक्त्व व्रत मैंने यात्राजीवन के लिए ग्रहण किया ।

(२)

गुरु गुणस्मरणं सूत्र

पञ्चिदिय—संवरणो,

तह नवविह—वंभचेर—गुत्ति—धरो ।

चउविह—कसाय—मुक्को,

इअ अठ्ठारस—गुणेहिं संजुत्तो ॥ १ ॥

पंच - महव्वय - जुत्तो,

पंचविहायार - पालण - समत्थो ।

पंच - समिओ तिगुत्तो,

छत्तीस—गुणो गुरू मज्झ ॥ २ ॥

शब्दार्थ

पञ्चिदिय = पांच इन्द्रियों को

गुत्तिधरो = गुत्तियों को धारण करने वाले

संवरणो = वश में करने वाले

तह = तथा

चउविह = चार प्रकार के

नव विह वंभचेर = नव प्रकार के

कसायमुक्को = कषाय से मुक्त

= सचर्च की

इअ = इन

अष्टारह गुणोद्दि = अष्टारह
गुणों से

सवुत्तो = सगुरु, सहित

पंच महान्यत्र वुत्तो = पांच महाव्रतों
से गुरु

पंच निदाधार = पांच प्रकार का
आचार

पालरा नमन्थो = पालने में समर्थ
पंचसमिथो = पांच समिति वाले

निगुत्तो = तीन गुप्ति वाले

द्वत्तीसगुणो = (इस प्रकार) द्वातीस
गुणों वाले साधु

मन्त्र = मेरे
गुरु = गुरु हैं

भावार्थ

पाँच इन्द्रियों के वैदयिक चाँचइय को रोकनेवाले, ब्रह्मचर्य
मठ की नवविध गुप्तियों को-नौ बाहों को धारण करने वाले, शोध
आदि चार प्रकार की कथायों से गुरु, इस प्रकार अष्टारह गुणों
से सगुरु ।

अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों से गुरु, पाँच आचार के पालन
करने में समर्थ, पाँच समिति और तीन गुप्ति के धारण करने वाले,
अर्थात् उक्त द्वातीस गुणों वाले भेड साधु मेरे गुरु हैं ।

(३)

गुरुवन्दन सूत्र

तिक्खुत्तो

आपाहिणं पयाहिणं करेमि,

वंदामि, नमंस्सामि,

सक्कारेमि, सम्माणेमि,

कञ्ज्हाणं, मंगलं,

देवयं, चेइयं,
पञ्जुवासामि,
मत्थएण वंदामि ।

शब्दार्थ

पितृकुतो = तीन बार
आयाहिणं = दाहिनी ओर से
पयाहिणं = प्रदक्षिणा, आर्चन
करेमि = करता हूँ
वंदामि = स्तुति करता हूँ
नमंsamमि = नमस्कार करता हूँ
सक्कारेमि = सत्कार करता हूँ
सम्माणेमि = सम्मान करता हूँ
[आप कैसे हैं ?]

कल्याणं = आप कल्याण रूप हैं
मंगलं = मंगल रूप हैं
देवयं = देवता रूप हैं
चेइयं = ज्ञान-रूप हैं
पञ्जुवासामि = (मैं) आपकी पयु-
पासना = सेवा भक्ति करता हूँ
मत्थएण = मस्तक से, यानी मस्तक
झुका कर
वंदामि = वन्दना करता हूँ

भावार्थ

भगवन् ! दाहिनी ओर से प्रारम्भ करके पुनः दाहिनी ओर तक
आप की तीन बार प्रदक्षिणा करता हूँ ।

वन्दना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ, सत्कार करता हूँ, सम्मान
करता हूँ ।

आप कल्याण रूप हैं, मंगल रूप हैं । आप देवता-स्वरूप हैं,
चैतन्य स्वरूप = ज्ञानस्वरूप हैं ।

गुरुदेव ! आपकी [मन वचन और शरीर से] पयुपासना = सेवा
भक्ति करता हूँ । विनय-पूर्वक मस्तक झुकाकर आपके चरण कमलों में
वन्दना करता हूँ ।

(४)

आलोचना-सूत्र

इच्छाकारेण संदिसह भगवं !

इरियावहियं, पडिक्कमामि ?

इच्छं

इच्छामि पडिक्कमिउं, ॥१॥

इरियावहियाए, विराहणाए ॥ २ ॥

गमणागमणे, पाणक्कमणे,

वीयक्कमणे, हरिय-क्कमणे,

ओत्ता उत्तिग-पणग-दग-भट्ठी-मक्कडसंताणा-संकमणे ॥४॥

जे मे जीवा विराहिया ॥ ५ ॥

एगिंदिया, बेईंदिया, तेईंदिया,

चउरिंदिया, पंचिंदिया ॥ ६ ॥

अभिहया, वत्तिया, लेसिया,

संघाइया, संघट्टिया, परियाविया,

फिलाभिया, उइरिया,

ठाणाओ ठाणं संकाभिया,

जीवियाओ ववरोविया,

तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ॥७॥

शब्दार्थ

भगवं = हे भगवन् !

इच्छाकरेण = इच्छापूर्वक

संदिसह = आज्ञा दीजिए

इरियावहियं = ऐर्यापथिकी (आने

जाने की) किया का

पडिकमामि = प्रतिक्रमण करूँ

(गुरुजनों की ओर से आज्ञा मिल

जाने पर, या अपने संकल्प से ही

आज्ञा स्वीकार करके अब साधक

कहता है]

इच्छं = आपकी आज्ञा शिरोधार्य है

भावार्थ

भगवन् ! इच्छा के अनुसार आज्ञा दीजिए कि मैं ऐर्यापथिकी =
गमन मार्ग में अथवा स्वीकृत धर्माचरण में होने वाली पापक्रिया का
प्रतिक्रमण करूँ ?.....

(५)

उत्तरीकरण-सूत्र

तस्स

उत्तरीकरणेणं,

पायच्छित्त-करणेणं,

विसोही-करणेणं,

विसल्ली-करणेणं,

पावाणं कम्माणं

निग्घायणद्ठाणं,

ठामि काउस्सगं ॥१॥

१—शेष पाठ का शब्दार्थ और भावार्थ श्रमण-सूत्र के ५४ वें पृष्ठ
पर देखिए ।

शब्दार्थ

तत्स = उसकी, नृषित स्वात्मा की निर्मलीकरणेण = शून्य से रहित
 अक्षरीकरणेण = विशेष अक्षरद्वारा करने के लिए
 के लिए पावाण कृम्माण = पाप कर्मों के
 पापच्छिन्नकरणेण = प्रायश्चित्त करने निग्राहणद्वारेण = विनाश के लिए
 के लिए कण्टकश्या = कायोत्सर्ग अर्थात्
 विनाशी करणेण = विशेष निर्मलता शरीर की क्रिया का त्याग
 के लिए दामि = करता हूँ

भावार्थ

आत्मा की विशेष स्वरूपा = शून्य के लिए, प्रायश्चित्त के लिए
 विशेष निर्मलता के लिए, शून्य रहित होने के लिए, पाप कर्मों का
 पूर्णतया विनाश करने के लिए, मैं कायोत्सर्ग करता हूँ, अर्थात् आत्म
 विकास की प्राप्ति के लिए शरीरमण्डली समस्त वचन व्यापारों का
 त्याग करता हूँ ।

(६)

आगार-सूत्र

अनन्त

उममिणो नोममिणो,

सामिणो, क्षीणो,

लंभाइणो,

उद्धुणो,

वायनिमग्गेणो,

भमलीए, पित्तमुच्छाए

मुहुमंदि अंगसंचालेदि,

सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं,
 सुहुमेहिं दिट्ठि-संचालेहिं ।
 एवमाइएहिं आगारेहिं,
 अभग्गो, अविराहिओ,
 हुज्ज मे काउस्सग्गो ।
 जाव अरिहंताणं भगवंताणं,
 नमुक्कारेणं, न पारेमि,
 ताव कायं ठाणेणं, मोणेणं,
 भाणेणं,
 अप्पाणं, वोसिरामि ।

शब्दार्थ

अन्नत्थ = आगे कहे जाने वाले
 आगारों के सिवाय कायो-
 त्थर्ग में शेष काय-व्या-
 पारों का त्याग करता हूँ

ऊससिएणं = ऊँचा श्वास लेने से

नीससिएणं = नीचा श्वास लेने से

खासिएणं = खासी से

छीएणं = छींक से

जंभाइएणं = जंभाई, उबासी लेने से

उड्डुएणं = डकार लेने से

चायनिसग्गेणं = अधोवायु निक-
 लने से

भमलीए = चकर आने से

नित्तमुच्छ्राए = पित्तविकार के

कारण मूर्छा आ-
 जाने से

सुहुमेहिं = सूक्ष्म, थोड़ा-सा भी

अंग संचालेहिं = अंग के संचार से

सुहुमेहिं = सूक्ष्म, थोड़ा-सा भी

खेल संचालेहिं = कफ के संचार से

सुहुमेहिं = सूक्ष्म, थोड़ा सा भी

दिट्ठिसंचालेहिं = दृष्टि, नेत्र के संचार
 से

एवमादयदि = इत्यादि^१

अगारेदि = आगारों से, अपवादों से

मे = मेरा

काउत्सगो = कायोत्सर्ग

अभगो = अभग्न

अविगदिशो = अविराधित, अगंदिन

दुग्ज = होवे

[कायोत्सर्ग कर तरु]

जान = जब तक

अरिहताय = अरिहंत

भगवताय = भगवानों को

नमुक्कारेण = नमस्कार करके,

‘पानी प्रकट रूप में

‘नमी अरि-

इंताण’ बोल

न पारेमि = कायोत्सर्ग न पारू

ताय = तब तक (‘मै’)

टारणाय = एक स्थान पर स्थिर रह कर

मोणाय = मौन रह कर

भाणाय = ध्यानस्थ रह कर

अपाय = अपने

काय = शरीर को

धोसिरामि = धोसिराता-हूँ,
स्वागत है

‘आचार्य’

कायोत्सर्ग में काय-व्यापारों का परित्याग करता हूँ, निश्चल हो हूँ, परन्तु जो शारीरिक क्रियाएँ अशक्य परिहार होने के कारण स्वभाव हरकत में आ जाँती हैं, वे नको छोड़कर ।

उच्छ्वासिच्छ्वासाश्वास, निश्वास = नीचाँ खीस, कासित खाँसी, दिको = छुँक, उघासी, दकार, अपान वायु, चैर्कर, पि विकोरजन्य मूर्च्छा, सूक्ष्म रूप से अंगा का हिलना, सूक्ष्म रूप कंक का निकलना, सूक्ष्म रूप से नेत्रों का हरेकत में आ जान इत्यादि आगारों से मेरा कायोत्सर्ग अभग्न एवं अविराधित हो ।

१—‘आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने आवश्यक नियुक्ति में आदिश का निर्दिष्ट करने के लिए लिखा है कि यदि अग्नि का उपद्रव हो, पञ्चेति प्राणी का छेदन-भेदन हो, सर्प आदि अग्नि को अथवा किसी दूसरे काट खाए तो आत्म रक्षा के लिए एव दूसरा भी सहायता करने के लिए ध्यान सोला जा सकता है ।

जब तक अरिहंत भगवान् की नगस्यार न कर लूँ, सुधार्ण 'नमो अरिहंताय' न पढ़ लूँ, तब तक एक स्थान पर स्थिर रहकर, मौन रहकर, धर्म ध्यान में चित्त की एकाग्रता करके अपने शरीर की पाप-व्यापारों से घेमिरावा हूँ = अलग करता हूँ ।

(७)

चतुर्विंशतिस्तव-सूत्र

लोगस्स उज्जोययरे,
धम्म-तित्थयरे जिणे ।
अरिहंते कित्तइस्सं,
चउचीसं पि केवली ॥ १ ॥

उसभमजियं च वंदे,
संभवमभिणंदणं च सुमइं च ।
पडमप्पहं सुपासं,
जिएं च चंदप्पहं वंदे ॥ २ ॥

सुविहिं च पुण्फदंतं,
सीअल-सिज्जंस-वासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं च जिएं,
धम्मं संतिं च वंदामि ॥ ३ ॥

कुंथुं अरं च मल्लिं,
वंदे सुणिसुव्वयं जमिजिएं च ।

वंदामि रिट्ठनेमि,
 पासं तद्द वद्धमाणं च ॥ ४ ॥
 एणं मए अभियुआ,
 विहुय-रयमला, पहीणजरमरणा ।
 चउवीसं पि जिखवरा,
 तित्थयरा मे पसीयंतु ॥ ५ ॥
 कित्तिव-वंदिय-महिया,
 जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा ।
 आरुग्गवोहिलाभं,
 समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥ ६ ॥
 चंदेसु निम्मलयरा,
 आइच्चेसु अहियं पयामयरा ।
 सण्णर-अर-संभीरा,
 मिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

लोगस्स = लोक में	चउवीसपि = चौबीसों ही
उज्जोयगरे = ज्ञान का प्रकाश करने वाले	पेवली = केवल ज्ञानियों का
धम्मतित्थयरे = धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले	कित्तिस्स = कीर्ति न करूँगा
जिणे = रागद्वेष के विजेता	उत्तम = ऋषभदेव को
अरिहंते = अरिहंत भगवान्	च = और
	अजिय = अजितनाथ को
	वदे = वन्दना करता हूँ

संभवं = संभव को

अभिणंदणं च = और अभिनन्दन को

सुमहं च = और सुमति को

पउमप्पहं = पद्मप्रभ को

सुपासं = सुपार्श्व को

च = और

चंदप्पहं = चन्द्रप्रभ

जिणं = जिन को

वंदे = वन्दना करता हूँ

सुविहिं च = और सुविधि, अर्थात्

पुष्पदंतं = पुष्पदन्त को

सीअल = शीतल

सिज्जंस = श्रेयांस को

वासुपुज्जं च = और वासुपूज्य को

वेमलं = विमल को

अणंतं च जिणं = और अनन्त जिन को

धम्मं = धर्मनाथ को

संतिं च = और शान्तिनाथ को

वंदामि = वन्दना करता हूँ

कुंथुं = कुन्धुनाथ को

अरं च = और अरनाथ को

मल्लिं = मल्लि को

मुणि सुव्वयं = मुनिसुव्रत को

च = और

नभिजिणं = नमि जिनको

वन्दे = वन्दना करता हूँ

रिट्ठिनेमिं = अरिष्टनेमि को

पासं = पार्श्वनाथ को

तह = तथा

वद्धमाणं = वर्द्धमान स्वामी को

वंदामि = वन्दना करता हूँ

एवं = इस प्रकार

मए = मेरे द्वारा

अभिथुआ = स्तुति किए गए

विहुयरयमला = कर्मरूपी रज तथा मल से रहित

पहीण जरमरणा = जरा और मरण से मुक्त

चउवीसंपि = ऐसे चौबीसों ही

जिणवरा = जिनवर

तिथयरा = तीर्थंकर देव

मे = मुझ पर

पसीयंतु = प्रसन्न होवें

जे = जो

ए = ये

लोगरा = लोक में

उत्तमा = उत्तम,

सिद्धा = तीर्थंकर सिद्ध भगवान

कित्तिय = वचन से कीर्तित, स्तुति किए गए

वदिय = मस्तक से वन्दित
 महिया = भाव से पूजित,
 अरुण = आरोग्य, आत्मिक शान्ति
 बोदिलोम = सम्यग्दर्शन-रूप
 बोधि का लाभ
 समादिरसुत्तम = उत्तम समाधि
 दितु = देवें
 चदेसु = चन्द्रमाद्यो से
 निम्मलयरा = निर्मलतर

आइच्चेसु = सूर्यों से भी
 अरिय = अदिक
 पयासयरा = प्रकाश करने वाले
 सागरयर = महासागर से भी अधिक
 गंभीरा = गंभीर, अशुद्ध
 सिद्धा - तीर्थंकर सिद्ध भगवान्
 मम - मुझे
 सिद्धि = सिद्धि, कर्मों से मुक्ति
 दिसनु = दवे

भाषार्थ

अखिल विश्व में धर्म का उद्घोष = प्रकाश करने वाले, धर्म-
 तीर्थ की स्थापना करने वाले, (राग द्वेष के) जीतने वाले, (अतरङ्ग-
 काम छोड़ादि) शत्रुओं को नष्ट करने वाले, केवलशायी चौबीस
 तीर्थंकरों का मैं कीर्तन करूँगा = स्तुति करूँगा ॥ १ ॥

श्री अष्टमदश, श्री अजितनाथ जी को वन्दना करता हूँ । सम्भव,
 अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपारव, श्रीर राग-द्वेष के विजेता चन्द्र-
 प्रभ तिनको नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥

श्री पुण्ड्रन्त (सुधिमिताथ), शीतल, श्रेयास, वासुदेव,
 विमलनाथ, राग द्वेष के विजेता अनन्त, धर्म तथा श्री शान्ति नाथ
 भगवान को नमस्कार करता हूँ ॥ ३ ॥

श्री कुण्डुनाथ, धरनाथ, भगवती मन्त्री, मुनि सुमत्त, पूर्व रागद्वेष
 के विजेता नमिनाथ जी को वन्दना करता हूँ । इसी प्रकार अरिष्टनेमि,
 पारयनाथ, अठ्ठम तीर्थंकर परमान (महावीर) स्वामी को
 नमस्कार करता हूँ ॥ ४ ॥

जिनकी मैंने स्तुति की है, जो कर्म रूप-धूल तथा मल से रहित हैं, जो जरा-मरण दोषों से सर्वथा मुक्त हैं, वे अन्तःशत्रुओं पर विजय पाने वाले धर्म प्रवर्तक चौबीस तीर्थंकर मुक्त पर प्रसन्न हों ॥ ५ ॥

जिनकी इन्द्रादि देवों तथा मनुष्यों ने स्तुति की है, वन्दना की है, भाव से 'पूजा' की है, 'और' जो 'अखिल' संसार में 'सबसे' उत्तम हैं, वे सिद्ध = तीर्थंकर भगवान् मुझे अरोग्य = सिद्धत्व अर्थात् आत्मशान्ति, बोधि = सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय का पूर्ण लाभ, तथा उत्तम समाधि प्रदान करें ॥ ६ ॥

जो अनेक कोटा-कोटि चन्द्रमाओं से भी विशेष निर्मल हैं, जो सूर्यों से भी अधिक प्रकाशमान हैं, जो स्वयम्भूरमण जैसे महासमुद्र से भी अधिक गम्भीर हैं; वे तीर्थंकर सिद्ध भगवान् मुझे सिद्धि प्रदान करें, अर्थात् उनके आलम्बन से मुझे सिद्धि = मोक्ष प्राप्त हो ॥ ७ ॥

(८)

प्रणिपात-सूत्र

नमोत्थुणं !

अरिहंताणं, भगवंताणं, ॥१॥

आइगराणं,

तित्थयराणं, सयं-संबुद्धाणं ॥२॥

पुरिखुत्तमाणं, पुरिस-सीहाणं,

पुरिसवरपुण्डरियाणं, पुरिसवरगंधहत्थीणं, ॥३॥

लोगुत्तमाणं, लोगनाहाणं, लोगहियाणं,

लोगपईवाणं, लोग-पज्जोयगराणं ॥४॥

अभयदयाणं, चक्रसुदयाणं, मग्गदयाणं,
 सरणदयाणं, जीवदयाणं, बोहिदयाणं ॥५॥
 धम्मदयाणं, धम्मदेसयाणं, धम्मनायगाणं,
 धम्ममारहीणं, धम्मसरचाउरंत-चरुवट्ठीणं ॥६॥
 दीन-ताण-सरण-गइ-पइट्ठाणं,
 अप्पडिहय-वरणाण-दंसणधराणं, वियट्ठउमाणं ॥७॥
 जिणाणं, जावयाणं, तिण्णाणं, तारयाणं,
 बुद्धाणं, बोहयाणं, मुत्ताणं, मोधगाणं ॥८॥
 सब्ब-न्नूणं, सब्ब-दरिसीणं,
 सिरमयलमस्यमणंतमस्सयमन्नावाह,—
 मपुण्णारित्ति-सिद्धिगइनामधेयं^१ ठाणं संपत्ताणं,
 नमो जिणाणं, जियभयाणं ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

नमाधुण = नमस्कार हो

अरिहताण = अरिहन्त

भगवताण = भगवान् को

[भगवान् कैसे हैं ?]

आइगराण = धर्म की आदि करने वाले

जियभयाण = धर्म तीर्थ की

स्थापना करने वाले

सर्वसुबुद्धाण = अपने आप ही

सम्यक् बोध को पाने वाले

पुरिमुत्तमाण = पुरुषों में श्रेष्ठ

पुरिससीहाण = पुरुषों में सिंह

पुरिखरपु डरियाण = पुरुषों में

श्रेष्ठ श्वेतकमल के समान

^१ — अरिहन्त स्तुति में 'ठाण संपत्ताण' के स्थान पर 'ठाण संगविउ कामाण, कहना चाहिए ।

शब्दार्थ

पुरिसं = पुरुषों में

गइ = गति-प्राप्तरूप

वरगंधहस्तीणं = श्रेष्ठ गन्धहस्ती

मइन्द्राणं = प्रतिष्ठा-प्राप्तरूप

लोगुज्जमाणं = लोक में उत्तम

अप्रतिष्ठय = अप्रतिष्ठित किसी भी

लोगनाह्राणं = लोक के नाथ

रक्षावट में अनेक बाले, जिसे

लोगहियाणं = लोक के हितकारी

वर नाणदंसणधराणं = श्रेष्ठ ज्ञान

लोगपईवाणं = लोक में दीपक

दर्शन के धारक

लोगपज्जोयगराणं = लोक में ज्ञान

वियइ छउमाणं = छद्म-प्रमाद से

का प्रकाश करने वाले

रहित

अभय दयाणं = अभयदान देने वाले

जिणाणं = राग-द्वेष के जीतने

चक्खुदयाणं = ज्ञान नेत्र के देने

वाले

मग्गदयाणं = मोक्षमार्ग के दाता

जात्रयाणं = दूसरों को जिताने वाले

सरणदयाणं = शरण के दाता

तिन्नाणं = स्वयं संसार आगर से

जीवदयाणं = संयमजीवन के दाता

तरे हुए

बोहिदयाणं = सम्प्रवृत्तरूप बोधि, के दाता

तारयाणं = दूसरे को तारने वाले

धम्मदयाणं = धर्म के दाता

बुद्धाणं = स्वर्ग-बोध को प्राप्त हुए

धम्मदेसयाणं = धर्म के उपदेशक

बोहयाणं = दूसरों को बोध देने

धम्मनायगाणं = धर्म के नेता

वाले

धम्मसारहीणं = धर्मरथ के सारथी

मुत्ताणं = स्वयं कर्मों से मुक्त

धम्मवर = धर्म के सबसे श्रेष्ठ

मोयगाणं = दूसरों को मुक्त कराने

चाउरंत = चारों गति के अन्त

सव्वन्तूणं = सर्वज्ञ

चक्कवट्टीणं = (धर्म) चक्रवर्ती

सव्वदरिसीणं = सर्वदर्शी तथा

दीव = (भवसागर में) द्वीपरूप

सिवं = शिव, कल्याणरूप

ताण = रक्षारूप

अयलं = अचल, स्थिर स्वरूप

सरण = शरणरूप

अरुयं = अरुज, रोग से रहित

अणंतं = अनंत, अन्त से रहित

अकल्यं = अक्षय, क्षय से रहित

अव्याबाह = अव्याधाध, बाधा से
रहित

अपुनरावृत्ति = अपुनरावृत्ति, पुनरा-
गमन से रहित, (ऐसे)

सिद्धिगद्गनामधेय = सिद्धिगति
नामक

टाण = स्थान, पद को

संगतार्ण = प्राप्त करने वाले

नमो = नमस्कार हो

जिणार्ण = जिन भगवान को

जियमयार्ण = भय पर विजय पाने
वालों को

भाषार्थ

श्री अरिहंत भगवान् को नमस्कार हो । (अरिहंत भगवान् कैसे हैं ?) धर्म की आदि करने वाले हैं, धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले हैं, अपने आप प्रबुद्ध हुए हैं ।

पुरुषों में श्रेष्ठ हैं, पुरुषों में सिंह हैं, पुरुषों में पुण्डरीक कमल हैं, पुरुषों में श्रेष्ठ गन्ध हस्ती हैं । लोक में उत्तम हैं, लोक के नाथ हैं, लोक के हितकर्ता हैं, लोक में दीपक हैं, लोक में उद्घोष करने वाले हैं ।

अमय देने वाले हैं, ज्ञान रूपी नेत्र के देने वाले हैं, धर्ममार्ग के देने वाले हैं, शरण के देने वाले हैं, धर्म के दाता हैं, धर्म के उपदेशक हैं, धर्म के नेता हैं, धर्म के सारथी = संचालक हैं ।

चार गति के अन्त करने वाले श्रेष्ठ धर्म के चक्रवर्ती हैं, अप्रतिहत एवं श्रेष्ठ ज्ञान दर्शन के धारण करने वाले हैं, ज्ञानारण्य आदि घातिक कर्म से अथवा प्रमाद से रहित हैं ।

स्वयं राग-द्वेष के जीतने वाले हैं, दूसरों को जीताने वाले हैं, स्वयं संसारसागर से तर गए हैं, दूसरों को तारने वाले हैं, स्वयं बोध पा चुके हैं, दूसरों को बोध देने वाले हैं, स्वयं कर्म से मुक्त हैं, दूसरों को मुक्त कराने वाले हैं ।

सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं । तथा शिव = कल्याणरूप भवज = स्थिर,

अरुज = रोग रहित, अनन्त = अन्तरहित, अक्षय = क्षयरहित, अत्र्या-
बाध = बाधा पीड़ा रहित, अपुनरावृत्ति = पुनरागमन से रहित अर्थात्
जन्म मरण से रहित, सिद्धि गति नामक स्थान को प्राप्त कर चुके हैं,
भय के जीतने वाले हैं, राग-द्वेष के जीतने वाले हैं—उन जिन
भगवानों को मेरा नमस्कार हो ।'

१—श्रमण सूत्र के अतिरिक्त जो प्राकृत पाठ हैं, उनका यह शेष-
सूत्र के नाम से संग्रह कर दिया है । इनका विवेचन लेखक की सामायिक-
सूत्र नामक पुस्तक में देखिए ।

३ ५ १

संस्कृतच्छायाऽनुवाद

[श्रमण सूत्र]

(१)

नमस्कार सूत्र

नमोऽर्हद्भ्यः

नमः सिद्धेभ्यः

नम आचार्येभ्यः

नम उपाध्यायेभ्यः

नमो लोके सर्व साधुभ्यः ।

(२)

सामायिक सूत्र

करोमि भदन्त ! * सामायिकम्,

सर्वं सापद्यम् = स गप-याप सहित, योगम्=व्यापारं प्रत्याख्यामि =
प्रत्याचक्षे २ याजीवया = यावजीवनम्, यावत् मम जीवनपरिमाणं तावत्

१—‘भवान्त ! इति हरिभद्राः

२—“यावजीवता, तथा यावजीवतया । तत्रालातणिकघर्णलोपात्
‘जावजीवाण’ इति सिद्धम् । अथवा प्रत्याख्यानक्रिया अन्यपदार्थ इति
तामभिप्रेक्ष्य समासो बहुव्रीहिः, यावजीवो मयां वा यावजीवा तथा ।”

—हरिभद्री ४ आवश्यक वृत्ति

त्रिविधं^१ त्रिविधेन^२
 मनसा वाचा कायेन
 न करोमि, न कारयामि,
 कुर्वन्तमपि अन्यं न समनुजानामि = नानुमन्येऽहम्
 तस्य^३ भदन्त !
 प्रतिक्रमामि = निवर्त्तयामि
 निन्दामि = स्वसाक्षिकं जुगुप्से
 गहे^४ = भवत्साक्षिकं जुगुप्से
 आत्मानं = अतीतसावद्ययोगकारिणम्
 व्युत्सृजामि = त्रिविधं विशेषेण वा भृशं त्यजामि !

(३)

मङ्गल-सूत्र

चत्वारः [पदार्था इतिगम्यते] मङ्गलम्
 अर्हन्तो मङ्गलम्
 सिद्धा मङ्गलम्
 साधवो मङ्गलम्
 केवलि-प्रज्ञप्तो धर्मो मङ्गलम् ।

१—तिस्रो विधा यस्य सावद्य-योगस्य स त्रिविधः, स च प्रत्याख्येय-
 त्वेन कर्म संपद्यते, कर्मणि च द्वितीया विभक्तिः, अतस्तं त्रिविधं योगं—
 मनोवाक्कायच्यापारलक्षणम् ।

२—त्रिविधेनेति करणे तृतीया ।

३—तस्य इत्यधिकृतो योगः संबध्यते । कर्मणि द्वितीया प्राप्ताऽपि
 अवयवावयविसम्बन्धलक्षणा पठ्यते ।

(४)

उत्तम-सूत्र

चत्वारो लोकोत्तमा
 अर्हन्तो लोकोत्तमा
 सिद्धा लोकोत्तमा.
 साधवो लोकोत्तमा.
 केवलं प्रज्ञातो धर्मो लोकोत्तमः ।

(५)

शरण-सूत्र

चतुरः शरणं प्रपद्ये
 अर्हन्तं शरणं प्रपद्ये
 सिद्धान् शरणं प्रपद्ये
 साधून् शरणं प्रपद्ये
 केवलं प्रज्ञातं धर्मं शरणं प्रपद्ये ।

(६)

संक्षिप्त प्रतिक्रमण-सूत्र

इच्छामि = अभिलषामि, प्रतिक्रमितुम् = निवर्तितुम्, [तस्य]
 यो मया देवसिकः = दिवसेन निवृत्तो दिवसपरिमाणो वा देवासकः,
 अतिचारः = अतिचरण अतिचार अतिक्रम इत्यर्थः, कृत = निवर्तित
 [तस्य इति योगः]

[कतिविध अतिचारः ?] कायिक = कायेन शरीरेण निवृत्तः

कायिकः कायकृत इत्यर्थः, वाचिकः = वाक्कृतः, मानसिकः = मनःकृतः ।

[पुनः किं स्वरूपः कायिको वाचिकश्च ?] उत्सूत्रः = ऊर्ध्वं सूत्राद् उत्सूत्रः सूत्रानुक्त इत्यर्थः, उन्मार्गः, अकल्पः (लप्यः) = कल्पो विधिः आचारः न कल्पः अकल्पः, कल्प्यः = चरणकरणव्यापारः न कल्प्यः अकल्प्यः, अकरणीयः ।

[मानसिकः किं स्वरूपः ?] दुर्ध्यातः = दुष्टो ध्यातः दुर्ध्यातः, दुर्विचिन्तितः, अनाचारः, अनेष्टव्यः = मनागपि मनसाऽपि न प्रार्थनीयः, अश्रमणप्रायोग्यः = न श्रमणप्रायोग्यः श्रमणानुचित इत्यर्थः,

[किं विषयोऽतिचारः ?] ज्ञाने तथा दर्शने चारित्रे

[भेदेन वर्णयति] श्रुते, सामायिके

[सामायिकातिचारं भेदेनाह] तिसृणां गुप्तीनां, चतुर्णां कषायाणां, पञ्चानां महाव्रतानां, षण्णां जीवनिकायानां, सप्तानां पिण्डैषणानां, अष्टानां प्रवचनमातृणां, नवानां ब्रह्मचर्यं गुप्तीनां, दशविधे श्रमण धर्मे श्रमणानां योगानाम् = व्यापारणाम्

यत्खण्डितं = देशतो भग्नं, यद्विराधितं = सुतरां भग्नम् तस्य मिथ्या सम दुष्कृतम् !

(७)

ऐर्यापथिक-सूत्र

इच्छामि प्रतिक्रमितुम् ईर्यापथिकायां विराधनायाम् [योऽतिचार इति वाक्यशेषः]

गमनागमने, प्राणोक्रमणे = प्राण्याक्रमणे, बीजाक्रमणे, हरिता-क्रमणे, अवश्यया - उत्तिङ्ग - पनक-दक-मृत्तिका-मर्कट-संतान-संक्रमणे [सति इति वाक्यशेषः]

ये मया जीवा विराधिताः = दुःखेन स्थापिताः ।

एकेन्द्रियाः, द्वीन्द्रियाः, त्रीन्द्रियाः, चतुरिन्द्रियाः,
पञ्चेन्द्रियाः ।

अभिहृताः = अभिमुखागता हताः, चरणेन घटिता, उत्तिष्ठ्य हिता
वा, वर्तिताः = पुञ्जीकृता, भूत्या वा रथगिताः, श्लेषिताः = मिष्टा,
भूम्यादिषु वा लगिताः, संघातिताः = अन्योऽन्यं गात्रैरेकत्र लगिताः,
संघट्टिताः = मनाक् स्पृष्टाः, परितापिताः = समन्ततः पीडिताः, क्लेश-
मिताः = समुदघातं नीताः, श्लानिमापादिताः, अवद्राविताः = उत्त्रा-
सिताः, स्थानात्स्थानान्तरं संक्रामिताः = स्वस्थानात् परं स्थानं-
नीताः, जीविताद् व्यपरोपिताः = व्यापादिताः

तस्य = अतिचारस्य, मिथ्या मम दुष्कृतम् ।

॥ ८ ॥

शय्या-सूत्र

इच्छासि भासिकासितुं प्रकाशशय्या = शयनं शय्या प्रकाश-चतु-
र्यामं शयनं प्रकाशशय्या तथा, दीर्घकालशयनेन^१, निष्कामशय्या =
प्रतिदिनं प्रकाशशय्यैव निष्कामशय्या उच्यते तथा, उद्वर्तनया = तद्व्यथ-
मतया वामपार्श्वेन सुप्तस्य दक्षिणपार्श्वेन वर्तनम् उद्वर्तनम्, उद्वर्तनमेव
उद्वर्तना तथा, परिवर्तनया = पुनर्वांमपार्श्वेनैव परिवर्तनम् तदेव परि-
वर्तना तथा, आकुञ्चनया = हस्तपादादीनां सङ्कोचनया, प्रसारणया =
हस्तपादादीनां विक्षेपणया, पट्टपदिकार्जघट्टनया = युक्तानां रगर्जनया —

फूजिते = अग्निभिना अयननया वासिते सति, कर्करायिते = विषमे-
यमित्यादि शय्यादोगोच्चारणे, चुते, = अग्निभिना जृम्भिते, ग्रामर्षे = अग्र-

१—शेस्तेभ्यमिति वा शय्या सस्तारकादिलक्षणा प्रकामा, वत्क्या
शय्या प्रकामशय्या—सस्तारोत्तरपट्टकालिपिका प्राग्रस्यमधिकृत्य कक्ष-
श्यालिपिका वा तथा हेतुमत्तया ।

मृज्य करेण स्पर्शने, सरजस्कामर्पे = प्रथिव्यादिरजसा सह यद् वस्तु स्पृष्टं तत्संस्पर्शं सति,—

आकुलाकुलया = स्त्र्यादिपरिभोगविवाहयुद्धादिसंस्पर्शननानाप्रकारया, स्वप्नप्रत्ययया = स्वप्ननिमित्तया, विराधनया स्त्रीवैपर्यासिकया = स्त्रिया विपर्यासो अन्नह्रस्वेवनं तस्मिन् भवा स्त्री वैपर्यासिकी तथा, दृष्टिवैपर्यासिकया = स्त्रीदर्शनानुरागतस्तदवलोकनं दृष्टिविपर्यासः तस्मिन् भवा दृष्टिवैपर्यासिकी तथा, मनोवैपर्यासिकया = मनसा अभ्युपपातो मनोविपर्यासः तस्मिन् भवा मनोवैपर्यासिकी तथा, पानभोजनवैपर्यासिकया = रात्रौ पानभोजनपरिभोग एव तद् विपर्यासः तस्मिन् भवा पानभोजन वैपर्यासिकी तथा [विराधनया इति शेषः सर्वत्र]

यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः
तस्य मिथ्यां मम दुष्कृतम् !

(६)

गोचरचर्या-सूत्र

प्रतिक्रमामि गोचरचर्यायां गोश्चरणं गोचरः, चरणं चर्या, गोचर इव चर्या गोचरचर्या तस्याम्, भिक्षाचर्यायां = भिक्षार्थं चर्या भिक्षाचर्या तस्याम्,

उद्घाटकपाटोद्घाटनया = उद्घाटं अदत्तार्गलं ईपत्स्थगितं वा कपाटम् तस्योद्घाटनं, तदेव उद्घाटकपाटोद्घाटना तथा; श्वचत्सदारकसंघट्टनया; मण्डी प्राभृतिकया = रात्रान्तरेऽङ्कुरं कृत्वा यां प्राभृतिकां भिक्षां ददाति सा मण्डीप्राभृतिका तथा, बलिप्राभृतिकया = चतुर्दिशं बह्वौ वा बलिं क्षिप्तवां ददाति यस्यां बलिप्राभृतिका तथा, स्थापनाप्राभृतिकया = भिक्षाचर्यं स्थापिता स्थापनोप्राभृतिका तथा—

शङ्किते = आधाकर्मादिदोषाणामन्यतमेन शङ्किते गृहीते सति, सहसाकारे = भ्रष्टव्यकल्पनीये गृहीते सति,—

अनेपणया=अनेन प्रकारेण अनेपणया हेतुभूतया; प्राणभोजनया=प्राणिनो रणजादयः भोजने दृष्योदनादौ विराध्यन्ते यस्यां प्राभूतिकार्या नाप्राणभोजना तथा, पीजभोजनया, हरितभोजनया, परचात्कर्मिकया=पश्चाद्दानानन्तरं कर्म जलोष्मनादि यस्यां नापश्चात्कर्मिका तथा; पुरः कर्मिकया = पुरः आदौ कर्म यस्यां सा पुरः कर्मिका तथा; अट्टष्टाहृतया=अट्टश्लोक्षेगमिच्छेगमानीतया उदकसमृष्टाहृतया = जलसम्पदानातया; रजः संसृष्टाहृतया; पारिशाटनिकया=परिशाटन उज्ज्वलं तस्मिन् मया पारिशाटनिका तथा; 'पारिष्ठापनिकया = परिष्ठापनं प्रदानमात्रं गतद्रव्यस्याभ्यरिम्न पात्रे उज्ज्वलं तेन निवृत्ता पारिष्ठापनिकी तथा; अथवा परि मरैः प्रकारैः स्थापनं परिस्थापनमपुनर्ग्रहणतया न्यायः, तेन निवृत्ता पारिष्ठापनिकी तथा; अवभाषणभिक्षया = अवभाषणेन निशिष्ट द्रव्यं याचनेन लब्धा भिक्षा अवभाषणभिक्षा तथा;

यद्=अशनादि उद्गमेन = आधाकर्मादिलक्षणेन; उत्पादनया = धान्यादिलक्षणा, एषणया=शङ्कितदिलक्षणा; अपरिशुद्धं परिगृहीतं परिभुक्तं वा, यत् न परिष्ठापितम्=कथंचित्परिगृहीतमपि सद्यो भोजनं यन्नोन्मिश्रितम्, परिभुक्तमपि च भावतः अपुनः करणादिना प्रकारेण नोन्मिश्रितम्,

तस्य मिध्या मम दुष्कृतम् !

(१०)

काल प्रतिलेखना-सूत्र

प्रतिक्रमामि चतुष्कालं = दिवसरात्रि-प्रथमचरमग्रहरेषु, स्वाध्यायस्य = सूत्रपौरुषलक्षणस्य; अकरणतया = अनासेवनतया हेतुभूतया [यो मया दैवमिकोर्षतिचारः तस्य इति योगः]

उभयकालं = प्रथमपश्चिम पौरुषीलक्षणे काले; भाण्डोपकरणस्य = पात्रवस्त्रादेः, अप्रत्युपेक्षणया = मूलत एव चक्षुषा अनिरीक्षणया;

दुष्प्रत्युपेक्षया = दुर्निरीक्ष्यत्वजनयः; अप्रमार्जनया = मूलत एव
रजोहरणादिनाश्वसनया, दुष्प्रमार्जनया = अतिधिना प्रमार्जनया,

अतिक्रमे, व्यतिक्रमे, अतिचारे, अनाचारे,

यो मया देवसिकः अतिचारः कृतः।

तस्य मिथ्या मम दुष्कृतम् !

(११)

असंयम सूत्र

प्रतिक्रमामि एकविधे = एकप्रकारे असंयमे [= अविरतिलक्षणे
अति अप्रतिषिद्धकरणादिना यो मया देवसिकोऽतिचारः कृत इति गम्यते
तस्य मिथ्या दुष्कृतमिति सम्बन्धः । एवमन्यत्राऽपि योजनता कार्या]

(१२)

घन्धन सूत्र

प्रतिक्रमामि द्वाभ्यां घन्धनाग्र्याम् = हेतुभूताभ्याम् [योऽतिचारः
कृतस्तस्मात्]

(१) राग-घन्धनेन, (२) द्वेष-घन्धनेन !

(१३)

दण्ड सूत्र

प्रतिक्रमामि त्रिभिः दण्डैः = हेतुभूतैर्योऽतिचारस्तस्मात्

(१) मनोदण्डेन, (२) वचोदण्डेन (३) कायदण्डेन ।

(१४)

गुप्ति सूत्र

प्रतिक्रमामि तिसृभिः गुप्तिभिः = सम्यग् अपरिपालिताभिः
हेतुभूताभिः ।

(१) मनोगुप्त्या, (२) वचोगुप्त्या, (३) कायगुप्त्या !

(१५)

शल्य सूत्र

प्रतिक्रमामि त्रिभिः शल्यैः,—

(१) मायाशल्येन (२) निदानशल्येन (३) मिथ्या-
दर्शनशल्येन ।

(१६)

गौरव सूत्र

प्रतिक्रमामि त्रिभिः गौरवैः,—

(१) शृङ्गिगौरवेण, (२) रसगौरवेण, (३) सातगौरवेण ।

(१७)

विराधना सूत्र

प्रतिक्रमामि तिसृभिः विराधनाभिः,—

(१) ज्ञानविराधनया, (२) दर्शनविराधनया (३) चारि-
त्रविराधनया ।

(१८)

कषाय सूत्र

प्रतिक्रमामि चतुर्भिः कषायैः,—

(१) क्रोधकषायेन, (२) मानकषायेन
(३) मायारूपायेन, (४) लोभकषायेन ।

(१९)

संज्ञा सूत्र

प्रतिक्रमामि चतुर्भिः संज्ञाभिः,—

(१) आहारसंज्ञया, (२) भयसंज्ञया,
(३) मैथुनसंज्ञया, (४) परिग्रह-संज्ञया ।

(२०)

विकथा सूत्र

प्रतिक्रमामि चतसृभिः विकथाभिः,—

(१) स्त्रीकथया (२) भक्तकथया,

(३) देशकथया (४) राजकथया ।

(२१)

ध्यान सूत्र

प्रतिक्रमामि चतुर्भिः ध्यानैः, [अशुभैः कृतैः शुभैश्चाकृतैः]

(१) आर्तन ध्यानेन, (२) रौद्रेण ध्यानेन

(३) धर्मेण ध्यानेन, (४) शुक्लेन ध्यानेन ।

(२२)

क्रिया—सूत्र

प्रतिक्रमामि पञ्चभिः क्रियाभिः,—

(१) कायिक्या (२) आधिकरणिक्याः

(३) प्राद्वेषिक्या (४) पारितापनिक्या, (५) प्राणाति-
पातक्रियया ।

(२३)

कामगुण सूत्र

प्रतिक्रमामि पञ्चभिः कामगुणैः,—

(१) शब्देन (२) रूपेण, (३) गन्धेन, (४) रसेण,
(५) स्पर्शेन ।

(२४)

महाव्रत सूत्र

प्रतिक्रमामि पञ्चभिः महाव्रतैः = सम्यगपरिपालितैः—

(१) सर्वस्माद् प्राणाविपाताद् विरमणम् (२) सर्वस्माद् मृषावादाद् विरमणम् (३) सर्वस्माद् अदत्तादानाद् विरमणम् (४) सर्वस्माद् मैथुनाद् विरमणम् (५) सर्वस्मान् परिग्रहाद् विरमणम् ।

(२५)

समिति सूत्र

प्रतिप्रमामि पञ्चभिः समितिभिः = सम्पन्नपरिगलिताभिः

(१) ईर्यासमित्या, (२) भाषासमित्या, (३) एषणा-समित्या, (४) आदान भाण्डमात्र निक्षेपणा समित्या, (५) उच्चार-प्रस्रवण-खेल-सिद्धान्त-जल्ल पारिष्टापनिकासमित्या !

(२६)

जीवनिर्णाय सूत्र

प्रतिप्रमामि षड्भिः जीवनिर्णायैः [कथञ्चित्पीडितैः]

(१) पृथिवी कायेन, (२) अप्त्रायेन, (३) तेजः कायेन, (४) वायुकायेन (५) वनस्पतिकायेन (६) प्रसकायेन ।

(२७)

लेश्या सूत्र

प्रतिप्रमामि षड्भिः लेश्याभिः = अशुभाभि इति, शुभाभि रदृताभिः

(१) कृष्णलेश्या, (२) नीललेश्या (३) कापोत-लेश्या, (४) वैजिलेश्या (५) पद्मलेश्या (६) शुक्ल-लेश्या ।

(२८)

भयादि सूत्र

सप्तभिः भयस्थानैः, अष्टभिः मदस्थानैः, नवभिः ब्रह्मभयैः

गुप्तिभिः [सम्यगपालिताभिः] दशविधे श्रमण धर्मे, एकादशभिः
उपासक प्रतिमाभिः [अश्रद्धानवितयप्रवृत्तणाभिः] द्वादशभिः भिक्षु-
प्रतिमाभिः, त्रयोदशभिः क्रियास्थानैः, चतुर्दशभिः भूतग्रामैः
[विराहितैः]; पञ्चदशभिः परमाधार्मिकैः [एतेषां पापकर्मानु-
मोदनाभिः]; षोडशभिः गाथाषोडशैः = सूत्रकृताङ्गावश्रुतस्तन्वाध्ययनैः
[एषामविधिना पठनादिभिः] सप्तदशविधे ऽसंयमे; अष्टादश-
विधेऽत्रद्वयचर्ये; एकोनविंशत्या ज्ञाताध्ययनैः; विंशत्या असमाधि-
स्थानैः; एकविंशत्या शवलैः; द्वाविंशत्या परीपहैः [सम्यगसाहैः]
त्रयोविंशत्या सूत्रकृताध्ययनैः; चतुर्विंशत्या देवैः; पञ्चविंशत्या
भायनाभिः [अभानिताभिः]; षड्विंशत्या दशा-कल्प-व्यवहा-
राणामुद्देशनकालैः [अविधिना गृहीतैः]; सप्तविंशत्या
अनगारगुणैः; अष्टाविंशत्या आचार-प्रकल्पैः; एकोनत्रिंशता
पापश्रुतप्रसङ्गैः [पापकारणश्रुतासेवनैः]; त्रिंशता मोहनीय-
स्थानैः [कृतैः विकीर्णितैर्वा]; एकत्रिंशता सिद्धादिगुणैः;
द्वात्रिंशता योगसंग्रहैः [अननुशीलितैः]; त्रयस्त्रिंशता आशा-
तनाभिः = अवज्ञाभिः—

(१) अर्हतामाशातनया, (२) सिद्धानामाशातनया, (३)
आचार्याणामाशातनया, (४) उपाध्यायानामाशातनया, (५)
साधूनामाशातनया, (६) साध्वीनामाशातनया, (७) आद्य-
काणामाशातनया, (८) आत्रिकाणामाशातनया, (९) देवाना-
माशातनया, (१०) देवीनामाशातनया, (११) इहलोकस्य
आशातनया, (१२) परलोकस्य आशातनया, (१३) केवलि-
प्रज्ञप्तस्य धर्मस्य आशातनया, (१४) सदेवमनुजासुरस्य लोकस्य
आशातनया, (१५) सर्वप्राण-भूत-जीव-सत्त्वानांमाशातनया,
(१६) कालस्य आशातनया, (१७) श्रुतस्य आशातनया,
(१८) श्रुतदेवतायाः, आशातनया, (१९) वाचनाचार्यस्य
आशातनया, (२०) यद् व्याविद्धम् = विपर्यस्तम् (२१) व्यत्या-

अद्वितम् = द्विसिद्धम् (२२) हीनाक्षरम् = त्यक्ताक्षरम् (२३)
 अत्यक्षरम् = अधिकाक्षरम्, (२४) पदहीनम्, (२५) विनयहीनम्
 (२६) योगहीनम् = योगरहितम् (२७) घोषहीनम्,
 (२८) सुष्ठु दत्तम्, (२९) दुष्ठु प्रतीच्छितम्, (३०) अकाले कृतः
 स्वाध्यायः, (३१) काले न कृतः स्वाध्यायः, (३२) अस्वा
 ध्यायिके स्वाध्यायितम्, (३३) स्वाध्यायिके न स्वाध्यायितम्
 यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः।
 तस्य सिध्या मम दुष्कृतम् !

(२६)

अन्तिम प्रतिज्ञा-सूत्र

नमः, चतुर्विंशत्यै तीर्थकरेभ्यः, ऋषभादिमहाधीरपदं
 वसानेभ्यः ।

इदमेव नैर्ग्रन्थं प्रावचनम् = जिनशासनम् सत्यं, अनुत्तरं
 वैवलिकं, प्रतिपूर्णं, नैर्वायिकं = मोक्षगमकं, संशुद्धं, शाल्यकर्तनं
 सिद्धिमार्गः, मुक्तिमार्गः, निर्याणमार्गः = मोक्षमार्गः, निर्याणमार्गः
 आत्यन्तिकसुखमार्गः, अद्वितय, अद्विसन्धि = अव्यवच्छिन्न
 सर्वदुःखप्रहीणमार्गः ।

अत्र स्थिता जीवाः सिद्धयन्ति, वृद्धयन्ते, मुच्यन्ते, परि
 निर्वान्ति, सर्वदुःखानामन्तः = विनाशं कुर्वन्ति ।

तं धर्मं श्रद्धाधे, प्रतिपद्ये, रोचयामि, स्मृशामि, पालयामि
 अनुपालयामि ।

तं धर्मं श्रद्धाधानः, प्रतिपद्यमानः, रोचयन्, स्मृशन्, पालयन्
 अनुपालयन् ।

तस्य धर्मस्य अभ्युत्थितोऽस्मि आराधनायां, विरतोऽस्मि
 विराधनायाम् ।

असंयमं परिजानामि, संयममुपसंपद्ये । अत्रह्य परिजानामि,
ह्य उपसंपद्ये । अकल्पं परिजानामि, कल्पमुपसंपद्ये । अज्ञानं
रिजानामि, ज्ञानमुपसंपद्ये । अक्रियां परिजानामि, क्रियामुप-
पद्ये । मिथ्यात्वं परिजानामि, सम्यक्त्वमुपसंपद्ये । अबोधिं
रिजानामि, बोधिमुपसंपद्ये । अमार्गं परिजानामि, मार्गमुपसंपद्ये ।
यत्स्मरामि, यच् च न स्मरामि । यत्प्रतिक्रमामि, यच् च न
तिक्रमामि । तस्य सर्वस्य देवसिकस्य अतिचारस्य प्रतिक्रमामि ।
अमणोऽहम्, संयत—विरत—प्रतिहत—प्रत्याख्यात—
ापकर्मा, अनिदानः, दृष्टि-सम्यन्तः, मायामृषाविवर्जितः ।

(१)

अर्ध - तृतीयेषु द्वीप—,
समुद्रेषु पञ्चदशसु कर्मभूमिषु ।
यावन्तः केऽपि साधवः,
रजोहरण-गोच्छप्रतिग्रहधराः ॥

(२)

पञ्चमहाव्रतधराः,
अष्टादश-शीलाङ्ग - सहस्र-धराः !
अक्षताचार-चारित्र्याः,
तान् सर्वान् शिरसा मनसा मस्तकेन वन्दे ॥

(३०)

क्षमापना-सूत्र

आचार्य—उपाध्याये,
शिष्ये साधर्मिके कुल-गणे च ।
ये मया केऽपि कपायाः,
सर्वान् त्रिविधेन क्षमयामि ॥

(२)

सर्वस्य , श्रमण - सङ्घस्य,
 भगवतोऽञ्जलिं कृत्वा शीर्षे ।
 सर्वं ; क्षमयित्वा,
 क्षाम्यामि सर्वस्य अहङ्कमपि ॥

(३)

क्षमयामि सर्वान् जीवान्,
 सर्वे जीवाः क्षाम्यन्तु मे ।
 मैत्री मे सर्वभूतेषु,
 धैर्यं मम न केनचित् ॥

(३१)

उपसंहा सूत्र २

एवमहमालोच्य,
 निन्दित्वा गर्हित्वा जुगुप्सित्वा सम्यक् ।
 त्रिविधेन प्रतिक्रान्तो,
 वन्दे जिनान् चतुर्विंशतिम् ॥ १ ॥

परिशिष्ट

(१)

द्वादशावर्तं गुरुवन्दन सूत्र

इच्छामि क्षमाश्रमण ! वन्दितुम् = नमस्कृतुम् [भवन्तम्]
यापनीयया = यथाशक्तियुक्तया, निपेक्षया = प्राणातिपातादिनिवृत्तया
तन्वा अर्थात् शरीरेण । [अतएव]

अनुजानीत = अनुज्ञां प्रयच्छथ मे मितावग्रहं = चतुर्दिशम्
आत्मप्रमाणं भवदधिष्ठितप्रदेशम् [प्रवेष्टुमिति गम्यते]

निपेक्ष्य = [सर्वाणुभग्यापारान्] अधः कार्यं = भवचरणं प्रति
कायसंस्पर्शम् = उद्ध्वकायेन मस्तकेन संस्पर्शम्, [करोमि, एतच्च अनु-
जानीत इति वाक्य शेषः] क्षमणीयः भवद्भिः क्लमः = स्पर्शजन्य-
देहग्लानिरूपः ।

अल्प-क्लान्तानां = ग्लानिरहितानाम् बहुशुभेन = प्रभूतसुखेन
भवतां दिवसो व्यतिक्रान्तः = निर्गतः ?

यात्रा = तपोनियमादिलक्षणा भवतां [कुशला वर्तते] ?

यापनीयं = इन्द्रियनोद्भिन्नैरवाधितं शरीरं च भवतां [कुशलं
वर्तते] ?

क्षमयामि क्षमाश्रमण ! देवसिकं, व्यतिक्रमम् = अपराधम् !

आवश्यक्या = अवश्यकर्तव्यैश्वर्यकरणयोगैः निवृत्ता आवश्यकी
क्रिया, तथा हेतुभूतया यदसाधु कर्म अनुष्ठितं, तस्मात् प्रतिक्रमामि =
निवर्त्तयामि ।

क्षमाश्रमणानां देवसिक्त्या = दिवसेन निर्वृत्तया आशातनया,
प्रयस्त्रिंशदन्यतरया, यत् किंचनमिष्यया = यत्किंचित्कदात्मन
माश्रित्य मिष्यायुक्तेन कृतया ।

मनोदुष्कृतया = मनोबन्धदुष्कृतयुक्तया, वचोदुष्कृतया = अल-
भुवचननिमित्तया, कायदुष्कृतया = आसन्नैकगमनादिनिमित्तया—

क्रोधया = क्रोधवत्या क्रोधयुक्तया, मानया = मानवत्या मानयुक्तया,
मायया = मायावत्या मायायुक्तया, लोभया = लोभवत्या लोभयुक्तया
[क्रोधादिभिर्जनितया इत्यर्थः]—

सर्वकालिक्या = इहमवाप्त्यभवाप्तीनाऽनागत सर्वकालेन निर्वृत्तया,
सर्वमिष्योपचारया = सर्वमिष्याक्रियाविशेषयुक्तया, सर्वधर्मासिद्धमरणया =
अष्ट प्रवचनमातृरूप-सर्वधर्मलक्षणयुक्तया, आशातनया = राधया—
यो मया अतिचारः = अपराधः कृतः तस्य क्षमाश्रमण । प्रतिव्र-
मामि = अपुन करणतया निवर्तयामि, निन्दामि, गर्हे आत्मानं =
आशातिनाकरणकालवर्तिन दुष्कर्मचारिण अनुमतित्यागेन, व्युत्सृजामि =
भृशं त्यजामि ।

(२)

प्रत्याख्यान सूत्र

(१)

नमस्कारसहित सूत्र

उद्गते सूर्ये नमस्कारसहितं प्रत्याख्यामि, चतुर्विधमपि आहारम्—अशनं, पानं, खादिमं, स्वादिमम् । अन्यत्र अनाभोगेन, सहसाकारेण, व्युत्सृजामि ।

(२)

पौरुषी सूत्र

उद्गते सूर्ये पौरुषीं प्रत्याख्यामि, चतुर्विधमपि आहारम्—अशनं, पानं, खादिमं, स्वादिमम् । अन्यत्र अनाभोगेन, सहसाकारेण, प्रच्छन्नकालेन, दिग्मोहेन, साधुचचनेन, सर्वसमाधि-प्रत्ययाकारेण व्युत्सृजामि ।

(३)

पूर्वाद्ध सूत्र

उद्गते सूर्ये पूर्वाद्धं प्रत्याख्यामि, चतुर्विधमपि आहारम्—अशनं, पानं, खादिमं, स्वादिमम् । अन्यत्र अनाभोगेन, सहसाकारेण, प्रच्छन्नकालेन, दिग्मोहेन, साधुचचनेन, महत्तराकारेण, सर्वसमाधि-प्रत्ययाकारेण व्युत्सृजामि ।

१. अत्र सर्वेषु आकारेषु पञ्चम्यर्थे तृतीया । अन्यत्र अनाभोगात्, सहसाकाराच्च, एतौ वर्जयित्वा इत्यर्थः ।

(४)

- एकाशन सूत्र

एकाशनं प्रत्याख्यामि, त्रिविधमपि आहारम्—अशनं, खादिमं, स्वादिमम् । अन्यत्र अनाभोगेन, सहसाकारेण, सागारिकाकारेण, आकुञ्चन प्रसारणेन, गुर्वभ्युत्थानेन, पारिष्ठापनिकाकारेण, महत्तराकारेण, सर्वसमाधि-प्रत्ययाकारेण व्युत्सृजामि ।

(५)

एकस्थान सूत्र

एकाशनं एकस्थानं प्रत्याख्यामि, त्रिविधमपि आहारम्—अशनं, खादिमं, स्वादिमम् । अन्यत्र अनाभोगेन, सहसाकारेण, सागारिकाकारेण, गुर्वभ्युत्थानेन, पारिष्ठापनिकाकारेण, महत्तराकारेण, सर्वसमाधिप्रत्ययाकारेण व्युत्सृजामि ।

(६)

आचाम्ल सूत्र

आचाम्लं प्रत्याख्यामि, अन्यत्र अनाभोगेन, सहसाकारेण, लेपालेपेन, उत्तिष्ठविवेकेन, गृहस्थसंसृष्टेन, पारिष्ठापनिकाकारेण, महत्तराकारेण, सर्वसमाधिप्रत्ययाकारेण व्युत्सृजामि ।

(७)

अभक्तार्थ=उपवास सूत्र

उद्गते सूर्ये अभक्तार्थं प्रत्याख्यामि, चतुर्विधमपि आहारम्—अशनं, पानं, खादिमं, स्वादिमम् । अन्यत्र अनाभोगेन, सहसाकारेण, पारिष्ठापनिकाकारेण, महत्तराकारेण, सर्वसमाधि-प्रत्ययाकारेण व्युत्सृजामि ।

(८)

दिवसचरिम-सूत्र

दिवसचरिमं प्रत्याख्यामि, चतुर्विधमपि आधारम्—अशनं, तनं, स्वादिमं, स्वादिमम् । अन्यत्र अनाभोगेन, सहसाकारेण, महत्तराकारेण, सर्वसमाधिप्रत्ययाकारेण व्युत्सृजामि ।

(९)

अभिग्रह-सूत्र

अभिग्रहं प्रत्याख्यामि, चतुर्विधमपि आधारम्—अशनं, तनं, स्वादिमं, स्वादिमम् । अन्यत्र अनाभोगेन, सहसाकारेण, महत्तराकारेण, सर्वसमाधिप्रत्ययाकारेण व्युत्सृजामि ।

(१०)

निर्विकृति-सूत्र

विकृतिः प्रत्याख्यामि । अन्यत्र अनाभोगेन, सहसाकारेण, त्रिपालेपेन, गृहस्थ संभृष्टेन, उत्तिष्ठविवेकेन, प्रतीत्यभक्षितेन, परिष्ठापनिकाकारेण, महत्तराकारेण, सर्वसमाधिप्रत्ययाकारेण व्युत्सृजामि ।

(११)

प्रत्याख्यानपारणा-सूत्र

उद्गते सूर्ये नमस्कारसहितं—प्रत्याख्यानं कृतम्, तत्प्रत्याख्यानं सन्ध्यायां कायेन स्मृष्टं, पालितं, तीरितं, कीर्तितं, शोधितं, ध्यायितम् । यत् न आराधितम् । तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम् ।

(३)

संस्तार-पौरुषी सूत्र

अनुजानीत परमगुरवः,
 गुरुगुणरत्नैर्मण्डित - शरीराः ।
 बहुप्रतिपूर्णा पौरुषी,
 रात्रिके संस्तारके तिष्ठाभि ॥ १ ॥

अनुजानीत संस्तार,
 बाहुपथनेन दामपार्श्वेन ।
 कुक्कुटी-यादप्रसारणे,
 शकनुवन् प्रमार्जयेद् भूमिम् ॥ २ ॥

सङ्कोच्य संदर्शो,
 उद्वर्तमानश्च कार्यं प्रतिलिखेत् ।
 द्रव्याद्युपयोगेन,
 उच्छ्वासनिरोधेन आलोकं (कुर्यात्) ॥ ३ ॥

चत्वारो मङ्गलम्,
 अर्हन्तो मङ्गलं, सिद्धा मङ्गलं, साधवो
 मङ्गलं, केवलि-प्रज्ञप्तो धर्मो मङ्गलम् ॥ ४ ॥

चत्वारो लोकोत्तमाः,
 अर्हन्तो लोकोत्तमाः, सिद्धा लोकोत्तमाः, साधवो
 लोकोत्तमाः, केवलि-प्रज्ञप्तो धर्मो लोकोत्तमः ॥ ५ ॥

चतुरः शरणं प्रपद्ये,
 अर्हतः शरणं प्रपद्ये, सिद्धान् शरणं प्रपद्ये, साधून्
 शरणं प्रपद्ये, केवलि-प्रज्ञप्तं धर्मं शरणं प्रपद्ये ॥ ६ ॥

यदि मे भवेत् प्रमादो

ऽस्य देहस्य अस्यां रजन्याम् ।

आहारमुपधिदेहं,

सर्वं त्रिविधेन व्युत्सृष्टम् ॥ ७ ॥

प्राणातिपातमलीकं,

चौर्यं मैथुनं द्रविणमूर्च्छाम् ।

क्रोधं मानं मायं

लोभं प्रेम तथा द्वेषम् ॥ ८ ॥

कलहमभ्याख्यानं,

पैशुन्यं रत्यरतिसमायुक्तम् ।

पर-परिवादं माया—

मृपां मिथ्यात्वशल्यं च ॥ ९ ॥

व्युत्सृज इमानि

मोक्षमार्गसंसर्ग - विघ्नभूतानि ।

दुर्गति-निबन्धनानि

अष्टादश पाप-स्थानानि ॥ १० ॥

एकोऽहं नास्ति मे कश्चित्,

नाऽहमन्यस्य कस्यचित् ।

एवमदीन—मना

आत्मानमनुशास्ति ॥ ११ ॥

एको मे शाश्वत आत्मा

ज्ञान - दर्शन - संयुतः ।

शेषा मे बाह्या भावाः,

सर्वे संयोग - लक्षणाः ॥ १२ ॥

संयोग—मूला जीवेन

प्राप्ता दुःख—परम्परा ।

तस्मान् संयोग-सम्बन्धः,
 सर्वः त्रिविधेन व्युत्सृष्टः ॥१३॥
 क्षमित्वा क्षामयित्वा मयि क्षमर्ष्व
 सर्वे जीव - निकायाः ।
 सिद्धानां साक्ष्यया आलोचयामि,
 मम वैरं न भावः ॥१४॥
 सर्वे जीवाः कर्म-शराः,
 चतुर्दश - रज्जौ ध्राम्यन्तः ।
 ते मया सर्वे क्षामिताः,
 मयि अपि ते क्षाम्यन्तु ॥१५॥
 यद् यद् मनसा बद्धं,
 यद् यद् वाचा भाषितं पापम् ।
 यद् यन् वायेन कृतं,
 तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम् ॥१६॥

नमोऽर्हद्भ्यः
 नमः सिद्धेभ्यः
 नम आचार्येभ्यः
 नम उपाध्यायेभ्यः
 नमो लोके सर्व-साधुभ्यः ।

एष पञ्च - नमस्कारः
 सर्व - पाप - प्रणाशनः ।
 महर्गलानां च सर्वेषां,
 प्रथमं भवति मङ्गलम् ॥

(४)

शेष-सूत्र

(१)

सम्यक्त्व सूत्र

अहंन् मम देवः,

यावज्जीवं सुसाधवः गुरुवः ।

जिन - प्रज्ञप्तं तत्त्वं,

इति सम्यक्त्वं मया गृहीतम् ॥१॥

(२)

गुरु-गुण-स्मरण सूत्र

पञ्चेन्द्रिय - संवरणः,

तथा नवविध-ब्रह्मचर्यगुमिधरः ।

चतुर्विध - कपायमुक्तः,

इत्यष्टादशगुणैः संयुक्तः ॥ १ ॥

पञ्चमहाव्रत - युक्तः,

पञ्चविधाचार - पालनसमर्थः ।

पञ्चसमितः त्रिगुप्तः,

पट्त्रिंशद्गुणो गुरुर्मम ॥ २ ॥

(३)

गुरुवन्दन सूत्र

त्रिकृत्वः

आदक्षिणं प्रदक्षिणं करोमि

वन्दे, नमस्यामि,

सत्करोमि, सम्मानयामि,

कल्याण, मङ्गलम्,
 देवत, चैत्यम्,
 पर्युपासे
 मस्तकेन वन्दे ।

(४)

ऐर्यापथिक आलोचना सूत्र

इच्छाकरेण = निवेच्छया, न तु वलाभिरेणेन
 सदिशत भगवन् !
 ईर्यापथिकीं प्रतिक्रमामि
 इच्छामि ० ० ० ० १

(५)

उत्तरीकरण सूत्र

तस्य = भ्रामण्ययोगस सातस्य कथञ्चिन् प्रमादात् स्वरिडतस्य-विराधि
 तस्य वा, उत्तरीकरणेन = पुनः संस्कारदायपरिष्करणेन, प्रायश्चित्त
 करणेन, विशोर्धीकरणेन = अथयधमनिनस्यात्मनः प्रक्षालनेन,
 विशाल्यीकरणेन,

पापानां कर्मणां निर्घातनार्थाय,

विष्टामि = कथेभिः, नायोत्सर्गम् = व्यापारवत्. कायस्य परि
 त्यागम् ॥ १ ॥

(६)

आकार सूत्र

अन्यत्र उच्छ्वसितेन, निःश्वसितेन, कासितेन,
 सुतेन, जृम्भितेन, उद्गारितेन, घातनिसर्गेण,
 भ्रमर्या = भ्रम्या, पित्तमूर्च्छया ॥ १ ॥

१—अमेतन् पाठः भ्रमराशुत्रान्तर्गतस्यैर्यापथिकसूत्रवद् रूपः ।

सूक्ष्मैः अङ्ग-सञ्चारैः,

सूक्ष्मैः खेल (श्लेष्म) सञ्चारैः,

सूक्ष्मैः दृष्टि-सञ्चारैः ॥ २ ॥

एवमादिभिः आकारैः=अपवादरूपैः, अभग्नः=न सर्वथा नाशितः,

अविराधितः=न देशतो नाशितः,

भवतु मे कायोत्सर्गः ॥ ३ ॥

[कियन्तं कालं यावत् ?] यावद् अर्हतां भगवतां नमस्कारेण
न पारयामि ॥ ४ ॥

तावत् [तावन्तं कालं] कायं स्थानेन, मौनेन, ध्यानेन,

आत्मानं=आत्मीयं, व्युत्सृजामि ॥ ५ ॥

(७)

चतुर्विंशतिस्तव सूत्र

लोकस्योद्घोतकरान्, धर्मतीर्थकरान् जिनेान् ।

अर्हतः कीर्तयिष्यामि, चतुर्विंशतिमपि केवलिनः ॥ १ ॥

ऋषभमजितं च वन्दे, संभवमभिनन्दनं च सुमतिं च ।

पद्मप्रभं सुपार्श्वं, जिनं च चन्द्रप्रभं वन्दे ॥ २ ॥

सुविधिं च पुष्पदन्तं, शीतल-श्रेयांसं वासुपूज्यं च ।

विमलमनन्तं च जिनं, धर्मं शान्तिं च वन्दे ॥ ३ ॥

कुन्थुमरं च मल्लिं, वन्दे मुनिसुव्रतं नमिजिनं च ।

वन्दे अरिष्टनेमिं, पार्श्वं तथा वर्द्धमानं च ॥ ४ ॥

एवं मया अभिष्टुता, पिधुतरजोमलाः प्रहीणजरामरणाः ।

चतुर्विंशतिरपि जिनवराः, तीर्थकराः मे प्रसीदन्तु ॥ ५ ॥

कीर्तित-वन्दित-महिताः, ये एते लोकस्योत्तमाः सिद्धाः ।

आरोग्य - बोधिलभः, समाधिवरमुत्तमं ददतु ॥ ६ ॥

चन्द्रेभ्यो निर्मलतराः, आदित्येभ्योऽधिकं प्रकाशकराः ।

सागरवरगम्भीराः, सिद्धाः सिद्धिं मम दिशन्तु ॥ ७ ॥

(८)

प्रणिपात सूत्र

नमोऽस्तु अर्हद्भ्य, भगवद्भ्य ॥ १ ॥
 आदिकुरेभ्य, तीर्थकरेभ्य, स्वयसम्बुद्धेभ्य ॥ २ ॥
 पुरुषोत्तमेभ्य, पुरुषसिंहेभ्य, पुरुषवर पुण्डरीकेभ्य,
 पुष्पवर-गन्धद्विभ्य ॥ ३ ॥
 लोकोत्तमेभ्य, लोकनाथेभ्य,
 लोकहितेभ्य, लोक प्रदीपेभ्य, लोकप्रशोतकरेभ्य ॥ ४ ॥
 अभयदयेभ्य,
 चक्षुर्दयेभ्य, मार्गदयेभ्य, शरणदयेभ्य,
 जीवदयेभ्य, बोधिदयेभ्य ॥ ५ ॥
 धर्मदयेभ्य, धर्मदेशनेभ्य, धर्मनायकेभ्य,
 धर्मसारधिभ्य, धर्मवर-चतुरन्तचक्रवर्तिभ्य ॥ ६ ॥
 द्वीप-त्राण शरण-नाति प्रतिष्ठारूपेभ्य,
 अप्रतिहत-वर-ज्ञान दर्शनधरेभ्य,
 व्यावृत्त-छद्मभ्य ॥ ७ ॥
 जिनेभ्य, नापम्भ्य, तीर्णेभ्य, सारकेभ्य,
 बुद्धेभ्य, बोधकेभ्य, मुक्तेभ्य, मोचकेभ्य ॥ ८ ॥
 सर्वज्ञेभ्य, सर्वदर्शिभ्य, शिष्यमचल—
 मरुत्तमनन्तमक्षयमज्यायाधमपुनरावृत्ति—
 सिद्धिगति-नामधेय स्थान सम्प्राप्तेभ्य,
 नमो जिनेभ्य, जित्तमयेभ्य ॥ ९ ॥

अतिचार-आलोचना

ज्ञान-शुद्धि

साधनों के होते भी न ज्ञानाभ्यास किया स्वयं,
 दूसरों को भी न यथायोग्यता कराया हो ।
 ज्ञान के नशे में चूर लड़ता-लड़ाता फिरा,
 ज्ञानी जनों को न शीघ्र सादर भुकाया हो ॥
 सूत्र और अर्थ नष्ट-भ्रष्ट किया घटा-बढ़ा,
 तत्त्वशून्य तर्कणा में मस्तक लड़ाया हो ।
 दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें,
 श्रेष्ठ ज्ञान-रत्न में जो दूषण लगाया हो ॥

दर्शन-शुद्धि

वीतराग-चाणी पे न श्रद्धाभाव दृढ़ रक्खा,
 फँस के कुतर्कजाल शङ्काभाव लाया हो ।
 नानाविध पाखंडों के मोहक स्वरूप-देख,
 संसारी सुखों के प्रति चित्त ललचाया हो ॥
 धर्माचार-फल के सम्बन्ध में संशंक बना,
 मन को पाखंडियों की पूजा में भ्रमाया हो ।
 दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें,
 सम्यक्त्व-सुरल में जो दूषण लगाया हो ॥

ईर्ष्या-समिति

स्वच्छ, शुद्ध, श्रेष्ठजनगम्य राजमार्ग छोड़,
 सूक्ष्म - जन्तु - पूरित सुपथ अपनाया हो ।
 दाएँ-बाएँ अच्छे-बुरे दृश्यों को लखाता बना,
 नीची नष्टि में न देख कदम उठाया हो ॥
 धातों की बहार में विमुग्ध शून्यचित्त बना,
 तुच्छकाय कीटों पे गजेन्द्ररूप धाया हो ।
 दैनिक 'अमर' सर्व पापदोष मिथ्या होवे,
 गमनसमिति में जो दूषण लगाया हो ॥

भाषा-समिति

पूज्य आत पुरुषों का गाया नहीं गुणगान,
 यत्र-तत्र अपना ही कीर्तिगान गाया हो ।
 सर्वजन - हितकारी मीठे नहीं बोले बोल,
 हसी से या चुगली से कलह बढ़ाया हो ॥
 दूसरों के दोषों का जगत में दिंडोरा पीटा,
 पाणी के प्रताप हिंसा-चक्र भी चलाया हो ।
 दैनिक 'अमर' सर्व पापदोष मिथ्या होवे,
 भाषणसमिति में जो दूषण लगाया हो ॥

एषणा-समिति

उद्गमादि घयालीस भित्ता - दोष टाले नहीं,
 जैसा-तैसा राद्य भट पात्र में भरवाया हो ।
 ताक-ताक ऊँचे-ऊँचे महलों में दौड़ा गया,
 रहस्य पर सूखी रोटी देख चकराया हो ॥
 जीवनार्थ भोजन का संयम-रहस्य मुला,
 भोजनार्थ मात्र साधुजीवन बनाया हो ।

दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें,
एपणा-समिति में जो दूषण लगाया हो ॥

आदाननिक्षेप-समिति

वस्त्र - पात्र - पुस्तकादि पडिलेहे—पूँजे विना,
देखे-भाले विना मनू आया जहाँ वगाया हो ।
देह में घुसाया भूत आलस्य विनाशकारी,
प्रतिलेखना का श्रेष्ठ काल विसराया हो ॥
संयम का शुद्ध मूलतत्त्व सुविवेक छोड़,
सूक्ष्म जीव जन्तुओं का जीवन नशाया हो ।
दैनिक 'अमर' सर्व पाप - दोष मिथ्या होवें,
आदान - समिति में जो दूषण लगाया हो ॥

उत्सर्ग (परिष्ठापना) समिति

परठने-योग्य कफ मल मूत्र आदि वस्तु,
आगमोक्त योग्य-भूमि में न परठाया हो ।
भुक्तशेष अन्न-जल दूर ही से फेंक दिया,
सर्वथा असंयम का पथ अपनाया हो ।
स्वच्छ, शान्त, स्वास्थ्यकारी स्थानों को बिगाड़ा हन्त,
जैनधर्म एवं साधु-संघ को लजाया हो ।
दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें,
उत्सर्ग-समिति में जो दूषण लगाया हो ॥

मनोगुप्ति

व्यर्थ के अयोग्य नाना सकल्प-विकल्प जोड़—
तोड़, चित्त-चक्र अति चंचल डुलाया हो ।
किसी से बढ़ाया राग किसी से बढ़ाया द्वेष,
परोन्नति देख कभी ईर्ष्या-भाव आया हो ॥

विषय-सुगों की कल्पनाओं में फँसाके रख,
 समय से दूर दुराचार में रमाया हो ।
 दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें,
 श्रेष्ठ मनोगुप्ति में जो दूषण लगाया हो ॥

वचन-गुप्ति

बैठ जन-मण्डली में लम्बी-चौड़ी गप्प हँक,
 बातों ही में घटमूल्य समय नेशाया हो ।
 बोला क्या वचन, घस घस-सा ही मार दिया,
 दीन दुखियों पे झुला आतंक जमाया हो ॥
 राज-देश-भक्तनारी चारों पिकथाएँ कह,
 स्य-पर-विकार-वासनाओं को जगाया हो ।
 दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें,
 श्रेष्ठ वचोगुप्ति में जो दूषण लगाया हो ॥

काय-गुप्ति

भोगासक्ति रख नानाविध मुरख-साधनों की,
 मृदु कष्ट-कातर स्पन्दों को बनाया हो ।
 शुद्धता का भाव त्याग शृंगार का भाव धारा,
 सादगी से ध्यान हटा फैशन सजाया हो ॥
 अलहदूपने में आ के यतना को गया भूल,
 अस्त-व्यस्तता में किसी जीव को सताया हो ।
 दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें,
 श्रेष्ठ काय-गुप्ति में जो दूषण लगाया हो ॥

अहिंसा-महाव्रत

सूक्ष्म ओ वादर त्रस-स्थायर समस्त प्रार्थी—
 वर्ग, जिस-किसी भोंति जरा भी सताया हो ।

सुनते ही कटु-वाक्य अग्नि-ज्यों भभक उठा,
 निन्दकों के प्रति घृणा-द्वेष-भाव लाया हो ॥
 रोगी, दीन, दुःखी छोटे-बड़े सभी प्राणियों से,
 प्रेम-भरा वन्धुता का भाव न रखाया हो ।
 दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें,
 आद्य महाव्रत में जो दूषण लगाया हो ॥

सत्य-महाव्रत

हास्य-वश लम्बी-चौड़ी गढ़ के गढ़न्त भूठी,
 औंधा-सीधा कोई भद्र प्राणी भरमाया हो ।
 राज की, समाज की या प्राणों की विभीषिका से,
 भूठ बोल जानते भी सत्य को छुपाया हो ॥
 द्वेष-वश मिथ्या दोष लगा वदनाम किया,
 सत्य भी अनर्थकारी भूल प्रगटाया हो ।
 दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें,
 सत्य महाव्रत में जो दूषण लगाया हो ॥

अचौर्य-महाव्रत

अशन, वसन अथ अन्य उपयोगी वस्तु,
 मालिक की आज्ञा बिना तृण भी उठाया हो ।
 मानव-समाज की हा ! छाती पै का भार रहा,
 विश्व-हित-हेतु स्वकर्तव्य न बजाया हो ॥
 वृद्धों की, तपस्वियों की तथा नवदीक्षितों की,
 रोगियों की सेवा से हुरामी जी चुराया हो ।
 दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें,
 दत्त-महाव्रत में जो दूषण लगाया हो ॥

ब्रह्मचर्य-महाव्रत

विश्व की ममस्त नारी माता भगिनी न जानी,
 देखते ही मुन्दरी-सी दुवती लुमाया हो।
 पाताबिद्ध हृद के समान बना चल-चित्त,
 काम-राग दृष्टिराग स्नेहराग छाया हो॥
 बार-बार पुष्टि-कर सरस आहार भोगा,
 शान्त इन्द्रियों में भोगानल दहकाया हो।
 दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें,
 ब्रह्म-महाव्रत में जो दूषण लगाया हो॥

अपरिग्रह-महाव्रत

विद्यमान वस्तुओं में मूर्धना, अपिद्यमान—
 वस्तुओं की लालसा में मन को रमाया हो।
 गच्छ मोह, शिष्य-मोह, शास्त्र मोह, स्थान-मोह,
 अन्य भी देहादि-मोह जाल में फँसाया हो॥
 आवश्यकताएँ बड़ा योग्यायोग साधनों से,
 व्यर्थ ही अयुक्त वस्तु-संचय जुटाया हो।
 दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें,
 अन्त्य महाव्रत में जो दूषण लगाया हो॥

अरात्रिभोजन-व्रत

अशनादि चारों ही आहार रात्रि-समय में,
 जान या अजान स्वर्य खाया हो, खिलाया हो।
 'औषधी के खाने में तो कुछ भी [नहीं है दोष],
 प्राणमोही वन मिथ्या मन्तव्य चलाया हो॥
 रसना के चक्कर में आ के सुस्वादु खाए,
 अग्रिम दिनार्थ घासी रखवा हो, रखाया हो।

दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होंवें,
निशाऽभुक्ति-व्रत में जो दूषण लगाया हो ॥

महाव्रत-भावना

पंच महाव्रत की न भावना पच्चीस पाली,
होकर अति सुखशील आतमा करली काली ।
संचम की ले छोट मृग ही देह सँभाली,
ऊपर ढोंग विचित्र होगया अन्दर खाली ॥

गत भूलों पर तीव्रतम,
पुनि-पुनि पश्चात्ताप है ।
दुश्चरित्र मुनि संघ पर,
एक मात्र अभिशाप है ॥

पच्चीस मिथ्यात्व

अपने मिथ्या मत का भी अति-आग्रह धारा,
लड़ा कुतर्क स्पष्ट सत्य पर-मत धिक्कारा ।
कभी ज्ञान तो कभी क्रिया एकान्त विचारा,
लोकाचार-विमूढ़ मोक्ष का मार्ग धिसारा ।

पाँच-बीस मिथ्यात्व की,
करूँ अखिल आलोचना ।
मनसा घबसा कर्मणा,
योग-शुद्धि की योजना ॥

गुरुजनों का अविनय

पूजनीय गुरुजन की सेवा से मुख मोड़ा,
आदर-सत्कारादि भक्ति का बन्धन तोड़ा ।

द्वित-शिक्षा नाहिं मही द्वेष से नाक सिरोदा,
घना घोर अविनीत 'अहं' से नाना जोड़ा ।

हा ! इम फलपित कर्म पर,
भार-भार धिक्कार है ।
गुरु-सेवा ही मोक्ष का,
एक मात्र यर द्वार है ॥

अष्टादश-पाप

पाप-पंक अष्टादश प्रतिफल,
आत्मा मलिन घनाते हैं ।
भीम भयंकर भय अटवी में,
भ्रान्त घना भटकाते हैं ।
पाप-शिरोमणि हिंसा से जग—
जीव नित्य भय खाते हैं ।
गृध्रावाद से मानव जग में,
निज विश्वास गँवाते हैं ।
चौर्यवृत्ति अति ही अधमाधम,
निज-पर सब को दहती है ।
मैथुनरत पुरुषों की बुद्धि,
निशदिन विवृत रहती है ।
संस्तुति-मूल परिग्रह भीषण,
ममताऽऽसक्ति बढ़ाता है ।
आबुल व्याकुल जीवन रहता,
आखिर नरक पठाता है ।
क्रोध मान से सज्जन जन भी,
फटपट बैरी हो जावे ।

माया-लोभ अतल महासागर,
 हूवे पार नहीं पावें ।
 राग, द्वेष, कलह के कारण,
 पामर नर-जीवन होता ।
 अभ्याख्यान पिशुनता का चिप,
 शान्ति-सुधा का रस खोता ।
 पृष्ठ-भांस भक्षण-सी निन्दा,
 फैले क्लेश परस्पर में ।
 रति-अरति से क्षण-क्षण वहता,
 हर्ष-शोक-नद अन्तर में ।
 मायामृपा खड्ग की धारा,
 मधु-प्रलिप्त जहरीली है ।
 मिथ्या-दर्शन की तो अति ही,
 घातक विकट पहेली है ।
 भगवन् ! ये सब पाप पुण्यरिपु,
 स्वयं करे करवाए हों ।
 अथवा वन अनुमोदक स्तुति के,
 गीत मुदित हो गाए हों ।
 पूर्णरूप से कर आलोचन,
 पाप-क्षेत्र से हटता हूँ ।
 अधः पतन के पथ को तज कर,
 उन्नत पथ पर बढ़ता हूँ ।

उपसंहार

पंच महाव्रत श्रेष्ठ मूल गुण मंगलकारी,
 दशविध प्रत्याख्यान गुणोत्तर कलिमल हारी ।

लगे अतिव्रम और व्यतिव्रम दूषण भारी,
आई हो अतिचार अनाचारों की घारी ।

भूल-चूक जो भी हुई,
बार-बार निन्दा करूँ ।

आगे आत्म विशुद्धि के,
हृद प्रयत्न सब आदरूँ ।



: ७ :

परमेष्ठि-वन्दन

अरिहंत-वन्दन

नमोऽस्त्युणं अरिहंताणं, भगवंताणं, सच्चजगजीवचच्छ-
लाणं, सच्चजगमंगलाणं, मोक्षमग्गदेसगाणं, अप्पडिहयवरणा-
दंसणधराणं, जियरागदोसमोहाणं, जिणाणं ।

राग-द्वेष महामल्ल घोर धनघातिकर्म,
नष्ट कर पूर्ण सर्वज्ञ - पद पाया है ।
शान्ति का सुराज्य समोसरण में कैसा सौम्य,
सिंहनी ने दुग्ध मृगशिशु को पिलाया है ॥
अज्ञानान्धकार-मग्न विश्व को दयाद्र होके,
सत्य-धर्म-ज्योति का प्रकाश दिखलाया है ।
'अमर' सभक्तिभाव बार - बार वन्दनार्थ,
अरिहंत - चरणों में मस्तक झुकाया है ॥

सिद्ध-वन्दन

नमोऽस्त्युणं सिद्धाणं, बुद्धाणं, संसारसागरपारगयाणं,
जम्मज्जामरणचक्कविप्पमुक्काणं, कम्ममलरहियाणं, अव्वावाह-
सुहमुवगयाणं, सिद्धिदाणं, संपत्ताणं ।

जन्म-जरा-मरण के चक्र से पृथक् भये,
 पूर्ण सत्य चिदानन्द शुद्ध रूप पाया है ।
 मनसा अचिन्त्य तथा वचसा अवाच्य सदा,
 ह्यायक स्वभाव में निजात्मा रमाया है ॥
 सैकल्प-विकल्प - शून्य निरंजन निराकार,
 माया का प्रपञ्च जड़मूल से नशाया है ।
 'अमर' समक्तिभाव बार-बार वन्दनार्थ,
 पूज्य सिद्ध-चरणों में 'मस्तक' मुकाया है ॥

आचार्य-वन्दन

नमोऽस्त्युण आयरियाण, नाणदंसणचरित्तरयाणं, गच्छ-
 मेदिभूयाणं, सागरवरगमीराणं, सयपरसमयणिच्छिद्याणं,
 वेस-काल दम्पराणं ।

आगमों के भिन्न भिन्न रहस्यों के ज्ञाता ज्ञानी,
 उत्तम चारित्र का पथ अपनाया है ।
 पक्षपातता से शून्य यथायोग्य न्यायकारी,
 पतितों को शुद्ध कर धर्म में लगाया है ॥
 सूर्य-सा प्रचण्ड तेज प्रतिरोधी जावे कंप,
 संघ में अखण्ड निज शासन चलाया है ।
 'अमर' समक्तिभाव बार-बार वन्दनार्थ,
 गच्छाचार्य-चरणों में मस्तक मुकाया है ॥

उपाध्याय-वन्दन

नमोऽस्त्युपा उवज्झयाणं, अकखनाणसायराणं, धम्ममुत्त-
 वायगाणं, जिणधम्मसम्माणसरकरणदकराणं, नयत्पमाणं
 निउणाणं, मिन्दत्तधयारदिवायराण ।

सन्द-बुद्धि शिष्यों को भी विद्या का अभ्यास करा,
 दिग्गज सिद्धान्तवादी पंडित बनाया है ।
 पाखंडीजनों को गर्व खर्व कर जगत् में,
 अनेकान्तता का जय-केतु फहराया है ॥
 शंका-समाधान-द्वारा भविकों को बोध दे के,
 देश - परदेश ज्ञान - भानु चमकाया है ।
 'अमर' सभक्तिभाव बार-बार वन्दनार्थ,
 उपाध्याय - चरणों में मस्तक झुकाया है ॥

साधु-वन्दन

नमोऽस्त्युणं सव्वसाहणं, अक्खलियसीलाणं, सव्वालंबण-
 विप्पमुक्काणं, समसत्तुमित्तपक्खाणं, कलिमलमुक्काणं, उज्झिय-
 विसयकसायाणं, भावियजिणवयणमणासां, तेल्लोत्तकमुदावहाणं,
 पंचमहव्वयधराणां ।

शत्रु और मित्र तथा मान और अपमान,
 सुख और दुःख द्वैत-चिन्तन हटाया है ।
 मैत्री और करुणा समान सब प्राणियों पे,
 क्रोधादि-कपाय-दावानल भी धुंकाया है ॥
 ज्ञान एवं क्रिया के समान दृढ़ उपासक,
 भीषण समर कर्म-चमू से मचाया है ।
 'अमर' सभक्तिभाव बार-बार वन्दनार्थ,
 त्यागी-मुनि-चरणों में मस्तक झुकाया है ॥

धर्मगुरु-वन्दन

नमोऽस्त्युणं धम्मपरियाणं, धम्मदेसगाणं, संसारसागर-
 तारगाणं, असंकिलिट्ठायारचरित्तासां, सव्वसत्ताणुगहपरा-
 यणाणं, उय्यगहकुसणां ।

भीम-भय-वन से निकाला यही कोशिशों में,
 मोक्ष के विगुह्य राजमार्ग वे चलाया है ।
 संकट में धर्म-प्रदा दीली-दाली होने पर,
 समझा-बुझा के हृद माहम बँधाया है ।
 कटुता का नहीं लेश मुधा-सी सरस घासी,
 धर्म-प्रयत्न नित्य प्रेम से सुनाया है ।
 'धर्म' समतिभाष पार-पार पन्दनार्य,
 धर्मगुरु घरणों में मस्तक झुकाया है ॥

(२)

अप्रमाद-प्रतिलेखना

(१) अनर्तित—प्रतिलेखना करते हुए शरीर और वस्त्र आदि को इधर-उधर नचाना न चाहिए ।

(२) अवलित—प्रतिलेखना करते हुए वस्त्र कहीं से मुड़ा हुआ न होना चाहिए । प्रतिलेखना करने वाले को भी अपने शरीर को दिन मोड़े सीधे बैठना चाहिए । अथवा प्रतिलेखना करते हुए वस्त्र और शरीर को चंचल न रखना चाहिए ।

(३) अननुबन्धी—वस्त्र को अयतना से झड़काना नहीं चाहिए ।

(४) अमोसली—धान्यादि कूटते समय ऊपर, नीचे और निरद्धा लगने वाले मूल की तरह प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को ऊपर नीचे या निरद्धा दीवार आदि से न लगाना चाहिए ।

(५) पद् पुग्मिनयस्कोटका—(छः पुरिमा नर खोडा)

प्रतिलेखना में छः पुरिम और नर खोड़ करने चाहिए । वस्त्र के दोनों हिस्से को तीन-तीन बार खंचेला, छः पुरिम हैं । तथा वस्त्र को तीन-तीन बार पूँज कर उसका तीन बार शोधन करना, नर्व खोड़ हैं ।

(६) पाणि प्राण विशोधन—वस्त्र आदि पर कोई जीन देखने में आए तो उसका यतनापूर्वक अग्ने हाथ में शोधन करना चाहिए ।

[दायाग सूत्र]

(३)

प्रमाद-प्रतिलेखना

(१) आरभटा—विपरीत रीति से अथवा शीघ्रता से प्रतिलेखना करना । अथवा एक वस्त्र की प्रतिलेखना बीच में अधूरी छोड़कर दूसरे वस्त्र की प्रतिलेखना करने लग जाना, यह आरभटा प्रतिलेखना है ।

(२) सम्मर्दा—जिस प्रतिलेखना में वस्त्र के कोने मुड़े ही रहें अर्थात् उसकी सलवट न निकाली जाय, वह सम्मर्दा प्रतिलेखना है । अथवा प्रतिलेखना के उपकरणों पर बैठकर प्रतिलेखना करना, सम्मर्दा प्रतिलेखना है ।

(३) मोसली—जैसे धान्य कूटते समय मूसल ऊपर, नीचे और तिरछे लगता है, उसी प्रकार प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को ऊपर, नीचे अथवा तिरछा लगाना, मोसली प्रतिलेखना है ।

(४) प्रस्फोटना—जिस प्रकार धूल से भरा हुआ वस्त्र जोर से झड़काया जाता है, उसी प्रकार प्रतिलेखना के वस्त्र को जोर से झड़काना, प्रस्फोटना प्रतिलेखना है ।

(५) विक्षिप्ता—प्रतिलेखना किए हुए वस्त्रों को बिना प्रतिलेखना किए हुए वस्त्रों में मिला देना, विक्षिप्ता प्रतिलेखना है । अथवा प्रतिलेखना करते हुए वस्त्र के पल्ले आदि को इधर-उधर फेंकते रहना विक्षिप्ता प्रतिलेखना है ।

(६) वेदिका—प्रतिलेखना करते समय घुटनों के ऊपर, नीचे या पसवाड़े हाथ रखना, अथवा दोनों घुटनों या एक घुटने को भुजाओं के बीच रखना, वेदिका प्रतिलेखना है । [ट्रायांग सूत्र]

(४)

आहार करने के छह कारण

(१) वेदना—क्षुधा वेदना की शान्ति के लिए ।

(२) वैयावृत्य—सेवा करने के लिए ।

(३) ईर्यापथ—मार्ग में गमनागमन आदि की शुद्ध प्रवृत्ति के लिए ।

(४) संयम—संयम की रक्षा के लिए ।

(५) प्राणप्रत्ययार्थ—प्राणों की रक्षा के लिए ।

(६) धर्मचिन्ता—शास्त्राध्ययन आदि धर्म चिन्तन के लिए ।

[उत्तराध्ययन २६ वाँ अध्याय]

(५)

आहार त्यागने के छह कारण

- (१) आतङ्क—भयंकर रोग से प्रलङ्घने पर ।
 - (२) उपसर्ग—आकस्मिक उपसर्ग आने पर ।
 - (३) ब्रह्मचर्यगुप्ति—ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए ।
 - (४) प्राणिभ्या—जीवों की दया के लिए ।
 - (५) तप—तप करने के लिए ।
 - (६) सत्तेरपना—अन्तिम समय संचाल करने के लिए ।
- [उत्तराध्यायन २६ वीं अध्यायन]

(६)

शिवाभिलाषी के आठ गुण

- (१) शान्ति—शान्त रहे, हँसी मजाक न करे ।
- (२) इन्द्रियदुमन—इन्द्रियाँ पर नियंत्रण रखे ।
- (३) स्वदोषदृष्टि—दूसरों के दोष न देख कर अपने ही दोष देखे ।
- (४) सदाचार—सदाचार का पालन करे ।
- (५) ब्रह्मचर्य—व्राम-वासना का त्याग करे ।
- (६) अनासक्ति—विषयों में अनासक्त रहे ।
- (७) सत्याग्रह—सत्य ग्रहण के लिए सन्नद्ध रहे ।
- (८) सहिष्णुता—सहनशील रहे, क्रोध न करे ।

(७)

उपदेश देने योग्य आठ बातें

- (१) शान्ति—अहिंसा एवं दया ।
- (२) विरति—गमाचार से विरक्ति ।

- (३) उपशम—कषाय विजय ।
- (४) निर्वृत्ति—निर्वाण, आत्मिक शान्ति ।
- (५) शौच—मानसिक पवित्रता, दोषों का त्याग ।
- (६) आर्जव—सरलता, दम्भ का त्याग ।
- (७) मार्दव—कोमलता, दुराग्रह का त्याग ।
- (८) लाघव—परिग्रह का त्याग, अनासक्त रहना ।

(८)

भिक्षा की नौ कोटियाँ

- (१) आहारार्थ स्वयं जीवहिंसा न करे ।
- (२) दूसरों के द्वारा हिंसा न कराए ।
- (३) हिंसा करते हुआ का अनुमोदन न करे ।
- (४) आहारदि स्वयं न पकावे ।
- (५) दूसरो से न पकवावे ।
- (६) पकाते हुआ का अनुमोदन न करे ।
- (७) आहार स्वयं न खरीदे ।
- (८) दूसरो से न खरीदवावे ।
- (९) खरीदते हुआ का अनुमोदन न करे ।

उपर्युक्त सभी कोटियाँ मन, वचन और कायरूप तीनों योगों से हैं ।
इस प्रकार कुल भंग सत्ताईस होते हैं ।

(९)

रोग की उत्पत्ति के नौ कारण

- (१) अत्यासन—अधिक बैठे रहने से ।
- (२) अहितासन—प्रतिकूल आसन से बैठने पर ।
- (३) अतिनिद्रा—अधिक नींद लेने से ।

- (४) अतिजागरित—अधिक जागने से ।
- (५) उन्चारनिरोध—गड़ी नीति की बाधा रोकने से ।
- (६) प्रस्रवणनिरोध—लघुनीति (पेशाब) रोकने से ।
- (७) अतिगमन—मार्ग में अधिक चलने से ।
- (८) प्रतिकूलभोजन—प्रकृति के प्रतिकूल भोजन करने से ।
- (९) इन्द्रियार्थविकोपन—विषयासक्ति अधिक रखने से ।

(१०)

समाचारी के दश प्रकार

(१) इच्छाकार—यदि आपसी इच्छा हो तो मैं अपना अमुक कार्य करूँ, अथवा आप चाहें तो मैं आप का यह कार्य करूँ ? इस प्रकार पूछने को इच्छाकार कहते हैं । एक साधु दूसरे से किसी कार्य के लिए प्रार्थना करे अथवा दूसरा साधु स्वयं उस कार्य को करे तो उससे इच्छाकार कहना आवश्यक है । इससे किसी भी कार्य में किसी भी प्रकार का बलाभियोग नहीं रहता ।

(२) मिथ्याकार—सयम का पालन करते हुए कोई विपरीत आचरण हो गया हो तो उस पाप के लिए पश्चात्ताप करता हुआ साधु 'मिच्छामि दुक्कड्ड' बहे, यह मिथ्याकार है ।

(३) तथाकार—गुरुदेव की ओर से किसी प्रकार की आज्ञा मिलने पर अथवा उपदेश देने पर तहसि (जैसा आप कहते हैं वही ठीक है) कहना, तथाकार है ।

(४) आग्रसिकी—आवश्यक कार्य के लिए उपाश्रय से बाहर जाते समय साधु को 'आग्रस्मिन्ना' कहना चाहिए—अर्थात् मैं आवश्यक कार्य के लिए बाहर जाता हूँ ।

(५) नैपेथिकी—बाहर से वापिस आकर उपाश्रय में प्रवेश करते समय 'निषीधिया' कहना चाहिए । इसका अर्थ है—अब मुझे बाहर रहने का कोई काम नहीं रहा है ।

(६) आपृच्छना—किसी कार्य में प्रवृत्ति करनी हो तो पहले गुरुदेव से पूछना चाहिए कि—‘क्या मैं यह कार्य कर लूँ ?’ यह आपृच्छना है ।

(७) प्रतिपृच्छना—गुरुदेव ने पहले जिस काम का निषेध कर दिया हो, यदि आवश्यकतावश वही कार्य करना हो तो गुरुदेव से पुनः पूछना चाहिए कि “भगवन् ! आपने पहले इस कार्य का निषेध कर दिया था, परन्तु यह अतीव आवश्यक कार्य है; अतः आप आज दें तो यह कार्य कर लूँ ?” इस प्रकार पुनः पूछना, प्रतिपृच्छना है ।

(८) छन्दना—स्वयं लाए हुए आहार के लिए साधुओं का आमंत्रण देना कि—‘यह आहार लाया हूँ, यदि आप भी इसमें से कुछ ग्रहण करें तो मैं धन्य होऊँगा ।’

(९) निमंत्रणा—आहार लाने के लिए जाते हुए दूसरे साधुओं को निमंत्रण देना, अथवा यह पूछना कि क्या आपके लिए भी आहार लेता आऊँ ?

(१०) उपसंपदा—ज्ञान आदि प्राप्त करने के लिए अपना गच्छ छोड़कर किसी विशेष ज्ञान वाले गुरु का आश्रय लेना, उपसंपदा है । गच्छ-मोह में पड़े रह कर ज्ञानादि उपार्जन करने के लिए दूसरे योग्य गच्छ का आश्रय न लेना, उचित नहीं है ।

(भगवती, शत० २५, श्लो ७)

(११)

साधु के योग्य चौदह प्रकार का दान

(१) अशन—खाए जाने वाले पदार्थ रोटी आदि ।

(२) पान—पीने योग्य पदार्थ, जल आदि ।

(३) खादिम—मिश्रण, मेवा आदि सुखादु पदार्थ ।

(४) स्वादिम—मुख की स्वच्छता के लिए, लौंग सुपारी आदि

- (५) वस्त्र—पहनने योग्य वस्त्र ।
 (६) पात्र—काठ, मिट्टी और तुम्हे के बने हुए पात्र ।
 (७) कम्बल—ऊन आदि का बना हुआ कम्बल ।
 (८) पादप्रोच्छन्न—खोहरण, श्रोषा ।
 (९) पीठ—बैठने योग्य चौकी आदि ।
 (१०) फलक—सोने योग्य पट्टा आदि ।
 (११) शय्या—ठहरने के लिए मकान आदि ।
 (१२) सधारर—बिठाने के लिए घास आदि ।
 (१३) औपध—एक ही वस्तु से बनी हुई औपधि ।
 (१४) भेषज—अनेक चीजों के मिश्रण से बनी हुई औपधि ।

ऊपर जो चौदह प्रकार के पदार्थ बताए गए हैं, इन में प्रथम के आठ पदार्थ तो दानदाता से एक शर लेने के बाद फिर वापस नहीं लौटाए जाते । शेष छह पदार्थ ऐसे हैं, जिन्हें साधु अपने काम में लाकर वापस लौटा भी देते हैं ।

[आवश्यक]

(१२)

कायोत्सर्ग के उन्नीस दोष

घोडग^१ लया^२ य खभे कुड्डे^३ माले^४ य सवरि^५ बहु^६ नियले^७ ।
 लंबुत्तर^८ घण^९ उट्टी^{१०} सजय^{११} खलिये^{१२} य वायस^{१३} कविट्टे^{१४} ॥
 तीसोकपिय^{१५} मूर्ह^{१६} अंगुलि भमुहा^{१७} य वाकशी^{१८} पेहा^{१९} ।
 एए काउ समे हवति दोमा हगुणवीस ॥

(१) घोटक दोष—घोड़े की तरह एक पैर को मोड़कर खड़े होना ।

(२) लता दोष—पत्तन प्रक्षिप्त लता की तरह झँपना ।

(३) स्तम्भकुड्य दोष—तल्ले या दीवाल का सहाय लेना ।

(४) माल दोष—माल अर्थात् ऊपर की ओर किसी के सहारे मस्तक रगटा कर खड़े होना ।

(५) शवरो दोप—नग्न भिल्लनी के समान दोनों हाथ गुह्य-
थान पर रखकर खड़े होना ।

(६) वधू दोप—कुल-वधू की तरह मस्तक झुकाकर खड़े होना ।

(७) निगड दोप—बेड़ी पहने हुए पुरुष की तरह दोनों पैर
फैला कर अथवा मिलाकर खड़े होना ।

(८) लम्बोत्तर दोप—अविधि से चोलपट्टे को नाभि के ऊपर
और नीचे घुटने तक लम्बा फरके खड़े होना ।

(९) स्तन दोप—मञ्जर आदि के भय से अथवा अज्ञानता-
वश छाती ढक कर कायोत्सर्ग करना ।

(१०) उर्दिका दोप—एड़ी मिला वर और पंजों को फैलाकर खड़े
रहना, अथवा अँगूठे मिलाकर और एड़ी फैलाकर खड़े रहना, उर्दिका
दोप है ।

(११) सयती दोप—साध्वी की तरह कपड़े से सारा शरीर ढँक
कर कायोत्सर्ग करना ।

(१२) खलीन दोप—लगाम की तरह रजोहरण को आगे रख
कर खड़े होना । अथवा लगाम से पीड़ित अश्व के समान मस्तक को
कभी ऊपर कभी नीचे हिलाना, खलीन दोप है ।

(१३) चायस दोप—कौवे की तरह चंचल चित्त होकर इधर-
उधर आँखें घुमाना अथवा दिशाओं की ओर देखना ।

(१४) कपित्थ दोप—प्रट्पदिका (जूँ) के भय से चोलपट्टे को
कपित्थ की तरह गोलाकार बना कर जंघाओं के बीच दबाकर खड़े
होना । अथवा मुट्ठी बाँध कर खड़े रहना, कपित्थ दोप है ।

(१५) शीर्षोत्कम्पित दोप—भूत लगे हुए व्यक्ति की तरह सिर
धुनते हुए खड़े रहना ।

(१६) मूक दोप—मूक अर्थात् गूँगे आदमी की तरह 'हूँ हूँ' आदि
अव्यक्त शब्द करना ।

(१७) अंगुलिका भ्रू दोप—आलापकों को अर्थात् पाठ की आवृ-

तिथों को गिनने के लिए अँगुली हिलाना, तथा दूसरे व्यापार के नि-
र्माण चला कर सकेन करना ।

(१८) चारणी दोष—जिस प्रकार तैयार की जाती हुई शय-
न से कुछ-कुछ शब्द निकलता है, उसी प्रकार अव्यक्त शब्द करते हुए
रखे रहना । अथवा शराबी की तरह भ्रूमते हुए रखे रहना ।

(१९) प्रेक्षा दोष—पाठ का चिन्तन करते हुए वानर की तर-
फ़ों को चलाना । [प्रवचनसारोद्धार]

योग शास्त्र के तृतीय प्रकाश में श्रीहेमचन्द्राचार्य ने कायोत्तमों में
इक्कीस दोष उल्लेख किए हैं । उनके मतानुसार स्तम्भ दोष, कुड्य दोष,
अंगुली दोष और भ्रू दोष चार हैं, जिनका ऊपर स्तम्भकुड्य दोष श्री
अंगुलिभ्रू दोष नामक दो दोषों में समावेश किया गया है ।

(१३)

साधु की ३१ उपमाएँ

(१) उत्तम एव स्वच्छ काश्य पात्र जैसे जल मुक्त रहता है, उस
पर पानी नहीं टहरता है, उसी प्रकार साधु भी सासारिक स्नेह से
मुक्त होता है ।

(२) जैसे शल पर रंग नहीं चढ़ता, उसी प्रकार साधु रंग भाव
से रञ्जित नहीं होता ।

(३) जैसे पशु चार पैर और एक गर्दन-इन पाँचों अवयवों
को संकोच कर, आसड़ी में लुपाकर सुरक्षित रखता है, उसी प्रकार साधु
भी सयम क्षेत्र में पाँचों इन्द्रियों का गोपन करता है, उन्हें विषयों की
ओर प्रहिमुख नहीं होने देता ।

(४) निर्माण सुवर्ण जैसे प्रशस्त रूपवान् होता है, उसी प्रकार
साधु भी रागादि का नाश कर प्रशस्त आत्मस्वरूप वाला होता है ।

(५) जैसे कमल-पत्र जल से निर्जित रहता है, उसी प्रकार

साधु, अनुकूल विषयों में आसक्त न होता हुआ उनसे निर्लस रहता है ।

(६) चन्द्र जैसे सौम्य (शीतल) होता है, उसी प्रकार साधु स्वभाव से सौम्य होता है । शान्त-परिणामी होने से किसी को क्लेश नहीं पहुँचाता ।

(७) सूर्य जैसे तेज से दीप्त होता है, उसी प्रकार साधु भी तप के तेज से दीप्त रहता है ।

(८) जैसे सुमेरु पर्वत स्थिर है, प्रलयकाल में भी चलित नहीं होता, उसी प्रकार साधु संयम में स्थिर रहता हुआ अनुकूल तथा प्रतिकूल किसी भी परीपह से विचलित नहीं होता ।

(९) जिस प्रकार समुद्र गम्भीर होता है, उसी प्रकार साधु भी गम्भीर होता है, हर्ष और शोक के कारणों से चित्त को चंचल नहीं होने देता ।

(१०) जिस प्रकार पृथ्वी सभी बाधा पीड़ाएँ सहती है, उसी प्रकार साधु भी सभी प्रकार के परीपह एवं उपसर्ग सहन करता है ।

(११) राख की भाँई आने पर भी अग्नि जैसे अन्दर प्रदीप्त रहती है और बाहर से मलिन दिखाई देती है; उसी प्रकार साधु तप से कृश होने के कारण बाहर से म्लान दिखाई देता है, किन्तु अन्तर में शुभ भावनों के द्वारा प्रकाशमान रहता है ।

(१२) धी से सींची हुई अग्नि जैसे तेज से देदीप्यमान होती है उसी प्रकार साधु ज्ञान एवं तप के तेज से दीप्त रहता है ।

(१३) गोशीर्ष चन्दन जैसे शीतल तथा सुगन्धित होता है, उसी प्रकार साधु कपार्यों के उपशान्त होने से शीतल तथा शील की सुगन्ध से वासित होता है ।

(१४) हवा न चलने पर जैसे जलाशय की सतह सम रहती है ऊँची-नीची नहीं होती; उसी प्रकार साधु भी समभाव वाला होता है सम्मान हो अथवा अपमान, उसके विचारों में चढ़ाव-उतार नहीं होता

(१५) सम्मार्जित एवं स्वच्छ दर्पण जिस प्रकार प्रतिबिम्बप्राप्ती होता है, उसी प्रकार साधु मायारहित होने के कारण शुद्ध हृदय होता है, शास्त्रों के भावों को पूर्णतया प्रदर्श करता है ।

(१६) जिस प्रकार हाथी रणाङ्गण में अग्रता हृद शौर्य दिग्गता है, उसी प्रकार साधु भी परीगरूप सेना के साथ युद्ध में अपूर्व आत्म-शौर्य प्रकट करता है एवं विजय प्राप्त करता है ।

(१७) कृपम जैसे धोरी होता है, शकट-भार को पूर्णतया वहन करता है, उसी प्रकार साधु भी भद्गु किए हुए मत नियमों का उत्साह पूर्णक निर्वाह करता है ।

(१८) जिस प्रकार सिंह महाशक्तिशाली होता है, पलतः वन के अन्य मृगादि पशु उसे हरा नहीं सकते; उसी प्रकार साधु भी आध्यात्मिक शक्तिशाली होते हैं, परीरु उन्हें पराभूत नहीं कर सकते ।

(१९) शरद् ऋतु का जल जैसे निर्मल होता है उसी प्रकार साधु का हृदय भी शुद्ध — रागादि मल से रहित होता है ।

(२०) जिस प्रकार भारयुद्ध पक्षी अहर्निश अत्यन्त सावधान रहता है, तनिक भी प्रमाद नहीं करता; इसी प्रकार साधु भी सदैव सयमानुष्ठान में सावधान रहता है, कभी भी प्रमाद का भेषन नहीं करता ।

(२१) जैसे नैडे के मस्तक पर एक ही सींग होता है, उसी प्रकार साधु भी राग द्वेष रहित होने से एकाकी होता है, किसी भी व्यक्ति एवं वस्तु में आसक्ति नहीं रखता ।

(२२) जैसे स्थाणु (शूत्र का हँठ) निश्चल खड़ा रहता है उसी प्रकार साधु भी कायोन्मग्न आदि के समय निश्चल एवं निष्प्रकट खड़ा रहता है ।

(२३) मूले धर म जैसे मफाई एवं सजावट आदि के संस्कार नहीं होते, उसी प्रकार साधु भी शरीर का संस्कार नहीं करता । यह

(२४) जिस प्रकार निर्वात (वायु से रहित) स्थान में रहा हुआ दीपक स्थिर रहता है, कपित नहीं होता, उसी प्रकार साधु भी एकान्त स्थान में रहा हुआ उपसर्ग आने पर भी शुभ ध्यान से चलायमान नहीं होता ।

(२५) जैसे उस्तरे के एक ओर ही धार होती है, वैसे ही साधु भी त्याग-रूप एक ही धारा वाला होता है ।

(२६) जैसे सर्प एक-दृष्टि होना है अर्थात् लक्ष्य पर एक टुक दृष्टि जमाए रहता है, उसी प्रकार साधु भी अपने मोक्ष-रूप ध्येय के प्रति ही ध्यान रक्वता है, अन्यत्र नहीं ।

(२७) आकाश जैसे निरालम्ब = आधार से रहित है, उसी प्रकार साधु भी कुल, ग्राम, नगर, देश आदि के आलम्बन से रहित अनासक्त होता है ।

(२८) पक्षी जैसे सब तरह से स्वतंत्र होकर विहार करता है, वैसे ही निष्प्रसिद्धी साधु भी स्वजन आदि तथा नियतवास आदि के बन्धनों से मुक्त होकर स्वतंत्र विहार करता है ।

(२९) जिस प्रकार सर्प स्वयं घर नहीं बनाता, किन्तु चूहे आदि दूसरों के बनाये बिलों में जाकर निवास करता है, उसी प्रकार साधु भी स्वयं मकान नहीं बनाता, किन्तु गृहस्थों के अपने लिए बनाए गए मकानों में उनकी आज्ञा प्राप्त कर निवास करता है ।

(३०) वायु की गति जैसे प्रतिबन्ध-रहित अव्याहत है, उसी प्रकार साधु भी बिना किसी प्रतिबन्ध के स्वतंत्रतापूर्वक विचरण करता है ।

(३१) मृत्यु के बाद परभव में जाते हुए जीव की गति में जैसे कोई रुकावट नहीं होती, उसी प्रकार स्वपर सिद्धान्त का जानकार साधु भी निःशङ्क होकर विरोधी अन्य-तीर्थिकों के देशों में धर्म प्रचार करता हुआ विचरता है ।

[औपपातिक सूत्र]

(१४)

वत्तीम अस्वाध्याय

वत्तीम अस्वाध्यायों का वर्णन स्थानाङ्ग सूत्र में है। वह इस प्रकार है—दश आकाश सम्बन्धी, दश औदारिक-सम्बन्धी, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदाओं के पूर्ण की पूर्णिमाएँ, और चार सन्ध्याएँ। अन्य ग्रन्थों में कुछ मत भेद भी हैं। परन्तु यहाँ स्थानाङ्ग सूत्र के अनुसार ही लिखा जा रहा है।

(१) उल्कापात—आकाश से रेखा वाले तेजःपुञ्ज का गिरना, अभ्या पीछे से रेखा एवं प्रकाश वाले तारे का टूटना, उल्कापात कहलाता है। उल्कापात होने पर एक प्रहर तक सूत्र की अस्वाध्याय रहती है।

(२) दिग्दाह—किसी एक दिशा-विशेष में मानों बड़ा नगर बल रहा हो, इस प्रकार ऊपर की ओर प्रनाश दिखाई देना और नीचे अन्धकार मालूम होना, दिग्दाह है। दिग्दाह के होने पर एक प्रहर तक अस्वाध्याय रहती है।

(३) गर्जित—वादल गर्जने पर दो प्रहर तक शास्त्र की स्वाध्याय नहीं करनी चाहिए।

(४) विद्युत्—निजली चमकने पर एक प्रहर तक शास्त्र की स्वाध्याय करने का निषेध है।

आर्द्रा से स्वातिनक्षत्र तक अर्थात् चर्ग ऋतु में गर्जित और विद्युत् की अस्वाध्याय नहीं होती। क्योंकि चर्ग काल में ये प्रकृतिसिद्ध स्वाभाविक होते हैं।

(५) निर्घात—बिना वादल वाले आकाश में व्यन्तरादिकृत गर्जना की प्रचण्ड भ्रमि की निर्घात कहते हैं। निर्घात होने पर एक अहायनि तक अस्वाध्याय रखना चाहिए।

(६) यूपरु—शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया और तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्र की प्रभा का मिल जाना, यूपरु है। इन

दिनों में चन्द्र-प्रभा से आवृत होने के कारण सन्ध्या का वीतना मालूम नहीं होता । अतः तीनों दिनों में रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करना मना है

(७) यक्षादीत—कभी किसी दिशा-विशेष में विजली सरीखा, वीच-वीच में ठहर कर, जो प्रकाश दिखाई देता है उसे यक्षादीत कहते हैं । यक्षादीत होने पर एक प्रहर तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए ।

(८) धूमिका—कार्तिक से लेकर माघ मास तक का समय मेषों का गर्भमास कहा जाता है । इस काल में जो धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जल रूप धूँवर पड़ती है, वह धूमिका कहलाती है । यह धूमिका कभी कभी अन्य मासों में भी पड़ा करती है । धूमिका गिरने के साथ ही सभी को जल-क्लिन्न कर देती है । अतः यह जब तक गिरती रहे, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए ।

(९) महिका—शीत काल में जो श्वेत वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धूँवर पड़ती है, वह महिका है । यह भी जब तक गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय रहता है ।

(१०) रजउद्घात—वायु के कारण आकाश में जो चारों ओर धूल छा जाती है, उसे रजउद्घात कहते हैं । रजउद्घात जब तक रहे, तब तक स्वाध्याय न करना चाहिए ।

ये दश आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय हैं ।

(११-१३) अस्थि, मांस और रक्त—पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च के अस्थि, मांस और रक्त यदि साठ हाथ के अन्दर हों तो संभवकाल से तीन प्रहर तक स्वाध्याय करना मना है । यदि साठ हाथ के अन्दर बिल्ली वगैरह चूहे आदि को मार डालें तो एक दिन-रात अस्वाध्याय रहता है ।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि, मांस और रक्त का अस्वाध्याय भी समझना चाहिए । अन्तर केवल इतना ही है कि—इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन-रात का होता है । स्त्रियों के

मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन का एवं बालक और बालिका के जन्म का प्रसन्नः सात और आठ दिन का माना गया है।

(१४) अशुचि—ग्री और पेशाब यदि स्वाध्याय स्थान के समीप हो और वे दृष्टिगोचर होते हों अथवा उनकी दुर्गन्ध आती हो तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

(१५) श्मशान—श्मशान के चारों तरफ सौ-सौ हाथ तक स्वाध्याय न करना चाहिए।

(१६) चन्द्र ग्रहण—चन्द्र-ग्रहण होने पर जन्य आठ और उत्कृष्ट शरद्व ग्रहण तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। यदि उगता हुआ चन्द्र प्रसिद्ध हुआ हो तो चार ग्रहण उस रात के एवं चार ग्रहण आगामी दिवस के—इस प्रकार आठ ग्रहण स्वाध्याय न करना चाहिए।

यदि चन्द्रमा प्रभात के समय ग्रहण-अद्विष्ट अस्त हुआ हो तो चार ग्रहण दिन के, चार ग्रहण रात्रि के एवं चार ग्रहण दूसरे दिन के—इस प्रकार बारह ग्रहण तक अस्वाध्याय रखना चाहिए।

पूर्ण ग्रहण होने पर भी बारह ग्रहण स्वाध्याय न करना चाहिए। यदि ग्रहण अस्त = अपूर्ण हो तो आठ ग्रहण तक अस्वाध्यायपाल रहता है।

(१७) सूर्य ग्रहण—सूर्य ग्रहण होने पर जन्य शरद्व और उत्कृष्ट सोलह ग्रहण तक अस्वाध्याय रखना चाहिए। अपूर्ण ग्रहण होने पर शरद्व, और पूर्ण तथा पूर्ण के लगभग होने पर सोलह ग्रहण का अस्वाध्याय होता है।

सूर्य अस्त होते समय प्रसिद्ध हो तो चार ग्रहण रात के, और आठ आगामी अहोरात्रि के—इस प्रकार सोलह ग्रहण तक अस्वाध्याय रखना चाहिए। यदि उगता हुआ सूर्य प्रसिद्ध हो तो उस दिन रात के आठ एवं आगामी दिन-रात के आठ—इस प्रकार सोलह ग्रहण तक स्वाध्याय न करना चाहिए।

(१८) पतन—पतन की मृत्यु होने पर जब तक दूसरा रात्रि

सिंहासनारूढ़ न हो, तब तक स्वाध्याय करना मना है। नये राजा के हो जाने के बाद भी एक दिन-रात तक स्वाध्याय न करना चाहिए।

राजा के विद्यमान रहते भी यदि अशान्ति एवं उपद्रव हो जाय तो जब तक अशान्ति रहे तब तक अस्वाध्याय रखना चाहिए। शान्ति एवं व्यवस्था हो जाने के बाद भी एक अहोरात्र के लिए अस्वाध्याय रखा जाता है।

राजमंत्री की, गाँव के मुखिया की, शय्यातर की, तथा उपाश्रय के आस-पास में सात वरों के अन्दर अन्य किसी की मृत्यु हो जाय तो एक दिन-रात के लिए अस्वाध्याय रखना चाहिए।

(१६) राजव्युद्ग्रह—राजाओं के बीच संग्राम हो जाय तो शान्ति होने तक तथा उसके बाद भी एक अहोरात्र तक स्वाध्याय न करना चाहिए।

(२०) औदारिकशरीर—उपाश्रय में पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च का अथवा मनुष्य का निर्जीव शरीर पड़ा हो तो सौ हाथ के अन्दर स्वाध्याय न करना चाहिए।

ये दश औदारिक—सम्बन्धी अस्वाध्याय हैं। चन्द्र-ग्रहण और सूर्य ग्रहण को औदारिक अस्वाध्याय में इसलिए गिना है कि उनके विमान पृथ्वी के बने होते हैं।

(२१-२५) चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—आषाढ़ पूर्णिमा, आश्विन पूर्णिमा, कार्तिक पूर्णिमा और चैत्र पूर्णिमा—ये चार महोत्सव हैं। उक्त महापूर्णिमाओं के बाद आने वाली प्रतिपदा महा-प्रतिपदा कहलाती है। चारों महापूर्णिमाओं और चारों महाप्रतिपदाओं में स्वाध्याय न करना चाहिए।

(२६-३२) प्रातःकाल, दुपहर, सायंकाल और अर्द्ध रात्रि—ये चार सन्ध्याकाल हैं। इन सन्ध्याओं में भी दो घड़ी तक स्वाध्याय न करना चाहिए।

[स्थानांग सूत्र]

(१५)

वन्दना के बत्तीस दोष

(१) अनाश्रित—आदरभाव के बिना वन्दना करना ।

(२) स्तब्ध—अभिमान पूर्वक वन्दना करना अर्थात् दण्डायमान रहना, झुक्ना नहीं । रोगादि कारण का आगार है ।

(३) प्रविद्ध—अनियमित रूप से अस्थिर होकर वन्दना करना । अथवा वन्दना अचूरी ही छोड़ कर चले जाना ।

(४) परिपिण्डित—एक स्थान पर रहे हुए आचार्य आदि को पृथक्-पृथक् वन्दना न कर एक ही वन्दन से सब को वन्दना करना । अथवा जवा पर हाथ रख कर हाथ पैर बाँधे हुए अथवा उच्चारण-पूर्वक वन्दना करना ।

(५) टोलगति—टिड्डे की तरह आगे पीछे कूद पौंद कर वन्दना करना ।

(६) अकुश—रजोहरण को अकुश की तरह दोनों हाथों से पकड़ कर वन्दना करना । अथवा हाथों को जिस प्रकार उचात् अकुश के द्वारा पिटाया जाता है, उसी प्रकार आचार्य आदि सोये हुए हों या अन्य किसी कार्य में सलग्न हों तो अवशपूर्वक हाथ रींच कर वन्दना करना अकुश दोष है ।

(७) कच्छ परिगत—‘तित्सिन्नयराए’ आदि पाठ कहते समय लड़े होकर अथवा ‘श्रहोकार्यकाय’ इत्यादि पाठ लेनते समय बैठ कर कछुए की तरह रेंगते अर्थात् आगे-पीछे चलते हुए वन्दना करना ।

(८) मत्स्योद्घृत्त—आचार्यादि को वन्दना करने के बाद बैठे बैठे ही मछली की तरह शीघ्र पार्श्व फेर कर पास में बैठे हुए अन्य रत्नाधिक साधुओं को वन्दना करना ।

(९) मनसा प्रक्षिप्त—रत्नाधिक गुरुदेव के प्रति अस्यापूर्वक वन्दना करना, मनसाप्रक्षिप्त दोष है ।

(१०) वेदिकाचढ़—दोनों घुटनों के ऊपर, नीचे पार्श्व में अथवा गोदी में हाथ रख कर या किसी एक घुटने को दोनों हाथों के बीच में करके वन्दना करना ।

(११) भय—आचार्य आदि कहीं गच्छ से बाहर न करदें, इस भय से उनको वन्दना करना ।

(१२) भजमान—आचार्य हम से अनुकूल रहते हैं अथवा भविष्य में अनुकूल रहेंगे, इस दृष्टि से वन्दना करना ।

(१३) मैत्री—आचार्य आदि से मैत्री हो जायगी, इस प्रकार मैत्री के निमित्त से वन्दना करना ।

(१४) गौरव—दूसरे साधु यह जान लें कि यह साधु वन्दन-विषयक समाचारी में कुशल है, इस प्रकार गौरव की इच्छा से विधि-पूर्वक वन्दना करना ।

(१५) कारण—ज्ञान, दर्शन और चारित्र के सिवा अन्य ऐहिक वस्त्र पात्र आदि वस्तुओं के लिए वन्दना करना, कारण दोष है ।

(१६) स्तैन्य—दूसरे साधु और श्रावक मुझे वन्दना करते देख न लें, मेरी लघुता प्रकट न हो, इस भाव से चोर की तरह छिपकर वन्दना करना ।

(१७) प्रत्यनीक—गुरुदेव आहारादि करते हों उस समय वन्दना करना, प्रत्यनीक दोष है ।

(१८) रुष्ट—क्रोध से जलते हुए वन्दन करना ।

(१९) तर्जित—गुरुदेव को तर्जना करते हुए वन्दन करना । तर्जना का अर्थ है—‘तुम तो काष्ठ मूर्ति हो, तुमको वन्दना करें या न करें, कुछ भी हानि लाभ नहीं ।’

(२०) शठ—विना भाव के भिर्क दिखाने के लिए वन्दन करना अथवा बीमारी आदि का झूठा बहाना बना कर सम्यक् प्रकार से वन्दन न करना ।

(२१) ह्रीलित—‘आपको वन्दना करने में क्या लाभ!’—इस प्रकार हँसी करते हुए आदेवनापूर्वक वन्दना करना ।

(२२) विपरिवृत्त—वन्दना अधूरी छोड़ कर देश आदि की दधर-उधर की शानें करने लगना ।

(२३) दृष्टादृष्ट—धनु में माधु वन्दना कर रहे हो उस समय किसी माधु की आँक में वन्दना किए बिना गढ़े रहना अथवा छँपेरी जगह में वन्दना किए बिना ही चुनचुन गढ़े रहना, परन्तु आचार्य के देग लेने पर वन्दना करने लगना, दृष्टादृष्ट दोष है ।

(२४) भृंग—वन्दना करने समय ललाट के धीव दोनों हाथ न लगाकर ललाट की धौई या दाहिनी तरफ लगाना, भृंग दोष है ।

(२५) कर—वन्दना को निर्जग का हेतु न मान कर उसे अरिहन्त भगवान् का कर समझना ।

(२६) मोचन—वन्दना से ही मुक्ति सम्भव है, वन्दना के बिना मोक्ष न होगा—यह मोचकर विषयता के साथ वन्दना करना ।

(२७) आश्लिष्ट अनाश्लिष्ट—‘अहो पाय पाय’ इत्यादि आवर्त देते समय दोनों हाथों से रजोदरण और मस्तक को कमशः छूना चाहिए । अथवा गुहदेव के चरण कमल और निज मस्तक को कमशः छूना चाहिए । ऐसा न करके किसी एक को छूना, अथवा दोनों को ही न छूना, आश्लिष्ट अनाश्लिष्ट दोष है ।

(२८) उन्न—आवश्यक वचन एवं नमनादि क्रियाओं में से कोई सी क्रिया छोड़ देना । अथवा उन्मुक्ता के कारण थोड़े समय में ही वन्दन क्रिया समाप्त कर देना ।

(२९) उत्तरचूडा—वन्दना कर लेने के बाद उँचे स्वर से ‘मत्पण्य वन्दामि’ कहना उत्तर चूडा दोष है ।

(३०) मूक—पाठ का उच्चारण न करके मूक के समान वन्दना करना ।

(३१) ढड्डर—ऊँचे स्वर से अभद्र रूप में वन्दना-सूत्र का उच्चारण करना ।

(३२) चुड्ली—अर्द्धदग्ध अर्थात् अधजले काष्ठ की तरह रजोहरण को सिरे से पकड़ कर उमे घुमाते हुए वन्दन करना ।
[प्रवचन सारोद्धार, वन्दनाद्वार]

(१६)

तेतीस आशातनाएँ

(१) मार्ग में रत्नाधिक (दीक्षा में बड़े) से आगे चलना ।

(२) मार्ग में रत्नाधिक के बराबर चलना ।

(३) मार्ग में रत्नाधिक के पीछे अड़कर चलना ।

(४-६) रत्नाधिक के आगे बराबर में तथा पीछे अड़ कर खड़े होना ।

(७-९) रत्नाधिक के आगे, बराबर तथा पीछे अड़कर बैठना ।

(१०) रत्नाधिक और शिष्य विचार-भूमि (जंगल में) गए हों वहाँ रत्नाधिक से पूर्व आचमन शौच करना ।

(११) बाहर से उपाश्रय में लौटने पर रत्नाधिक से पहले ईर्यायथ की आलोचना करना ।

(१२) रात्रि में रत्नाधिक की ओर से 'कौन जागता है ?' पूछने पर जागते हुए भी उत्तर न देना ।

(१३) जिस व्यक्ति से रत्नाधिक को पहले बात-चीत करनी चाहिए, उससे पहले स्वयं ही बात-चीत करना ।

(१४) आहार आदि की आलोचना प्रथम दूसरे साधुओं के आगे करने के बाद रत्नाधिक के आगे करना ।

(१५) आहार आदि प्रथम दूसरे साधुओं को दिखला कर बाद में रत्नाधिक को दिखलाना ।

(१६) आहार आदि के लिए प्रथम दूसरे साधुओं को निमन्त्रित कर बाद में रत्नाधिक को निमन्त्रण देना ।

(१७) रत्नाधिक को मिना पूछे दूसरे साधु को उसकी इच्छानुसार प्रचुर आहार देना ।

(१८) रत्नाधिक के साथ आहार करते समय सुस्वादु आहार खा लेना, अथवा साधारण आहार भी शीघ्रता से अधिक खा लेना ।

(१९) रत्नाधिक के बुलाये जाने पर मुना अनुमति कर देना ।

(२०) रत्नाधिक के प्रति या उनके समक्ष कठोर अथवा मर्मांत से अधिक बोलना ।

(२१) रत्नाधिक के द्वारा बुलाये जाने पर शिष्य को उत्तर : 'मत्प्रणम्य वदामि' कहना चाहिए । ऐसा न कह कर 'क्या कहते हो इन शब्दों में उत्तर देना ।

(२२) रत्नाधिक के द्वारा बुलाने पर शिष्य को उनके समीप आकर बैठ मुननी चाहिए । ऐसा न करके आसन पर बैठे ही बैठे बात सुनना और उत्तर देना ।

(२३) गुरुदेव के प्रति 'तू' का प्रयोग करना ।

(२४) गुरुदेव किसी कार्य के लिए आशा देवें तो उसे स्वीकार करके उल्टा उन्हीं से कहना कि 'आप ही कर लो ।'

(२५) गुरुदेव के धर्मकथा कहने पर ध्यान से न सुनना और अन्य मनस्क रहना, प्रवचन को प्रशंसा न करना ।

(२६) रत्नाधिक धर्मकथा करते हाँ तो बीच में ही टोकना—'आप भूल गए । यह ऐसे नहीं, ऐसे है'—इत्यादि ।

(२७) रत्नाधिक धर्मकथा कर रहे हों, उस समय किसी उगाय से कथा भग करना और स्वयं कथा कहने लगना ।

(२८) रत्नाधिक धर्मकथा करते हों उस समय परिषद् का भेदन करना और कहना कि—'कब तक कहोगे, भिक्षा का समय हो गया है ।'

(२९) रत्नाधिक धर्म कथा कर चुके हों और जनता अभी चित्तही

न हो तो उस सभा में गुरुदेव—कथित धर्मकथा का ही अन्य व्याख्यान करना और कहना कि 'इसके ये भाव और होते हैं ।'

(३०) गुरुदेव के शय्या-संस्तारक को पैर से छूकर क्षमा माँगे बिना ही चले जाना ।

(३१) गुरुदेव के शय्या-संस्तारक पर खड़े होना, बैठना, और सोना ।

(३२) गुरुदेव के आसन से ऊँचे आसन पर खड़े होना, बैठना और सोना ।

(३३) गुरुदेव के आमन के बराबर आसन पर खड़े होना, बैठना और सोना ।

ये आशातनाएँ हरिभद्रीय आवश्यक के प्रतिक्रमणाध्ययन के अनुसार दी हैं । समवायांग और दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र में भी कुछ क्रम-भंग के सिवा ये ही आशातनाएँ हैं ।

(१७)

गोचरी के ४७ दोष

गवेषणा के १६ उद्गम दोष

आहाकम्भुद्देशिय पूईकम्भे य मीसजाए य ।

ठवणा पाहुडियाए पाओयर कीय पामिच्चे ॥ १ ॥

परियट्टिए अभिहडे उच्चिन्न मालोहडे इय ।

अच्छिज्जे अणिसिद्धे अज्झोयरए य सोलसमे ॥ २ ॥

(१) आधाकर्म्म—साधु का उद्देश्य रखकर बनाना ।

(२) औद्देशिक—सामान्य याचकों का उद्देश्य रखकर बनाना ।

(३) पूतिकर्म्म—शुद्ध आहार को आधाकर्मादि से मिश्रित करना ।

(४) मिश्रजात—अपने और साधु के लिए एक साथ बनाना ।

(५) स्थापन—साधु के लिए दुग्ध आदि अलग रख देना ।

(६) प्राभृतिका—साधु को पास में आया जान कर निशिष्ट आहार बढ़ाने के लिए जीमण्वार आदि का दिन आगे पीछे कर देना ।

(७) प्रादुष्करण—अन्यकार्युक स्थान में दीरक आदि का प्रकाश करके भोजन देना ।

(८) क्रीत—साधु के लिए गरीद कर लाना ।

(९) प्रामित्य—साधु के लिए उपहार लाना ।

(१०) परिवर्तित—साधु के लिए अष्टा-सष्ट करके लाना ।

(११) अभिहत—साधु के लिए दूर से लाकर देना ।

(१२) उद्भिन्न—साधु के लिए लित-पात्र का मुग्न सोल कर घृत आदि देना ।

(१३) मालापहत—ऊपर की मञ्जिल से या छीने वगैरह से सीढ़ी आदि से उतार कर देना ।

(१४) आच्छेद्य—दुर्बल से छीन कर देना ।

(१५) अनिसृष्ट—साधु की चीज दूसरों की आज्ञा के बिना देना ।

(१६) अध्यवपूरक—साधु को गाँव में आया जान कर अपने लिए बनाये जाने वाले भोजन में और बढ़ा देना ।

उद्गम दोषों का निमित्त गृहस्थ होता है ।

गवेषणा के १६ उत्पादन दोष

धाई दूई निमित्ते आजीव वणीमगे तिगिच्छा य ।

कोहे माणै माया लोभे य हवति दस एए ॥१॥

पुन्विय पच्छासथय विज्जा मने य चुएण जोगे य ।

उप्पायणाइ दोसा सोलसमे मूलकम्भे य ॥२॥

(१) धात्री—घाय की तरह गृहस्थ के बालनों को खिला खिला कर, हँसा-रमाकर आहार लेना ।

(२) दूती—दूत के समान सदेशवाहक बनकर आहार लेना ।

- (३) निमित्त—शुभाशुभ निमित्त बताकर आहार लेना ।
 (४) आजीव—आहार के लिए जाति, कुल आदि बताना ।
 (५) वन्तीपक—गृहस्थ की प्रशंसा करके भिक्षा लेना ।
 (६) चिकित्सा—औषधि आदि बताकर आहार लेना ।
 (७) क्रोध—क्रोध करना या शापादि का भय दिखाना ।
 (८) मान—अपना प्रभुत्व जमाते हुए आहार लेना ।
 (९) माया—छल कपट से आहार लेना ।
 (१०) लोभ—सरस भिक्षा के लिए अधिक घूमना ।
 (११) पूर्वपश्चात्संस्तव—दान-दाता के माता-पिता अथवा सास-सुर आदि से अपना परिचय बताकर भिक्षा लेना ।
 (१२) विद्या—जप आदि से सिद्ध होने वाली विद्या का प्रयोग करना ।
 (१३) मंत्र—मंत्र-प्रयोग से आहार लेना ।
 (१४) चूर्ण—चूर्ण आदि वशीकरण का प्रयोग करके आहार लेना ।
 (१५) योग—सिद्धि आदि योग-विद्या का प्रदर्शन करना ।
 (१६) मूलकर्म—गर्भस्तंभ आदि के प्रयोग बताना ।
 उत्पादन के दोष साधु की ओर से लगते हैं । इनका निमित्त साधु ही होता है ।

ग्रहणोपणा के १० दोष

संकिय मक्खिय निक्खित्त,

पिहिय साहरिय दायगुम्भीसे ।

अपरिणय तित्त छड्डिय,

एसण दोसा दस हवन्ति ॥१॥

- (१) शङ्कित—आधाकर्मादि दोषों की शंका होने पर भी लेना ।
 (२) म्रक्षित—सचित्त का संयत्ता होने पर आहार लेना ।
 (३) निक्षिप्त—सचित्त पर रखता हुआ आहार लेना ।

- (४) पिहित—सचित्त से दवा हुआ आहार लेना ।
 (५) संहृत—पात्र में पहले से रखे हुए अकल्पनीय पदार्थ को निकाल कर उसी पात्र से देना ।
 (६) दायक—शराही, गर्मिशी आदि अनधिकारी से लेना ।
 (७) उन्मिथ—मचित्त से मिथित आहार लेना ।
 (८) अपरिणत—पूरे तौर पर पके बिना शाकादि लेना ।
 (९) लिप्त—दही, घृत आदि से लिप्त होनेवाले पात्र या हाथ से आहार लेना । पहले या पीछे धोने के कारण पुरः कर्म तथा पश्चात्कर्म्म दोष होता है ।
 (१०) छर्दित—छाटे नीचे पड़ रहे हों, ऐसा आहार लेना ।
 गृहस्थ तथा साधु दोनों के निमित्त से लगने वाले दोष, ग्रहणैर्गण के दोष कहलाते हैं ।

ग्रामैषणा के ५ दोष

संजोयणाऽप्रमाणे,

इंगाले धूमऽकारणे चैव ।

- (१) संजोयना—स्मलोलुता के कारण दूध शक्कर आदि द्रव्यों को परस्पर मिलाना ।
 (२) अप्रमाण—प्रमाण से अधिक भोजन करना ।
 (३) अङ्गार—मुग्धादु भोजन को प्रशंसा करते हुए खाना । यह दोष चारित्र्य को जनाकर कीपलास्वरूप निस्तेज बना देता है, अतः अङ्गार कहलाता है ।
 (४) धूम—नीरम आहार को निन्दा करते हुए खाना ।
 (५) अकारण—आहार करने के छः कारणों के बिना बलवृद्धि आदि के लिए भोजन करना ।
 ये दोष साधु मरडली में बैठकर भोजन करने हुए लगने हैं, अतः ग्रामैषणा दोष कहलाते हैं ।

उपर्युक्त ४७ दोषों का वर्णन पिएण्डनिर्युक्ति, प्रवचनसार, आवश्यक आदि में आता है। प्रत्येक व्रीहकार कुछ अर्थभेद की भी सूचना देते हैं। यहाँ सामान्यतया प्रचलित अर्थों का ही उल्लेख किया गया है।

(१७)

चरण-सप्तति

यय समणधम्म,

संजम वेयावच्चं च वंभगुत्तीओ ।

नाणाइतियं तवं,

कोह-निग्गहाई चरणमेयं ॥

—ओवनिर्युक्ति-भाष्य

पाँच महाव्रत, क्षमा आदि दश श्रमण-धर्म, सत्तरह प्रकार का संन्यास, दश वेयावृत्त्य, नौ ब्रह्मचर्य की गुति, ज्ञान-दर्शन-चारित्र्यरूप तीन जल, चारह प्रकार का तप, चार कथायों का निग्रह—यह सत्तर प्रकार का चरण है।

(१८)

करण-सप्तति

पिंड विसोही समिडे,

भावण पडिमा य इंदियनिरोहो ।

पडिलेहण गुत्तीओ,

अभिग्गहा चेव करणं तु ॥

—ओवनिर्युक्ति-भाष्य

अशन आदि चार प्रकार की पिएण्ड विशुद्धि, पाँच प्रकार की समिति, चारह प्रकार की भावना, चारह प्रकार की भिक्षु-प्रतिमा, पाँच प्रकार

का इन्द्रियनिरोध, पक्षीम प्रकार की प्रतिलेखना, तीन गुणियों, अरार चार प्रकार का अभिग्रह—यह सत्तर प्रकार का करण है।

जिस का नित्य प्रति निरंतर आचरण किया जाय, वह नक्षत्र आदि चरण होता है। और जो प्रयोजन होने पर किया जाय और प्रयोजन न होने पर न किया जाय, वह करण होता है। ओमनियुक्ति की टीका में आचार्य द्रोण लिखते हैं—“चरणकरणयोः क. प्रति विशेषः ? नियमानुष्ठानं चरणं, यत्तु प्रयोजने आपन्नो क्रियते तत्करणमिति। तथा च वृत्तादि सर्वकालमेव चर्यते, न पुनर्व्यतथान्य कश्चित्कालः। पितृवैद्यशुद्ध्यादि तु प्रयोजने आपन्नो क्रियते इति।”

(१६)

चौरामी लाख जीव-योनि

चार गति के जितने भी समारी जीव हैं, उनकी ८४ लाख योनियाँ हैं। योनियों का अर्थ है—जीमों के उत्पन्न होने का स्थान। समस्त जीमों के ८४ लाख उत्पत्ति स्थान हैं। यद्यपि स्थान तो इस से भी अधिक हैं परन्तु वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान के रूप में जितने भी स्थान परस्पर समान होते हैं, उन सब का मिल कर एक ही स्थान माना जाता है।

पृथ्वी काय के मूल भेद २५० हैं। पाँच वर्ण से उक्त भेदों को गुणा करने से १७५० भेद होते हैं। पुनः दो गन्ध से गुणा करने पर ३५००, पुनः पाँच रस से गुणा करने पर १७५००, पुनः आठ स्पर्श से गुणा करने पर १४००००, पुनः पाँच संस्थान से गुणा करने से कुल सात लाख भेद होते हैं।

उपर्युक्त पदार्थ से ही जल, तेज एवं वायु काय के भी प्रत्येक के मूल भेद २५० हैं। उनको पाँच वर्ण आदि से गुणन करने पर प्रत्येक की सात सात लाख योनियाँ हो जाती हैं। प्रत्येक वनस्पति के मूल भेद ५०० हैं। उनको पाँच वर्ण आदि से गुणा करने से कुल दस लाख

योनियाँ हो जाती हैं। कन्दमूल की जाति के मूलभेद ७०० हैं, अतः उनको भी पाँच वर्ण आदि से गुणा करने पर कुल १४०००००० योनियाँ होती हैं।

इसी प्रकार द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय विकलत्रय के प्रत्येक के मूलभेद १०० हैं। उनको पाँच वर्ण आदि से गुणा करने पर प्रत्येक की कुल योनियाँ दो-दो लाख हो जाती हैं। तिर्यञ्च पञ्चोन्द्रिय, नारकी एवं देवता के मूलभेद २०० हैं। उनको पाँच वर्ण आदि से गुणा करने पर प्रत्येक की कुल चार-चार लाख योनियाँ होती हैं। मनुष्य की जाति के मूलभेद ७०० हैं। अतः पाँच वर्ण आदि से गुणा करने में मनुष्य की कुल १४०००००० योनियाँ हो जाती हैं।

(२०)

पाँच व्यवहार

साधक-जीवन की आधारभूमि पाँच व्यवहार हैं। सुमुक्त साधकों की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति को व्यवहार कहते हैं। अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति ही व्यवहार है, और यही चारित्र्य है। आचार्य नेमिचन्द्र कहते हैं—

‘असुहादो विणिचित्ति,

सुहे पचित्ति य जाण चारित्तं ।’

साधक की प्रत्येक प्रवृत्ति निवृत्ति ज्ञानमूलक होनी चाहिए। ज्ञान रहित प्रवृत्ति, प्रवृत्ति नहीं, कुप्रवृत्ति है। और इसी प्रकार निवृत्ति भी निवृत्ति नहीं, कुनिवृत्ति है। चारित्र्य का आधार ज्ञान है। अतः जहाँ साधक की प्रवृत्ति निवृत्ति को व्यवहार कहते हैं, वहाँ प्रवृत्ति-निवृत्ति के आधार भूत ज्ञान विशेष को भी व्यवहार कहते हैं।

१. आगम व्यवहार—केवल ज्ञान, मनः पर्याय ज्ञान, अर्वाङ्मुख ज्ञान, चौदह पूर्व, दश पूर्व और नव पूर्व का ज्ञान आगम कहलाता है। आगम ज्ञान से प्रवर्तित प्रवृत्ति एवं निवृत्ति रूप व्यवहार आगम व्यवहार कहलाता है।

२. श्रुत व्यवहार—आचारंग आदि ग्रन्थों का ज्ञान श्रुत है। श्रुत ज्ञान से प्रवर्तित व्यवहार श्रुत व्यवहार कहलाता है। यथानि नव, दश और चौदह पूर्व का ज्ञान भी श्रुत रूप ही है, तथापि अतीन्द्रियार्थ-विषयक विशिष्ट ज्ञान का कारण होने से उक्त नव, दश आदि पूर्वों का ज्ञान सातिशय है, अतः आगमरूप माना जाता है। और नव पूर्व में न्यून ज्ञान सातिशय न होने से श्रुत रूप माना जाता है।

३. आज्ञा व्यवहार—दो गीतार्थ साधु एक दूसरे से अलग दूर देश में रहे हुए हो और शरीर शक्ति के क्षीण हो जाने से विहार करने में असमर्थ हो। उनमें से किसी एक को प्रायश्चित्त आने पर वह मुनि योग्य गीतार्थ शिष्य के अभाव में मति एवं धारणा में अनुगुल अगीतार्थ शिष्य को आगम की साकेतिक गूढ भाषा में अपने अतिचार होर कर कर या लिख कर उसे दूर, थ गीतार्थ मुनि के पास भेजता है और इस प्रकार अपनी पापालोचना करता है। गूढ भाषा में कही हुई आलोचना को सुनकर ये गीतार्थ मुनि द्रव्य, क्षेत्र, काल, मान, सदन, धर्म, यत्न आदि का विचार करके स्वयं वहाँ पहुँच कर प्रायश्चित्त प्रदान करते हैं अथवा योग्य गीतार्थ शिष्य को भेज कर उचित प्रायश्चित्त की सूचना देते हैं। यदि गीतार्थ शिष्य का योग न हो तो आलोचना के सन्देश-वाहक उसी अगीतार्थ शिष्य के द्वारा ही गूढ भाषा में प्रायश्चित्त की सूचना भिजवाते हैं। यह सब आज्ञा व्यवहार है। अर्थात् दूर देशान्तर स्थित गीतार्थ की आज्ञा से आलोचना आदि करना, आज्ञा व्यवहार है।

४. धारणा व्यवहार—किसी गीतार्थ मुनि ने द्रव्य क्षेत्र, काल, मान की अपेक्षा से जिस अणुधन का जो प्रायश्चित्त दिया है, कालान्तर में उसी धारणा के अनुसार वैसे अणुधन का वैसे ही प्रायश्चित्त देना, धारणा व्यवहार है।

वैशङ्क्य करने आदि के कारण जो साधु गच्छ का विशेष उपासक हो, वह यदि सम्पूर्ण छेद-सूत्र सिखाने के योग्य न हो तो उसे गुरुदेव

कृमि पूर्वक उचित प्रायश्चित्त विधान की शिक्षा दे देते हैं। और यह शिष्य यथावसर कालान्तर में अपनी उक्त भारणा के अनुसार प्रायश्चित्त आदि का विधान करता है, यह भारणा व्यवहार है।

५. जीत व्यवहार—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, व्यक्ति-निशेष, प्रति-वेदना, संहनन एवं धैर्य आदि की क्षीणता का विचार कर जो प्रायश्चित्त दिया जाता है, वह जीत व्यवहार है।

अथवा किसी गच्छ में कारण-विशेष से मूल से न्यूनाधिक प्रायश्चित्त की प्रवृत्ति हुई हो और दूसरों ने उसका अनुसरण कर लिया हो तो वह प्रायश्चित्त जीत व्यवहार कहा जाता है। अर्थात् अपने-अपने गच्छ की परंपरा के अनुसार प्रायश्चित्त आदि का विधान करना, जीत व्यवहार है।

अथवा अनेक गीतार्थ मुनियों द्वारा प्रचारित की हुई मर्यादा का प्रतियादन करने वाला ग्रन्थ जीत कहलाता है और उसके द्वारा प्रवर्तित व्यवहार जीत व्यवहार है।

उक्त पाँच व्यवहारों में यदि व्यवहर्ता के पास आगम हो तो उसे आगम से व्यवहार करना चाहिए। आगम में भी केवल ज्ञान, मनः पर्याय आदि अनेक भेद हैं। इनमें पहले केवल ज्ञान आदि के होते हुए उन्हीं से व्यवहार चलाया जाना चाहिए, दूसरों से नहीं। आगम के अभाव में श्रुत से, श्रुत के अभाव में आज्ञा से, आज्ञा के अभाव में भारणा से, और भारणा के अभाव में जीत व्यवहार से प्रवृत्ति निवृत्ति रूप व्यवहार का प्रयोग करना चाहिए। देश, काल के अनुसार उपयुक्त पद्धति से सम्यक् रूपेण पक्षपातरहित व्यवहारों का प्रयोग करता हुआ साधक भगवान् की आज्ञा का आराधक होता है।

[स्थानांग सूत्र ५। २। ४२१]

(२१)

अठारह हजार शीलान्न स्य

ते नो कंरति मणसा, निज्जिवाहारमन्ना मोदंदिण;
पुदवीकायारंभे, खविजुआ ते गुणो पंदे ।

जे नो करति ६...	मणसा २..	जे नो कायति ६....	कायसा २..	जे नाणु मोयति ६...	नाणु २..
निज्जिया दारान्ना ५००	भयसन्ना ५००	निज्जिया ५००	मेहुणसन्ना ५००	निज्जिया परियाह सत्ता ५००	रसनेन्द्रिय १००
ओजेन्द्रिय १००	चलु रिन्द्रिय १००	आरोन्द्रिय १००	रसनेन्द्रिय १००	रायनेन्द्रिय १००	यनरसनि १०
पुथिदी १०	अर १०	तेज १०	यायु १०	यनरसनि १०	द्वीन्द्रिय १०
खान्ति १	मुक्ति २	आनंर ३	मार्दर ४	लापरा ५	महय ६
					भयम ७
					तप ८
					ब्रह्मचर्ये ९
					अहिंसा १०

विवेचनादि में प्रयुक्त ग्रंथों की सूची

- १ अजित जिन स्तवन—उपाध्याय देवचन्द्र
- २ अनुयोग द्वार सूत्र
- ३ अनुयोगद्वार—टीका
- ४ अथर्व वेद
- ५ अमितगति श्रावकाचार
- ६ अष्टक प्रकरण—आचार्य हरिभद्र
- ७ आवश्यक बृहद् वृत्ति—आचार्य हरिभद्र
- ८ आवश्यक टीका—आचार्य मलयगिरि
- ९ आचारांग सूत्र
- १० आवश्यक चूर्णि—जिनदास महत्तर
- ११ आवश्यक सूत्र—पूज्य श्री अमोलक ऋषि
- १२ आवश्यक निर्युक्ति—आचार्य भद्रबाहु
- १३ उत्तराध्ययन सूत्र
- १४ उत्तराध्ययन टीका—भाव विजय
- १५ उत्तराध्ययन टीका—आचार्य शान्ति स्मरि
- १६ औपपातिक सूत्र
- १७ ऋग्वेद
- १८ कठोपनिषद्
- १९ गुरु ग्रन्थ साहव
- २० छान्दोग्योपनिषद्
- २१ जय धवला
- २२ तत्त्वार्थ भाष्य—उमा स्वाति

- २३ तत्त्वार्थ राजवार्तिर—भट्टराज
 २४ तीन गुण ग्रन्थ—पूज्य जगद्गुरुनाथ
 २५ द्वात्रिंशति—गणक यशोविभूष
 २६ धर्म समग्र—मान विजय
 २७ धर्म पद—तथागत बुद्ध
 २८ निगूढ—वास
 २९ निशीथ चूर्ण—त्रिदशम गणी महानर
 ३० दशवैकालिक सूत्र
 ३१ दशवैकालिक सूत्र टीका—आचार्य हरिभद्र
 ३२ दशाश्रुत स्कन्ध
 ३३ प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी—आचार्य यमानन्द
 ३४ प्रतिक्रमण सूत्र वृत्ति—आचार्य नमि
 ३५ प्रतिक्रमण सूत्र वृत्ति—आचार्य तिलक
 ३६ पञ्च प्रतिक्रमण—१० सुपलानजी
 ३७ प्रवचन सार—आचार्य बुद्ध कुन्द
 ३८ प्रवचन सारोद्धार—आचार्य नैमिषद्र
 ३ प्रवचन सारोद्धार वृत्ति
 ४० बृहत्कल्प भाष्य—संज्ञान गणी
 ४१ बोल समग्र—भैरवशनवी सेठिया
 ४२ भगवद् गीता
 ४३ भगवत्ता सूत्र
 ४४ भगवती सूत्र वृत्ति—आचार्य अभयदेव
 ४५ भामिनी विलास—पश्चिमराज जगन्नाथ
 ४६ भागवत
 ४७ महा धवला
 ४८ महाभारत
 ४९ मूलाचार—वडनेर

- ५० मूलाराधना-विजयोदया—आचार्य अपराजित
- ५१ योग दर्शन
- ५२ योगदर्शन व्यासभाष्य
- ५३ योगशिखोपनिषद्
- ५४ योगशास्त्र वृत्ति—आचार्य हेमचन्द्र
- ५५ विशेषावश्यक भाष्य—जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण
- ५६ वैशेषिक दर्शन
- ५७ वैराग्य शतक—भर्तृहरि
- ५८ व्यवहार भाष्य
- ५९ सर्वार्थ सिद्धि—पूज्यपाद
- ६० सर्वार्थ सिद्धि—कमलशील
- ६१ साधु प्रतिक्रमण—पूज्य श्री आत्मारामजी
- ६२ सूत्र कृतांग सूत्र
- ६३ सूत्र कृतांग टीका
- ६४ संथारा पइन्ना
- ६५ सम्यक्त्व पराक्रम—पूज्य जवाहिराचार्य
- ६६ समवायांग सूत्र
- ६७ समवायांग सूत्र टीका—आचार्य अभयदेव
- ६८ संग्रहणी गाथा
- ६९ समयसार—आचार्य कुन्द कुन्द
- ७० समयसार नाटक—बनारसीदासजी
- ७१ सौन्दरानन्द काव्य—महाकवि अश्वघोष
- ७२ सौर परिवार
- ७३ स्थानांग सूत्र
- ७४ हरिभट्टीय आपश्यक वृत्ति टीप्पणक—मलधार गच्छीय
आचार्य हेमचन्द्र

सन्मति ज्ञान पीठ के प्रकाशन

सामायिक-सूत्र

[उपाध्याय पं० मुनि श्री अमरचन्द्र जी महाराज]

प्रस्तुत ग्रन्थ उपाध्याय जी ने अपने गम्भीर अध्ययन, गहन चिन्तन और सूक्ष्म अनुरीक्षण के फल पर तैयार किया है। सामायिक सूत्र पर ऐसा सुंदर विवेचन एवं विश्लेषण किया गया है कि सामायिक का लक्ष्य तथा उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। भूमिका के रूप में, जैन धर्म एवं जैन संस्कृति के सूक्ष्म तत्त्वों पर आलोचनात्मक एक सुविलंब निबन्ध भी आप उसमें पढ़ेंगे।

इस में शुद्ध मूल पाठ, सुन्दर रूपा में मूलार्थ और भावार्थ, संस्कृत प्रेमियों ने लिए छात्रानुवाद और सामायिक के रहस्य को समझने के लिए विस्तृत विवेचन किया गया है। मूल २॥)

सत्य-हरिश्चन्द्र

[उपाध्याय पं० मुनि श्री अमरचन्द्रजी महाराज]

‘सत्य हरिश्चन्द्र’ एक प्रबन्ध-काव्य है। राजा हरिश्चन्द्र की जीवन गाथा भारतीय जीवन के अणु अणु में व्याप्त है। सत्य परिपालन के लिए हरिश्चन्द्र कैसे-कैसे कष्ट उठाता है और उसकी रानी एवं पुत्र रोहित पर क्या-क्या अगदार्थें आती हैं, फिर भी सत्यप्रिय राजा हरिश्चन्द्र सत्य-धर्म का पक्का नहीं छोड़ता, यही तो वह महान् आदर्श है, जो भारतीय संस्कृति का गौरव समझा जाता है।

कुशल काव्य कलाकार कवि ने अपनी साहित्यिक लेखनी से राजा हरिश्चन्द्र, रानी तारा और राजकुमार रोहित का बहुत ही रमणीय चित्र खींचा है। काव्य की भाषा सरल और सुगंध तथा भाषाभिन्न्यक्ति प्रभाव-शालिनी है। पुस्तक की छपाई सफाई सुंदर है। सजिल्द पुस्तक का मूल्य २॥)।

जैनत्व की भाँकी

[उपाध्याय पं० मुनि श्री अमरचन्द्र जी महाराज]

इस पुस्तक में महाराज श्री जी के निबन्धों का संग्रह किया गया है। उपाध्याय श्री जी एक कुशल कवि और एक सफल समालोचक तो हैं ही ! परन्तु वे हमारी समाज के एक महान् निबन्धकार भी हैं। उनके निबन्धों में स्वाभाविक आकर्षण, ललित भाषा और ठोस एवं मौलिक विचार होते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में जैन-इतिहास, जैन-धर्म, और जैन-संस्कृति पर लिखित निबन्धों का सर्वाङ्ग सुन्दर संकलन किया गया है। निबन्धों का वर्गीकरण ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक और दार्शनिक रूपों में किया गया है। जैन धर्म क्या है ? उसकी जगत और ईश्वर के सम्बन्ध में क्या मान्यताएँ हैं और जैन-संस्कृति के मौलिक सिद्धान्त कर्मवाद और स्याद्वाद जैसे गम्भीर एवं विशद विषयों पर बड़ी सरलता से प्रकाश डाला गया है। निबन्धों की भाषा सरस एवं सुन्दर है।

जो सज्जन जैन-धर्म की जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिए यह पुस्तक बड़ी उपयोगी सिद्ध होगी। हमारी समाज के नवयुवक भी इस पुस्तक को पढ़कर अपने धर्म और संस्कृति पर गर्व कर सकते हैं। पुस्तक सर्वप्रकार से सुन्दर है। राजसंस्करण का मूल्य १।) साधारण संस्करण का मूल्य III)।

भक्तामर-स्तोत्र

[उपाध्याय पं० मुनि श्री अमरचन्द्रजी महाराज]

आपको भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति अथ तक संस्कृत में ही प्राप्त थी। उपाध्याय श्री जी ने भक्तों की कठिनाई को दूर करने के लिए सरल एवं सरस अनुवाद और सुन्दर टिप्पणी एवं विवेचन के द्वारा भक्तामर-स्तोत्र को बहुत ही सुगम बना दिया है। संस्कृत न जानने वालों के लिए हिन्दी भक्तामर भी जोड़ दिया गया है। मूल्य 1-।

पद्मपात्रमन्दिर-स्तोत्र

[उमापात्र मुनि भी समरचन्द्रजी महाराज]

इस पुस्तक में उमापात्रेन्द्रिमेंत संभव भक्तानुसारविषयी का संकृत स्तोत्र है । उमापात्र भी भी में उमापात्र मन्दिर कनुपाद और सुन्दर विवेचन करके और मन्त्रीर मन्त्रीर पर दिव्यविद्या देकर मन्त्रीर मन्त्रीर के विषय भी उमापात्र मन्त्रीर मन्त्रीर मन्त्रीर बना दिया है । उमापात्र मन्त्रीर मन्त्रीर है । पुस्तक के पीछे दिव्य कल्याण मन्त्रीर भी है । मूल ॥ १ ॥

वीर-स्तुति

[उमापात्र पं० मुनि भी समरचन्द्रजी महाराज]

इस पुस्तक में भक्तानु मन्त्रीर भी स्तुति है । इसमें मन्त्रीर मन्त्रीर मन्त्रीर मन्त्रीर में भक्तानु मन्त्रीर के मन्त्रीर का बहुत ही सुन्दर दंग से वर्णन किया है । मन्त्रीर मन्त्रीर मन्त्रीर मन्त्रीर में होने में मन्त्रीर मन्त्रीर भी । उमापात्र भी भी में उमापात्र मन्त्रीर मन्त्रीर, पद्मपात्र मन्त्रीर और विवेचन दंग इसे बहुत ही सुगम बना दिया है । मन्त्रीर भी मन्त्रीर का मन्त्रीर मन्त्रीर भी पद्मपात्र मन्त्रीर और मन्त्रीर मन्त्रीर मन्त्रीर देकर पुस्तक को और भी अधिक उत्कृष्ट बना दिया है । मूल ॥ १ ॥

मंगल-यात्री

[परिचित मुनि भी समरचन्द्रजी महाराज]

प्रस्तुत पुस्तक में तीन विभाग है, जिनमें प्रथम भाग, संकृत और हिन्दी के भावपूर्ण एवं विशुद्ध स्तोत्रों और स्तवनों का सुन्दर संग्रहण किया गया है । जैन धर्म के मुनिगुरु और प्रतिदिन पठनीय और स्तुति, भक्तानु, कल्याण-मन्दिर और मेरी भावना, पद्मपात्र की वन्दना तथा समाज में प्रचलित हिन्दी के भावः सभी स्तवनों का इस पुस्तक में अत्यन्त शैली से संकलन किया गया है । सुख साधन और जैन स्तुति से भी अधिक सुन्दर संग्रह है । सुन्दर छन्द, सुन्दर भाव और पृष्ठ संख्या ३२५ है । परिशिष्ट में पञ्चरत्नपञ्चक एवं स्तोत्रों के चरित्र तथा स्तोत्रों के पद्यों

विधान भी दिए गए हैं। पाठ करने वाले बन्धुओं के लिए संग्रहणीय है। मूल्य साधारण संस्करण १।) राज संस्करण २)

संगीतिका

त-विशारद पण्डित विश्वम्भरनाथ भट्ट एम. ए. एल. एल. बी.] स्तुत पुस्तक में उपाध्याय कवि श्री अमरचन्द्रजी महाराज के रचित न बहुत ही सुन्दर सम्पादन एवं संकलन हुआ है। संगृहीत गीतों की रचना भी मनोवैज्ञानिक पद्धति से हुआ है। सब से बड़ी विशेषता है कि सङ्गीतशास्त्र के उद्भूत विद्वान् पण्डित विश्वम्भरनाथजी ने गीतों की आधुनिक प्रचलित रागों में स्वरलिपि तैयार करके प्रेमियों का बड़ा उपकार किया है। सङ्गीत सीखने वालों के यह पुस्तक बड़ी ही उपयोगी सिद्ध होगी।

पुस्तक में संकलित सभी गीत राष्ट्रीय, सामाजिक और धार्मिक हैं। प्रकार के उत्सवों पर गाए जा सकते हैं। पुस्तक अपने ढङ्ग की निराली है। पुस्तक की छपाई-सफाई बहुत ही आकर्षक एवं सुन्दर ग्राट पेपर पर छपी हुई इस पुस्तक का मूल्य ६) और साधारण (ए का ३॥)।

उज्ज्वल-वाणी

[श्री रत्नकुमार 'रत्नेश' साहित्य रत्न, शास्त्री]

प्रस्तुत पुस्तक में महात्मा श्री उज्ज्वलकुमारीजी के ओजस्वी एवं तकारी प्रवचनों का बहुत ही सुन्दर संकलन और सम्पादन हुआ सतीजी स्थानकवासी समाज की एक परम विदुषी और प्रौढ़ विचार-ता साध्वी हैं। आपके प्रवचनों में स्वाभाविक वाणी का प्रवाह, समाज को प्रबुद्ध करने का विलक्षण प्रभाव और उच्च विचार प्रामाण हैं। जीवन को समाजोन्मोगी, पवित्र, उन्नत, और सुखी बनाने लिए यह पुस्तक आपके पथ प्रदर्शन का काम करेगी।

इस पुस्तक में राष्ट्रीय, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक प्रवचनों

का समग्र बहुत ही उपयोगी दग से निजा गया है। प्रसवता, व्याख्यानशाला और उपदेशना के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी। सती उज्ज्वलकुमारीजी ने जैन संस्कृति और जैनधर्म के सिद्धान्तों का अपने प्रयत्नों में अभिनव शैली से समझाने का सफल प्रयास किया है। सभी विद्वानों ने इस पुस्तक की भरसक प्रशंसा की है।

पुस्तक में आकर्षक गेट अप, सुन्दर छपाई-सफाई और बढ़िया कागज लगाया गया है। पृष्ठ संख्या ३७५ और मूल्य ३) ।

जिनेन्द्र-स्तुति

[अष्टाध्याय ५० मुनि श्री अमरचन्द्रजी महाराज]

इस पुस्तक में भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर तक २४ तीर्थंकरों की स्तुति है। मन्दानन्ता छन्द में, सरस एवं सुन्दर भाषा में स्तुति पठनीय है। पुस्तक सर्वप्रकार से सुन्दर है। मूल्य १) ।

भारतीय संस्कृति की दो धाराएँ

[परिचित इन्द्रचन्द्र एम० ए० वेदान्ताचार्य]

प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान लेखक ने भारत की दो प्राचीन संस्कृतियों पर अधिकार पूर्ण विचार किया है। वे प्राचीन संस्कृतियों हैं—ब्राह्मण संस्कृति और अमर संस्कृति। परिचित इन्द्रचन्द्र जी ने इस सम्बन्ध में जो कुछ भी लिखा है, वह सन ईमानदारी के साथ लिखा है।

विद्वान लेखक ने दोनों ही संस्कृतियों का वास्तविक चित्र रखा है। पुस्तक सर्व साधारण के अध्ययन योग्य है। विषय सम्भीर होने हुए भी रोचक एवं पठनीय है। भाषा सरस और सुन्दर बन पड़ी है। पुस्तक सर्व प्रकार से संग्रहीय है। मूल्य १-)

